रयणसार गीताञ्जली

(मूल गाथा, अन्वयार्थ, पद्य भावानुवाद, समीक्षा, शिक्षा, संदर्भ)

(गद्य-पद्य सहित)

मूल ग्रन्थकर्त्ता - आचार्य कुन्दकुन्द देव

पद्यानुवाद - आचार्य कनकनन्दी

: पुण्य-स्मरण :

नन्दौड़ में एकला परिवार में द्वितीय (2018)

चातुर्मास के उपलक्ष्य में

स्वप्रेरित अर्थ सौजन्य (ज्ञानदानी)

श्री नितिन भैयाजी सीपुर

1. श्रीमती हंसादेवी स्व. श्री पवनकुमारजी, श्री भूपेश-मोहिता, अक्षय शौर्य, जिनकृपा चितरी

C/o. श्री आदिनाथजी दिगम्बर जैन दिव्य चैत्यालय गुरु प्रतीक्षालय चितरी

इनकी भावना है प्रत्येक 9 संख्या वाला ग्रन्थ स्वद्रव्य से प्रकाशित करना।

2. स्व. विद्यावती गाँधी की पुण्यतिथि के स्मरणार्थे द्वारा

श्री एम.पी. गाँधी, डॉ. सीमा गाँधी, सेक्टर-11, उदयपुर (राज.)

ग्रंथाङ्क-312 प्रतियाँ-500

संस्करण-प्रथम 2018 मूल्य-251/- रु.

प्राप्ति स्थान एवं सम्पर्क सूत्र

आचार्य श्री कनकनन्दी जी गुरुदेव द्वारा आशीर्वाद प्राप्त

(1) धर्म-दर्शन सेवा संस्थान

द्वारा-श्री छोटूलाल जी चित्तौड़ा

चन्द्रप्रभ दि. जैन मन्दिर, आयड़, आयड़ बस स्टॉप के पास,

उदयपुर (राज.)-313001/मो. 082337-34502

(2) डॉ. नारायणलाल कछारा

सचिव-धर्म-दर्शन सेवा संस्थान

55, रवीन्द्रनगर, उदयपुर (राज.)-313001

फोन नं. 0294-2491422/मो. 092144-60622

E-mail:nlkachhara@yahoo.com

रयणसार का सार

(चाल : क्या मिलिए ...) - आचार्य कनकनन्दी

रयणसार है रत्नों का सार, कुन्दकुन्द रचित धर्म का सार।
श्रावक व श्रमण धर्म सार, सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र सार।।
सम्यग्दर्शन धर्म का मूल, सम्यग्ज्ञान होता स्कन्ध विशाल।
सम्यक् चारित्र शाखा-प्रशाखा-फूल, जिसका परिणाम मोक्ष सुफल।। (1)

तत्त्वार्थ श्रद्धान होता सम्यग्दर्शन, देव-शास्त्र-गुरु प्रति भी श्रद्धान।
इसका परिणाम स्व-आत्मश्रद्धान, मैं हूँ निश्चय से चैतन्य घन।।
मैं हूँ द्रव्य में जीव द्रव्य महान्, द्रव्य-भाव-नोकर्म रिक्त आनन्द धाम।
भले अनादि से कर्म आबद्धमान, तथापि मैं स्वयंभू स्वतंत्र ज्ञानवान्।(2)

ऐसा श्रद्धान जब होता स्वयं को, तब ही होता सम्यग्दर्शन आत्मा का।
तब होता ज्ञान भी सुज्ञान, जिससे होता भेद विज्ञान।।
श्रद्धा-प्रज्ञा से ज्ञात स्व शुद्धात्मा, उसकी प्राप्ति हेतु होती चर्या।
राग-द्वेष-निवृत्ति हेतु पुरुषार्थ, श्रावक से ले श्रमण तक।। (3)

अन्तरंग-बहिरंग-परिग्रहों का त्याग, ध्यान-अध्ययन में होते लीन।
समता-शान्ति व आत्मविशुद्धि, निस्पृह-निराडम्बर वीतराग प्रवृत्ति।।
संकल्प-विकल्प संक्लेश त्याग, ख्याति पूजा लाभ सत्कार त्याग।
अपेक्षा-उपेक्षा व प्रतीक्षा त्याग, निर्द्वन्द्व निर्मल-निष्काम भाव।। (4)

परनिन्दा अपमान वैर-विरोध, अपना-पराया शत्रु-मित्र-विभाव।
समस्त संकीर्णता कट्टरता त्याग, आत्मानुशासन से करे आत्मविशुद्धि।।
इससे बढ़ती आत्मिक शक्ति, उत्तरोत्तर होती गुणस्थान वृद्धि।
घाती नाश से बनते अरिहंत देव, अघाती नाश से बनते परम सिद्ध।। (5)

सिद्ध अवस्था ही जीवों का स्वस्वभाव, अनन्तज्ञानदर्शन सुखवीर्य।
और भी अनन्तानंत होते आत्मिक गुण, इसे प्राप्ति हेतु 'कनक' प्रयत्नवान्।।
''रयणसार'' का पद्यानुवाद हुआ/(किया), आत्म संबोधन व विश्वकल्याणार्थ।
नन्दौड़ के द्वितीय चातुर्मास (2018) में, एक पक्ष में हुआ स्वाध्यायमय लेखन।।

नन्दौड़ दि. 22-10-2018 प्रात 6:16

(आचार्य बाहुबली जी के हिन्दी अनुवाद अन्वयार्थ का सहयोग लिया गया एतदर्थ उनका मैं आभारी हूँ- आचार्य कनकनन्दी)

विषयानुक्रमणिका

क्र.	विषय	पृ.
1.	मंगलाचरण	10
2.	सम्यग्दृष्टि का लक्षण	15
3.	मिथ्यादृष्टि का लक्षण	19
4.	सम्यग्दर्शन के भेद	21
5.	सम्यग्दृष्टि कैसा होता है?	22
6.	मुक्ति सुख के पात्र कौन ?	27
7.	सम्यग्दर्शन के बिना दीर्घ संसार	42
8.	श्रावक व मुनि धर्म के मुख्य कर्त्तव्य	52
9.	बहिरात्मा की परिणति पतंगे के समान	67
10.	पूजा-दान धर्म को करने वाले सम्यग्दृष्टि मोक्षमार्गस्थ हैं।	80
11.	पूजा व दान का फल	89
12.	जिनमुद्रा की क्या परीक्षा करना ?	98
13.	सुपात्र दान परम्परा से मुक्ति का कारण	106
14.	उत्तम-पात्र में दिया दान उत्तम फल प्रदाता है	110
15.	सप्तक्षेत्रों में दिये गये दान का फल	111
16.	संसारिक सुख भी सुपात्र दान के बिना नहीं	123
17.	सुपात्रदान से चक्रवर्ती का वैभव	124
18.	सकल सुखों की प्राप्ति सुपात्र दान का फल	136
19.	आहार दान के बाद बचे शेषान्न का महत्व	137
20.	आहार दान में विवेक	137
21.	आहारदान के लिए देय वस्तु में विवेक	138
22.	मुनियों की वैयावृत्य कैसे करें ?	147
23.	दाता के भाव की अपेक्षा दान के फल में भिन्नता	148

24. लोभी को पात्र-अपात्र का विचार नहीं 149
25. ऐहिक कामना सहित दान निरर्थक 170
26. दानी को दरिद्रता, लोभी का ऐश्वर्य क्यों ? 171
27. सुख-दुःख का कारण 172
28. पात्र-अपात्र का विवेक आवश्यक 176
29. निर्माल्य द्रव्य के भोग का दुष्परिणाम 176
30. पूजा-दान आदि के द्रव्य के अपहरण का परिणाम 181
31. पूजा दान के द्रव्य का अपहरण बीमारियों का घर 182
32. दानद्रव्य के अपहरण से विकलांग 182
33. पूजा दानादि धर्मकार्यों में अन्तराय करने का फल 185
34. वंदना और स्वाध्याय आदि धर्म कार्यों में विघ्न डालने का फल 190
35. पंचमकाल में विशुद्धि की हीनता (काल प्रभाव) 192
36. दुर्गति का पात्र कौन ? 199
37. हेयोपादेय से रहित जीव मिथ्यादृष्टि है 199
38. हेयोपादेय रहित जीव के सम्यक्त्व कहाँ ? 200
39. लौकिक जनों की संगति योग्य नहीं 201
40. सम्यक्त्वरहित जीव का लक्षण 227
41. क्षुद्र स्वभावी व दुर्भावना युक्त जीव सम्यक्त्व हीन है 227
42. जिन धर्म विनाशक जीवों के स्वभाव 227
43. सम्यक्त्व की हानि का कारण 228
44. रत्नत्रय में सम्यग्दर्शन की मुख्यता 230
45. अहो ! सबसे बड़ा कष्ट मिथ्यात्व 242
46. सम्यग्दृष्टि ही धर्मज्ञ है 243
47. मिथ्यादृष्टि की पहचान 253
48. साम्यभाव का घातक 253

49. कर्मक्षय का हेतु सम्यक्त्व 254
50. सम्यग्दर्शन रूपी रत्न दीपक 254
51. मुक्ति-मुक्ति का सुख 255
52. निर्मल, शुद्ध सम्यक्त्व 255
53. उपशम भाव का कार्य 281
54. समय का उपयोग 290
55. भरत क्षेत्र में अवसर्पिणी काल 291
56. सम्यग्दृष्टि जीवों की दुर्लभता 291
57. अवसर्पिणी काल में भी धर्म ध्यान होता है 291
58. जो रूचे सो करो 306
59. अशुभ भाव रूप परिणाम 308
60. शुभ भाव रूप परिणाम 317
61. निर्णय स्वयं का 326
62. मोही जीव के भवतीर नहीं 328
63. मात्र भेष/लिंग से कल्याण नहीं 336
64. मिथ्यात्व के नाश बिना मोक्ष नहीं 341
65. बामी को पीटने से क्या लाभ ? 342
66. संयमी कौन ? 356
67. ज्ञान मात्र से कर्म का क्षय नहीं हो सकता 366
68. मोक्षपथ का पथ्य 366
69. ज्ञानी और अज्ञानी 367
70. वैराग्य के बिना भाव 378
71. भाव शून्य क्रिया से अलाभ 379
72. अज्ञानी और विषयासक्त जीवों की दशा 380
73. फल को कौन प्राप्त करता है ? 380

74. समकित-ज्ञान वैराग्य औषधि 390
75. मुनि दीक्षा से पूर्व 10 का मुंडन आवश्यक 391
76. भक्ति बिना सब शून्य 409
77. गुरु भक्ति के बिना कार्य 2निष्फल 410
78. कारण बिना कार्य नहीं 410
79. हेय-उपादेय ? 422
80. कर्म निर्मूलन का कारण 423
81. मात्र बाह्य लिंग कर्म क्षय का हेतु नहीं 430
82. आत्मज्ञान बिना बाह्य लिंग क्या कर सकता है ? 431
83. आत्मा की भावना बिना दुःख ही है 431
84. सम्यक्त्व से निर्वाण प्राप्ति 446
85. परमात्मा ध्यान का कारण 452
86. ज्ञानविहीन तप की शोभा नहीं 460
87. परिग्रह दुःख का कारण 461
88. ज्ञानाभ्यास कर्मक्षय का हेतु 461
89. अध्ययन ही ध्यान है 468
90. त्रिकरण शुद्धि पूर्वक धर्मध्यान 469
91. सम्यग्ज्ञान ही धर्मध्यान 469
92. श्रुताभ्यास के बिना सम्यक् तप नहीं 470
93. मुनिराज तत्त्वचिन्तक होते हैं 470
94. मुनिराज की अनवरत चर्या 473
95. विकल्प, द्वंद्व रहित मुनिराज 474
96. मुनिराज कैसे होते हैं ? 474
97. मिथ्यात्व सहित मुक्ति नहीं 481
98. रागी को आत्मा का दर्शन नहीं 481

99. दीर्घ संसारी 481
100. सम्यक्त्व-रहित साधु कौन ? 482
101. जैन धर्म के विराधक 482
102. श्रमणों को दूषित करने योग्य कार्य 483
103. सम्यक्त्वविहीन मुनि 483
104. पापी जीव 483
105. सम्यक्त्व से विमुख जिह्वा इन्द्रिय लोलुपी 484
106. मोक्षमार्गी साधु 484
107. मुनि-चर्या के विभिन्न प्रकार 484
108. धर्मानुष्ठान के लिए शरीर पोषण 485
109. धर्मानुष्ठान के लिए शरीर पोषण 485
110. वह साधु है क्या ? 493
111. आहार शुद्धि संदेश 493
112. युक्ताहारी साधु ही दुःखों के क्षय में समर्थ 493
113. पात्रों के अनेक प्रकार 494
114. मुनियों की पात्रता 494
115. पात्र विशेष के लक्षण 494
116. पात्र विशेष के लक्षण 495
117. अज्ञानी का तप 498
118. निश्चय व्यवहार जाने बिना सब मिथ्या 498
119. भव बीज 499
120. संसार की वृद्धि 499
121. परलोक कैसे सुधरेगा ? 499
122. अपनी शुद्ध आत्मा में रूचि 500
123. कर्म रहित होना 502

124. बंध व मुक्ति के भाव 503
125. बहिरात्मा का लक्षण 503
126. इन्द्रिय विषय किंपाक फलवत् 503
127. बहिरात्मा की सामग्री 504
128. बहिरात्मा के भाव 504
129. दुःख का कारण इन्द्रिय जनित सुख 505
130. बहिरात्म जीवों का विषय 505
131. अन्तरात्मा का लक्षण 505
132. अनादिकालीन दुर्वासना 506
133. सम्यग्दृष्टि की भोग में अनासक्ति 509
134. परमात्मा प्राप्ति का उपाय 510
135. दुःख का कारण बहिरात्म भाव 510
136. अन्तरात्मा-परमात्मा के भाव मुक्ति के कारण 510
137. स्व-समय-पर समय का ज्ञाता 511
138. स्व-समय कौन ? 528
139. गुणस्थानों की अपेक्षा आत्मा का वर्गीकरण 528
140. दोषों के त्याग से मुक्ति 529
141. रत्नत्रय मुक्ति का कारण 529
142. मुक्ति का कारण मूलगुण और उत्तर गुण 529
143. सम्यग्दर्शन की साधना 530
144. लोकपूज्य सम्यग्दर्शन 530
145. कालदोष 536
146. श्रावक की त्रेपन क्रिया 541
147. रात्रिभोजन में कुशीलता है 544
148. ज्ञानाभ्यास से मोक्ष 545

149. श्रुत की भावना से उपलब्धि 545
150. मिथ्यात्व से अनंत काल भ्रमण 546
151. सम्यग्दर्शन के सद्भाव-अभाव का फल 549
152. बहुत कहने के क्या लाभ ? 549
153. सम्यक्त्व रहित ज्ञानाभ्यास संसार का कारण 549
154. ममकार के त्याग बिना मुक्ति नहीं 550
155. ममकार के त्याग बिना मुक्ति नहीं 550
156. रत्नत्रय युक्त निर्मल आत्म समय है 550
157. जिनलिंग मुक्ति का हेतु 551
158. रयणसार ग्रंथ का महात्म्य 551
159. रयणसार ग्रंथ की आराधना रहित जीव मिथ्यादृष्टि 551
160. रयणसार ग्रंथ की आराधना से शाश्वत स्थान 552

मूल ग्रंथ रयणसार, कर्त्ता-आचार्यकुन्दकुन्द गुरुदेव
पद्यानुवाद - आचार्य श्री कनकन्दी जी गुरुदेव

मंगलाचरण

णमिऊण वड्ढमाणं, परमप्पाणं जिणं तिसुद्धेण।
वोच्छामि रयणसारं, सायारणयार धम्मीणं ।। (1) रयण.

अन्वयार्थ - (वड्ढमाणं) वर्द्धमान, (परमप्पाणं) परम आत्मा, (जिणं) जिनेन्द्र देव को, (तिसुद्धेण) मन वचन काय की शुद्धि से, (णमिऊण) नमस्कार करके (सायारणयार) सागार व अनगार (धम्मीणं) धर्म को, (रयणसार) रत्नत्रयसार (ग्रन्थ) को, (वोच्छमि), मैं कहूंगा।

भावपद्यानुवाद :-

(चाल : 1. आत्मशक्ति...2. क्या मिलिए...)

वर्द्धमान स्वामी परमात्मा को त्रिकरण शुद्धि से नमनकर।
कहूँगा मैं रयणसार सागार-अनागार धर्मी के।।

समीक्षा -

आध्यात्मिक गुण वर्द्धमान से, जो बने हैं परमात्मा स्वरूप।
उन्हें नमनकर आचार्य कुन्दकुन्द ने रचना की है रयणसार।। (1)
इसमें वर्णन है सागार व अनागार के स्वरूप।
सरल-सुबोध प्राथमिक मुमुक्षु हेतु स्व-स्व धर्म के स्वरूप।। (2)
रयणसार की पद्धति है प्रकीर्णक या चूलिका समान।
सम्यग्दर्शन से ले श्रावक धर्म तथाहि श्रमण धर्म।। (3)

मोक्षमार्गस्य नेतार, भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
आतार विश्वतत्त्वानां, वन्दे तदगुणलब्धये।।

I bow to him who is the guide on the path to liberation, the destroyers of Mountains of Karmas and knower of the principles of the universe, so that I may attain these qualities belonging to him.

जो मोक्ष मार्ग के नेता है, कर्मरूपी पर्वतों के भेदने वाले हैं, और विश्वतत्त्व के ज्ञाता है, उनकी मैं उनके समान गुणों की प्राप्ति के लिए सदा वंदना करता हूँ।

मोक्षशास्त्र (तत्तवार्थसूत्र, स्वतंत्रता के सूत्र) के आदि में मंगलाचरण के रूप में मोक्षमार्ग के नेता (स्वतंत्रता के हितोपदेशक) स्वतंत्रता के भोक्ता (स्वामी) एवं विश्व के समस्त तत्त्व के ज्ञाता (सर्वज्ञ) को उनकी गुणों की उपलब्धि के लिए नमस्कार (नमन) किया गया है।

महान् आदर्श पुरुषों को नमस्कार करना गुणग्राही महान् आदर्श परंपरा है। इसे ही मंगलाचरण कहते हैं। मंगलाचरण का अर्थ ''मल पापं गालयति विध्वंसयतीति मंगल'', अथवा ''मंगं पुण्य सुख तल्लाति आदत्ते गृह्णाति वा मंगलं।''

'म' अर्थात् मल या पाप को जो गालयति अर्थात् गलावे सो मंगल है अथवा 'मंग' जो पुण्य तथा सुख उसे जो लाति - अर्थात् देवे सो मंगल है। मंगलाचरण स्वरूप से महान् आत्मा का गुणगान करना, नमन करना, कोई अंध परंपरा नहीं, एक सभ्य परंपरा है। क्योंकि -

नास्तिक्य परिहारस्तु शिष्टाचार प्रपालनम्।
पुण्यावाप्तिश्च निर्विघ्नं शास्त्रादौ तेन संस्तुति।।

नास्तिकपने के त्याग के लिए अर्थात् ग्रंथकर्त्ता आस्तिक्य है यह बताने के लिए, शिष्टाचार जो परंपरा से चला आया विनय का नियम उसको पालने के लिए, पुण्य की प्राप्ति के लिए तथा विघ्न को दूर करने के लिए इन चार भावों को चाहते हुए ग्रंथ के आदि में इष्ट देव की स्तुति की जाती है।

यहाँ प्रश्न होना स्वभाविक है कि इष्ट देव कौन हैं ? इष्ट देव वे हैं जो सम्पूर्ण दोषों से रहित हो, स्वतंत्रता को प्राप्त कर लिया हो तथा स्वतंत्रता के मार्ग का उपदेशक हो। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा हैं-

आप्तेनोच्छिन्न दोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत्।। (5)

नियम से आप्त को दोष रहित, सर्वज्ञ और आगम का स्वामी होना चाहिए। क्योंकि अन्य प्रकार से आप्तपना नहीं हो सकता।

सर्व दोष से रहित होने पर एवं आध्यात्मिक गुणों से सहित जीव आप्त है भले उसका नाम कुछ भी हो। गुणग्राही आदर्श व्यक्ति गुण चाहता है और उस गुण की पूजा करता है, न कि व्यक्ति की और न हि मूर्ति की। अकलंक देव ने कहा है-

सो विश्वं वेद वेद्यं जनन जलनिधेर्भङ्गिनः पारदृश्वा,
पौर्वापर्याविरुद्ध वचनमनुपमं निष्कलंकं यदीयम्।
तं वंदे साधुवंद्यं सकल गुण निधिं ध्वस्तदोषद्विषन्तं,
बुद्धं वा वर्द्धमानं शतदल निलयं केशवं वा शिवं वा।। (9)

जो विश्व के सम्पूर्ण ज्ञान को जान लिया अर्थात् विश्व विद्या विशारद है। जो जन्म-जरा-मरण रूपी समुद्र को नष्ट कर लिया, पार कर लिया। जिनके वचन पूर्वापर विरोध से रहित, सम्पूर्ण दोषों से रहित, उपमा रहित है, सम्पूर्ण गुणों की खान स्वरूप समस्त दोषों को ध्वस्त कर लिया और साधुओं से भी वन्दनीय ऐसे आत्मा को वन्दना है, भले ऐसे गुण सहित बुद्ध हो, महावीर हो, वर्द्धमान हो, ब्रह्मा हो, विष्णु हो, या शिव हो। हरिभद्र सूरि ने लोकतत्त्व निर्णय में कहा है-

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेष कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्यं तस्य कार्यः परिग्रहः।।

मेरा वीर जिनेन्द्र में पक्षपात नहीं है, एवं कपिलादि में द्वेष नहीं है, किन्तु जिसका वचन युक्ति युक्त, तर्क संगत, परस्पर अविरोध, इहलोक और परलोक का हितकारी है, उन्हीं का वचन ग्रहण करने योग्य है, अन्य का नहीं।

प्रश्न होता है कि ऐसे महान् पुरुषों की वन्दना क्यों करनी चाहिए ? इसका उत्तर यह है कि उनके गुणों की उपलब्धि के लिए, उनके गुण स्मरण के लिए, कृतज्ञता ज्ञापन करने के लिए। कहा भी है -

अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः,
स च भवति सुशास्त्रात् तस्य चोत्पत्तिराप्तात्।
इति भवति स पूज्यस्तत्प्रासादात्बुद्धैः ,
न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति।।

इष्टफल की सिद्धि का उपाय सम्यग्ज्ञान है। सो सम्यग्ज्ञान यथार्थ आगम से होता है। उस आगम की उत्पत्ति आप्त (देव) से है इसलिए वह आप्त (देव) पूज्यनीय है जिसके प्रसाद से तीव्र बुद्धि होती है। निश्चय से साधु लोक अपने ऊपर किये गए उपकार को नहीं भूलते हैं।

श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः प्रसादात्परमेष्ठिनः।
इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ मुनिपुङ्गवाः।।

मोक्षमार्ग की सिद्धि परमेष्ठी भगवान् के प्रसाद से होती है, इसलिये मुनियों में मुख्य, शास्त्र के आदि में उनके गुणों की स्तुति करते हैं।

स्तुति करने का मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक कारण पूज्यपाद स्वामी ने कहा है -

अज्ञानोपास्तिरज्ञान ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः।
ददाति यस्तु यस्यास्ति सुप्रसिद्धमिदं वचः।। (23) (इष्टो.)

अपने आत्मा से भिन्न अरहंत, सिद्ध, परमात्मा की उपासना, आराधना करके आत्मा उनके समान परमात्मा बन जाती है। जैसे दीपक से भिन्न बत्ती दीपक की उपासना करके यानी साथ-साथ रहकर दीपक के समान प्रकाशमान बन जाती है।

येन भावेन तद्रूपं ध्यायेतमात्मानमात्मवित्।
तेन तनमयता याति सोपधिः स्फटिको यथा।।

जिस भाव से जिस प्रकार यह आत्मा का ध्यान करता है उस स्वरूप हो जाता है। जैसे-स्फटिक मणि विभिन्न रंगों के सम्पर्क से उस वर्ण रूप परिणमन करता है।

परिणमते येनात्मा भावेन स तेन तन्मयो भवति।
अर्हत्ध्यानविष्टो भवार्हन् स्यात् स्वयं तस्मात्।।

यह आत्मा जिस भाव से परिणमन करता है वह उस स्वरूप हो जाता है। अर्हत् के ध्यान सहित ध्याता स्वयं अर्हत् रूप हो जाता है।

कुन्दकुन्द देव ने प्रवचनसार में भी प्रकारान्तर से इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। यथा -

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं।। (80)

जो कोई अरहंत भगवान् के द्रव्यपने, गुणपने तथा पर्यायपने को जानता है वह पुरुष अर्हंत के ज्ञान के पीछे अपने आत्मा को जानता है। उस आत्मज्ञान के प्रताप से उस पुरुष का दर्शनमोह का निश्चय से क्षय हो जाता है।

सव्वे वि य अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा।
किच्चा तधोवदेसं णिव्वादा ते णमो तेसिं।। (82)

सब ही अरहंत उसी विधि से कर्मांशों का क्षय करके और उसी प्रकार उपदेश को करके वे निर्वाण को प्राप्त हुए उनके लिए नमस्कार हो।

इस मोक्षशास्त्र के मंगलाचरण में ही मोक्षमार्ग के उपाय मोक्षमार्ग के उपदेशक और मोक्षमार्ग के गुण, मुमुक्षु के कर्त्तव्य, मोक्ष का स्वरूप आदि का संक्षिप्त सार गर्भित वर्णन किया गया है। सम्पूर्ण द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म को नष्ट करके वीतरागी सर्वज्ञ, कृत्कृत्य बनना ही मोक्ष है, और उसके उपाय ही मोक्षमार्ग है। जो मोक्षमार्ग के लिए एवं मोक्ष के लिए विरोध-कारण स्वरूप घाती कर्म हैं उनको नष्ट करने वाला एवं जीवों के हित का उपदेश देने वाला ही मोक्षमार्ग का नेता है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय मोहनीय एवं अंतराय को नाश करके जब जीव अनंत दर्शन, अनंतज्ञान, अनंतवीर्य और अनंतसुख को प्राप्त करके जो वीतरागी और हितोपदेशी बनता है वह ही यथार्थ से मोक्षमार्ग का नेता है। तीर्थंकर प्रकृति सहित ऐसे जीव को तीर्थंकर केवली कहते हैं। उनके समवशरण की रचना होती है वे समवशरण में विराजमान होकर देव दानव, मानव पशु-पक्षियों के लिए भी मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं। इसे ही दिव्यध्वनि कहते हैं। यह 18 महाभाषा तथा 700 क्षुद्रभाषा सहित होती है। तीर्थंकर भगवान् सम्पूर्ण अंग-उपांग से 718 भाषाओं में या विश्व की सम्पूर्ण भाषा यहाँ तक कि पशु-पक्षियों की भाषा में भी उपदेश देते हैं। सामान्य केवली के समवशरण की रचना नहीं होती है परन्तु गंधकुटी की रचना होती है और गंधकुटी में रहकर पूर्वोक्त विधि से धर्मोपदेश देते है। दिव्य ध्वनि के बारे में कहा भी है-

यत्सर्वात्महितं न वर्णसहितं न स्पन्दितोष्ठद्वयं,
नो वांछा कलितं न दोषमलिनं नोच्छ्वासरूद्धक्रमम्।
शान्तामर्षविषै! समं पशुगणैराकर्णितं कर्णिभिः,
तत्नः सर्वविदो विनष्ट विपदः पायादपूर्वं वचः।।

सर्व आपत्तियों से रहित श्री सर्वज्ञ भगवान् का वह अपूर्व वचन हमारी रक्षा करे जो सर्व आत्माओं का हितकारी है, अक्षर रूप नहीं है, दोनों ओठों के हलन-चलन बिना प्रगट होता है, इच्छा रहित होता है, दोषों से मलिन नहीं है, न उसमें श्वासोच्छ्वास के रुकने का क्रम है, जिसको क्रोध रूपी विष को शांत किए हुए पशुगण भी अपने कानों से सुन सकते हैं।

इस मंगलाचरण सूत्र से यह भी ध्वनित होता है कि मुमुक्षु(मोक्ष चाहने वालों) को गुणग्राही होकर गुणियों का आदर-सत्कार, विनय करना चाहिए। क्योंकि इससे स्वयं के अन्दर विद्यमान स्वगुण धीरे-धीरे प्रगट होते हैं और एक समय वह आता है कि वह भी उसे प्राप्त कर लेता है। तुलसीदास ने कहा भी है-

''लघुता से प्रभुता मिले, प्रभुता से प्रभु दूर।''

मनोविज्ञान सिद्धांत यह है कि जो व्यक्ति जिस वस्तु को चाहता है उसका उस वस्तु के प्रति आकर्षण होता है। इसी प्रकार जो मोक्ष चाहता है उसका आकर्षण मोक्षमार्ग व मोक्ष जीव के प्रति होता है। इससे उसे प्रेरणा आदर्श मिलता है जिससे वह धीरे-धीरे मोक्षमार्ग पर चलता हुआ मोक्ष प्राप्त करता है।

सम्यग्दृष्टि जैन तथा मिथ्यादृष्टि (जैन बाह्य) का स्वरूप

(चाल : आत्मशक्ति...)

पुव्वं जिणेहि भणियं जहट्ठियं गणहरेहिं वित्थरियं।
पुव्वाइरियक्कमजं, तं बोल्लइ जोहु सद्दिट्ठी।। (रयण 2)

भाव पद्यानुवादः

जिनेन्द्र द्वारा कथित पूर्व में तथाहि गणधर से विस्तारित।
पूर्वाचार्य अनुक्रम से जो बोलता है वह है सम्यग्दृष्टि जीव।।
मदिसुदणाणबलेण दु, सच्छंदं बोल्लइ जिणुत्तमिदि।
जो सो होई कुदिट्ठी, ण होइ जिणमग्गरओ।। (3)

भाव पद्यानुवाद :

मतिश्रुतज्ञान बल (मद) से जो स्वच्छन्द बोलता है यह है जिनोक्तमत।
वह होता है कुदृष्टि न होता है वह जिनेन्द्रमार्गरत।।
भयविसणमलविवज्जिय, संसार सरीर भोग णिव्वण्णो।
अट्ठगुणसमग्गो, दंसणसुद्धो हु पंचगुरुभत्तो।। (5)

भाव पद्यानुवादः

भय व्यसन मल विवर्जित संसार-शरीर भोगों से विरक्त।
अष्टगुणों से सहित पंचगुरुभक्तियुक्त होता दर्शन शुद्ध।।
ऐसे महान् गुण सहित होते हैं जो होते हैं सम्यग्दृष्टि।
अन्यथा होते कुदृष्टि उनकी होती जैन धर्म से विरक्ति।।
मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी के उपशमादि के कारण।
जीव होते हैं सुदृष्टि जिन में होते उक्त गुणगण।।
मतिश्रुतज्ञान के मद से जो बोलते हैं स्वच्छन्द भाव से।
वे न होते हैं जैनधर्मी अन्तरंग परिणाम दूषित होने से।।

शुभ व शुद्ध परिणाम युक्त तथाहि अशुभ मिथ्यात्व परिणाम रिक्त।
अष्टमद व सप्तव्यसन रहित देव-शास्त्र व गुरु भक्त।।
अन्यथा होते हैं कुदृष्टि भले वे रीति-रिवाज पालन युक्त।
सम्यक्त्व तो आत्म परिणाम मिथ्यात्व होता विभाव युक्त।।
जो केवल ख्यातिपूजालाभ की कामना से होते संयुक्त।
संसार-शरीर-भोगों में आसक्त वे होते है मिथ्यात्वयुक्त।।

गाथा :-

जे पावारंभरया कसायजुत्ता परिग्गहासत्ता।
लोय ववहार पउरा ते साहु, सम्म उम्मुक्का।। (रयण-110)

भाव पद्यानुवादः-

जो पापारंभ में रत कषाय सहित व परिग्रह आसक्त।
लोक व्यवहार में प्रचुर वे साधु सम्यक्त्व से रहित।।
अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह रहित होते हैं साधु कषाय रहित।
पापबन्ध कारक व लौकिक व्यवहार से रहित होते हैं श्रमण।।
ख्याति पूजा लाभ रहित व ध्यान-अध्ययन-साधनारत।
समता शान्ति निस्पृहता युक्त होते हैं साधु मोक्षमार्गरत।।
इससे भिन्न जो होते वे होते हैं सम्यक्त्व रहित।
उनके साधुत्व व्यर्थ आगम से वर्णन किया 'कनक'।।

सम्यग्दृष्टि जैन होते निजशुद्धात्मा में अनुरक्त

(सम्यग्दृष्टि जैन होते 44 दोष रहित, 77 गुण सहित)

(चाल : जय हनुमान...) - आचार्य कनकनन्दी

सम्यग्दृष्टि जैनों के स्वरूप को जानो, निजशुद्ध आत्मा में अनुरक्त मानो।
चवालीस(44)दोष रिक्त सतहत्तर (77)गुणयुक्त, प्राथमिक मुमुक्षु के गुण पहचानो।।(1)

णियसुहप्पणुरत्तो बहिरप्पावच्छवजिओ णाणी।
जिणमुणिधम्मं मण्णइ गइदुक्खीहोइ सद्दिट्ठी।। (6) र.सा.)
मयमूढमणायदणं संकाइवसण भयमईयारं।
जेसि उदालेदो ण संति ते होंति सद्दिट्ठी।। (7)

उहयगुणवसण भयमलवेरग्गाइचारभत्तिविग्घं वा।
एदे सत्तत्तरिया दंसणसावयगुण भणिया।। (8)

सम्यग्दृष्टि श्रद्धान करता स्वयं का, निश्चय से मैं हूँ शुद्ध परमात्मा।
बहिरात्मा व पर पदार्थ रहित मैं हूँ, देव-शास्त्र गुरु के भक्त भी मैं हूँ।।
आठ (8) मद व तीन (3) मूढता रहित, छह (6) अनायतनों से भी विरक्त।
शंकादि आठ (8) दोषों से रहित, सप्त (7) व्यसनों से भी विरक्त।। (2)
सप्त (7) भयों से भी रहित, पंच(5) अतिचारों से भी विरक्त।
चवालीस(44) गुण अतः प्रगट होते, बारह(12)व्रतों से वे सहित (भी) होते।।
वैराग्य भाव व भक्ति सहित भी, विघ्न रहित सत्तहत्तर (77) गुण सहित।
उक्त गुणों में निहित सभी नैतिक गुण,व्यक्तिगत-सामाजिक-राष्ट्रीय भी गुण।(3)
वे न करते अन्याय-अत्याचार-पापाचार, शोषण-मिलावट व भ्रष्टाचार।
फैशन-व्यसन व ढोंग-आडम्बर,परनिंदा-अपमान-हत्या बलात्कार।।
अतः वे न करते कभी भी अपराध, अतः उन्हें न होता कानून से भय।
दान-दया-परोपकार करते सदा, मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थ मुद्रा।। (4)
ज्ञान-वैराग्य-वृद्धि से वे बनते श्रमण, समता-शांति निस्पृहता से करते ध्यान।
आत्मविशुद्धि से बनते अरिहंत सिद्ध 'कनक' का लक्ष्य है अरिहंत-सिद्ध।।(5)

8 मूलगुण व 12 व्रत युक्त श्रावक भी नहीं होता पूर्ण धार्मिक

(4 था गुणस्थान से धर्म प्रारंभ, 5वाँ गुणस्थान में भद्रध्यान होता है धर्मध्यान नहीं

(चाल : आत्मशक्ति से ओतप्रोत ...)

'वस्तु स्वरूप धर्म होने से, हर द्रव्य होता है धर्ममय।
'सव्वे सुद्धाहु सुद्धणया' से, हर जीव भी होता धर्ममय।।
शुद्ध नय से यह कथन है, व्यवहार नय से भी जानना विधेय।
चौदहवें गुणस्थान से परे होते, शुद्ध जीव इससे पूर्व संसारी जीव।। (1)
परम सत्य स्वरूप षट् द्रव्य व, सप्त तत्त्व(व) नव पदार्थ का श्रद्धान।
देव शास्त्र-गुरु श्रद्धान सहित, स्व-शुद्धात्मा श्रद्धान से होता सम्यक्त्व।।

गाथा- भयवसण मल विवज्जिय संसार-शरीर भोग णिव्विणो।
अट्ठगुणंग समग्गो दंसण सुद्धो हु पंचगुरु भत्तो।। (5) रयणसार

सप्तभय व्यसन रहित पच्चीस मलदोष रहित(होता) सम्यक्त्व।
संसार-शरीर भोग विरक्त अष्टगुण, अंग युक्त पंचगुरुभक्ति सहित।। (2)

गाथा- जो तसवहाउ विरओ णो विरओ तह य थावरवहाओ।
एक्क समयम्मि जीवो विरयाविरत्ति जिणु कहई।। (351, भाव संग्रह)

जो त्रसवध से विरक्त न विरक्त होता है स्थावरवध से।
वह होता है विरताविरति, श्रावक ऐसा कहा जिनदेवने।।
पंचाणुव्रत सहित बारहव्रत से सहित होता श्रावक।
तथापि आरंभ-परिग्रह युक्त आर्त-रौद्र ध्यान संयुक्त।। (3)

अतएव ऐसा श्रावक को भी, न होता है पूर्ण धर्मध्यान।
पाप दूर करने हेतु करता, दानपूजादि भद्रध्यान।।
देव-पूजा-गुरुपास्ति स्वाध्याय, संयम तप व दान।
प्रत्येक दिन करता है श्रावक, स्व-पाप दूर निमित्त।। (4)

तथापि प्रत्याख्यान व संज्वलन कषाय से सहित।
नव नो कषाय से सहित अतएव, न होता पूर्णधर्मध्यान।।
आहार-भय-मैथुन-परिग्रह संज्ञा, सहित करता विभिन्न काम।
व्यापार-कृषि-पढ़ाई-नौकरी, औद्योगिक आदि पापात्मक काम।। (5)

भोगोपभोग व यानवाहन व, खान फेक्ट्री के करते काम।
जिससे त्रस स्थावर जीव मरते, होते विविध पर्यावरण दूषण।।
इससे भी विभिन्न समस्यायें होती, ग्लोबवर्मिंग व रोग।
अतिवृष्टि व अनावृष्टि भूकम्प, से लेकर सुनामी तक।। (6)

अतएव ही दो कल्याणक युक्त, पंचमगुणस्थानवर्ती तीर्थंकर।
अंतरंग-बहिरंग परिग्रह त्यागकर, बनते धर्म हेतु मुनीश्वर।।
भोगोपभोग व आरंभ-परिग्रह युक्त तीर्थंकर भी न होते पूर्णधर्मात्मा।
किंतु बहिरंग से ही जो धर्म पालते, वे कैसे होंगे पूर्ण धर्मात्मा।। (7)

कदाचित गधे के भी सींग होना, संभव है तीन काल में।

किंतु गृहस्थों(श्रावकों) के श्रेष्ठ/(शुद्ध) ध्यान,नहीं संभव कहा आचार्यों ने।।
यह वर्णन करणानुयोग सम्मत, जो है परम यथार्थ
परम यथार्थ के परिज्ञान हेतु, ''सूरी कनक'' ने बनाया काव्य।। (8)

मिथ्यादृष्टि का लक्षण

मदिसुदणाण बलेण दु, सच्छंदंबोल्लइ जिणुत्तमिदि।
जो सो होइ कुदिट्ठि, ण होइ जिणमग्गरओ।। (3) रयण.

अन्वयार्थ - (मदिसुदणाणबलेण) मति श्रुतज्ञान बल के अभिमान से (दु) क्योंकि (जो) जो कोई मनुष्य (जिणुत्तमिदि) जिन भगवान् ने कहा उपदेश को (सच्छंदं) स्वच्छन्दता से (बोल्लइ) बोलता है (सो) वह (कुदिट्ठी) मिथ्यादृष्टि (होई) है (जिणमग्गरओ) जिन मार्गरत (ण) नहीं (होइ) है।

पद्यभावानुवाद - (चाल :- आत्मशक्ति...)

मति-श्रुतज्ञान बल से जो बोलता है स्वच्छन्द से जिनोक्त।
वह होता है कुदृष्टि वह न होता है जिनमार्गरत।।

समीक्षा

मतिश्रुतज्ञान होते हैं दो भेद सम्यक् तथा मिथ्या रूप।
दोनों भेद ही होते हैं अल्पज्ञ के, सम्यग्दृष्टि के होते सम्यक्रूप।। (1)

मिथ्यादृष्टि के होते मिथ्यारूप जो सत्य-तथ्य से विपरीत।
ऐसे जीव तो सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट को मानता है विपरीत।। (2)

सम्यग्दृष्टि तो जिनाज्ञा को मानेगा अवश्य श्रद्धा-प्रज्ञा से।
नहीं समझने पर जिज्ञासा करेगा किन्तु श्रद्धा रखेगा भाव से।। (3)
यदि कोई हठाग्रह या पंथवाद से होकर ग्रसित।
एकान्तवाद से ग्रसित होकर स्वच्छन्द बोले सो मिथ्यात्व।। (4)

सर्वज्ञ होते हैं त्रिकालज्ञ व अठारह दोषों से भी विमुक्त।
राग-द्वेष-मोह से रहित व समता-सत्य से सहित।। (5)

होते हैं वीतरागी व हितोपदेशी, शत्रु-मित्र भेद-भाव से परे।
विश्वबन्धु व अहेतुक उपकारी, अतः वे न बोलते असत्य।। (6)

सर्वज्ञ के होते हैं अनन्तज्ञान जो इन्द्रिय-मन से रहित।
अल्पज्ञ के होते हैं सीमित(संख्यात) ज्ञान, जो इन्द्रियादि सहित।। (7)

अतएव सर्वज्ञ कथित परम सत्य छद्मस्थ के न होता है ज्ञानगम्य।
सूक्ष्म-अमूर्तिक-अनन्तभूत भविष्य अल्पज्ञ के न होते ज्ञानगम्य।। (8)

अतएव सम्यग्दृष्टि ऐसे सूक्ष्मादि परमाणु आदि का करते श्रद्धान।
यथायोग्य श्रुतज्ञान तर्क-अनुभव व प्रज्ञा सहित करते श्रद्धान।। (9)

नन्दौड़ दि. 13.9.2018 रात्रि 09:03 (पर्युषण पर्व की पूर्वरात्रि)

सन्दर्भ -

मिच्छत्तं वेदंतो जीवो विवरीयदंसणो होदि।
ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो।।17।। (गो.जी.)

उदय में आये मिथ्यात्व का वेदन अर्थात् अनुभवन करने वाला जीव विपरीत दर्शन अर्थात् अतत्त्वश्रद्धा से युक्त होता है। वह न केवल अतत्त्वकी ही श्रद्धा करता है, अपितु अनेकान्तात्मक धर्म अर्थात् वस्तु स्वभाव को अथवा मोक्ष के कारणभूत रत्नत्रयात्मक धर्म को भी पसन्द नहीं करता। इसमें दृष्टान्त देते हैं- जैसे पित्त ज्वर से ग्रस्त व्यक्ति मीठे दूध आदि रस को पसन्द नहीं करता। उसी तरह मिथ्यादृष्टि को धर्म नहीं रुचता।। 17।।

मिच्छाइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं।। (18)

मिथ्यादृष्टि जीव 'उपदिष्ट' अर्थात् अर्हन्त आदि के द्वारा कहे गये, 'प्रवचन' अर्थात् आप्त आगम और पदार्थ ये तीन, इनका श्रद्धान आदि के द्वारा कहे गये, 'प्रवचन' अर्थात् आप्त आगम और पदार्थ ये तीन, इनका श्रद्धान नहीं करता है। प्रवचन अर्थात् जिसका वचन प्रकृष्ट है ऐसा आप्त, प्रकृष्टका वचन प्रवचन अर्थात् परमागम, प्रकृष्टरूप से जो कहा जाता है अर्थात् प्रमाण के द्वारा कहा जाता है, वह प्रवचन अर्थात् पदार्थ। इन निरुक्तियों से प्रवचन शब्द से आप्त, आगम और पदार्थ तीनों कहे जाते हैं। तथा वह मिथ्यादृष्टि असद्भाव अर्थात् मिथ्यारूप प्रवचन यानी आप्त आगम पदार्थ का 'उपदिष्ट' अर्थात् आप्ताभासों के द्वारा कथित अथवा अकथित का भी श्रद्धान करता है।

सिद्धान्त में कहा है - 'घट, पट, स्तम्भ आदि पदार्थों में मिथ्यादृष्टि जानने के अनुसार श्रद्धान करते हुए भी अज्ञानी कहा जाता है, क्योंकि उसको जिनवचन में श्रद्धान नहीं है।' इस सिद्धान्त वाक्य में कहे कहे मिथ्यादृष्टि के लक्षण को जानकर उस मिथ्यात्व को छोड़ना चाहिए, उस मिथ्यादर्शन परिणाम के भेद भी इसी सिद्धान्त वाक्य से जानने चाहिए, जो इस प्रकार है- आत्मा में अवस्थित कोई मिथ्यादर्शनरूप परिणाम रूपादिकी उपलब्धि होने पर भी कारण विपर्यास, भेदाभेद विपर्यास और स्वरूपविपर्याप्स को पैदा करता है। उनमें से कारण विपर्यास इस प्रकार है-कोई मानते हैं कि रूपादि का कारण एक अमूर्त नित्य तत्त्व है। दूसरे (नैयायिक आदि) कहते हैं कि परमाणु पृथिवी आदि जाति के भेद से भेदवाले हैं। पृथिवी जाति के परमाणुओं में रूप-रस-गन्ध-स्पर्श चारों गुण होते हैं। जल जाति के परमाणुओं में रस रूप स्पर्श तीन गुण होते हैं। तेजो जाति के परमाणुओं में रूप और स्पर्श दो गुण होते हैं। वायु जाति के परमाणुओं में केवल एक स्पर्श गुण होता है। तथा पृथ्वी जाति के परमाणुओं से पृथ्वी ही बनती है, जलजाति के परमाणुओं से जल ही बनता है। इस तरह के वे परमाणु समान जातीय कार्यों को ही उत्पन्न करते हैं। दूसरा भेदाभेदविपर्यास इस प्रकार है-कारण से कार्य भिन्न ही या अभिन्न ही होता है, ऐसा कल्पना भेदाभेदविपर्यास है। स्वरूप विपर्यास इस प्रकार है- रूप आदि निर्विकल्प हैं अथवा नहीं है अथवा उनके आकार रूप से परिणत ज्ञान ही है, उसका आलम्बन बाह्य वस्तु नहीं है। इस प्रकार कुमतिज्ञान के साहाय्य से कुश्रुतज्ञान के विकल्प होते हैं। इन सबका भूल कारण मिथ्यात्व कर्म का उदय ही है, ऐसा निश्चय करना चाहिए।। 18।।

सम्यग्दर्शन के भेद

समत्तरयणसारं मोक्खमहारुक्खमूलमिदि भणियं।
तं जाणिज्जइ णिच्छयववहारसरूवदो भेदं।। 4 रयण.

अन्वयार्थ - (सम्मत्तरयणसारं) सम्यग्दर्शन रत्नत्रयसार यह(मोक्ख) मोक्ष के लिए (महारुक्खमूलमिदि) महावृक्ष का मूल है(भणियं) जिनेन्द्र देव ने कहा है। (तं) उसे(जाणिज्जइ) जानकर(णिच्छयववहार स्वरूवदो) निश्चय व्यवहार रूप से दो(भेदं) भेद कहे हैं।

पद्यभावानुवाद-

मोक्ष महावृक्ष के मूल यह है, सम्यग्दर्शन रत्नत्रय के सार।
निश्चय-व्यवहार रूप से दो भेद ऐसा कहा है जिनेन्द्र।।(1)

समीक्षा व शिक्षा-

यथा महावृक्ष के प्रमुख भाग होता है मूल भाग।
यथा मोक्ष महावृक्ष के मूलभाग होता है सम्यग्दर्शन।।(2)

यथा मूलभाग जमीन के अन्दर होता तथापि महत्वपूर्ण।
तथाहि सम्यग्दर्शन होता अन्तरंग(आध्यात्मिक) तथापि महत्वपूर्ण।। (3)

मूल के बिना यथा विशाल वृक्ष भी नहीं रहेगा जीवन्त।
जीवन्त बिना फूल-फलादि न संभव ऐसा है मूलभाग।।(4)
तथाहि सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान न होता है सुज्ञान।
सुज्ञान के बिना न चारित्र संभव ऐसा है सम्यग्दर्शन।।(5)
सम्यग्दर्शन से होता सुज्ञान जिससे होता सुचारित्र।
तीनों के सुमेल से होता है मोक्षमार्ग जिससे मिले मोक्ष।।(6)

सम्यग्दृष्टि कैसा होता है ?

भयविसणमल विवज्जिय, संसार सरीरभोग णिव्वण्णो।
अट्ठगुणंगसमग्गो, दंसणसुद्धो हु पंचगुरुभत्तो।। (5) रयण.

अन्वयार्थ- (भय) सप्तभय (विसण) (मल) पच्चीस शंकादि दोष(विवज्जिय) वर्जित (संसार सरीर भोग णिव्वण्णो) संसार शरीर तथा भोगों से विरक्त भाव तथा(अट्ठगुणंगसमग्गो) आठ निःशंकादिक गुणों सहित(दंसणसुद्धोहु) दर्शन विशुद्धि है(पंचगुरुभत्तो) पंच परम परमेष्ठी में भक्ति भावना रखना, यही सम्यग्दर्शन है।

पद्यभावानुवाद -

भय-व्यसन व मल रहित, संसार-शरीर-भोग से विरक्त।
अष्टगुणों से परिपूर्ण होता, दर्शन शुद्ध जो पंचगुरु भक्त।। (1)

समीक्षा व शिक्षा-

सम्यग्दर्शन से होता तत्त्वार्थ श्रद्धान जिससे होता है सही ज्ञान।
सही ज्ञान से होता हिताहित परिज्ञान जिसे कहते भेद विज्ञान।। (2)

इससे होता है अहित परिहार तथाहि होता है हित ग्रहण।
इससे होता है सप्तभय व व्यसन त्याग जो प्रमुख गुण।। (3)

पच्चीस मल दोषों से भी रहित होता है सम्यग्दर्शन।
संसार-शरीर-भोग से विरक्त अष्टगुणों से परिपूर्ण।। (4)

पंचगुरुभक्ति सम्पन्नता से होता है जीव सम्यग्दृष्टि।
अन्तरंग से अनन्तानुबन्धी व मिथ्यात्व का उपशमादि।।(5)

इससे जीव होता है सुदृष्टि जो है प्राथमिक धार्मिक।
अन्यथा कोई न होता सही धार्मिक यह आगम में उक्त।। (6)

इससे महान् शिक्षा मिलती धर्म का मूल है सम्यक्त्व।
इसके बिना धर्म तो पाखण्ड(मिथ्यात्व) अतः सेवनीय सम्यक्त्व।।(7)

मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन की भूमिका

जैसे बिन्दुओं से रेखा का प्रारम्भ होता है, एक से गणना का प्रारम्भ होता है, उसी प्रकार मोक्षमार्ग का प्रारम्भ सम्यग्दर्शन से होता है। बिन्दु बिना रेखा, बीज बिना अंकुर की उत्पत्ति, स्थिति एवं वृद्धि नहीं हो सकती, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना मोक्षमार्ग की उत्पत्ति, स्थिति वृद्धि नहीं हो सकती है। महान् तार्किक दार्शनिक संत समन्तभद्र स्वामी कहते हैं कि-

विद्या वृत्तस्य संभूति स्थिति वृद्धि फलोदयाः।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव।।31।।

जिस प्रकार बीज के बिना वृक्ष की उत्पत्ति नहीं हो सकती, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की भी उत्पत्ति नहीं हो सकती।

दर्शन ज्ञान चारित्रात्साधिमानमुपाश्नुते।
दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्ष्यते।। 31।।

जिस प्रकार किसी भी नाव का जलाशय के उस पार जाना खेवटिया के आधीन होता है, उसी प्रकार संसारी जीव का संसार समुद्र को पार करना सम्यग्दर्शन के आधीन होता है। यद्यपि मोक्षमार्गपना ज्ञान और चारित्र में भी है, परन्तु सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र में सम्यक्पना रूप नहीं होता। इसलिए मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन की प्रधानता बतलाई गई है।

सम्यग्दर्शन को प्रधानता देने का कारण यह है कि बिना सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र सुज्ञान, सुचारित्र न होकर कुज्ञान, और कुचारित्र होते हैं, जिससे मोक्षमार्ग नहीं बनता है। लक्ष्यविहीन पथिक का गमन, गमन नहीं है किन्तु भटकाव है। लक्ष्य के विपरीत दिक् में जितना भी गमन हो, वह गमन लक्ष्य प्राप्ति के लिये अकिञ्चित्कर ही रहेगा। मान लीजिये दिल्ली स्थित एक व्यक्ति का लक्ष्य कश्मीर जाना है। मान लिया जाये कि दिल्ली से कश्मीर की दूरी 1000 कि.मी. है। यदि वह 10 बजे एक गाड़ी में बैठकर 1 घण्टा प्रति 100 कि.मी. गति से वह दक्षिण की ओर प्रयाण करेगा तब वह 11 बजे कश्मीर से 1100 कि.मी. दूर हो जायेगा। 12 बजे 1200 कि.मी. दूरी पर रहेगा। जितना-जितना वह आगे बढ़ेगा, उतना-उतना वह लक्ष्य से दूर होता जाता है क्योंकि कश्मीर दिल्ली से उत्तर की ओर है और उसका प्रयाण दक्षिण दिक् की ओर हो रहा है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन रहित उसका मोक्ष प्रयाण मोक्ष में पहुँचाने के लिये समर्थ नहीं होगा। अतः श्रद्धान रूपी लक्ष्य बिन्दु पहले ही निश्चित होने चाहिये।

अमृतचन्द्रसूरि जो कुन्दकुन्द साहित्य के प्रथम टीकाकार थे वे पुरुषार्थ सिद्धि उपाय में मोक्षमार्ग में सम्यक्त्व की प्रथम भूमिका का वर्णन करते हुए कहते हैं -

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुमाश्रयणीयमखिलयत्नेन।
तस्मिन्सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च।। 21।।

रत्नत्रय रूपी मोक्षमार्ग में सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन का अखिल प्रयत्न पूर्वक आश्रय लेना चाहिये, क्योंकि सम्यग्दर्शन के होने पर ही ज्ञान एवं चारित्र सम्यक् बनते हैं जिससे मोक्षमार्ग बनता है।

मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन की प्राथमिकता एवं प्राथमिक भूमिका का प्रतिपादन करते हुए भगवद् कुन्द कुन्द आचार्य देव निम्न प्रकार बताते हैं -

''दंसण मूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं।।2।।

अनंत ज्ञानी अनंत जिनेन्द्र ने अपने शिष्यों को बताया है कि धर्म रूप वृक्ष का मूल सम्यग्दर्शन है।

जे दंसणेसु भट्ठा णाणे भट्ठा चरित्ते भट्ठा य।
एदे भट्ठा वि भट्ठा सेसं पि जणं विणासंति।।8।।

जो सम्यग्दर्शन से रहित है वह ज्ञान से भी एवं चरित्र से भी रहित है। दर्शन

भ्रष्ट महाभ्रष्ट है। जो स्वयं भ्रष्ट है वह दूसरे को भी भ्रष्ट करते हैं। जो स्वयं मिथ्यादृष्टि हैं वह दूसरों को भी मिथ्यादर्शन के उपदेश की प्रेरणा देते हैं जिससे अन्य लोग भी मिथ्यादर्शन का अनुसरण करके भ्रष्ट होते हैं।

जह मूलम्मि विणट्ठे दुमस्स परिवार णत्थि परवट्ठी।
तह जिणदंसणभट्ठामूलविणट्ठा ण सिज्झंति।।10।।

जैसे वृक्ष का मूल नष्ट हो जाने से वृक्ष की शाखा प्रशाखा की वृद्धि नहीं हो सकती है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन नष्ट होने से रत्नत्रय स्वरूपी वृक्ष भी नष्ट हो जाता है जिससे मोक्षरूप फल की प्राप्ति नहीं होती अर्थात् मोक्ष नहीं मिलता।

सम्यग्दर्शन रहित ज्ञान तथा चारित्र मोक्ष के लिये कारण न होने से वे दोनों जीव के लिये भार स्वरूप हैं। यथा -

शमबोधवृत्ततपसां पाषाणस्येव गौरवं पुसः।
पूज्यं महामणेरिव तदेव सम्यक्त्वसंयुक्तम्।। 15।।

पुरुष के सम्यक्त्व से रहित शान्ति, ज्ञान, चारित्र और तप इनका महत्व पत्थर के भारीपन के समान व्यर्थ है। परन्तु वही उनका महत्व यदि सम्यक्त्व से सहित है तो वह मूल्यवान् मणि के महत्त्व के समान पूजनीय है।

इसलिए भगवती आराधना में सम्यग्दर्शन की उपलब्धि विश्व की सम्पूर्ण उपलब्धि से भी श्रेष्ठ बताया है।

''समद्दंसण लंभो वरं खु तेलोक्क लंभादो।''

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति तीन लोक के ऐश्वर्य से भी श्रेष्ठ है।

नादंसणिस्य नाणं।
नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणस्सि णत्थि मोक्खो।
णत्थिं अमोक्खस्स णिव्वाणं।। (उत्तराध्ययन)

सम्यग्दर्शन के अभाव में ज्ञान प्राप्त नहीं होता, ज्ञान के अभाव में चारित्र के गुण नहीं होते, गुणों के अभाव में मोक्ष नहीं होता और मोक्ष के अभाव में निर्वाण (शाश्वत-आत्मानंद) प्राप्त नहीं होता।

''नत्थि चरित्रं सम्मत्त विहूणं'' (उत्तराध्ययन)

सम्यक्त्व(सत्य दृष्टि) के अभाव में चरित्र नहीं हो सकता।

एवं जिण पण्णत्तं दंसण रयणं धरेह भावेण।

सारं गुणरयणत्तय सोवाणं पढ़म मोक्खस्स।।2।। दंसण पाहुड़

इसी प्रकार जो जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रतिपादित सम्यग्दर्शन रूप अलौकिक अमूल्य रत्न को भाव सहित धारण करता है वह सारभूत रत्नत्रय के प्रथम सोपान में अपना पैर रखता है जो कि मोक्ष के लिए प्रथम एवं प्रधान सोपान स्वरूप है।

सम्यग्दर्शन प्रथम एवं प्रधान सोपान होने पर भी यह अन्तिम सोपान नहीं है परन्तु बिना प्रथम सोपान के अन्तिम सोपान की प्राप्ति नहीं हो सकती है, परन्तु प्रथम सोपान को ही अन्तिम सोपान मानना महती भूल है। इस सोपान को प्रथम एवं अन्तिम मानने वाला आगे के लिए लक्ष्यविहीन होने से वह आगे प्रयाण नहीं कर सकता है जिससे यथार्थ अन्तिम सोपान को प्राप्त नहीं कर सकता है।

मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी, या बिन ज्ञान चरित्ता।

सम्यक्ता न लहे, सो दर्शन, धारौ भव्य पवित्ता।।

सम्यग्दर्शन का लक्षण और स्वरूप

जीवाऽजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्त्तव्यम्।

श्रद्धानं विपरीताऽभिनिवेश-विविक्तमात्मरूपंतत्।। 22।।

जीव अजीव तत्त्वों का श्रद्धान सदैव करना चाहिये। पृथ्वीकायिक आदि जीव धर्मास्तिकाय आदि अजीव हैं। ऐसे जीव अजीव तथा आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष का श्रद्धान अर्थात् रुचि करने योग्य है। वह सम्यक्त्व आत्मा का स्वरूप है। वह आत्मस्वरूप से विपरीत अभिनिवेश से रहित है। विपरीत, एकान्त आदि मिथ्यात्व से रहित होने से सम्यक्त्व विपरीत अभिनिवेश से विविक्त (भिन्न) कहा गया है।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने कहा भी है -

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।

त्रिमूढापोढमष्टांग सम्यग्दर्शन मस्मयम्।। 4।।

आप्त-देव, आगम-शास्त्र और तपोभृत-गुरु का जो स्वरूप कहा गया है उस स्वरूप से रहित आप्त, आगम और तपोभृतका दृढ़ श्रद्धान करना वो सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन लोक मूढ़ता देव मूढ़ता और गुरुमूढ़ता इन तीन मूढ़ताओं से रहित होता है। निःशंकितत्व, निःकांक्षितत्व, निर्विचिकित्सितत्व,

अमूढ़दृष्टितत्व, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना इन आठ अंगों से सहित होता है तथा ज्ञान, पूजा कुल, जाति, बल, बुद्धि, तप और शरीर आठ मद से रहित होता है। यहाँ कोई यह शंका करे कि शास्त्रों में छह द्रव्य, सात तत्त्व तथा नौ पदार्थों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है परन्तु यहाँ आचार्य ने देव-शास्त्र गुरु की प्रतीति को सम्यग्दर्शन कहकर अन्य शास्त्रों में प्रतिपादित लक्षण का संग्रह नहीं किया है, तो इस शंका का समाधान यह है कि आगम के श्रद्धान से ही छह द्रव्य, सात तत्त्व नौ पदार्थों के श्रद्धान रूप लक्षण में शास्त्र का संग्रह हो जाता हैं क्योंकि ''अवधितार्थ प्रतिपादक माप्त क्रनं आगम्'' अवधितार्थ अर्थ का कथन करने वाला जो आप्त का वचन है वहीं आगम हैं। आगम का यह लक्षणकारों ने स्वीकृत किया हैं। इसलिए आगम के श्रद्धान में ही छह द्रव्य आदि का श्रद्धान संग्रहीत हो जाता है। समन्तभद्र स्वामी द्वारा प्रदत्त सम्यग्दर्शन की परिभाषा बहुत ही व्यापक अनुभवपरक एवं अकाट्य भी है। महान् समीक्षक आचार्यश्री ने कहा है कि श्रद्धावान् बनो, परंतु अंधश्रद्धानी नहीं, सत्यग्राही होकर विनम्री बनो, ज्ञान, दान बलादि को आत्मकल्याण में प्रयोग करके सदुपयोग करो, परन्तु उससे अभिमानी बनकर स्व-पर अपकार करके दुरुपयोग मत करो। केवल सत्य द्रव्य तत्त्व या देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा ही पर्याप्त नहीं है इसके साथ-साथ धार्मिकों के साथ भी वात्सल्यपूर्ण सद्व्यवहार करो, उनकी सेवा करो। धर्माचरण करते हुए उसके फल से निहित स्वार्थ सिद्धि की इच्छा, चेष्टा मत करो। स्वयं निर्मल धर्माचरण करते हुए भी न किसी धार्मिक व्यक्ति की किसी भी प्रकार की त्रुटि होने पर उस त्रुटि को एकांत में उसे समझाकर दूर करता है परन्तु वर्तमान काल में देखने में आता है कि कुछ व्यक्ति स्वयं को सच्चा सम्यग्दृष्टि मुमुक्षु आगमनिष्ट मानते हुये भी उपर्युक्त गुणों से रहित पाये जाते हैं। ऐसे व्यक्तियों का ज्ञान, त्याग, तप अहंकार के लिए होता है। वे दूसरों को नीचा दिखाकर स्वयं को महान् बनाते हैं।

मुक्ति सुख के पात्र कौन ?

देवगुरुसमयभत्ता संसार सरीर भोग परिचित्ता।

रयणत्तयसंजुत्ता से मणुया सिवसुहं पत्ता।। (9) रयण.

<u>अन्वयार्थ -</u> (देव गुरु समय भत्तायत्) जो भव्य देव गुरु-शास्त्र के भक्त हैं (संसार शरीर भोग चत्ता) संसार शरीर भोगों का त्याग किया है (रयणत्तयसंजुत्ता)

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र संयुक्त है, (ते) वे (मणुया) मनुष्य (शिवसुहंपत्ता) शिव सुख को प्राप्त होते हैं ।

पद्यभावानुवाद –

देव-शास्त्र-गुरु के जो भक्त व संसार-शरीर-भोग विरक्त।
रत्नत्रय से जो संयुक्त वह मनुष्य पाता है शिव सुख।। (1)

समीक्षा व शिक्षा–

मोक्षप्राप्ति के उपाय यहाँ संक्षेप में किया गया वर्णन।
देव-शास्त्र-गुरु के जो होता भक्त यहाँ से वह पाता सम्यक्त्व।। (2)
जिससे (उसको) होता है ज्ञान वैराग्य, जिससे होता संसार से विरक्त।
रत्नत्रय युक्त होता श्रमण आत्मसाधना से पाता शिवसुख।। (3)

इससे हमें शिक्षा मिलती मोक्ष प्राप्त हेतु देव-शास्त्र की भक्ति।
संसार-शरीर-भोग विरक्ति रत्नत्रय साधना से पाना है मुक्ति।। (4)

संदर्भ

जो ज्ञान, ध्यान, अध्ययन और सुखामृत रसायन पान से विमुख होकर इन्द्रिय सम्बन्धी सुख भोगता है वह निश्चित बहिरात्मा मूढ़ है।

शुभोपयोग एवं पुण्य-पापः

शंका : व्यवहारनय अपेक्षा शुभोपयोग के प्राधान्यता से जो व्रत संयमादि अरिहंत भक्ति आदि भाव हैं वे सब पुण्य बन्ध के कारण होने से एवं रागात्मक होने के कारण है, पुण्य से संसार बढ़ता है इसलिए व्रत, संयमादि अरिहंत भक्ति संसार के कारण हैं ?

सुह परिणामो पुण्णं असुहो पावंत्तिभणिदमण्णेसु।
परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खय कारणं समये।।181।। (प्रवचनसार)

अपनी आत्मा से भिन्न अन्य द्रव्य में जो शुभ रूप परिणाम है उससे पुण्य होता है और अशुभ भाव से पाप होता है। जो दोनों भावों से रहित होकर स्व स्वरूप में प्रवर्तमान है उसका संपूर्ण दुःख क्षय हो जाता है।

अरहंत सिद्ध चेदीय पवयण गण णाण भत्ति संपण्णो।
बन्धदि पुण्णं बहुसोण हु से कम्मक्खयं कुणदि।। 166।। (पंचास्तिकाय)

अर्थ : अरिहंत सिद्ध-चैत्यालय-प्रवचन-मुनिगण-भेद-विज्ञानादि बहुश्रुत की भक्ति आदि से अत्यधिक पुण्य बन्ध होता है। परन्तु कर्म क्षय नहीं करता है।

इस आर्षवचन से सिद्ध होता है व्यवहार स्वरूप शुभ क्रियायें हेय हैं।

समाधान : ण च ववहारणओ चप्पलओ तत्तो ववहाराणुसारि सिस्साणं पउत्ति दंसणादो। जो बहुजीवाणुग्गहकारी ववहारणओ सो चेव समस्सिदव्वो त्तिमणेणावहारिय गोदम गणयेरेण मंगलं तत्थं कयं।

अर्थ : यदि कहा जाए कि व्यवहार नय असत्य है सो भी ठीक नहीं है क्योंकि उससे व्यवहार का अनुसरण करने वाले शिष्यों की प्रवृति देखी जाती है। अतः जो व्यवहार नय बहुत जीवों का अनुग्रह करने वाला है उसी का आश्रय करना चाहिये। ऐसा मन में निश्चय करके गौतम स्थविर ने चौबीस अनुयोग के द्वारों के आदि में मंगल किया है। (वीरसेनाचार्य।ज़ध.पु.)

ण च अप्पमाणपुरस्सरो ववहारो सच्चममल्लियइ। ण च एवं बाहविवज्जिय सव्व ववहाराणं सच्चतुवलंभादो।

अर्थ : अप्रमाण पूर्वक होने वाला सत्यता को प्राप्त नहीं हो सकता है। यदि कहा जाए कि सभी व्यवहार अप्रमाण पूर्वक होने से असत्य मान लिये जायें सो भी बात नहीं है, क्योंकि जो व्यवहार बाधा रहित होते हैं उन सब में सत्यता पाई जाती है।

अरहंत णमोक्कारं भावेण यो जो करेदि पयडमदी।
सो सव्व दुक्ख मोक्खं पावइ अचिरेण कालेण।।

यदि कहा जाए कि पुण्य कर्म को बान्धने के इच्छुक देशव्रतियों को मंगल करना युक्त है, किन्तु कर्मों के क्षय के इच्छुक मुनियों को मंगल करना युक्त नहीं है ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि पुण्यबन्ध के कारणों के प्रति उन दोनों में कोई विशेषता नहीं है अर्थात् पुण्य बन्ध के कारणभूत कार्यों को जैसे देशव्रती श्रावक करते हैं वैसे ही मुनि करते हैं। मुनि के लिये उनका एकान्त से निषेध नहीं है। यदि ऐसा न माना जाए तो जिस प्रकार मुनियों को मंगल के परित्याग के लिये यहाँ कहा जा रहा है, उसी प्रकार उसके सराग संयम के भी परित्याग का प्रसंग होता है, क्योंकि देशव्रत के समान सराग संयम भी पुण्य बन्ध का कारण है।

यदि कहा जाए कि मुनियों के सराग संयम के परित्याग का प्रसंग प्राप्त होता है तो सो भी बात नहीं है क्योंकि मुनियों के सरागसंयम के परित्याग का प्रसंग प्राप्त

होने से उनके मुक्ति गमन के अभाव का भी प्रसंग प्राप्त होता है।

यदि कहा जाए कि सराग संयम के गुणश्रेणी निर्जरा का कारण है। क्योंकि उससे बन्ध की अपेक्षा मोक्ष अर्थात् कर्मों की निर्जरा असंख्यात गुणी होती है, ऐसा भी निश्चय नहीं करना चाहिये, क्योंकि अरहंत नमस्कार तत्कालीन बन्ध की अपेक्षा संख्यात गुणी कर्म निर्जरा का कारण है। इसलिये सराग संयम के समान उसमें भी मुनियों की प्रवृत्ति प्राप्त होती है। कहा भी है -

जो विवेकी जीव भावपूर्वक अरहन्त को नमस्कार करता है वह अतिशीघ्र समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है। ज.ध.)

किं फलमेदं धम्मज्झाणि ? अक्खवएसु विउलामर सुहफलं गुणसेडिए कम्मणिज्जरा फलं च। खवएसु पुण असंखज्ज-गुणसेडीए कम्मपदेश णिज्जरण फलं सुहकम्माणमुक्कस्साणुभागविहाण फलं च। अतः एव धम्माणुपेतं धर्म्यं ध्यानमिति सिद्धिम्।

होर्तिं सुहावसव-संवर-'णिज्जरामर सुहाई विउलाई।
ज्झाण वरस्स फलाइं सुहाणबंधीणि धम्मस्स।। 56।।
जहा वा घण संघात खणेण परणाह्य विलिज्जंति।
ज्झाणप्पवणोवहया तह कम्म घणा विलिज्जंति।। 57।।

अर्थ : शंका : इस धर्मध्यान का क्या फल है ?

समाधान : अक्षपक जीवों को देव पर्याय संबंधी विपुल सुख मिलना उसका फल है और गुणश्रेणी में कर्मों की निर्जरा होना भी उसका फल है, तभी क्षपक जीवों के तो असंख्यात गुणश्रेणी रूप से कर्मप्रदेशों की निर्जरा होना और शुभ कर्मों के उत्कृष्ट अनुभाग का होना उसका फल है। अतएव जो धर्म से अनुप्रेत है वह धर्मध्यान है यह बात सिद्ध होती है।

इस विषय में गाथाएँ -

उत्कृष्ट धर्मध्यान के शुभ आस्रव संवर निर्जरा और देवों के सुख में शुभानुबन्धी विपुल फल होते हैं। अथवा जैसे मेघपटल ताड़ित होकर क्षण मात्र में विलीन हो जाते हैं वैसे ही ध्यान रूपी पवन से उपहत होकर कर्ममेघ भी विलीन हो जाते है।। (ध.पु.)

मोह सव्वुवसग्गो पुण धम्मज्झाण फलं: सकसायत्तणेण धम्मज्झाणिणो

सुहम सांपराइयस्स चरिम समए मोहणीयस्स सव्ववसमुवलभादो तिण्णं घदि कम्माणं णिम्मूल विणास फलमें पयत्तविदक्क अविचारज्झाणं मोहणीय विणासो पुण धम्मज्झाण फलं सुहम सांपराय चरिम समए तस्स तिणासुवलंभादो।

अर्थ : मोह का सर्वोपशम करना धर्म ध्यान का फल है क्योंकि कषाय सहित धर्मध्यानी के सूक्ष्म एवं सांपराय गुणस्थान के अंतिम समय में मोहनीय कर्म की सर्वोपशमना देखी जाती है। तीन घाती कर्मों का निर्मूल विनाश करना एकत्व वितर्क अविचार ध्यान का फल है। परंतु मोहनीय का विनाश करना धर्मध्यान का फल है, क्योंकि सूक्ष्म सांपराय गुणस्थान के अंतिम समय में उसका विनाश देखा जाता है। (ध.पु.)

प्राथमिकानां चिन्तामिति करणार्थ विषय दुर्ध्यान वचनार्थं च परंपरया मुक्ति कारणमर्हदादि पद द्रव्यं ध्येयम् पश्चात्चित्ते स्थिरी भूते साक्षान्मुक्ति कारणं स्वशुद्धात्मत्वतमेव ध्येयं नास्तेकांतः एवं साध्य साधक भावं ज्ञात्वा ध्येय विषये विवादो न कर्तव्यः इति।। (परमात्म प्रकाश)

अर्थ : ध्यान के प्राथमिक साधकों को चित्त के स्थिर करने के लिये और विषय कषाय स्वरूप दुर्ध्यान से बचने के लिए परंपरा मुक्ति के कारण स्वरूप अरिहन्तादि ध्यान करने योग्य हैं। अर्थात् ध्येय हैं। पश्चात् चित्त स्थिर होने पर साक्षात् मुक्ति का कारण जो निज शुद्धात्म तत्त्व है वही ध्यावने योग्य है। पर द्रव्य होने से अरिहन्तादि ध्यावने योग्य नहीं है, यह एकान्त से ठीक नहीं है। अतः सविकल्प अवस्था में अरिहन्तादि उपादेय ही है। इस प्रकार साध्य-साधन जानकार ध्यावने योग्य वस्तु में विवाद नहीं करना। पंचपरमेष्ठी का ध्यान साधक है, और आत्म ध्यान साध्य है यह निःसंदेह जानना।

वैयावृत्यादि स्वकीयावस्था योग्यो धर्मकार्ये नेच्छति तदातस्य सम्यक्त्वमेव नास्तीति।।(प्रवचनसार)

अर्थ : वैयावृत्य आदि अपनी अवस्था के योग्य धर्म कार्य की अपेक्षा से नहीं चाहता है उसका तब से सम्यग्दर्शन ही नहीं है। मुनि व श्रावकपना तो दूर ही रहा है।

यद्यपि व्यवहार नयेन गृहस्थावस्थायां विषय कषाय दुर्ध्यान वंचनार्थ धर्मवर्धनार्थच पूजाभिषेक दानादि व्यवहारोऽस्ति तथापि वीतराग निर्विकल्प समाधिरतानोतत्काले बहिरंग व्यापाराभावत् स्वमेव नास्तीति।

अर्थ : यद्यपि व्यवहार नय कर गृहस्थ अवस्था में विषय कषाय रूप खोटे ध्यान को हटाने के लिये और धर्म बढ़ाने के लिए पूजा अभिषेक दान आदि का व्यवहार है, तो भी वीतराग निर्विकल्प समाधि में लीन हुए योगीश्वरों को उस समय में बाह्य व्यापार के अभाव होने से स्वयं ही द्रव्य पूजा का प्रसंग नहीं आता, भाव पूजा में ही तन्मय है। (परमात्म प्रकाश)

शुद्धात्मानुभूति :-

सम्यग्दृष्टि जनः पुनरभेदरत्नत्रय लक्षण निर्विकल्प समाधिवलेन कतकफल स्थानीयं निश्चय नयाश्रित्य शुद्धात्मानमनुभवतीत्यर्थ।। (स.सा.)

अर्थ : जो सम्यग्दृष्टि जन होता है वह तो अभेद रत्नत्रय लक्षण निर्विकल्प समाधि के बल से कतक स्थानिक निश्चय नय का आश्रय लेकर शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है।

ननु-वीतराग संवेदन विचार काले वीतराग विशेषणं किमिति क्रियते प्रचुरेण भवद्भिः किं सरागमपि स्वसंवेदन ज्ञानमस्तीति ?

अत्रोत्तरं विषय सुखानुभवानन्द रूप स्वसंवेदन ज्ञनं, सर्वजन प्रसिद्धं सरागमप्यस्ति। शुद्धात्मसुखानुभूतिरूप संवेदनज्ञानं वीतरागमिति। इदं व्याख्यानं स्वसंवेदन ज्ञान व्याख्यान काले सर्वत्रं ज्ञातव्यमिति। .....(भावार्थ स.सा.ता वृ)

शंका : वीतराग संवेदन विचार काल में आप ने जो बार-बार वीतराग विशेषण दिया है वह क्यों देते आ रहे हैं क्या कोई सराग स्वसंवेदन ज्ञान भी होता है?

समाधान : इसके उत्तर में आचार्य उत्तर देते हैं कि भाई विषय सुखानुभव के आनंदरूप स्वसंवेदन होता है वह सर्वजन प्रसिद्ध है। अर्थात् वह सब लोगों के अनुभव में आया करता है, वह सराग होता है किन्तु जो शुद्धात्मा के सुखानुभव रूप स्वसंवेदन ज्ञान होता है वह वीतराग होता है। इसी प्रकार स्वसंवेदन ज्ञान के व्याख्यान काल में सभी स्थान पर समझना चाहिये।

विषय कषाय निमित्तोत्पन्नेनार्त्तरौद्रध्यानद्वयेन परिणतानां गृहस्थानामात्माश्रित निश्चयधर्मस्यासवकाशो नास्ति।। (प्र.सा.ता. वृ)

विषय कषाय के निमित्त से उत्पन्न-आर्त्त-रौद्र ध्यानों में परिणत गृहस्थ जनों को आत्माश्रित निश्चय धर्म का अवकाश नहीं है।

असंयत सम्यग्दृष्टि श्रावक प्रमत्त संयतेषु पारम्पर्येण शुद्धोपयोग साधक उपर्युपरि तारतम्येन शुभोपयोग वर्तते तदन्तरमप्रमत्तादि क्षीण कषायपर्यंतजघन्य मध्यमोत्कृष्ट भेदेन विवक्षितेकदेश शुद्धनय रूप शुद्धोपयोग वर्तते।।

असंयत सम्यग्दृष्टि से प्रमत्त तक तीनों गुणस्थानों में परम्परा से शुद्धोपयोग का साधक ऐसे उत्तरोत्तर विशुद्ध शुभोपयोग वर्तता है और उसके अनन्तर अप्रमत्तादि क्षीण कषाय के गुणस्थानों में जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद के लिये विवक्षित एक देश शुद्ध नय रूप शुद्धोपयोग वर्तता है।

ये गृहस्थापि सन्तो मनागात्मभावनामासाद्य वयं ध्यानिन इति बृवंते ते जिनधर्म विराधकः मिथ्यादृष्टियो ज्ञातव्याः।

जो गृहस्थ होते हुए भी मनाक् (थोड़ा) आत्म भावना को प्राप्त करके हम ध्यानी हैं ऐसा कहते हैं वे जिनधर्म विराधक मिथ्यादृष्टि जानना चाहिए।

परम ध्यानों के पर्यायवाची शब्द :-

मा चिट्ठह मा जंपह मा चिन्तह किं वि जेण होइ थिरो।
अप्पा अप्पामि रओ इणमेव परं हवे ज्झाणं।

हे ज्ञानी जनों! तुम कुछ भी चेष्टा मत करो अर्थात् काय के व्यापार को मत करो, कुछ भी मत बोलो और कुछ भी मत विचारो जिससे कि तुम्हारी आत्मा अपनी आत्मा में तल्लीन स्थिर हो, क्योंकि जो आत्मा में तल्लीन होना है वही परम ध्यान है।

नित्य निरंजन और क्रिया रहित, ऐसा जो निजशुद्ध आत्मा का अनुभव है उसको रोकने वाला जो शुभ-अशुभ चेष्टा रूप कार्य का व्यापार है उसको उसी प्रकार शुभ-अशुभ अन्तरंग तथा बहिरंग रूप वचन के व्यापार को और इसी प्रकार शुभ अशुभ विकल्पों के समूह रूप मन के व्यापार को कुछ भी मत करो जिन मन वचन काय रूप है तीनों योगों के रोकने में स्थिर होता है वह कौन है ? आत्मा! कैसे स्थिर होता है ? सहज शुद्ध आत्मज्ञान और दर्शन स्वभाव को धारण करने वाला जो परमात्म तत्त्व है उसके सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान तथा आचरण लाने रूप जो अभेद रत्नत्रय है उस स्वरूप का परमध्यान है, उससे उत्पन्न और सब प्रदेशों को आनंद उत्पन्न करने वाला ऐसा जो सुख उसके आस्वादरूप परिणति सहित निज आत्मा में परिणत तल्लीन, तन्मय और तच्चित्त होकर स्थिर होता है। यही जो आत्मा

के सुखरूप में परिणमन होना है वह निश्चय से परम अर्थात् उत्कृष्ट ध्यान है। उस परम ध्यान में स्थित हुए जीवों को जो वीतरागपरमानंद सुख प्रतिभासित है वही निश्चय मोक्षमार्ग स्वरूप है।

वह दूसरे पर्याय नामों से क्या-क्या कहलाता है अर्थात् उसको किन-किन नामों से लोग कहते हैं सो कथन किया जाता है। वही शुद्ध आत्मा का स्वरूप है। वही स्वात्मोपलब्धि स्वरूप है। वह निर्मल स्वरूप का धारक है। वही स्वसंवेदन ज्ञान है। वही शुद्धात्म स्वरूप है। वही परमात्म का दर्शन है। वही शुद्ध चारित्र है। वही शुद्धात्म की प्रतीति है। वही स्वसंवित्ति है। वही परम समाधि है। वही शुद्धात्म पदार्थ है, वही शुद्धात्म पदार्थ का अध्ययन है। वही निश्चय मोक्ष उपाय है, वही एकांत चिन्ता स्वरूप ध्यान है, वही शुद्धोपयोग है, वही परमयोग है, वही भूतार्थ उपादेय है, वही निश्चय पंचाचार है, वही आत्म स्वरूप है, वही आत्मसार है। वही समतादि निश्चयनय से षडावश्यक है, वही अभेद रत्नत्रय है, वही वीतराग परम सामायिक, वही परमात्म भावना है, वही शुद्धात्म की भावना से उत्पन्न सुखानुभूति स्वरूप परम कला है, वही परमामृत स्वरूप परम ध्यान है, वही शुक्लध्यान है, वही रागादि विकल्प से रहित ध्यान है, वही परम वीतरागत्व है, वही जो परम भेदज्ञान है ऐसे समस्त रागादि विकल्पों से रहित परम आनंद सुख रूप लक्षण का धारक जो ध्यान है उस स्वरूप जो निश्चय मोक्षमार्ग है उसको कहने वाले अन्य भी बहुत से जीव पर्यायी नाम परमात्म तत्त्व की अर्थात् परमात्मा के स्वरूप को जानने वाले जो भव्य जीव हैं उनको जान लेने चाहिये।

आर्द्र-रौद्र परित्याग लक्षण निर्विकल्प सामायिक स्थितानां यच्छुद्धात्मरूपस्य दर्शनमनुभवलोकनमुपलब्धि संवित्तिः ख्यातिरनुभूतिस्तदेव निश्चनयेन निश्चय चारित्राविनाभावि निश्चयसम्यक्त्व वीतरागसम्यक्त्व मन्यते तदेव च गुणगुण्यभेद रूप निश्चय नयेन शुद्धात्म स्वरूपं भवतीति।(स.सा.त.वृ.)

आर्त्त : रौद्र ध्यान का त्याग कर देना है लक्षण जिसका ऐसे निर्विकार कल्प समाधि में स्थिर रहने वाले जो जीव है उनको जो शुद्धात्म के स्वरूप का दर्शन है, अनुभव है, अवलोकन है, उपलब्धि है, संवित्ति है, प्रतीति है, ख्याति है, अनुभूति है, वही निश्चयनय से निश्चय सम्यक्त्व या वीतराग सम्यक्त्व कहा जाता है जो निश्चय चारित्र के साथ अविनाभाव रखता है अर्थात् (उसे वीतराग चारित्र को)

साथ में लिये हुए रहता है। वही गुण-गुणी में अभेद जो निश्चय नय है उससे शुद्धात्म का स्वरूप कहा जाता है।

वीतराग चारित्रानुकूलं शुद्धात्मनाभूत्यविनाभूतं वीतराग सम्यक्त्वम्।(प.प्र.)

वीतराग चारित्र के अनुकूल जो शुद्धात्मानुभूति रूप वीतराग सम्यक्त्व है। संवेदना ज्ञानेन परं परमात्मानं भावय। (पं दौलतरामजी।)

जो वीतराग संवेदन कर परमात्मा जाना जाता था, वही ध्यान करने योग्य है।

शंका: जो स्वसंवेदन अर्थात् अपने से अपने को अनुभवना इसमें वीतरागता विशेष क्यों कहा है ?

समाधान : विषयों के आस्वादन से भी उन वस्तुओं के स्वरूप का जाननापना होता है। परंतु राग भाव कर दूषित है, इसलिये निज रस का आस्वादन नहीं है, और वीतराग दशा में स्वरूप का यथार्थज्ञान होता है। आकुलता रहित होता हैं, और वीतराग दशा में स्वरूप का यथार्थज्ञान होता है। आकुलता रहित होता है। तथा संवेदन ज्ञान प्रथम अवस्था में चौथे, पाँचवे गुणस्थान वाले गृहस्थ को भी होता है, वहाँ पर सराग देखने में आता है इसलिये राग सहित अवस्था के निषेध के लिए वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान कहा गया है। रागभाव है वह कषाय रूप है। इस कारण जब तक मिथ्यादृष्टि अनन्तानुबन्धी कषाय सहित है तब तक तो बहिरात्मा है, उसके स्वसंवेदन ज्ञान अर्थात् सम्यग्ज्ञान सर्वथा ही नहीं है। चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी के अभाव से सम्यग्ज्ञान तो हो गया, परंतु कषाय की तीन चौकड़ी बाकी रहने से द्वितीया के चन्द्रमा के समान विशेष प्रकाश नहीं है, और श्रावक के पाँचवे गुणस्थान में दो चौकड़ी का अभाव है, इसलिये रागभाव कुछ कम हुआ, वीतराग भाव बढ़ गया, इस कारण से ही स्वसंवेदन ज्ञान प्रबल हो गया, परंतु दो चौकड़ी के रहने से मुनि के समान प्रकाश नहीं हुआ। मुनि के तीन चौकड़ी का अभाव है, इसलिये राग भाव तो निर्बल हो गया तथा वीतराग भाव प्रबल हो गया। वहाँ पर स्वसंवेदन ज्ञान का अधिक प्रकाश हुआ, परंतु चौथी चौकड़ी बाकी है, इसलिये छट्ठे गुणस्थानवर्ती मुनि सरागसंयमी है। उसका वीतराग संयमी के जैसा प्रकाश नहीं है। सातवें गुणस्थान में चौथी चौकड़ी मन्द हो जाती है। वहाँ पर आहार-विहार आदि क्रिया नहीं होती। ध्यान में आरूढ़ रहते हैं। सातवें से छट्ठे गुणस्थान में आते तब वहाँ पर आहारादि क्रिया है। उसी

प्रकार छट्ठा सातवाँ गुणस्थान करते रहते हैं। वहाँ अन्तर्मुहूर्त काल है। आठवें गुणस्थान में चौथी चौकड़ी अत्यन्त मन्द हो जाती है। वहाँ राग भाव की अत्यन्त क्षीणता होती है। वीतराग भाव पुष्ट हो जाता है। स्वसंवेदन ज्ञान का विशेष प्रकाश होता है। श्रेणी मांडने से शुक्ल ध्यान उत्पन्न होता है।

श्रेणी के दो भेद हैं। एक क्षपक दूसरा उपशमक। क्षपक श्रेणी वाले तो उसी भव में केवलज्ञान पाकर मुक्त हो जाते हैं और उपशम वाले आठवें नवमें -दसवें से ग्यारहवें गुणस्थान तक पहुँचकर पीछे नीचे गिर जाते हैं। अर्थात् नीचे के गुणस्थान में आते हैं क्योंकि उसका काल अन्तर्मुहूर्त है। किन्तु कुछ एक भव भी धारण करते हैं तथा क्षपकवाले आठवें से नवमें गुणस्थान में प्राप्त होते हैं। वहाँ कषायों का सर्वथा नाश होता है, एक संज्वलन लोभ रह जाता है इसलिये स्वसंवेदन ज्ञान का बहुत ज्यादा प्रकाश होता है, परन्तु एक संज्वलन लोभ बाकी रहने से वहाँ सराग चारित्र ही कहा जाता है। जब दसवें गुणस्थान में सूक्ष्म लोभ नहीं रहता है तब मोह की अट्ठावीस प्रकृतियों के नष्ट हो जाने से वीतराग चारित्र की सिद्धि हो जाती है। दसवें से बारहवें में जाते हैं। ग्यारहवें गुणस्थान का स्पर्श नहीं करते हैं वहाँ निर्मोही वीतरागी को शुक्ल ध्यान का दूसरा पाया (भेद) प्रकट होता है। यथाख्यात् चारित्र हो जाता है। बारहवें के अन्त में ज्ञानावरण-दर्शनावरण अन्तराय इन तीनों का भी विनाश कर डाला, मोह का नाश पहले हो ही चुका था। तब चारों घाति कर्मों के नष्ट हो जाने से तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान प्रकट होता है। वहाँ पर ही शुद्ध परमात्मा होता है अर्थात् उसके ज्ञान का पूर्ण प्रकाश हो जाता है, निःकषाय है। वह चौथे गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक तो अन्तरात्मा हैं, उसके गुणस्थान प्रति चढ़ती हुई शुद्धता है और पूर्ण शुद्धता परमात्मा के है यह सारांश समझना।

राग-द्वेषादि कल्लोलैरेलोलं यन्मनोजलम्।
सपश्यत्यात्मनस्तत्त्वं, तत्तत्त्वंनेतरोजनः। 351।। (स.श.)

जैसे समुद्र का जल पवन के द्वारा उठने वाले तरंगों से चंचल होता है तब उसमें पदार्थ निर्मलता के साथ नहीं दिखता है परन्तु जब वही जल स्थिर होता है निर्मल जल में अपना मुँह या अन्य कोई पदार्थ साफ-साफ दिखता है वैसे ही जब यह मन क्रोध, मान, माया, लोभादि विकारी भावों से चंचल होता है तब उसमें आत्मा का स्वभाव नहीं झलकता है। परन्तु जब उसमें क्रोधादि भाव नहीं होते हैं। तब उस

निर्मल मन में आत्मा का जो स्वरूप है सो बराबर दिखता है। तात्पर्य यह है कि जिसके मन में राग-द्वेषादि विकारी भाव हैं वे आत्मा के स्वरूप को नहीं पा सकते और मोह सहित सम्यग्दृष्टि योगी अपने स्वरूप के अनुभव में दत्तचित्त होते है।।

तमात्मानं कोऽसौ जानाति। योगी कोऽर्थः त्रिगुप्ति निर्विकल्प समाधिस्थ इति।। (प.प्र.)

शंका : आत्मा को कौन जानता है ?

समाधान : योगी जानता है।

शंका : वह योगी कैसा है ?

समाधान : त्रिगुप्ति स्वरूप समाधि में लीन होने वाला योगी आत्मा को जानता है।

अथ स्वभावस्थितानां योगिनां परमानन्द जनयन् कोऽपि शुद्धात्मा स्फुरति तमाह।

जो समभाव परिट्ठियहं जोइहं कोइ फुरेइ।
परमाणंदु जणंतु फुडु सो परमप्पु हवेइ।। (प.प्र.)

समभाव अर्थात् जीवित-मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, शत्रु-मित्र इत्यादि इन सब में समभाव को परिणत हुए परम योगीश्वरों के अर्थात् जिसके शत्रु-मित्रादि सब समान है, और सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यग्चारित्र रूप अभेद रत्नत्रय जिसका स्वरूप है, ऐसी वीतराग निर्विकल्प समाधि में तिष्ठे हुए हैं, उन योगीश्वरों के हृदय में वीतराग परमानन्द उत्पन्न करता हुआ जो स्फुरायमान होता है वही प्रकट परमात्मा है ऐसा मानो। अर्थात् उपरोक्त गुणों से युक्त होने वाला योगी ही शुद्धात्मा से स्फुरायमान सुखानुभव करता है।

वीतराग निर्विकल्प समाधिस्थो अन्तरात्मा परमस्वरूपान् जानतीति। (प.प्र.)

वीतराग निर्विकल्प समाधि स्थित अन्तरात्मा पर स्वरूप को जानता है। अर्थात् भेदविज्ञान के बल से परद्रव्य से स्वद्रव्य पृथक् जानता है।

वीतराग निर्विकल्प समाधि विषयं च परमात्मानां प्रतिपादयंति :-

वेयहिं सत्थंहि इंदियहिं जो जिय मुणहु ण जाइ।
णिम्मल-झाणहं जो ढिसउ जो परमप्पु अणाई।। 23।।
वेदैः शासेरिदिये यो जीवमन्तु न याति।

निर्मलध्यानस्थ वो विषयः स परमात्मा अनादि।। 24।।

अर्थात् मिथ्यात्व अविरति, प्रमाद, कषाय, योग इन पाँच तरह के आस्रवों से रहित निर्मल निज शुद्धात्म को जानकर उत्पन्न हुए नित्यानंद सुखामृत का आस्वाद उस स्वरूप परिणत निर्विकल्प अपने स्वरूप का ध्यान कर स्वरूप की प्राप्ति है। आत्मा ध्यानगम्य ही है, शास्त्रगम्य नहीं है क्योंकि जिनको शास्त्र सुनने से ध्यान की सिद्धि हो जाए और शास्त्रों का अनुभव कर सकते हैं, जिन्होंने पाया, उन्होंने ध्यान से ही पाया है, और शास्त्र सुनना है तो ध्यान का उपाय है ऐसा समझकर अनादि अनंत चिद्रूप में अपनी परिणाम लगाओ। दूसरी जगह भी अन्यथा इत्यादि कहा है। उसका यह भावार्थ है कि वेद शास्त्र तो अन्य तरह ही है। नय प्रमाणरूप है तथा ज्ञान की पंडिताई कुछ और ही है। वह आत्मा निर्विकल्प है। नय प्रमाण निक्षेप से रहित है। वह परम तत्त्व तो केवल आनंद रूप है और ये लोग अन्य ही मार्ग में लगे हुए हैं। सो वृथा क्लेश कर रहे हैं। इस तरह अर्थ रूप शुद्धात्मा ही उपादेय है, अन्य सब त्यागने योग्य है। यह सारांश समझना। (परमात्म प्रकाश)

यत्रनेन्द्रिय सुखदुःखानि यत्र न मनोव्यापारः।
तं आत्मनं मन्यस्य जीवत्वं अन्यत्परमहर।। 27।।
जिन्थुण इन्द्रिय-सुह-दुहइं जित्थु ण मण वावारु।
सो अप्पा मुणि जीव तुहुं अण्णु परि अवहारु।। 28।।

गाथार्थ : जिस शुद्धात्म स्वभाव में आकुलता रहित अतीन्द्रिय सुख से जो विपरीत आकुलता को उत्पन्न करने वाले इन्द्रिय जनित सुख दुःख नहीं है जिसमें संकल्प-विकल्प रूप मन का व्यापार भी नहीं है अर्थात् विकल्प रहित परमात्म से मन के व्यापार अलग है उस पूर्वोक्त लक्षण वालों को हे! जीव तू आत्माराम मान अन्य विभावों को छोड़।

भावार्थ : ज्ञानस्वरूप निज शुद्धात्म को निर्विकल्प समाधि में स्थिर होकर जान अन्य परमात्म स्वभाव से विपरीत पाँच इन्द्रियों के विषय आदि सब विकार परिणामों को दूर से ही त्याग, उनका सर्वथा ही त्याग कर। यहाँ पर किसी शिष्य ने प्रश्न किया कि निर्विकल्प समाधि में सब जगह वीतराग विशेषण क्यों कहा है? उसका उत्तर कहते हैं- जहाँ पर वीतरागता है, वही निर्विकल्प समाधिपना है, इस रहस्य को समझने के लिए अथवा जो रागी हुए कहते हैं कि हम निर्विकल्प समाधि

में स्थित है, उनके निषेध के लिए वीतरागता सहित निर्विकल्प समाधि का कथन किया गया है। अथवा सफेद शंख की तरह स्वरूप प्रकट करने के लिये कहा गया है अर्थात् जो शंख होगा, वह श्वेत ही होगा उसी प्रकार जो निर्विकल्प समाधि होगी, वह वीतरागता रूप ही होगी।

गृहस्थेनाभेदरत्नत्रयस्वरूपमुपादेयं कृत्वा भेद रत्नत्रयात्मक श्रावक धर्म कर्तव्यः यतिना तु रत्नत्रये स्थित्वा व्यावहारिक रत्नत्रयबलेन विशिष्ट तपश्चरण कर्तव्यं नो चेत् दुर्लभ परंपराया प्राप्तं मनुष्यजन्म निष्फलमिति।।(परमात्म प्रकाश)

अर्थ : गृहस्थों को अभेद रत्नत्रयात्मक निश्चय रत्नत्रय को उपादेय करके लक्ष में रखकर भेद रत्नत्रयात्मक अर्थात् व्यवहार रत्नत्रयात्मक श्रावक-धर्म-दान पूजादि पालन करने योग्य है। यथा यति को निश्चय रत्नत्रयात्मक अभेद रत्नत्रय में स्थित होकर व्यवहार रत्नत्रय के बल से विशेष तपश्चरण करने योग्य है। यदि उपरोक्त कर्त्तव्य श्रावक तथा मुनि पालन नहीं करते हैं तो दुर्लभ परंपरा से प्राप्त मनुष्य जन्म निष्फल जाता है। इसलिये श्रावक व्यवहार मोक्षमार्गी है, मुनि निश्चय मोक्षमार्गी है।

सर्वधर्म मयं क्वचित्क्वचिदपि प्रायेण पापात्मकं।
क्वाप्येतद् द्वयवत्करोति चरितं प्रज्ञाधनानामपि।।
तस्मादेष तदन्धरज्जुवलनं स्नानं जगस्थाथवा।
मत्तोन्मत्तविचेष्टितं न हितो गेहाश्रमः सर्वथा।। 41।।(आत्मानु)

गृहस्थाश्रम विद्वज्जनों के चारित्र को भी प्रायः किसी सामायिक आदि शुभकार्यों में पूर्णतया धर्मरूप, किसी विषय भोगादि रूप कार्य में पूर्ण तथा पापरूप तथा किसी जिन गृहादि के निर्माणादि रूप कार्य में उभय(पाप-पुण्य) रूप करता है। इसलिये यह गृहस्थाश्रम अन्धे के रस्सी मांजने के समान है अथवा हाथी के समान अथवा शराबी या पागल की प्रवृत्ति के समान सर्वथा हितकारक नहीं है।

अनाद्यविद्या दोषोत्थ चतुः संज्ञाज्वरातुराः।
शवत्वस्वज्ञान विमुखाः सागारा विषयोन्मुखा। (पं. आशाधर)

अनादिकालीन अविद्यारूपी दोषों से उत्पन्न होने वाली आहार भय मैथुन परिग्रह रूपी संज्ञा ज्वर से पीड़ित आत्मज्ञान से विमुख एवं विषयों के सुख में आसक्त गृहस्थ होते हैं अर्थात् विषय भोगों में विशेष रत होने के कारण उनका

लक्ष्य मोक्ष सुख में नहीं जाता है।

अनाद्यविद्यानुस्थूतां ग्रंथसंज्ञामपासितुम्।
अपरायन्तःसागार प्रायोविषयमूर्च्छिता।। (सा.ध.3)

अनादिकालीन अज्ञान के कारण परम्परा से आने वाली परिग्रह संज्ञा को छोड़ने के लिये असमर्थ प्रायः विषय भोगों में मूर्च्छित गृहस्थ होते हैं।

भद्रध्यानी गृहस्थ जब तक धार्मिक शुभ क्रियायें करता है तब तक वह भोगोपभोग को त्याग करता है इसलिये गृहस्थों की धार्मिक क्रियायें हस्तिस्नानवत् हैं। अर्थात् धार्मिक क्रियाओं के समय में किंचित् संवर और निर्जरा होती है परन्तु भोगोपभोग के समय आस्रव एवं बंध हो जाता है।

पंचम गुणस्थानवर्ती गृहस्थों को होने योग्य ध्यान :-

इस पंचम गुणस्थान में आर्त-रौद्र एवं भद्रध्यान होता है, श्रावक बहु आरम्भ और परिग्रह से सहित होने के कारण उसको धर्मध्यान नहीं होता है।

कृषि वाणिज्यादि व्यापार करने वाले गृहस्थों को नाना प्रकार के इन्द्रिय मोहक पदार्थ विषय में आर्तध्यान उत्पन्न होता है। मोह से युक्त गृहस्थों को रौद्र ध्यान भी होता है। पर दोनों ध्यान से उत्पन्न पाप को उपशमानेवाले एवं ध्यान संपन्न श्रावक भद्रध्यान के माध्यम से नाश करता है।

अशुभ कार्य का नाश होकर शुभ कर्मों की प्राप्ति किन उपायों से होगी ऐसा विचार करने वाले गृहस्थ अपाय विचय नामक धर्मध्यान का स्वामी होता है।

यह चार प्रकार का धर्मध्यान मुख्य रीति से अप्रमत्त गुणस्थान में होता है एवं देशविरत और प्रमत्तविरत इन दोनों गुणस्थानों में उपचार से धर्म ध्यान होता है। ऐसा जानना चाहिये।

जो शुद्ध भाव करने योग्य है। उसकी प्राप्ति पन्द्रह प्रकार के प्रमाद से रहित सकल चारित्र से युक्त अप्रमत विरत गुणस्थान में होती है।

इन्द्रिय विसय विरागे मणस्स णिल्लूरणं हवे जइया।
तइया तं अविअप्प समरुवे अप्पणो तं तु।। (तत्त्वसार गा.6)

जब इन्द्रिय विषयों से विरक्त हुआ मन स्थिरता को प्राप्त होता है तब निर्विकल्प तत्त्व अपने स्वस्वरूप में स्थिरता को प्राप्त होता है।

समणे णिच्चलं भूये णट्ठे सव्वे वियप्प संदोहे।

थक्को सुद्ध सहावो अवियप्पो णिच्चलो णिच्चो।। (गा.6)

सर्व विकल्प समूह नाश होने पर एवं मन स्थिर होने पर निर्विकल्प स्थिर, निश्चय, नित्य अर्थात् शाश्वत ऐसा शुद्ध स्वभाव प्रगट होता है।

ध्याता का लक्षण :-

मा मुज्जह मा रज्जह मा दुस्सह इट्ठाणिट्ठ अट्ठेसु।
स्थिरमिच्छहि जह चित्तं विचित्त झाणप्प सिद्धिए।। (द्र.सं.गा.48)

हे भव्य जनों! यदि तुम नाना प्रकार के ध्यान अथवा विकल्प रहित ध्यान की सिद्धि के लिए चित्त को स्थिर करना चाहते हो तो इष्टानिष्ट रूप जो इन्द्रियों का विषय है उनमें राग-द्वेष और मोह को मत करो।

समस्त राग-द्वेष-मोह से उत्पन्न हुए विकल्पों के समूह से रहित जो निज परमात्मा के समूह की भावना से उत्पन्न हुआ परमानन्द रूप एक लक्षण सुखामृत उससे उत्पन्न हुई और परमात्मा के सुख आस्वादन में तत्पर हुए जो मग्न हुई परम कला अर्थात् परम् संवित्ति है उसमें स्थिर होकर हे भव्य जीवों! मोह-राग-द्वेष को मत करो।

शंका : किन में राग-द्वेष मोह मत करो ?

समाधान : माला, स्त्री, चन्दन, ताम्बुल आदि रूप जो इन्द्रियों के विषय में राग-द्वेष-मोह मत करो। यदि तुम परमात्म के अनुभव में निश्चल चित्त को जानना चाहते तो नाना प्रकार जो ध्यान है उसकी सिद्धि के लिये चित्त से उत्पन्न होने वाला शुभाशुभ विकल्पों का समूह जिसमें विचित्त ध्यान, उस विचित्त ध्यान अर्थात् निर्विकल्प ध्यान के लिये राग-द्वेष मोह मत करो।

इष्ट वियोग-अनिष्ट संयोग रोग को दूर करने तथा भोगोपभोगों के कारणों की इच्छा रखने रूप भेदों से चार प्रकार का आर्त्त ध्यान है। यह आर्त्त ध्यान न्यूनाधिक भाव से मिथ्यादृष्टि गुणस्थान को आदि लेकर प्रमत्त विरत गुणस्थान पर्यन्त जो छः गुणस्थान हैं उनमें रहने वाले जीवों को होता है। और यह आर्त्तध्यान यद्यपि मिथ्यादृष्टि जीवों के तिर्यंच गति के बन्ध का कारण होता है तथापि जिस सम्यग्दृष्टि ने पहले तिर्यंच गति की आयु को बाँध लिया है उस सम्यग्दृष्टि जीव को छोड़कर अन्य जो सम्यग्दृष्टि जीव हैं उनके तिर्यंच गति के बन्ध के कारण नहीं है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीवों के निज शुद्धात्मा के ग्रहण करने की भावना के बल से तिर्यंच गति

का कारण जो संक्लेश भाव है उसका अभाव है।

हिंसानन्द, मृषानन्द चौर्यानन्द और परिग्रहानन्द या विषयसंरक्षणानन्द के भेद से रौद्रध्यान चार प्रकार का है। यह न्यूनाधिक भाव से मिथ्यात्व गुणस्थान से पंचम गुणस्थान पर्यंत रहने वाले जीवों को उत्पन्न होता है। यह रौद्र ध्यान मिथ्यादृष्टि जीवों के लिए नरकगति का कारण है तो भी सम्यग्दृष्टि ने नरकायु बन्ध की है उसको छोड़कर अन्य सम्यगदृष्टियों को नरकगति का कारण नहीं है। क्योंकि सम्यग्दृष्टियों के नरकगति का कारण नहीं है। क्योंकि सम्यग्दृष्टियों के निज शुद्धात्मा ही उपादेय है। इसलिये विशिष्ट ध्यान के बल से नरक गति का कारणभूत जो तीव्र संक्लेश नहीं होता है।

आज्ञा-विचय अपाय-विचय विपाक-विचय एवं संस्थान-विचय इन चार भेदों से भेद को प्राप्त हुआ धर्मध्यान न्यूनाधिक वृद्धि के क्रम में अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती जीवों को उत्पन्न होता है। **मुख्यवृत्या पुण्यबन्ध कारणमपि परंपराया मुक्ति कारणं चेति धर्मध्यानं**'' यह धर्मध्यान मुख्यरूप से पुण्यबन्ध का कारण है तो भी परंपरा से मोक्ष का कारण है।

सम्यग्दर्शन के बिना दीर्घ संसार

दाणं पूया सीलं उपवासं बहुविहंपि खवणंपि।
सम्मजुदं मोक्खसुहं सम्मविणा दीहसंसार।।(10) रयण.

अन्वयार्थ - (सम्मजुदं) सम्यक्त्व सहित (दाणं) चतुर्विध संघ को दान (पूया) पूजा (सीलं) शील रक्षा (उपवासं) उपवास (बहुविहंपि) अनेकविध व्रत भी (खवणंपि) कर्मक्षय (मोक्खसुहं) मोक्ष सुख के कारण हैं। (सम्मविणा) सम्यक्त्व के बिना (दीह संसारं) दीर्घ संसार होते हैं।

पद्यभावानुवाद -

दान-पूजा व शील-उपवास बहुविध भी क्षपण भी।
सम्यक्त्व सहित मोक्षसुख है सम्यक्त्व बिन दीर्घ संसार ।। (1)

समीक्षा व शिक्षा-

मोक्षप्राप्ति व संसार वर्द्धक कारक का यहाँ हुआ वर्णन।
सम्यक्त्व सहित दान-पूजा-शील-उपवास क्षपण है श्रेय।। (2)

सम्यक्त्व रहित दान-पूजा-शील-उपवास क्षपण न श्रेय।
सम्यक्त्व रहित दानादि से न कर्म क्षय व न मिले मोक्ष।। (3)

यथा बीज बिन केवल मृदादि से नहीं बनता है विशाल वृक्ष।
तथाहि आत्मश्रद्धान रूपी सम्यक्त्व बिन नहीं मिलता है मोक्ष ।। (4)

इससे महान् शिक्षा मिलती आत्मश्रद्धान करना है प्रथम ध्येय।
इससे होता है आत्मज्ञान जिससे होता है भेद विज्ञान।। (5)

भेद विज्ञान से होती विरक्ति, संसार-शरीर-भोग से अनासक्ति।
जिससे बढ़ती समता-शान्ति, जिससे बढ़ती आत्मविशुद्धि।। (6)

इससे संवर-निर्जरा-मुक्ति किन्तु सम्यक्त्व बिन न मिले मुक्ति।
इससे महान् शिक्षा मिलती आत्मश्रद्धान सहित धर्म से मुक्ति।। (7)

संदर्भ -

एक मानव में देखा...! ?

(मानव के विश्व रूप)

(चाल - एक लड़की को देखा...)

एक मानव को देखा तो ऐसा देखा...एक भावी भगवान् सभी जीवों से महान्...
ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न सभी आदर्श सम्पन्न...दया दान सेवावान् सत्य समतावान्...एक(1)
अन्य पक्ष भी सहित महान् दुर्गुण युक्त...(हर) पाप में अग्रगण्य सभी जीवों में क्रूरतम्...
दयादान सेवाहीन सत्य-समता विहीन...मोह अज्ञान आच्छन्न सभी दुर्गति कारण...एक...(2)
सभी गुणस्थान सम्पन्न संज्ञी पर्याप्त प्राणवान्...आहार-भय-मैथुन-परिग्रहवान्...
पंचेन्द्रिय त्रस व मनुष्य गति सम्पन्न...योगवेद व सभी कषाय सम्पन्न...एक...(3)
कुज्ञान-सुज्ञान सम्पन्न संयम व असंयम...चारों दर्शन सम्पन्न षट् लेश्या युक्तवान्...
भव्य-अभव्य संभव इससे परे मोक्षजीव...छहों सम्यक्त्व संभव सभी उपयोग

सह...एक...(4)
अशुभ-शुभ-शुक्लध्यान से युक्त...आस्रव-बंध से मोक्ष पर्यन्त...
कुलकोटि बारह लाख जाति चौदह लाख...चारों गति व पंचम गति मोक्ष तक...एक...(5)
विश्व रूप है मानव-अनंत आयामवान्...सभी के केन्द्र में है विराजमान्...
मानव! विकास से तू बनो महान्/(भगवान्)...'कनकनन्दी' अतः करे तुझे आह्वान...एक...(6)

सम्यग्दृष्टि की श्रद्धा-प्रज्ञा-परिणति

(चाल : अच्छा सिला दिया..., छोटी-छोटी गैया...)

सम्यग्दृष्टि की होती (है) परिणति, श्रद्धा-प्रज्ञा सहित अलौकिक।
बुद्धि-तर्क से परे ये परिणति, रूढ़ी-परंपरा-लौकिक रिक्त।। (1)
लौकिक नीति-नियम संविधान, परे होता है सामाजिक बंधन।
शरीर सहित होने पर भी, परे होता है श्रद्धा का आयाम।। (2)
द्रव्य-भाव-नोकर्म सह तथापि, स्वयं को मानता है इससे परे।
सच्चिदानंद अमूर्त स्वभाव, अनादि अनिधन ज्ञानमय।। (3)
स्वयं को मानता है निश्चयनय से, शुद्ध-बुद्ध व नित्य-निरंजन।
द्रव्यभाव नोकर्मों से रहित, अनंत चैतन्य-वैभववान्।। (4)
क्रोध मान माया लोभ काम मोह, ईर्ष्या तृष्णा घृणा को मानता पर।
तन मन इन्द्रिय भोग वैभव को, स्व-शुद्ध आत्मा से मानता पर।। (5)
स्वयं को न माने मानव तिर्यंच, नारकी देव या धनी गरीब।
गोरा-काला या छोटा-बड़ा, दीन-हीन कायर नीच बाला।। (6)
सुंदर-असुंदर मालिक-मजदूर, राजा-प्रजा या शोषक-शोषित।
नहीं मानता है निर्बल-बलवान्, बालक वृद्ध युवक तरुण।। (7)
जन्म-जरा व मरण से परे, स्वयं को मानता है अजर-अमर।
दृश्यमान समस्त अवस्थाएँ, कर्मजनित मानता श्रद्धावान्।। (8)
चक्रवर्ती को भी न बड़ा मानता, निर्धनी को भी न छोटा मानता।
सभी के आत्मा तो जीव द्रव्य/(समान) होते, छोटा-बड़ा कौन कोई न होता।।
स्वयं को मानता तथा शुद्ध-बुद्ध, तथाहि मानता है हर जीव को।

द्रव्य अपेक्षा से हर जीव समान, न कोई क्षुद्र न कोई महान्।। (10)
चारित्रमोह के वशवर्ती होकर, भले न धरता है श्रमणाचार।
तथापि साधु बनने के लिए, सतत करता है यत्नाचार।। (11)
नहीं करता सप्त व्यसन सेवन, नहीं करता अष्टविध मद।
तीन मूढ़ता से भी रहित होता, द्रव्य-तत्त्वों का करता विश्वास।। (12)
करे आराधना देवशास्त्र गुरु की, करता है दया दान व सेवा।
न्याय-नीति से जीविका चलाता, कमल के सम निर्लिप्त रहता।। (13)
मरण के अनंतर स्वर्ग में जाता, स्वर्ग से चयकर मानव बनता।
श्रमण बनकर साधना करता, कर्म नष्ट कर शुद्धात्मा बनता।। (14)
सम्यग्दृष्टि न बनता नारकी, तथाहि तिर्यंच व नीच देव।
निर्धन विकलांग स्त्री न बनता, न करता दीर्घकाल संसार भ्रमण।।(15)
अन्तर्मुहूर्त में बन सकता भी सिद्ध, श्रमण बनकर सम्यग्दृष्टि जीव।
उत्कृष्ट से अर्द्धपुद्गल परिवर्तन में, मध्यम में भी कुछ भवों में।। (16)
यह है सम्यग्दृष्टि की महिमा, ज्ञान चारित्र युक्त साधु की महिमा।
अनंत आत्म-शक्ति की महिमा, 'कनकनंदी' की शुद्धात्मा।। (17)

बहिरात्मा-अन्तरात्मा-परमात्मा का लक्षण

बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरान्तरः।
चित्तदोषात्मविभ्रान्तिःपरमात्माऽतिनिर्मलः।। (5) (स.तं.)

पद्यभावानुवाद - (चाल : आत्मशक्ति...)

शरीर आदि को स्वरूप मानना, बहिरात्माका लक्षण।
उक्त भ्रान्ति से रहित अन्तरात्मा, परमात्मा है अतिनिर्मल।। (1)

समीक्षा -

जो शरीर आदि को स्वरूप माने, वे हैं बहिरात्मा-मिथ्यात्वी।
मैं शरीर हूँ ऐसी भ्रान्ति से, रहित होते हैं सम्यग्दृष्टि।। (2)

द्रव्य-भाव-नोकर्म मल से, रहित होते हैं परमात्मा।
परमात्मा स्वरूप ही जीवों का, निज स्वरूप ऐसा जाने अन्तरात्मा।। (3)

सन्दर्भ-

परमात्मा बनने के उपाय

सम्मद्दंसणणाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे।
ववहारा णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा।। (39 द्र.स.)

Known that from the ordinary point fo view, perfect faith, knowledge and conduct are the cause of liberation, while really one's own soul consisting of these three (is the cause of liberation)

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र इन तीनों के समुदाय को व्यवहार से मोक्ष का कारण जानो तथा निश्चय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और चारित्रस्वरूप जो निज आत्मा है उसको मोक्ष का कारण जानो।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।

सम्यक् दर्शन Right Darsana belief सम्यक् ज्ञान Right Gyan (Knowledge) सम्यक् चारित्र Right Charitra (Conduct) मोक्ष मार्ग The path to liberation

Right belief, right knowledge, right conduct, these together constutute the path of liberation.

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्ष का मार्ग है।

रत्नत्रय :- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र को धर्म या मोक्षमार्ग इसलिए कहते हैं कि इनसे जीव बंधन में नहीं पड़ता वरन् बंधन से मुक्त होता है। जैसाकि अमृतचंद्र सूरी ने कहा है-

दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः।
स्थितिरात्मनि चरित्रं कुत एतेभ्यो भवति बंधः।। (216 पु. उ.)

सम्यग्दर्शन आत्मा की प्रतीति को कहा जाता है। आत्मा का सम्यक् प्रकार ज्ञान करना बोध सम्यग्ज्ञान कहलाता है। आत्म में स्थिर होना अर्थात् लवलीन होना सम्यक् चारित्र कहा जाता है। इनमें बंध कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता।

कुन्दकुन्द स्वामी भी यह भेदाभेदात्मक निश्चय व्यवहारात्मक मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं -

दंसण णाण चरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जण तिण्णिवि अप्पाणं चेव णिच्छयचदो।। (16 समयसार)

साधु को व्यवहार नय से सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र इन तीनों को भिन्न-भिन्न समझकर नित्य सदा ही इनकी उपासना करनी चाहिए। अपने उपयोग में लाना चाहिए लेकिन शुद्ध नय से वे तीनों एक शुद्धात्मा स्वरूप ही हैं। उससे भिन्न नहीं है ऐसा समझना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि पञ्चेन्द्रियों के विषय और क्रोधादि कषायों से रहित जो निर्विकल्प समाधि है उसमें ही सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों होते हैं।

णिज्जावगो य णाणं वादो झाणं चरित्तं णावा हि।
भवसागरं तु भविया तरंति तिहि सण्णिवायेण।। (100) (मूलाचार)

खेवटिया ज्ञान है, वायु ध्यान है और नौका चारित्र है। इन तीनों को संयोग से ही भव्य जीव संसार सागर से तिर जाते हैं।

णाणं पयासओ तओ सोधयो संजमो य गुत्तियरो।
तिण्हंपि य संपजोगे होदि हु जिण सासणे मोक्खो।। (101)

ज्ञान प्रकाशक है, तप शोधक है और संयम रक्षक है इन तीनों के संयोग से ही अर्थात् मिलने पर ही जिन शासन में मोक्ष की प्राप्ति होती है।

तवेण धीरा विधुणंति पावं अज्झप्पजोगेण खवंति मोहं।
संखीण छुदराग दोसा उत्तमा सिद्धिगदि पयाति।। (103)

धीर मुनि तप से पाप नष्ट करते हैं। अध्यात्म योग से मोह का क्षय करते हैं। पुनः वे उत्तम पुरुष मोह रहित और राग द्वेष रहित होते हुए सिद्धि प्राप्ति कर लेते हैं।

जीवादी सद्दहणं सम्मत्त तेसिमधिगमो णाणं।
रागादि परिहणं चरणं ऐसा दु मोक्खसहो।। (155)

सम्यग्दर्शन -

जीवादी सद्दहण सम्मतं - जीवादिनवपदार्थानां विपरीताभिनिवेशरहितत्वेन श्रद्धानं सम्यग्दर्शन।

जीवादि सद्दहण सम्मतं - जीवादि नव पदार्थों का विपरीत अभिप्राय से रहित जो सही श्रद्धान है, वही सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्ज्ञान -

तेसिमधिगमो णाणं - तेषामेव संशयविमोहविभ्रमरहितत्वेनाधिगमो निश्चयः परिज्ञान सम्यग्ज्ञानम्।

तेसिमधिगमो णाणं - उन्हीं जीवादि पदार्थों का संशय - उभय कोटिज्ञान, विमोह - विपरीत एक कोटि ज्ञान, विभ्रम-अनिश्चित ज्ञान, इन तीनों से रहित जो यथार्थ अधिगम होता है, निर्णय कर लिया जाता है, जान लिया जाता है, वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है।

सम्यक्चारित्र -

रागादि परिहरणं चरणं।

तेषामेव सम्बन्धित्वेन रागादिपरिहारश्चारित्र।

रागादि परिहरणं चरण और उन्हीं के संबंध में होने वाले जो रागादिक विभाव होते हैं उनको दूर हटा देना सो सम्यक्चारित्र कहलाता है।

व्यवहार मोक्षमार्ग-

एसो दु मोक्खोपहो इत्येव व्यवहारमोक्षमार्गः।

यह व्यवहार मोक्षमार्ग है।

भूतार्थनय के द्वारा जाने हुए उन्हें जीवादि पदार्थों को अपनी शुद्धात्मा से पृथक् रूप में ठीक-ठीक अवलोकन करना निश्चयसम्यग्दर्शन कहलाता है और उन्हीं जीवादि पदार्थों को अपनी शुद्धात्मा से पृथक् रूप में जानना सो निश्चय सम्यग्ज्ञान है और उनको शुद्धात्मा से भिन्न जानकर रागादिकरूप विकल्प से रहित होते हुए अपनी शुद्धात्मा में अवस्थित होकर रहना निश्चय सम्यक्चारित्र है इस प्रकार यह निश्चय मोक्ष मार्ग हुआ।

"Self reverence ,self knowledge and self control.
These three alone lead life to sovereign power"

निश्चय से रत्नयधारी आत्मा ही मोक्ष मार्ग

रयणतयं ण वट्टइ अप्पाणं मुइत्तु अण्ण दवियम्हि।
तम्हा तत्तियमइय होदि हु मोक्खस्सकारणं आदा।। (40)

The three jewels (i.e.perfect faith,perfect knowledge and

perfect conduct) do not exist in any other substance except the soul.Therefore, the soul surely is the cause of liberation.

आत्मा को छोड़कर अन्य द्रव्य में रत्नत्रय नहीं रहता है इस कारण उस रत्नत्रयमयी जो आत्मा है वही निश्चय से मोक्ष का कारण है।

आचार्य श्री ने इस गाथा में रत्नत्रय युक्त आत्मा ही निश्चय से मोक्ष का कारण बताया है क्योंकि रत्नत्रय की पूर्णता ही मोक्ष है और रत्नत्रय आत्मा में विद्यमान रहता है। योगेन्द्र देव ने भी योगसार में कहा है-

रयणत्तय-संजुत्तं जिउ उत्तिमु तित्थु पवित्तु।
मोक्खहं कारण जोइया अण्ण ण तंतु ण मंतु।। 83

हे योगिन! रत्नत्रय युक्त जीव ही उत्तम तीर्थ है, और वही मोक्ष का कारण है। अन्य कुछ मंत्र-तंत्र मोक्ष का कारण नहीं।

अप्प दंसणु णाणु मुणि अप्पा चरणु वियाणि।
अप्पा संजमु सील तउ अप्पा पच्चक्खाणि।। 81

आत्मा को ही दर्शन और ज्ञान समझो, आत्मा ही चारित्र है, और संयम, शील, तप और प्रत्याख्यान भी आत्मा को ही मानो।

रयणत्तयसंजुत्तं जीव हवदि उत्तम तित्थं।
संसार तरइ जेणं रयणत्तयं दिव्व णावेण।

रत्नत्रय से युक्त जीव ही उत्तम तीर्थ है। क्योंकि ''तरंति संसारं येन भव्यास्तत्तीर्थ'' अर्थात् संसार रूपी सागर से भव्य जिसके माध्यम से तिरता है उसे तीर्थ कहते हैं। कहा भी है - ''तीर्थ शब्देन मार्गो रत्नत्रयात्मकः'' तीर्थ शब्द से रत्नत्रय मार्ग जानना चाहिये। इसलिए इस गाथा में कहा गया है कि ''संसार तरइ जेणं रयणत्तयं दिव्य णावेण'' यह जीव जिस दिव्य नाव से संसार रूपी सागर को पार करता है, ऐसी रत्नत्रय रूपी नौका ही उत्तम तीर्थ है।

आत्मा प्रतीति रूप जो आत्म का ही गुण है उसे ''सम्यग्दर्शन कहते हैं। आत्मा का जो परिज्ञान रूप आत्मा का गुण है, उसे ''सम्यग्ज्ञान'' कहते हैं और आत्मा में रमण करने रूप आत्मागुण को चारित्र कहते हैं। इसलिए रत्नत्रय आत्मा का ही अभिन्न स्वभाव है। इसलिए रत्नत्रय आत्मा में ही है और साधन अवस्था में यह रत्नत्रय मोक्ष के कारण या मार्ग है तो सिद्ध अवस्था में यही रत्नत्रय मोक्षरूप कार्य या साध्य बन जाते हैं। जिस प्रकार 1. कपूर 2. अजवाइन सत्त्व, 3 पिपरमेंट

से अमृतधारा बनाते हैं। इन तीनों को जब योग्य अनुपात में मिलाते हैं तब वे तीनों अमृतधारा के लिए कारण बनते हैं। क्योंकि ये तीनों धीरे-धीरे पिघलकर अमृतधारा रूप में परिणमन कर लेते हैं। जब अमृतधारा रूप परिणमन कर लेते हैं तब कार्य रूप हो जाते हैं। अमृतधारा बनने के पहले तीनों कारण थे किन्तु अमृतधारा बनने पर कार्य हो गये। इसी प्रकार रत्नत्रय भी मोक्ष के पहले कारण रहते हैं फिर मोक्ष में स्वयं कार्यरूप परिणमन कर लेते हैं। पानी से बर्फ बनती है पानी ठंडा होते-होते जब हिमांक तक ठंडा हो जाता है तब पानी ही बर्फ रूप बनने के बाद वह पानी बर्फ-कार्य रूप में परिणमन हो गया। इसी प्रकार व्यवहार रूप भेद रत्नत्रय निश्चय रूप अभेद रत्नत्रय के लिए कारण है और भेद रत्नत्रय साधन अवस्था में कारण है तो सिद्ध अवस्था में कार्य रूप हो जाते हैं।

सम्यग्दर्शन का स्वरूप

जीवादि सद्दहणं सम्मतं रूपमप्पणो तं तु।
दुरभिणिवेस विमुक्कं णाणं खु होदि सदि जम्हि।। (41) द्र. सं.

samyaktva (perfect faith) is the belief in jiva etc.That is a quality of the soul[and when this arises,Gyan(Knowledge) being free from errors, surely becomes perfect.

जीव आदि पदार्थों को जो श्रद्धान करना है वह सम्यक्त्व है और वह सम्यक्त्व आत्मा का स्वरूप है। और इस सम्यक्त्व होने पर संशय, विपर्यय तथा अनध्यवसाय इन तीनों दुरभिनिवेशों से रहित होकर ज्ञान सम्यक् ज्ञान कहलाता है।

आचार्य श्री ने इस गाथा में निश्चय एवं व्यवहार सम्यक्त्व का स्वरूप और उसके कार्य का प्रतिपादन किया है। ''**जीवादीसद्दहणं सम्मतं**'' अर्थात् जीवादि षट् द्रव्य या सप्त तत्त्व या नव पदार्थ का श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन है और ''**रूवमप्पणो तं तु**'' वह सम्यक्त्व आत्मा का स्वरूप है यह निश्चय सम्यग्दर्शन है। ''**दुरिभिणिवेसविमुक्के**'' **णाणं सम्मं खु होदि सदि जम्हि**'' अर्थात् सम्यग्दर्शन होने पर ज्ञान संशय विपर्यय एवं अनध्यवसाय से रहित होकर सम्यग्ज्ञान हो जाता है। ऐसा प्रतिपादन करके आचार्य श्री ने सम्यग्दर्शन की महिमा का वर्णन किया है क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान कुज्ञान रहते हैं।

मेरे हेतु परम स्वाधीन व गणतन्त्र

(भारत के 69वें गणतन्त्र दिवस के उपलक्ष्य में)

– आचार्य कनकनन्दी

(चाल : 1. मन रे ! तू काहे न, 2. सायोनारा...)

जिया रे ! तू स्वयं को जानो मानो ऽऽऽ
स्वयं का ही करो स्मरण-मनन,ध्यान अध्ययन व रमण ऽऽ (ध्रुव)
स्व के गुण-दोष विश्लेषण करो, दोष हरण व करो गुण ग्रहण ऽऽऽ
राग द्वेष मोह-ईर्ष्या तृष्णादि दोष, समता-शान्ति सहिष्णुतादि गुण ऽऽ
तू तो शुद्ध-बुद्ध-आनंदकंद ऽऽ जिया रे। (1)
ऐसा विश्वास ही है आत्मविश्वास...तदनुकुल जो होता वह सम्यक् ज्ञान ऽऽ
दोषहरण गुणसंवर्धन करना ही...जो होता वह ही होता सदाचरण ऽऽऽ
इससे ही मिलता परिनिर्वाण ऽऽऽ जिया रे (2)
इसके बिना सभी तप-त्याग-व्रत...ध्यान अध्ययन व अध्यापन ऽऽऽ
न होते कोई भी मोक्ष के कारण ऽऽऽ (यथा) ईकाई बिना शून्य न मूल्यवान् ऽऽऽ
ईकाई से युक्त-शून्य होता मूल्यवान्...जिया रे (3)

दाणं पूया सीलं उपवासं बहुविंहपि खवणंपि।
सम्मजुदं मोक्खसुहं सम्मविणा दीह संसारं।। 10 (रयणसार)
णिय सुद्दप्पणुरत्तो बहिरप्पा वच्छवज्जिओ णाणी।
जिण मुणि धम्मं मणाई गइ दुक्खी होई सद्दिट्ठी।। 6. (रयणसार)

निज शुद्धात्मा ही अनुरक्त रहो, बहि अन्तरंग बंधन से विरक्त।
जिनेन्द्र मुनीन्द्र धर्म में रत रहो...(जिससे) बनोगे अतः दुःखमुक्त सुदृष्टि।।
एकत्वविभक्त ही शुद्धात्म दृष्टि ऽऽ...जिया रे (4)
यह ही तेरा धर्म यह ही सुधर्म है...अन्य सभी हैं कुधर्म व अधर्म ऽऽ
ख्याति पूजा लाभ प्रसिद्धि वर्चस्व ऽऽ दीन हीन दंभ-द्वन्द्व क्लेशऽऽ
(परनिन्दा-अपमानादि भी अधर्म ऽऽ जिया रे (5)
आत्माधीन ही होते हैं स्वधर्म...पराधीन सभी ही हैं अधर्म ऽऽ
शुद्ध बुद्ध आनन्द होना ही स्वधर्म...संक्लेश-द्वन्द्व व दुःख अधर्मऽऽ
'कनक' तेरा साध्य साधन सुधर्म।। जिया रे (6)

श्रावक व मुनि धर्म के मुख्य कर्त्तव्य

दाणं पूया मुक्खं सावयधम्मो ण सावया तेण विणा।
झाणाज्झयणं मुक्खं जइधम्मो तं विणा तहा सोवि।। (11) रयण.

अन्वयार्थ - (दाणं पूया मुक्खं सावय धम्मो) दान देना, पूजा करना, यह श्रावक के मुख्य धर्म हैं (ण सावया तेणविणा) इसके बिना श्रावक नहीं है।(झाणाज्झयणं) ध्यान और अध्ययन (जइधम्मो, यति-मुनिधर्म का (मुक्खं) प्रधान धर्म है (ण तं विणा) उसके बिना (तहासोवि) मुनिधर्म नहीं है।

पद्यभावानुवाद

दान पूजा मुख्य श्रावक धर्म में, न श्रावक इसके बिना।
ध्यान-अध्ययन मुख्य मुनि धर्म में, न श्रमण इसके बिना।। (1)

समीक्षा व शिक्षा

आरंभ-परिग्रह व भोग-उपभोग सहित होते हैं श्रावक जन।
इससे होता है निश्चय से पाप बन्ध, उसे दूर हेतु पूजा-दान।।(2)
यदि श्रावक न करते हैं दान-पूजा वे निश्चय से धर्म हीन।
उपार्जित पाप न होता दूर, जिससे पाते दुःख अनेक ।।(3)
अपरिग्रही होते हैं श्रमण, इनके प्रमुख धर्म-ध्यान-अध्ययन।
ध्यान-अध्ययन के बिना श्रमण धर्म से वे होते न्यून।। (4)
इससे शिक्षा मिलती प्रमुख श्रावक करे पूजा-दान।
ध्यान-अध्ययन प्रमुख श्रमण धर्म इसमें लीन रहे श्रमण।। (5)

सन्दर्भ :-

(साधु आदि आत्म साधकों के आहार ग्रहण के कारण)

आहार दाता करते चारों दान से मोक्ष दान तक

(आहार दाता देते चारों दान शरीर, प्राण,रूप, विद्या, धर्म, तप,सुख, मोक्ष,दान)

(चाल : 1. आत्मशक्ति...2. क्या मिलिए...)

आहार दान महान् है...पुण्यात्माजीव करते,
इह परलोक में दाता व पात्र लाभान्वित होते।
आहार दान गृहस्थ अपेक्षा महान् दान,

इससे देते चारों दान से ले मोक्ष दान।। (1)
आहार दान तो साक्षात् आहारदानी करते,
क्षुधारोग नाश से वे औषधदान देते।
प्राण रक्षा होने से अभयदान देते,
ज्ञानार्जन साधु करे अतः ज्ञानदान देते।। (2)
प्रकारान्त से/(विस्तार से) परोक्ष से बहुदान देते,
शरीर रक्षा होने से शरीर दान देते
प्राणरक्षा होने से भी प्राणदान/(रूप) देते,
अध्ययन-अध्यापन (होने) से विद्यादान देते।। (3)
रत्नत्रयमय धर्म साधु पालन करते,
दशधाधर्म पालन से धर्मदान करते।
अन्तरंग-बहिरंग तप साधना करते,
अतः अहारदानी तपदान भी करते।। (4)
इह परलोक में भी सुख पाते,
अतएव आहारदानी सुखदान करते।
धर्म का अन्तिम फल मोक्ष ही होता,
अतएव आहार दानी मोक्षदानी होते।। (5)
अतएव आहारदानी बहुदान करते,
मूल में जल देने सम काम करते।
विशाल भी आम वृक्ष लाभान्वित होते,
मूल से ले फूल-फल पोषित होते।। (6)
अतएव दानी भी महान् फल पाते,
मिथ्या दृष्टि होने पर भी भोग भूमि जाते
वहाँ से स्वर्ग जाकर पुनः मानव होते,
सम्यग्दृष्टि तो स्वर्ग से मोक्ष तक पाते।। (7)
अतः आहारदान भी सदाकरणीय,
यथायोग्य नवकोटि से भी करणीय।
अन्यदान भी नवकोटि से भी करणीय,
'कनकसूरी' संक्षेप में किया यहाँ वर्णन।।

मेरी स्वाध्याय रूपी साधना से ध्यान

(चाल : मन रे !..., सायोनारा) - आचार्य कनकनन्दी

जिया रे ! तू सतत स्वध्याय करो
स्वाध्याय ही तेरा परम धर्म/(कर्त्तव्य) ऽऽ स्वाध्याय ही परम ध्यान/(तप) ऽऽ(ध्रुव)

यथा चक्षुवाला भी न पढ़ पाता है ऽऽ प्रकाश बिना ग्रन्थों को भी ऽऽ
तथाहि स्वाध्याय बिन न होता ज्ञान ऽऽ स्व-तत्त्व से पर तत्त्व भी ऽऽ
न होता ज्ञान स्व-आत्मा परमात्मा भी ऽऽ ।। जिया रे...(1)

श्रुतज्ञान होता परोक्ष केवलज्ञान ऽऽ सर्वज्ञज्ञात व गणधर से ग्रन्थित ऽऽ
आचार्य परम्परा द्वारा ही लिखित ऽऽ स्वाध्याय से जानो भेद विज्ञान ऽऽ
भेद विज्ञान से (प्राप्त होता) केवल ज्ञान ऽऽ ।। जिया रे...(2)

सर्वज्ञ ही जानते सम्पूर्ण परम सत्य ऽऽ संसार तत्त्व से ले मोक्ष तत्त्व ऽऽ
अणु से लेकर लोक से अलोक तक ऽऽ द्रव्य-तत्त्व से पदार्थ तक ऽऽ
मूर्तिक-अमूर्तिक चेतन-अचेतन ऽऽ जिया रे...(3)

ऐसे आगम से (तू) तेरा अध्ययन करोऽऽ तू ही जीव द्रव्य-तत्त्व-पदार्थ ऽऽ
शुद्ध-बुद्ध व आनन्दकन्द तू ऽऽ द्रव्य-भाव-नोकर्म रहित ऽऽ
तन-मन-इन्द्रियों से परे तू/(ऐसा है तेरा भेदविज्ञान) ऽऽ... जिया रे...(4)

ऐसा ही तू करो स्वयं का विश्वास ऽऽ जिसे कहते हैं आत्मविश्वास ऽऽ
ऐसा ही तू करो आत्म ज्ञान ऽऽ जिसे कहते हैं आत्मविज्ञान ऽऽ
ऐसा ही तू करो आत्मानुचरण ऽऽ जिसे कहते है सम्यक् आचरण ऽऽ
इस हेतु तू रागद्वेष त्यागो ऽऽ ख्याति-पूजा लाभ-वर्चस्व
संकल्प-विकल्प-संक्लेश त्यागो ऽऽऽ ख्याति-पूजा-लाभ-वर्चस्व ऽऽऽ
भजो/(पाओ) समता-शान्ति-निस्पृह ऽऽ।। जिया रे...(6)

आडम्बर-ढोंग प्रपंच प्रतिस्पर्द्धा ऽऽ लौकिक जनों के भाव-व्यवहार ऽऽ
त्याग करो सभी तू अनात्म काम ऽऽ स्वयं में ही स्वयं करो विहार ऽऽ
'कनक' तू सच्चिदानन्द परमेश्वर ऽऽ जिया रे...(7)

स्वाध्याय परमतप क्यों ?

(चाल : छोटी-छोटी गैया ...)

स्वाध्यायरत साधु महान् तपस्वी, स्वाध्यायी समान न अन्य तपस्वी।
भूत-वर्तमान व भविष्यत काल में, स्वाध्याय सम फल न अन्य तप में।। (1)

स्वाध्याय है स्व-आत्म-अध्ययन, विषय-कषाय-रिक्त आत्म का ज्ञान।
अष्ट-शुद्धि युक्त व विनय सहित, पंचविध स्वाध्याय स्व-पर-हित युत।। (2)

स्वाध्याय से बहुविध होते हैं लाभ, अज्ञान निवृत्ति व ज्ञान का लाभ।
हितग्रहण व अहित निवारण, नवीन-नवीन संवेग वर्द्धन।। (3)

पंचेन्द्रिय निरोध व त्रिगुप्ति गुप्त से, स्वाध्याय होता है एकाग्रमन से।
असंख्यातगुणी कर्म निर्जरा होती, सातिशय पुण्य प्रकृति बंधती।। (4)

लाख-करोड़ों भवों में अज्ञानी जीव, जितने कर्मों को करता विनाश।
ज्ञानी-मुनि उस कर्म पुंज को, अंतर्मुहूर्त में ही करते विनाश।। (5)

सर्वज्ञ की आज्ञा का पालन होता, ध्यान-अध्ययन मुख्य मुनि का होता।
अध्यापन व प्रवचन उत्तम होते, ज्ञान/(धर्म) का प्रचार प्रचुर होता।। (6)

भक्ति व प्रभावना उत्तम होती, ज्ञान-ज्योति भी प्रद्योत होती।
जीवन्त धर्मतीर्थ होता प्रवर्तन, मोक्षमार्ग का न होता विच्छेदन।। (7)

विनय से जो स्वाध्याय करता, प्रमाद से यदि विस्मृत होता।
तथापि परभव में सुफल देता, केवलज्ञान को प्रगट करता।। (8)

तीर्थंकर केवली व गणधर होता, बहुश्रुत आचार्य उपाध्याय होता।
आत्मविशुद्धि से श्रेणी आरोहण होता, कर्मों को नाशकर सिद्धत्व पाता।।(9)

अतएव ज्ञानदान महान् दान, सर्वज्ञ तीर्थंकर भी करते जो दान।
अतएव ज्ञानदान देय व ग्राह्य, 'कनकनन्दी' को भी लगे ये श्रेय।। (10)

स्वाध्याय परमः तपः

(स्वाध्याय का स्वरूप एवं फल)

- आचार्य कनकनन्दी

(चाल : छोटी-छोटी गैया...सायानोरा..., तुम दिल की धड़कन...)

स्व-अध्ययन हेतु अध्ययन आगम का, होता परम तप है।
राग-द्वेष-मोह क्षीण जब होता, होता परम तप है।। (स्थायी)
दर्पण में देह प्रतिबिम्ब दिखे, तथाहि आगम से आतम का।
स्व-आत्म गुण-दोष अध्ययन ही, परम लक्ष्य स्वाध्याय का।।
परम आगम सर्वज्ञ कथित, गणधर ग्रंथित होता है।
परम्पराचार्य द्वारा रचित, सापेक्ष कथन होता है।। (1)

द्रव्य तत्त्व व पदार्थों का, जब परिज्ञान होता है।
द्रव्य-गुण-पर्याय सहित, आत्म-परिज्ञान (भी) होता है।।
स्वयं को जब जाने सिद्ध समान, सच्चिदानंदमय है।
द्रव्य-भाव-नोकर्म विवर्जित, शुद्ध-बुद्ध आनंदमय है।। (2)

स्व-स्वभाव की प्राप्ति हेतु, जब अध्ययन करे आगम है।
पंचेन्द्रिय विषयों से रहित, एकाग्रता समता सहित है।।
ख्याति पूजा लाभ से रहित, संकल्प-विकल्प से रहित है।
ईर्ष्या घृणा तृष्णा विवर्जित, संक्लेश-द्वंद्व से रहित है।। (3)

पर निंदा अपमान रहित, उदार वात्सल्य सहित है।
स्व-पर-विश्व कल्याण भावयुत, संवेग वैराग्य सहित है।।
हठाग्रह पूर्वाग्रहों से रहित, प्रमाण नय सापेक्ष सह है।
अनेकान्तमय उदार दृष्टि से, सत्य तथ्य ग्रहण करता है।। (4)

आर्त्त रौद्र परिणाम विवर्जित, विनय शुद्धता सहित है।
इह-परलोक भोगाकांक्षा रहित, लोकानुरंजन से रहित है।।
ढोंग-पाखण्ड-मायाचार रहित, मद-मत्सर से रहित है।
युक्तियुक्त कार्य-कारण सहित, कुतर्क मिथ्यानय रहित है।। (5)

आगम में पाप-पापियों का वर्णन, होता बहुविध प्रकार है।
उसे जानकर पाप त्याग हेतु, पापफल वर्णन (होता) प्रचुर है।।
राग-द्वेष-मोह विषय कषाय-पञ्च पाप सप्त व्यसन है।
इनके सेवक जीव होते हैं पापी, एकेन्द्रिय से असंज्ञी तक जीव हैं। (6)

ऐसा ही अजीव द्रव्यों का वर्णन, होता है तत्त्व परिज्ञान हेतु।
धर्माधर्म पुद्गल आकाश काल का, वर्णन है तत्त्वश्रद्धान हेतु।।
यह स्वाध्याय है परम तपस्या, ज्ञान ज्योति उद्योतनकर है।
पाप विनाशक पुण्य सम्पादक, संवर-निर्जरा कारक है।। (7)

तीर्थंकर गणधर चक्रधर, वासुदेव इन्द्र महर्द्धिक दायक है।
शुद्ध-बुद्ध परमानंद दायक, 'कनक' भी 'स्वाध्याय' आराधक है।।(8)

भावश्रुतज्ञानी परोक्ष केवलज्ञानी

(केवलज्ञान प्रत्यक्षज्ञान तो श्रुतज्ञान परोक्षज्ञान)

(चाल : तुम दिल की धड़कन...)

गाथा- जो पस्सइ अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेस।
अपदेशसुत्तमज्झं पस्सई जिण सासणं सव्वं।। (समयसार)

हिन्दी- जो स्वयं को जानता है, अबद्ध अस्पर्श व अन्य से भिन्न।
आत्मानुभव से या श्रुतज्ञान से, वह जानता जिनशासन पूर्ण।।

गाथा- सव्वं पि अणेयत्तं परोक्खं-रूवेण जं पयासेदि।
तं सुय णाणं भण्णदि संसय-पहुदीहि परिचत्तं।। (का. अनु.)

हिन्दी- अनेकान्तमय सर्व द्रव्यों को, जो परोक्ष रूप से देखता है।
उसे ही श्रुतज्ञान कहते जो, संशय आदि से रहित होता है।।

गाथा- सुदकेवलं च णाणं दोण्णिवि सरिसाणि होंति बोहादो।
सुदणाणं तु परोक्खं पच्चक्ख केवलं णाणं।।

हिन्दी- श्रुतज्ञान व केवलज्ञान दोनों, समान है बोधदृष्टि से/(अवबोध से)
श्रुतज्ञान तो परोक्षज्ञान, प्रत्यक्ष होता केवलज्ञान।।

श्लोक- स्याद्वादकेवलज्ञानों, सर्ववस्तु प्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्तवन्यतमं भवेत्।। (आ. समंतभद्र)

हिन्द- स्याद्वाद (श्रुत) केवलज्ञान से, सर्ववस्तु (द्रव्य) होते परिज्ञान।
भेद साक्षात् व परोक्ष होता, अज्ञात जो वह अद्रव्य होता।।

गाथा- जाणई तिकालविसये, दव्वगुणे पज्जए य बहुभेदे।
पच्चक्खं च परोक्ख, अणेण णाणं त्ति णं वेंति।। (299, गो.जी.)

हिन्दी- द्रव्य गुण पर्याय बहुभेद से, जानता है त्रिकाल विषय।
प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से, उसे ही कहा जाता है ज्ञान।।

गाथा- सव्वे आगमसिद्धा अत्था गुणपज्जएहिं चत्तेहिं।
जाणंति आगमेण हि पेच्छिता ते वि ते समणा।

हिन्दी- आगम से सिद्ध है सभी अर्थ, विचित गुण पर्याय सहित।
जानते व पहचानते आगम से, वे ही सच्चे श्रमण है।।

रहस्य- ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध प्रमाण, ज्ञेयों को जो जाने सो है ज्ञान।
विपरीत जाने सो मिथ्याज्ञान, सम्यक् जाने सो है सच्चज्ञान।। (1)

मोहयुक्त ज्ञान होता है कुज्ञान, मोह से रहित होता सुज्ञान।
छद्मास्थ सुदृष्टि का परोक्षज्ञान, सर्वज्ञ का होता प्रत्यक्ष ज्ञान।। (2)

सर्वज्ञ को होता अनंतज्ञान, सर्व द्रव्यों का होता प्रत्यक्ष प्रमाण।
उनसे उपदिष्ट होता सो श्रुतज्ञान, यह ज्ञान है परोक्ष ज्ञान। (3)

द्रव्यश्रुत से जो भावश्रुत होता, उससे द्रव्यों का ज्ञान होता।
द्रव्य तत्त्वों व पदार्थों का होता, सम्पूर्ण नहीं आंशिक ही होता।। (4)

आत्मानुभवी जो श्रमण होते, आत्मानुभव से स्व को जानते।
स्व को अन्य से पृथक जानते, सच्चिदानन्द (का) अनुभव करते।। (5)

द्रव्यश्रुत बिना भी यदि वे होते, तो भी भावश्रुत ज्ञानी वे होते।
आत्मज्ञान से होता पर का भी ज्ञान, जिसे कहते परम भेद-विज्ञान।। (6)

यदि न होता आत्म का ज्ञान, द्रव्यश्रुत से भी न भेद-विज्ञान।
जिससे उसका ज्ञान होता कुज्ञान, तोता-रटन्त या दिखावा ज्ञान।। (7)

इसीसे मोह भी न होता क्षीण, ईर्ष्या-तृष्णा-घृणा न होते शमन।
अनेकान्त का न होता है मान्य, संकीर्ण कट्टरता से होता सम्पन्न।। (8)

आत्मज्ञान ही होता परमज्ञान, भावश्रुतमय सत्यार्थ ज्ञान।
आत्मज्ञान से होता सभी का ज्ञान,'कनकनन्दी' चाहे केवलज्ञान।।(9)

स्वाध्याय से बहुआयामी लाभ

(आचार्यश्री कनकनन्दी जी गुरुदेव संघस्थ की अद्भुत स्वाध्याय पद्धति व लाभ)

- सृजक विद्यार्थी-श्रमण मुनि सुविज्ञसागर

(चाल : आधा है चन्द्रमा..., छोटी-छोटी गैया...फिर छिड़ी बात... (गजल)...)

स्वाध्याय परम तप गुणकारी...ज्ञान-विज्ञान बहु आयामी/(बहुविधायी)
स्वाध्याय परम तप...(ध्रुवपद)

जिससे स्वयं का होता अध्ययन...समग्र विकास के आयाम/(उपाय)...
वैश्विक गुरु कनकनन्दी...जिनकी पद्धति अद्भुत विभिन्न...
जिज्ञासु शोधार्थी/(विद्यार्थी) देशी-विदेशी...पाते ज्ञान-देशना निरन्तर...
स्वाध्याय परम तप...(1)

गणित कला न्याय राजनीति-शिक्षा मनोविज्ञान सर्वोदयी...
स्वास्थ्य लाभ-आध्यात्मिक बोध...व्यापक ज्ञान होता ब्रह्माण्डीय...
नवीनता सह प्रवीणता आती...प्रगतिशील निपुणता आती... (2)
व्यक्तित्व विकास जीवन प्रबंध...आधुनिक ज्ञान प्रेरणादायी...
अतिशय रस प्रसरण होता...शिक्षा-विज्ञान आनंददायी/(आह्लादकारी)...
श्रद्धा प्रज्ञा युत होता अनुभव...सत्य-साम्य सह सुखकारी/(शांतिदायी)...(3)
अज्ञान तम होता विनाश...स्व हिताहित का होता भान...
नवीन संवेग होते उत्पन्न...अपूर्वार्थ होता भावश्रुत...
द्रव्य-तत्त्व-अर्थ बोध होता...निष्कम्प बने 'सुविज्ञ' जन... (4)

स्वाध्याय का स्वरूप एवं फल

श्री गुरु चरण मूले-ग्रंथ स्वाध्याय काले।
सत्य/(तत्त्व) ज्ञान प्राप्ति-मिथ्यात्व टले।। श्री गुरु।। (टेक)
अज्ञान तमस छटे-ज्ञान ज्योति सुप्रकाशे।
हेय उपादेय ज्ञेय-सर्व/(सत्/सभी) प्रकाशे।। सत्य ज्ञान...।।(1)

राग द्वेष मोह हेय-अतएव त्यजनीय।
ज्ञानानन्द उपादेय-सर्वथा ग्राह्य।। सत्य ज्ञान...।। (2)
सर्व द्रव्य होते ज्ञेय-जीव अजीवादि मय।
सप्त तत्त्व समन्वय-पदार्थ ज्ञेय। सत्य ज्ञान...।। (3)
परम तप स्वाध्याय-संयत मन इन्द्रिय।
असंख्य कर्म निर्जरा-स्वाध्याये ज्ञेय।। ग्रंथ स्वाध्याय...।। (4)
कषायों के उपशमे-समता शांति संयमे।
आरम्भ भोग विहीने-आनन्द झरे।। ग्रंथ स्वाध्याय...।। (5)
पुण्य बंध सातिशय-ज्ञानानन्द उपादेय।
अंत मोक्ष प्राप्ति ज्ञेय - 'कनकनन्दी' के ध्येय।। ग्रंथ स्वाध्याय...(6)

स्वाध्याय का स्वरूप-विषय एवं फल

(तर्ज: नगरी-नगरी ...)

बड़ा सुख होता,आनंद होता, गुरुवर से ज्ञान जो होता।
मध्याह्न प्रातः होता स्वाध्याय, गुरुवर से ज्ञान जो पाता।। बड़ा सुख...
वाचना, पृच्छना, समाधान गुरुवर से ज्ञान जो पाता।
मनन, चिन्तन, अनुप्रेक्षा होता हर विधा का ज्ञान जो होता।। बड़ा सुख...
प्रथमानुयोग से गुरुवर हमें, प्राचीन इतिहास का ज्ञान देते।
प्राचीन शिक्षा संस्कार नीति, संस्कृति, सभ्यता भी देते।। बड़ा सुख...
समाज शास्त्र, राजनीति ज्ञान, कानून कला वास्तु देते।
युद्ध-विग्रह समाधान ज्ञान स्वप्न शकुन का पाठ पढ़ाते।। बड़ा सुख...
ज्ञान-विज्ञान यांत्रिक ज्ञान, देश-विदेश का ज्ञान देते।
नदी-पर्वत ग्राम नगर, प्रकृति प्रेम का पाठ पढ़ाते।। बड़ा सुख...
करणानुयोग है गहन ज्ञान, गणित द्वारा ही पाठ पढ़ाते।
लौकिक गणित सामान्य ज्ञान, अलौकिक भी जो बतलाते।। बड़ा सुख...
परमाणु से है प्रारंभ होता, ब्रह्माण्ड तक का मापन होता।
सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र आदि, ब्रह्माण्डीय ज्ञान हमें भी होता।। बड़ा सुख...
ब्रह्माण्डीय काल गणना आदि, कर्म प्रकृति की गणना होती।
ब्रह्माण्डीय जीव अजीव आदि, समस्त द्रव्यों की गणना होती। बड़ा सुख...

चरणानुयोग से हमें सिखाते, सदाचार का पाठ पढ़ाते।
प्रथम भेद है श्रावकाचार, गृहस्थ संबंधी नीति सिखाते।। बड़ा सुख...
पंचाणुव्रत में हमें सिखाते, भ्रष्टाचार से हमें बचाते।
सप्त व्यसन का त्याग दिलाते, अष्टमूलगुण हमें दिलाते।। बड़ा सुख...
उत्कृष्ट भेद है श्रमणाचार साधु संबंधी पाठ पढ़ाते।
पंचमहाव्रत हमें सिखाते, समस्त पापों का त्याग बताते।। बड़ा सुख...
पंच समिति का पाठ पढ़ाते, सम्यक् प्रवृत्ति की शिक्षा देते।
दश-धर्मों का पाठ पढ़ाते, वैश्विक धर्म की शिक्षा भी देते।। बड़ा सुख...
द्रव्यानुयोग है सूक्ष्मातिं ज्ञान, आध्यात्म विज्ञान सहित ज्ञान।
दर्शन तर्क से युक्त भी ज्ञान, वैश्विक दृष्टि का महान् ज्ञान।। बड़ा सुख...
आत्मिक विकास ज्ञान सिखाते, आत्मिक शक्ति का ज्ञान भी देते।
शुद्धात्मा होने का पाठ पढ़ाते, आत्म वैभव का ज्ञान भी देते।। बड़ा सुख...
षट्द्रव्यों का ज्ञान भी देते, सापेक्ष सिद्धांत हमें सिखाते।
सिद्धांत एकीकृत हमें सिखाते, विज्ञान से परे ज्ञान भी देते।। बड़ा सुख...
भौतिक रसायन अणु सिद्धांत, मनोविज्ञान व जीव सिद्धांत।
इससे श्रेष्ठ का ज्ञान भी देते, परम विज्ञान पाठ पढ़ाते।। बड़ा सुख...
गुरुदेव से जो पाठ है पढ़ते, लोक लोकोत्तर काम में आते।
तनमनात्मा की शुद्धि बताते, पवित्रता का पाठ पढ़ाते।। बड़ा सुख...
स्व पर विश्व के हित बताते, विश्वशांति की शिक्षा भी देते।
ऐसा ज्ञान सब कोई पाये, ''कनकनन्दी' भी यह भावना भाये।।

हे! माँ जिनवाणी हमारी रक्षा करो सबको शिक्षा दो

''धार्मिक विकृतियों को दूर करने हेतु माँ जिनवाणी से प्रार्थना''

(चाल : प्रभु नेमि बता जाना...)

जिनवाणी हमें बतला, सच्चा धर्म रूप सदा, यथार्थ सर्वज्ञ ने जाना।
द्रव्य क्षेत्र काल भाव से... निश्चय व्यवहार से, यथा गुरुओं ने माना।।...
जिनवाणी हमें...(स्थायी)

उत्सर्ग अपवाद से...वय रोग शक्ति दृष्टि से, यथा मूल न लोप हुए।

यथा माता-गुरु कहते...तथाहि हमें बतला सापेक्ष दृष्टिकोण से।।
तुमसे हमने सीखा..., सत्य, साम्य, शांति, धर्म यथा प्रभु ने माना।
अभी तो धर्म क्षेत्र में भी... इससे विपरीत पाया, प्रायोगिक जीवन में।।
तुमने तो सत्य कहा..., रत्नत्रय है आत्म धर्म, व्यवहार निश्चय से।
अभी तो यह पाया है..., सत्ता संपत्ति प्रसिद्धि ही प्राप्त उपभोग धर्म।।
अनेकान्त समन्वय ही..., व्यक्ति समाज दृष्टि से, शांति एकता का मार्ग है।
परन्तु मैंने तो पाया..., एकांत विघटन है, समाज व संघों में।
तुमसे हमने सीख...समता व निस्पृहता श्रमणों की सच्ची साधना।।
किन्तु हमने जो पाया अभी...सच्चे साधु की उपेक्षा, धन, नाम, साधु पूजा।।
त्याग वैराग्य मौन गया...तृष्णा दिखावा चपलता मनोरंजन फूहड़ता।
विज्ञापन प्रसिद्धि बोली...खाना पीना मजा मस्ती धर्म के नाम चला।।
ध्यान अध्ययन लोप हुआ...साधु से समाज चाहे, धन-जन व मनोरंजन।
जो साधु इसके दाता... वह ही साधु-महात्मा, अन्यथा नहीं है अच्छा।।
हे जिनवाणी मेरी माता...तुम ही करो रक्षा अन्यथा नहीं है सुरक्षा।
''कनकनंदी'' की है इच्छा सबको दो सत् शिक्षा, अन्यथा है बड़ी दुर्दशा।।

''पढ़ाई अध्ययन स्वाध्याय''

(चाल : फूलों का तारों का..., क्या मिलिये ऐसे...)

पढ़ाई अध्ययन स्वाध्याय को जानो...उत्तरोत्तर तीनों को श्रेष्ठ मानो।
पढ़ाई केवल है वाचन मात्र...अर्थ ज्ञान बिना रीडिंग मात्र।।
तोता जैसे पढ़ता है पाठ...ज्ञान-आचरण बिन रटता पाठ।
वैसा ही जो मानव करता...वह भी तोता के जैसे पढ़ता।।
अपच भोजन सम यह पाठ होता...स्वार्थ व गर्व को जन्म देता।
आचरण-अनुभव से रहित होता...सत्य-समता-शांति न देता।। (1)

अध्ययन/(पाठ) इसी से भी परे होता...ग्रंथों का अनुशीलन होता।
ग्रंथ निहित सत्य-तथ्यों का...समालोचना व व्याख्यान होता।।
तर्क-वितर्क मंथन भी होता...घटना-विचारों को जोड़ा जाता।
भावना- अनुभव से रिक्त होता...व्यापार के समान काम होता।। (2)

इसी से भी परे स्वाध्याय होता...आचरण-अनुभव से रहित होता।
न्याय नीति सदाचार/(शिष्टता) युक्त होता... भावना संवेदना सहित होता।।
परपीड़न का काम न होता...सादा जीवन उच्च विचार होता।
हिताहित विवेक सहित होता...स्व-पर हितकर भाव/(काम) होता।। (3)

स्वाध्याय से स्व-पर हित होता...महान् कार्य भी इसी से होता।
स्वाध्याय से स्व-अध्ययन होता...स्वगुण-दोषों का अध्ययन होता।।
स्वाध्याय से वाचन-अध्ययन होते...स्वाध्यायी मानव महान् होते।
स्वाध्याय परम तप भी होता...'कनक' स्वाध्याय सतत करता।। (4)

ज्ञानार्जन की पद्धति

(विद्यार्थी/शिष्य के कर्त्तव्य)

(चाल : शत-शत वंदन ..., भातुकली..., सुनो-सुनो हे...)

सुनो हे! शिष्य तुम्हें बताऊँ, ज्ञानार्जन की सही पद्धति।
जिससे तुम्हें ज्ञान मिलेगा, पाओगे सर्वांगीण उन्नति।। (1)

विनय-शुद्धि से सहित होकर, ज्ञानार्जन करो श्रेष्ठ गुरु से।
महान् उद्देश्य पवित्र भाव युत, प्रज्ञा-श्रद्धा व पुरुषार्थ से।। (2)

काल[1] विनय[2] व व उपधान[3] सहित, बहुमान[4] अनिह्नव[6] शुद्ध से।
अर्थशुद्ध[7] व उभयशुद्ध[8] सह, ज्ञान-ज्ञानदाता में विनय।। (3)

श्रवण[1] करने की इच्छा सह, शंका[2] निवारण विनय युत।
एकाग्रचित[3] से श्रवण युक्त, अर्थग्रहण[4] भी अधिगम सहित।। (4)

पूर्वापर सम्यक् पर्यालोचना[5], सत्य-तथ्य ज्ञान ग्रहण[6]युक्त।
धारणा[7] ज्ञान में सुदृढ़ चित्त, हित ग्रहण अहित त्याग सहित।। (5)

श्रवणविधि को विशेष जानो, मौन[1] व एकाग्रचित्त से सुनो।
विनयपूर्वक स्वीकृति[2]कहो प्रसन्नपूर्वक सिर हिलाओ।। (6)

वन्दनापूर्वक गुरु को[3] बताओ, अपने सत्य-तथ्य बात बताओ।
प्रतिपृच्छा[4] करो सत्य ज्ञानार्थ, विमर्श[5] करो तथ्य के लिए।। (7)

प्रसंग[6] परायण मंथन हेतु, परिनिष्ठ[7] प्रतिपादन हेतु।
सूत्र पढ़ो सामान्य अर्थ सह, निर्युक्ति सहित सूत्र मिश्रित।। (8)

नयनिक्षेप प्रमाणादि सहित, अनेकान्त स्याद्वाद युक्ति से युक्त।
प्रायोगिक अनुभव ज्ञान सहित, ज्ञान हो उपकार से युक्त।। (9)

सात्विक सुपाच्य आहार योग्य, योगासन प्राणायाम सह व्यायाम।
सादा जीवन उच्च विचार, संक्लेश द्वंद्व व विकार मुक्त।। (10)

ज्ञानानुसार हो आचार पवित्र, विनम्र सत्यग्राही उदार युक्त।
स्व-पर-उपकारी आचार युक्त, अन्याय अत्याचार पापाचार रिक्त।। (11)

ज्ञानदाता गुरु से बनो कृतज्ञ, सेवा विनय से करो गुण कीर्तन।
श्रुतज्ञान/(भावज्ञान) से पाओ केवलज्ञान,इसी हेतु'कनक'करे ज्ञानार्जन।। (12)

मेरी परम शिक्षाएँ

(राग : छोटी-छोटी गैया..., सायानोरा...) - आचार्य कनकनन्दी

अनेकान्त से मुझे शिक्षा मिलती, अनंत धर्मात्मक है वस्तु स्वरूप।
अनंत धर्ममय बनने हेतु, बनना है उदार व्यापक स्वरूप।।(1)

स्याद्वाद से मुझे शिक्षा मिलती, सत्य कथन करूँ सापेक्षमय।
पक्षपात दुराग्रह से भी रहित, स्व-पर विश्व कल्याण सहित।। (2)

समता से मुझे शिक्षा मिलती, मोह-क्षोभ से रहूँ मैं परे।
संकल्प-विकल्प व संक्लेश त्यागकर, सहिष्णु क्षमा व शांति पुरस्सर/
(परिपूर्ण)।। (3)

अपरिग्रह से मैं लेता हूँ शिक्षा, तन-मन-इन्द्रिय परे मम रूप।
द्रव्यभाव नोकर्म रहित हूँ, सत्ता-संपत्ति व प्रसिद्धि रिक्त हूँ।। (4)

अहिंसा से मैं लेता हूँ शिक्षा, कषाय-मोह से मैं बनूँ निर्लिप्त।
दशधर्म पंचव्रत समिति सहित, संक्लेश-अध्यवसाय से बनूँ मुक्त।।(5)

परमसत्य से मैं लेता हूँ शिक्षा, सच्चिदानंदमय मेरा स्वरूप।
अनादि अनंत स्वयंभू स्वयंपूर्ण, 'कनकनंदी' है मेरा अव्यय रूप।।(6)

स्वाध्याय इह-परलोक व मोक्ष प्रदाता, न कि पढ़ाई

(विनम्र-सत्यग्राही स्वाध्याय से प्राप्त ज्ञान को भूलने पर भी आगामी भव में फल को प्राप्त करता है)

(चाल : गंगा तेरी पानी अमृत...,आत्मशक्ति से..., सायोनारा...)

विद्या तेरी धारा अमृत, झर-झर बहती जाये...
जन्म-जन्मान्तर व मोक्ष तक भी, तुम्हारा अमृत पाये...विद्या तेरी...(टेक)
सर्वज्ञ कथित आगम ग्रंथित, स्वाध्याय से तुझे जो (पीये)/पाये...
अज्ञान अंधकार नाश करके, ज्ञान ज्योति को (वे) पाये...ऽऽऽ
अहित त्यागे व हित को गहे, वे ही अमृत पाये...विद्या तेरी...(1)
सत्य-तथ्य व आत्म-परमात्मा, ज्ञान-ज्ञेय जो जाने...
आस्रव-बंध त्यागकर, जो संवर निर्जरा गहे...ऽऽऽ
वे ही कर्म को नाश करके, अनंत सुख को पाये...विद्या तेरी...(2)
स्वाध्याय से जो ज्ञान प्राप्त कर, प्रमाद से भूल जाये...
आगामी भवों में उस संस्कार/(ज्ञान) से, पुनः ज्ञान को पाये...ऽऽऽ
मुनि बनकर आत्मसाधना से, अनंत-ज्ञान को पाये... विद्या तेरी...(3)
विनय से जो स्वाध्याय करे वे, उभय लोक सुख पाये...
परंपरा से मोक्ष प्राप्त कर, अनंत-सुख वे पाये...ऽऽऽ
अतएव स्वाध्याय परम-तपस्या, ऐसी जिनवाणी बताये...विद्या तेरी...(4)
लौकिक पढ़ाई से यह न संभव, जो उभय लोक सुख(देय)/ देवे...
तथाहि मोही अज्ञानी लोभी, स्वाध्याय में चित्त न देवे...ऽऽऽ
कोई मतांध-स्वार्थी जन तो, आगम को लांछन-लगावे...विद्या तेरी...(5)
विनम्र-सत्यग्राही होकर तेरी, अमृतधारा जो पीवे...
जन्म-मरण-आधि-व्याधि नशाके, अमृत-पद वे पावे...ऽऽऽ
इसी हेतु ही 'कनकनन्दी' ज्ञानामृत-रस सदा पीवे...विद्या तेरी...(6)

उक्तंच- विणयेण सुदमधिदं यदि वा पमादेण होदि विस्सरिदं।
तं आवहदि परभवे, केवल णाणं आवहदि।।
जिणवयण मोसदमिण विसय सुहं विरेयण अमिद भूयं।
जर मरण वाहि हरणं खयकरणं सव्वदुःक्खाणं।। (दंसण पाहुड)

जैन सिद्धांत समझना क्यों होता है क्लिष्ट ?

(चाल : छोटी-छोटी गैया ..., शत-शत वंदन..., सायोनारा)

सुना भोगा व अनुभव भी किया, हर जीव काम भोग बंध तत्त्व।
अतएव यह सब सहज आते, न सहज होता स्व-आत्म तत्त्व।। (1)

अनादिकालीन संस्कार-वशतः, जीवों के होते हैं अशुभ भाव।
काम-क्रोध-मोह-मद-मत्सर, ईर्ष्या-द्वेष-घृणा-तृष्णा विभाव।। (2)

आहार निद्रा व भय मैथुन, हिंसा प्रतिहिंसा व युद्ध संहार।
चोरी मिलावट व कूट-कपट, निन्दा अपमान व परिग्रह संग्रह।। (3)

द्रव्यकर्म भावकर्म व जिनोम, दिमाग हारमोन व वातावरण।
परिवार समाज व रीति-रिवाज, परंपरा संस्कार व भोजन-पान।। (4)

शिक्षा संगति व संकीर्ण विचार, सत्ता-संपत्ति-प्रसिद्धि-आडम्बर।
फैशन-व्यसन संक्लेश के कारण, तत्त्वज्ञान होता अति-दुष्कर।। (5)

जीव तो चेतनमय मोह(कर्म) कारण, बनते हैं मोही व कुज्ञानी।
अतएव कुज्ञान होता सरल है, कुमति-श्रुत व अवधिज्ञानी।। (6)

कुज्ञान से जीव भी करते काम, आहार-निद्रा व भय-मैथुन।
प्रजनन आत्मरक्षण संग्रहण, लौकिक ज्ञान-विज्ञान प्रशिक्षण।। (7)

भाषा राजनीति कानून व्याकरण, कला संगीत व नृत्य भजन।
तर्क-वितर्क व स्वार्थ साधन, भौतिक यंत्र-उपकरण निर्माण।। (8)

इनसे परे है आगम का ज्ञान, जिससे होता है परमज्ञान।
आत्म-अनात्म का सच्चा विज्ञान, जिसे कहते वीतराग विज्ञान।। (9)

इसी हेतु विशेष प्रज्ञा चाहिए, जिस हेतु विशेष श्रद्धा चाहिए।
इसी हेतु क्षयोपशम चाहिए, मोह अनंतानुबंधी उपशम/(क्षयोपशम) चाहिए।।(10)

इसी से योग्यताएँ उत्पन्न होती, रूचि जिज्ञासाएँ प्रगट होती।
अध्ययन-मनन-स्मरण-ध्यान, जिससे ज्ञानार्थी बनता प्रवीण।। (11)

श्रद्धा से जो अध्ययन करता, मन्द क्षयोपशम से भूल भी जाता।
फल अवश्य उसे भी मिलता, आगामी भव में ज्ञानी भी बनता।।(12)

श्रद्धा विनय से अतः करो स्वाध्याय, यह है अंतरंग तप निश्चय।
तप से निर्जरा व मोक्ष मिलता, इसी हेतु 'कनक' स्वाध्याय करता।। (13)

संदर्भ - सुदपरिचिदाणुभुदा सव्वस्स वि कामभोगबन्ध कहा।
एयत्तसुहलंभो णवरि ण सुलह विहत्तस्स।।(समयसार)
आहारनिद्राभयमैथुनानि सामान्यमेतत्पशुभि नराणाम्।
ज्ञानं(धर्मः) विशेष खलु मानवानाम् ज्ञानेनविना पशुभि मानवाः।।
विरला विसुणहि तच्चं विरला जाणंति तच्चदो तच्चं।
विरला भावहि तच्चं विरलाणं धारणा होदि।। (279, का. अनु)
तच्चं कहिज्जमाणं णिच्चल-भावेण गिण्हदे जो हि।
तं चिय भावेदि सया सो वि य तच्च विया णेई।। (280, का अनु.)

बहिरात्मा की परिणति पतंगे के समान

दाणु व धम्मणु चागु ण भोग गुण बहिरप्प जो पयंगो सो।
लोहकसायग्गिमुहे पडिउ मरिउ ण संदेहो।। (12) रयण.

अन्वयार्थ - (दाणु ण, धम्मुण, चागु ण, भोग गुण) दान नहीं, धर्म नहीं, त्याग नहीं, भोग भी नहीं भोगता है(बहिरप्प) बहिरात्मा(सो) वह (लोहकसायग्गिमुहे) लोभ कषाय रूपी अग्निमुख में(पडिउ मरिउ ण संदेहो) पड़कर मर जाते हैं, इसमें सन्देह नहीं है।

पद्यभावानुवाद -

जो दान-धर्म-त्याग-भोग व गुण रहित वह बहिरात्मा पतंग।
लोभ कषाय अग्नि मुख में पड़कर मरता इसमें नहीं संदेह।। (1)

समीक्षा व शिक्षा -

लोभ कषाय व परिग्रह संज्ञा रूपी मूर्च्छा से जो होता पीड़ित।
वह न करता दान-धर्म-त्याग-भोग-गुण वह बनता पतित।। (2)

वह होता है बहिरात्मा पतंग तृष्णाग्नि से होता पतित।
तथापि पतंग सम तृष्णा के कारण दानादि से होता च्युत।। (3)

इससे मिलती शिक्षा प्रचुर शक्ति अनुसार सदा करणीय दानादि।
दानादि से तृष्णाग्नि होती मन्द जिससे बन्धे सातिशय पुण्यादि।। (4)

संदर्भ –

औदार्यवर्य पुण्य दक्षिण्यमन्यत्।
समशुद्धो बोधः पातकात्स्याज्जुगुप्सा।।
आख्यातं मुख्यं सिद्धधर्मस्य।
लिंगं लोकभेयस्तद्दातुरेवोपपन्नम्। 108।।

श्रेष्ठ उदारता, पवित्रता, मृदुता या सरलता निर्मलता पाप से ग्लानि तथा लोकप्रियता से अनादि सिद्ध धर्म के चिह्न कहे गये हैं ये सब गुण दाता को ही प्राप्त होता है।

तीर्थोन्नतिः परिणतिश्च परोपकारे।
ज्ञानादि निर्मल गुणावलिकाभिवृद्धिः।
वित्तादि वस्तुविषये च विनाश बुद्धि।
संवादिता भवति दानवतात्मशुद्धि।। 109।।

दान देने से तीर्थ की उन्नति, दाता की परोपकार परिणति(प्रवृत्ति) ज्ञानादि निर्मल गुण समूह की वृद्धि धन आदि वस्तुओं में नश्वरता का विचार और दाता की आत्मशुद्धि भी है।

सीदंति पश्यतां येषां शक्तानामपि साधवः।
न धर्मो लौकिकोऽप्येषां दूरे लोकोत्तराः स्थितः।। 110।।

दुःख को दूर करने में समर्थ होकर जो श्रावक साधु जन को कष्ट देखकर भी उनके दुःख को दूर नहीं करते हैं, उनके लौकिक धर्म भी संभव नहीं है, फिर भला लोकोत्तर धर्म तो उनसे बहुत दूर है। ऐसा समझना चाहिये।

ज्ञानवान् ज्ञानदानेन निर्भयोऽभयदानतः।
अन्नदानात्सुखी नित्यं निर्व्याधिभेर्षजाद्भवेत्।।

ज्ञान दान से दानी विशिष्ट क्षायोपशम के माध्यम से मतिश्रुत, अवधि, मनःपर्याय ज्ञानी होता है। श्रुत केवली होता है एवं शेष में केवल ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष जाता है। अभय दान से इहलोक-परलोक में निर्भय होता है। अन्न दान से इहलोक-परलोक से सुखी होता है। औषधदान देने से शारीरिक-मानसिक-आध्यात्मिक रोग से रहित होकर परम स्वास्थ्य रूप अमृत रूप पद को प्राप्त करता है।

यस्यान्नपानैः संतृप्ताः साधवः साधयंत्यमी।
स्वाध्यायादि क्रिया सार्वी तस्य पुण्यं तदुद्भवम्।।

जिस दाता के अन्न पानी से तृप्त हुए मुनिजन आत्म हितकर सब स्वाध्यायादि क्रियाओं को करते हैं, उसमें उत्पन्न हुए पुण्य उस दाता को प्राप्त होता है।

दान अभाव के दोष :-

सीदंतो यतयो यदण्यनुचितं किंचिज्जलान्नादिकं।
स्वीकुर्वतिविशिष्ट भक्ति विकलाःकालादिदोषादहो।
मालिन्य रचयंति यज्जिनमतस्यास्थानशय्यादिना।
श्राद्धानमिद्मेतिदूषणपदंशक्तानुपेक्षाकृपाय।। 401।।

रोगादि से पीड़ित साधुजन विशिष्ट भक्ति से रहित होते काल आदि के दोष से यदि अपने पद के अयोग्य जल व अन्नादिक का स्वीकार करते हैं तथा अयोग्य वसति व शय्या आदि का ग्रहण करके जिनमत में मलिनता को उत्पन्न करते हैं तो यह दोष शक्ति होने पर भी उपेक्षा करने वाले श्रावक पर आता है। उसे श्रावकों का दोष समझना चाहिये।

दान तीर्थं और धर्म तीर्थ की अपेक्षा दो प्रकार का है। दान तीर्थ के माध्यम से शरीर की रक्षा होती है और शरीर के माध्यम से धर्मपालन होता है। ''शरीरमाध्यम खलु धर्मसाधनम्'' धर्मपालन से इहलोक में अलौकिक सुख मिलता है। इसलिये श्रावकों को धर्मतीर्थ प्रवर्तन के लिये दान देना चाहिये।

दान पूजादि क्या पाप बंध का कारण ?

शंका : पूजा दानादिक से आरंभ होने से हिंसा होती है और उससे पाप बंध होता है। इसलिये दान पूजादिक नहीं करना चाहिये।

ननुदधिदुग्ध गंधमाल्यादिना भगवतः पूजाभिदाने पापमप्युपार्ज्यते लेशतः सावद्य सद्भावात् इत्याशंक्याह।

श्री जिनेन्द्र भगवान् की दही-दूध-गंध-फूल मालादि से पूजा करने से पाप उत्पन्न होता है क्योंकि उस पूजादि से (में) सावद्य है। (पापात्मक आरंभादिक है।)

समाधान : पूजातिशय पूज्य भगवान् आपकी पूजा करने से भव्य जीवों को सातिशय महत् पुण्य उपार्जन होता है। यद्यपि पूजादिक सामग्री लाना, धोना, स्वच्छतादि करने से पाप उत्पन्न होता है तथापि वह पाप इतना कम है कि पूजादि

से उत्पन्न पुण्य से उसकी शक्ति नष्ट हो जाती है। वह अपना कार्य करने के लिए अशुभ कर्म फल देने के लिये असमर्थ हो जाता है। जैसे स्पर्शन इन्द्रिय को तृप्त करने वाले ठंडे पानी से भरा समुद्र में एक कण विष पड़ने से उस संपूर्ण समुद्र को वह विष कण दूषित नहीं कर पाता है।

प्रारम्भोऽप्येष पुण्याय देवाद्युद्देशतः कृतः।
सामग्ज्यंतर पातित्वा जीवनाय विषं यथा।। 339।।

देव, शास्त्र, गुरु के उद्देश्य से किया गया महान् आरंभ भी उसकी सामग्री के अन्तर्गत होने से पुण्य के लिए होता है। जैसे विष इतर सामग्री से युक्त होने पर जीवन के लिये प्राण रक्षा का कारण होता है।

भिन्न हेतुक एवायं भिन्नात्मा भिन्न गोवरः।
भिन्नागुबंधस्तेनस्यात्पुण्यबंधर्निबंधनम्।। 340।।

इस आरंभ का चूंकी हेतु भिन्न, स्वरूप भिन्न, विषय भिन्न संबंध भी भिन्न है। इसलिये वह पुण्य बंध का कारण होता है।

लोभादि हेतुकःपापारंभी गेहादि गोचरः
पापनुबंधीसंत्याज्यःकार्योऽन्यःपुण्यसाधनः।। 341।।

लोभ के कारण जो गृह कुटुंबादि के विषय में आरंभ किया जाता है। वह पाप का बंधक होने से छोड़ने के योग्य है। परंतु दूसरा जिनप्रतिमा के निर्माणादि तथा आहार दानादि विषयक आरंभ पुण्य का बंधक होने से आचरणीय है।

धर्मारंभस्तस्य रज्यति जनः कीर्ति पराजायते।
राजानोऽनुगुणा भवैति रिपवो गच्छंति साहायकम्।।
चेतःकांचन निवृर्त्ति च लभते प्रायोऽर्थमलाभःपरः।
पापारंभभराघनार्थवितरिश्चेति प्रतिता गुणाः।। 342।।

जो भव्य धर्म के निमित्त आरंभ से निरत होता है, उसे लोग प्रेम करते हैं। उसे उत्तम कीर्ति का लाभ होता है, राजा उसके अनुकूल होता है, शत्रु सहायक होता है। उसका चित्त किसी अभूतपूर्व शांति को प्राप्त करता है। उसे प्रायः बहुत धन का लाभ होता है। तथा वह प्रचुर पापारंभ से परिपूर्ण अनर्थों से निरर्थक कर्मों से विरक्त होता है। इस प्रकार धर्मारंभ भी तत्पर भव्य के ये प्रसिद्ध गुण हुआ करते हैं।

न मिथ्यात्वात्प्रमादाद्वा कषायाद्वा प्रवर्तते।
श्राद्धो द्रव्यस्तवे हेन तस्य बंधोऽस्ती नाशुभः।। 343।।

श्रावक चूंकि मिथ्यात्व से, प्रमाद से, अथवा कषाय से द्रव्य स्तव में पूजा प्रतिष्ठा एवं दानादिरूप बाह्य संयम में प्रवृत्त नहीं होता है, इसलिये उनको अशुभ का बंध नहीं होता है।

कृष्यादि कर्म बहुजंगय जंतुद्यति।
कुर्वति ये गृह परिग्रह भोगसक्ताः।।
धर्माय रंधनकृतां किलपापमेषा।
मेवं वदन्नापि न लज्जित एव दुष्टः।।

जो गृहस्थ घर, परिग्रह तथा भोगों से आसक्त होकर बहुत से त्रस जीवों के घात के कारणभूत खेती आदिक कार्यों को करते हैं उन्हें धर्म के लिए भोजन को तैयार करने में पाप का भागी कहने वाले दुष्टों को लज्जा नहीं आती ? तात्पर्य मुनियों को आहार देने के लिए जो आरंभ होता है उससे पाप अल्प और पुण्य महान् होता है। अतः ऐसे आरंभ का निषेध करना अनुचित है।

एवं विधस्याप्य बुधस्य वाक्यं सिद्धांत बाह्यं बाधकं च।
मूढ़ा दृढं श्रद्धधते कदर्याः पापे रमतेऽमतयाः सुखेन।।

जो आज्ञानी जन लोभ के वशीभूत होकर इस प्रकार बोलने वाले मूर्ख के भी आगम बाह्य और अतिशय बाधक जिन वचन पर स्थिर श्रद्धा करते हैं वे दुर्बुद्धि पाप में आनंद से रममाण होते हैं, ऐसा समझना चाहिये।

पुण्य-पाप :-

शंका : भले पूजादि से पापबंध से बच सकते हैं किन्तु पुण्य बंध से नहीं बच सकते हैं। पुण्य भी संसार का कारण है। यथा -

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं।
किह त होदी सुसीलं जं संसार पवेसेदि।। 145।। (समयसार)

अशुभ कार्य कुशील पापरूप है। शुभ कार्य पुण्य सुशील स्वरूप है। ऐसा साधारण जन कहते हैं। परंतु शुभ कार्य कैसे हैं ? जो कि संसार रूप कारागार में प्रवेश करने के लिये कारण है।

जई भणइ कोवि एवं गिह वावारेसु वह माणोवि।
पुण्णे अम्ह ण कज्जं संसारे जंसुवाडेई।। 389।। (भावसंग्रह)

गृहवास में रहते हुए भी और गृह व्यापार से प्रवृत्त होते हुए भी कोई कहता

है कि हमको पुण्य नहीं चाहिये क्योंकि पुण्य संसार में गिराने वाला है।

समाधान :-

मेहुणसण्णारूढ़ो मारइ णवलक्खसुहुम जीवाई।
इदं जिणवरेहिं भणियं बज्झंतर णिग्गंथ रूवेहिं।। 390।।
गेहे वट्टतस्स य वावरसयाइ सया कुणंतस्स।
आसवइ कम्ममसुहं अट्ठरूद्दे पवत्तस्स।। 391।।
जाम ण छडइ गेहं तामण परिहरइ इंत्तयं पावं।
पावं अपरिहतो हेउ पुण्णस्स भजयउ।। 393।।

उपरोक्त कुशंका का समाधान देते हुए आचार्य प्रवर देवसेन ने नय एवं अवस्थाओं का अवलंबन लेकर पद्धति से उसका समर्थ एवं आगमोक्त उत्तर दिए हैं।

बाह्य अभ्यंतर ग्रंथों से रहित जिनेन्द्र भगवान् ने बताया है कि एक बार मैथुन संज्ञा से सहित होकर मनुष्य जब भोग करता है तब लिंग और योनि में संघर्षण से 9 लाख पंचेन्द्रिय मनुष्य जातीय लब्ध्य पर्याप्तक जीवों का घात करता है।

पहले जीव मैथुन मोह कर्म के उदय से निर्मल ब्रह्मचर्य रूपी आत्म स्वरूप का घात करता है। उस समय जिस प्रकार सरसों से भरे हुए पात्र में संतप्त लौह शलाका डालने पर सरसों जल जाते हैं उसी प्रकार योनिगत 9 लाख लब्ध्य पर्याप्त मनुष्य जीव भी जल जाते हैं।

गृह में रहते हुए हजारों गृह व्यापारों को सदा करते हुए अत्यन्त अशुभ आर्त्तरौद्र परिणाम से अशुभ कर्म का आस्रव करता है जो कि एकांत से संसार का कारण होने से अत्यन्त हेय स्वरूप है।

जब तक आर्त्त-रौद्र-ध्यानों का निवास स्वरूप गृहवास को त्याग नहीं करते हैं तब तक अत्यंत इन पापों का त्याग नहीं हो सकता है। यदि पाप का त्याग नहीं होता है तो पुण्य कारणों को मत छोड़ो।

पुण्यं कुरुत्व कृतपुण्यमनीदूशोऽपि।
नोपद्रवोऽभिभवति प्रभवेच्च भत्यै।।
संतापयन् जगदशेषमशीतरश्मिः।
पद्मेषु पश्य विदधाति विकासलक्ष्मीम्। 31।। (आत्मानुशासन)

हे भव्य जीव! तू पुण्य कर्म को कर, क्योंकि पुण्यवान् प्राणी के ऊपर

असाधारण भी उपद्रव कुछ प्रभाव नहीं डाल सकते हैं। इतना ही नहीं बल्कि वह उपद्रव भी उसके लिये संपत्ति का साधन बन जाता है। देखो, समस्त संसार को संतप्त करने वाला भी सूर्य कमलों में विकासरूप लक्ष्मी को ही करता है।

यथांगमध्यक्ष सुखे हि धर्मस्तथा परोक्षऽपिच मोक्ष सौख्यै।
भोगाय भोगादि सुखाय धर्मो मित्रादि यत्नोऽपि निमित्तमात्रम्।। 13।।
(धर्म रत्नाकर)

धर्म जैसे प्रत्यक्ष सुख का कारण है वैसे ही वह परोक्ष स्वरूप मोक्ष सुख का भी कारण है। भोगोपभोगादि सुख के लिये धर्म ही कारण है। इस सुख के लिये मित्रादिकों का यत्न भी निमित्तमात्र है।

पुण्य का लक्षण :-

पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्।। (सर्वार्थ सिद्धि)

जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होता है, वह पुण्य है।

यस्तु शुद्धात्म भावना साधनार्थ बहिरंग व्रत तपश्चरण दान पूजादिकं करोति स परंपराया मोक्षं लभते इति भावार्थ।।

शुद्धात्मा भावना को सिद्ध करने के लिए अथवा प्राप्त करने के लिए बहिरंग व्रत तपश्चरण, दान, पूजादिक को जो करता है वह परंपरा से मोक्ष को प्राप्त करता है। (समयसार 15 म.गा. जयसेनाचार्य तात्पर्यवृत्ति)

पावागम दाराइं अणाइरुवट्ठि याइं जीवम्मि।
तत्थ सुहासवदारं उग्धादेतेकथं सदोसो।। 57।। (जय धवला)

जब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता है तब तक जीव अनादिकाल से पाप बंध ही करता है। सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् ही सातिशय पुण्य का आस्रव होता है जीव में अनादिकाल से पापास्रव के द्वार स्थित है। उसके रहते हुए जो जीव शुभास्रव द्वार का उद्घाटन करता है अर्थात् पापास्रव के कारणभूत मिथ्यात्व, विषय, कषाय, हिंसादि त्याग करके शुभास्रव के कारणभूत सम्यग्दर्शन, दया, दानादि में प्रवृत्त होता है। वह कैसे सदोष हो सकता है ? अर्थात् कभी भी नहीं हो सकता है। इसलिये प्राथमिक जीव को परंपरा से मोक्ष के साधनभूत पुण्य को निदान रहित होकर सतत उपार्जन करना चाहिये।

(1) उत्कृष्ट(2) मध्यम (3) जघन्य के भेद से पात्र तीन प्रकार के हैं।

अविरत सम्यग्दृष्टि संयम से रहित होने के कारण तथा सम्यग्दर्शन से सहित होने के कारण चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जघन्य पात्र हैं। पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक विरताऽविरत होने से मध्यम पात्र हैं। समस्त पापों से विरत छट्ठे गुणस्थानवर्ती मुनिराज उत्कृष्ट पात्र हैं। पात्र वे हैं जो मोक्ष के कारणभूत सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र से युक्त होते हैं।

दान में अहिंसाधर्म पलता

हिंसायाः पर्यायो, लोभोऽत्र निरस्यते यतो दाने।
तस्मादतिथि वितरणं हिंसा व्युपरमणमेवेष्टम्।। 172।।

In making a gift one gets over greed, which is a form of Himsa and hence gift made to a worthy recipient amount to a renunciation of Himsa.

व्याख्या - भावानुवाद : - लोभ भी हिंसा का नामान्तर है अर्थात् लोभ स्वयं भाव हिंसा है। इसलिये जहाँ लोभ है वहाँ अवश्य ही हिंसा है। जिस दान से निराकरण होता है उसे दान कहते है। जिसके कारण अतिथि के लिये दिया गया दान हिंसा को दूर करता है, लोभ को दूर करता है, वही दान इष्ट है, मान्य है।

जो दान नहीं देता वह हिंसक

गृहमागताय गुणिने, मधुकर वृत्त्या परानपीडयते।
वितरति यो नाऽतिथये, स कथं नहि लोभवान् भवति।। (173)

व्याख्या - भावानुवाद : - जो पुरुष ऐसे अतिथि मुनियों के लिये आहार नहीं देता है वह किस प्रकार लोभवान् नहीं होगा अर्थात् वह निश्चय से लोभवान् होगा ही। जो मधुकर वृत्ति से गृहस्थों के घर में आते हैं तथा जो मूलगुण तथा उत्तरगुण से सहित होते हैं, भ्रमर वृत्ति से दूसरों को बिना क्लेश दिये हुए आहार ग्रहण करते हैं ऐसे मुनियों के लिये जो उपासक-श्रावक-गृहस्थ आहार नहीं देते हैं वे कैसे लोभवान् और हिंसक नहीं होंगे। अर्थात् वे अवश्य लोभवान् और हिंसक होंगे ही।

समीक्षा :- आचार्य श्री ने इस श्लोक में एक अत्यन्त रहस्यपूर्ण विषय का उद्घाटन किया है। आचार्य श्री ने यह सिद्ध किया कि यदि केवल कोई अस्त्र-शस्त्रों से दूसरों की हत्या करता है तो वह ही हिंसक नहीं परन्तु जो योग्य पात्र को दान नहीं देता वह भी हिंसक है क्योंकि भाव हिंसा रूपी लोभ प्रवृत्ति उसके मन में

व्याप्त है। इतना ही नहीं सम्यग्दृष्टि में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और उसके धारकों के प्रति अनुराग, भक्ति, समर्पित भाव होता है। वह उनका आदर करता है, सत्कार करता है, सेवा करता है। इन गुणों से युक्त जीव ही सच्चा धार्मिक है। मेरा प्रायोगिक अनुभव है कि अनेक व्यक्ति भोग विलासिता के लिये तो अनाप-शनाप खर्चा करेंगे धार्मिक बाह्य आंडबरों के लिये, प्रदर्शन के लिये धन लुटायेंगे, नाम के लिये पंचकल्याणक आदि मेला-ठेला,भीड़-भाड़ में रूपयों की बोली लेंगे, अहिंसा का भाषण झाडेंगे परन्तु साधुओं को पानी तक नहीं पिलायेंगे, आहार नहीं देंगे ऐसे व्यक्ति यथार्थ से धार्मिक नहीं है, अहिंसक नहीं हैं परन्तु धर्मान्ध लोभी तथा हिंसक हैं। जो जीवन्त धर्म-स्वरूप साधु-सन्तों की आहार दानादि देकर वैयावृत्ति नहीं करते हैं वे सब जड़वादी, जड़पूजक, बाह्य आडम्बरी हैं। इसका विशेष वर्णन मैंने अपनी कृति ''आहार दान से अभ्युदय'', पूजा से मोक्ष, पुण्य तथा पाप भी'' आदि में किया है।

दान भी अहिंसाव्रत

कृत्मात्मार्थं मुनये, ददाति भक्तमिति भावितस्त्यागः।
अरति-विषाद-विमुक्तः, शिथलित लोभो भवत्यहिंसैव।। 174।।

When one gives to a saint, food out of what he has prepared for himself such thought fully offered gift, which is without any disregard or regret, with suppressed greed, is itself Ahimsa.

व्याख्या भावानुवाद :- जो पूर्वोक्त प्रकार से नवधा-भक्ति, सप्तगुणों से युक्त होकर स्वयं के लिये बना हुआ शुद्ध भोजन मुनियों के लिये देता है वह दान उसके लिए अहिंसा रूप ही होता है। जो व्यक्ति अप्रेम/अभक्ति, खेद(विषाद) से रहित होकर संतोष, प्रसन्न चित्त से लोभ को मन्द करता हुआ आहार दान देता है वह अहिंसा व्रती होता है।

समीक्षा :- इसी ग्रन्थ में आचार्य श्री ने यत्र-तत्र-सर्वत्र हिंसा एवं अहिंसा का व्यापक, सूक्ष्म एवं सार्वभौम वर्णन किया है। वस्तुतः भाव की कलुषता ही हिंसा है और वह कलुषता लोभ, क्रोध, मान, माया, मिथ्यात्व आदि से आती है। कर्म सिद्धान्त के अनुसार एवं आध्यात्मिक दृष्टि से लोभ-राग सबसे बड़ा पाप है, परिग्रह है, प्रमाद है, इसलिये लोकोक्ति है - ''लोभ पाप का बाप बखाना।'' ऐसे

लोभ को दूर करके जो पवित्र भक्ति भावना से आहार देता है वह अवश्य अहिंसक है, धर्मात्मा है, त्यागी है, दानी है। मेरा स्वयं का ग्यारह प्रदेश का प्रायोगिक अनुभव यह है कि जो व्यक्ति साधुओं को आहार देते हैं उनका परिणाम अन्य स्वाध्याय, उपवास, पूजादि धार्मिक क्रियाओं को करने वाले व्यक्तियों से अधिक सरल, मृदु, दयालु, भोला, परोपकारी, निर्लोभी, त्यागी, दानी होता है। आहारदान से आचार्यों ने चारों प्रकार का दान होता है, ऐसा कहा है। क्षुधा-तृषा रूपी रोग दूर होने से आहारदान औषधिदान है। आहार करके निर्विघ्न अध्ययन करने से ज्ञान दान है तथा इससे जीवित रहा जाता है अतः अभयदान है। इस प्रकार आहारदान को पूजा, वैय्यावृत्ति, सेवा, वात्सल्यभाव, त्याग-दान भी कहा गया है। कुछ लोग जिनवाणी की तोता रटन्त जैसी पढ़ाई करके केवल मस्तिष्क की खुजली दूर करते हैं तथा घमण्ड को बढ़ाते हैं दूसरों से अनावश्यक वाद-विवाद करके फूट डालते हैं। कुछ लोग मन्दिर की ही सामग्री को ही एक थाली से दूसरा थाली में चढ़ाकर स्वयं को महान् धार्मिक मान लेते हैं और सोचते हैं ''मैं पूजा करके भगवान् का अहसान कर रहा हूँ। मेरे बिना तो भगवान् बिना सेवा पूजा के बासी ही रह जाते।'' वे पूजा करते करते पूजा सामग्री को लेकर पूजा की पद्धति को लेकर यहाँ तक की कभी कभी पाटला, चौकी, स्थान को लेकर लड़ेंगे-भिडेंगे, गाली गलौज करते रहेंगे और समाज में फूट डालते रहेंगे। कुछ उपवास करने वाले भी चिडचिड़ करते रहेंगे। उपवास में भी विकथा/कलह आदि करते रहेंगे। परन्तु मेरा अनुभव है कि आहारदान करने वालों में उपर्युक्त दुर्गुण के परिवर्तन में सुगुण पाये जाते हैं। इतना ही नहीं जो आहारदान देते हैं उन्हें अधिक परिश्रम करना पड़ता है, अधिक समय देना पड़ता है और अधिक विवेक से काम करना पड़ता है। आहार देने के लिए सुबह से लेकर मध्याह्न 1 बजे तक परिश्रम करना पड़ता है। शुद्धि, मर्यादा, अन्तराय, पद्धति, भक्ति आदि का ध्यान/विवेक रखना पड़ता है। भोजन सामग्रियों को, बर्तन, पाटा, चौका, चन्दवा, लकड़ी आदि की व्यवस्था करनी पड़ती है और उसके लिये धन भी खर्च करना पड़ता है। इतना परिश्रम, इतना ध्यान, इतने सही तरीके से धन का सद्-उपयोग वर्तमान में अन्य क्षेत्र में देखने में नहीं आता है। अन्य क्षेत्र में ज्यादा करके नाम के लिये, दिखावे के लिये काम होता है परन्तु आहारदान में तथा दानकर्त्ता में इतनी विकृतियाँ अभी भी नहीं आयी हैं।

न क्रोधो न च मत्सरो न च मदो माया न कामो न न।
द्वेषो मोहसरागदर्पमदता लोभो भवेत्तस्य न।।
सम्यक्त्वव्रतगुप्तिपंचसमितिष्वासक्तिरभ्यासता।
नित्यं पुण्यविचारता निपुणता दानेषु यत्रादरः।। 22।।

जिस भव्य को दान देने में आदर है उसको क्रोध, मात्सर्य, मद, माया, काम, द्वेष, मोह, गर्व, विषयाभिलाषा इत्यादि दोष नहीं करते हैं परन्तु सम्यक्त्व, व्रत, गुप्ति, समिति इत्यादि पुण्य विचारों में आसक्ति, नित्य पुण्य विषयों का विचार करना, सर्व कार्यों में नैपुण्य इत्यादि गुण उसको प्राप्त होते हैं।

वातघ्नो मलमूत्रकृच्छकहरो दुष्चित्तनुत्पुष्टिकृत्।
मेधाबुद्धिबलांगकांतिकरणः पापच्छिदग्निप्रदः।।
दृग्ज्ञानवरणापहो बहुगुणः शीतः सुसेव्यो बुधैः।
गव्याधार इवाप्यदभ्रगुणदो वर्षानुवत्सादरः।। 20।।

जिस प्रकार गायका घी आदि विधिपूर्वक सेवन किया जाय तो वह वातरोग को दूर करता है, मलमूत्र के विकार को नष्ट करता है, थकावट को दूर करता है, पित्तोद्रेक को हटाता है, शरीर को बल देता है, मेधा बुद्धि और शरीर की कांति को बढ़ाता है, प्यास को दूर करता है, अग्नि तेज करता है, दृष्टिदोष, बुद्धिविकार इत्यादि दोषों को दूर करता है। यह ठण्डा है, एवं सर्वजनों से सेव्य है उसी प्रकार जो व्यक्ति बहुत आदरपूर्वक दान देता है, उसका पापरूपी वात नाश होता है। उसका कर्ममल नष्ट होता है, उसकी तेज बुद्धि तेज हो जाती है, पाप का नाश होकर पुण्य, कर्ममल नष्ट होता है, उसकी तेज बुद्धि तेज हो जाता है, पाप का नाश होकर पुण्य की वृद्धि होती है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म दूर हो जाता है। वह शांत बनता है। विद्वानों द्वारा आदरणीय होता है। इस प्रकार आदरभाव से पात्रदान देने में बहुत से गुण प्राप्त होते हैं।

गृहकर्मणाणि निचितं कर्म विमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानाम्।
अतिथीनां प्रतिपूजा रूधिरमलं धावते वारि।। 24।।

जिन्होंने अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग से घर का त्याग कर दिया है तथा सब तिथियाँ जिन्हें एक समान है, किसी खास तिथि से राग द्वेष नहीं है ऐसे मुनियों के लिये जिन्हें एक समान है, किसी खास तिथि से राग द्वेष नहीं है ऐसे मुनियों के

लिये जो दान दिया जाता है वह सावद्य व्यापार सपाप कार्यों से संचित बहुत भारी कर्म को भी उसी तरह नष्ट कर देता है जिस तरह कि जल, मलिन रूधिर को धो देता है, नष्ट कर देता है।

उच्चैर्गोत्रं प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात्पूजा।
भक्तेः सुन्दररूपं स्तवनात्कीर्तिस्तोनिधिषु।। 25।।

तपस्वियों को प्रणाम करने से उच्चगोत्र, दानादिक देने से, पड़गाहने से पूजा-प्रभावना, भक्ति अर्थात् गुणानुराग से उत्पन्न श्रद्धा विशेष सुन्दर रूप, तथा 'आप ज्ञान के सागर है' इत्यादि स्तुति करने से कीर्ति प्राप्त होती है।

क्षितिगतमिव वटबीजं पात्रगतं दानमल्पपि काले।
फलते च्छायाविभवं बहुफलमिष्टं शरीरभृताम्।। 26।।

जिस प्रकार उत्तम भूमि में उचित समय में डाला हुआ छोटा-सा वट का बीज संसारी जीवों को बहुत भारी छाया के साथ बहुत से इष्ट फल को फलता है उसी प्रकार उचित समय में सत्पात्र के लिये दिया हुआ थोड़ा भी दान संसारी प्राणियों के लिए अभिलाषित सुन्दर रूप तथा भोगोपभोग आदि अनेक प्रकार के फल को प्रदान करता है। दानपक्ष में छाया विभव का समास इस प्रकार होता है। **छाया महात्म्यं विभवः सम्पत् तौ विद्यते यस्मिन् इति फलस्य विशेषणं** छाया का अर्थ महात्म्य होता है और विभव का अर्थ संपत्ति होती है। छाया और माहात्म्य ये दोनों जिस फल में विद्यमान है उस फल में विद्यमान है उस फल को दान देता है। वटबीज पक्ष में छाया का अर्थ अनातप धाम का अभाव होता है और विभव का अर्थ प्राचुर्य अधिकता लिया जाता है। छाय-आतप-निरोधिनी तस्या विभवं प्राचुर्यं यथाभवत्येव। इस प्रकार क्रिया विशेषण किया जाता है।

आचार्य श्री समन्तभद्रस्वामी ने दान को वैयावृत्ति/सेवा कहा है ''दान वैयावृत्य''- भोजनादिदानमपि वैयावृतयमुच्यते अर्थात् भोजनादि दान को भी वैयावृत्य कहते हैं। धवला, जयधवला, तत्त्वार्थ सूत्र, भगवती आराधना आदि में वैयावृत्य का सविस्तार वर्णन पाया जाता है। उन में सविस्तार वर्णन किया गया है कि जो वैयावृत्य करता है वह तीर्थंकर पुण्य प्रकृति का बन्ध करता है और आगे तीर्थंकर बनकर धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करके मोक्ष को प्राप्त करता है। तीर्थंकर बनने की 16 भावना में से (1) वैयावृत्य के साथ-साथ (2) शक्ति के अनुसार त्याग (3)

शक्ति के अनुसार तप (4) आचार्य भक्ति (5) बहुश्रुत भक्ति (6) वात्सल्य भाव। ये सब प्रत्यक्ष परोक्ष या आंशिक रूप से वैयावृत्य/सेवा/भक्ति/दान में गर्भित हैं। इससे भी सिद्ध होता है कि वैयावृत्य की महानता तथा व्यापकता कितना श्रेष्ठ/ज्येष्ट/गरिष्ट है। उपर्युक्त वर्णन से वैयावृत्य का महत्व स्पष्ट-प्रतिभासित हो जाता है। स्वामी समन्तभद्र ने दान के साथ-साथ उनकी शारीरिक सेवादि को भी वैयावृत्य कहा है। यथा :-

व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात्।
वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम्।। 22।।

टीकार्थ :- देशव्रती और सकलव्रती के भेद से संयमी दो प्रकार के हैं। इनके ऊपर यदि बिमारी आदि नाना प्रकार की आपत्तियाँ आई हैं तो उन्हें गुणानुराग से प्रेरित होकर दूर करना उनके पैर आदि अङ्गों का मर्दन करना तथा इसके सिवाय और भी जितनी कुछ समयानुकूल सेवा है वे सब वैयावृत्य नामक शिक्षाव्रत है। यह वैयावृत्य व्यवहार अथवा किसी दुष्टफलकी अपेक्षा से न होकर मात्र गुणानुराग अर्थात् भक्ति के वश की जाती है।

भगवती आराधना जो मुख्यतः मुनियों के लिये रचना की गई है उसमें वर्णन किया गया है कि जो मुनि 6 महीना उपवास करके पर्वत के ऊपर तप करता है या स्वाध्याय करता है उससे भी श्रेष्ठ वैयावृत्ति करने वाले साधु को कहा गया है। वैयावृत्ति अन्तरंग तप है जैसा कि स्वाध्याय, ध्यान अन्तरंग तप है। रयणसार में कहा है- **''दाणं पूजा मुक्खं सावय धम्मे ण सावया तेण विणा''** अर्थात् दान, पूजा श्रावक धर्म में प्रमुख है और दान, पूजा बिना कोई श्रावक नहीं होता है। प्रवचनसार में आचार्य कुन्दकुन्द देव ने कहा है कि वैयावृत्ति श्रावक के मुख्य कर्त्तव्य है तथा साधुओं के गौण कर्त्तव्य है। तथापि साधुओं की शुभ क्रिया में वैयावृत्ति का स्थान बहुत महत्वपूर्ण बताया है यथा-

उवकुणदि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स।
कायविराधणरहिदं सो वि सरागप्पधाणो से ।। 249।। प्र. सार

(जो वि) जो कोई (चादुव्वण्णस्स समणसंघस्य) चार प्रकार साधु संघ का (णिच्चं) नित्य (कायविराधणरहिदं) छहकाय के प्राणियों की विराधना से रहित क्रिया द्वारा (उपकुणदि) उपकार करता है (सोवि) वह साधु भी (सरागप्पधाणो) शुभोपयोगीधारियों में मुख्य होता है।

समीक्षा :- कुंदकुंद देव ने इस गाथा में सिद्ध किया है कि जो चतुर्विध संघ का उपकार करता है, वह धर्मानुरागी में श्रेष्ठ है। इससे सिद्ध होता है कि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती से लेकर छट्ठे गुणस्थानवर्ती श्रमण तक का कर्त्तव्य धर्मात्मा का उपकार करना है। तुलसीदास ने कहा है :-

परोपकार सम धर्म नहि भाई।

नीतिकार व्यास ने भी कहा है -

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयं।
परोपकाराय पुण्याय पापाय परपीडनम्।।

व्यास जी कहते है 18 पुराणों व 4 वेदों का संकलन मैंने दो वाक्यों में किया ''परोपकार पुण्याय पापाय परपीडनम्।'' पुण्य धर्म क्या है ? कर्त्तव्य, परोपकार। अधर्म क्या है ? अनीति, पाप, परापकार। हमारे आचार्यों ने भी कहा है -

श्लोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रंथ कोटिभिः।
परोपकाराय पुण्याय पापाय परपीडनम्।।

रहिमन कवि ने कहा भी है -

तरूवर फल नहि खात है, नदी न संचै नीर।
रहिमन पर काज हित, सज्जन धरै शरीर।।

पूजा-दान-धर्म को करने वाले सम्यग्दृष्टि मोक्षमार्गस्थ है!

जिणपूया मुणिदाणं करेइ जो देइ सूत्तिरूवेण।
सम्माइट्ठी सावय धम्मी सो होइ मोक्खमग्गरओ।। (13) रयण.

अन्वयार्थ :- (जिणपूया मुणिदाणं) जो भव्य जिनपूजा, मुनिदान,(सत्तिरूवेण) अपनी शक्ति के अनुसार (करेई) करता है (देई) देता है (सम्माइट्ठी) वह सम्यग्दृष्टि (सावय धम्मो) श्रावक धर्मात्मा (मोक्खमग्गरओ) मोक्ष मार्ग में रत होता रहता है।

पद्यभावानुवाद :-

जिनपूजा-मुनिदान करता है व देता है शक्ति रूप से।
सम्यग्दृष्टि श्रावक धर्मी वह होता है मोक्षमार्ग रत।। (1)

समीक्षा व शिक्षा :-

जो करता है जिन पूजा व देता मुनिदान शक्ति रूप से।

वह सम्यग्दृष्टि श्रावक धर्मी वह रत है मोक्ष मार्ग में।। (2)

इससे यह शिक्षा मिलती है मोक्षप्राप्ति हेतु पूजा दान देय।
पूजा-दान से बन्धे सातिशय पुण्य जिससे मिले आगे मोक्ष।। (3)

संदर्भ :-

दान-सेवा जीवन्त धर्म

(पूजा से केवल पूजक लाभान्वित किन्तु दान से दाता-पात्र-लाभान्वित)

(चाल : आत्मशक्ति...) -आचार्य कनकनंदी

अरिहंत-सिद्ध की पूजा से, लाभान्वित (होते) पूजक न होते पूज्य।
सभी प्रकार के दान देने से, लाभान्वित होते दाता व पात्र।।
दोनों देव तो होते सम्पूर्ण, युक्त अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य।
क्षुधा-तृषादि अठारह दोष मुक्त, राग-द्वेष-मोह-इच्छा-तृष्णा मुक्त।। (1)
भरत क्षेत्र में अभी नहीं विद्यमान, सात राजू ऊपर वे विद्यमान।
पूजा-निन्दादिसे वे अप्रभावित, स्व-आत्मवैभव में होते सदा लीन।।
उनकी पूजा-आराधना सदा करणीय, जिससे होते पापकर्म क्षय।
सातिशय पुण्यकर्म होता संचय, भावविशुद्धि से मिले स्वर्ग-मोक्ष।। (2)

किन्तु आहार आदि सभी दानों से, दाता-पात्र दोनों ही लाभान्वित।
दोनों को ही मिले सभी उभयलोक लाभ, सम्यग्दृष्टि होने से पाते स्वर्ग-मोक्ष।।
आहारदान से होती पात्र (साधु) की क्षुधानाश, ध्यान-अध्ययन से करते कर्म-नाश।
दाता को सातिशय पुण्य का लाभ, परम्परा से पाता स्वर्ग मोक्ष।। (3)
औषधिदान से पात्र होते निरोगी, निराकुलता से करते वे आत्मसिद्धि।
दाता भी पाता पुण्य बने निरोगी, परम्परा से आत्मसाधना से मुक्ति।।
ज्ञानदान में दानी करे शास्त्रदान, शास्त्र प्रकाशन से ले ज्ञान उपकरण।
जिससे पात्र (मुनि) करते हैं ज्ञानार्जन, जिससे वे करते ध्यान-अध्ययन।।(4)

अध्यापन-प्रवचन-लेखन द्वारा, योग्य-श्रोता-शिष्यों को देते ज्ञानदान।
जिससे दाता व पात्र होते लाभान्वित, परम्परा से साधना से पाते केवलज्ञान।

तथाहि वसतिका-चटाई पिच्छी दान, शीत-उष्ण आदि का उपशमन।
तैल मर्दन आदि वैयावृत्ति करण, निहार-विहार आदि में सेवादान।। (5)

इत्यादि समस्त दान में जानने योग्य, उभयदान व दयादत्ति रूपी दान।
गरीब-रोगी-विपत्ति ग्रस्तजीवों के, सेवा-सुश्रुषा-सहयोग आदि दान।
हर धर्म में दान-सेवा का महत्त्व माना, आयुर्वेद से ले विज्ञान माना।
पात्रसे भी कभी-कभी दाता अधिक पाता प्रसन्नता से पुण्य तक अधिक पाता।(7)

अतएव जीवन्त धर्म सेवा-दान, अन्यथा धर्म होता निर्जीव समान।
इससे तीर्थंकर पुण्य कर्म का बन्ध, ऐसे जीव निश्चय से पाते निर्वाण।।
पूजा-दान बिन जीवन होता पाप पूर्ण, इह-पर लोक में मिले दुःख दैन्य।
प्रकृति में भी यह सब विद्यमान, 'कनक' को प्रिय है पूजा-दान।। (7)

विशेष पुण्य के लिये और क्या करना चाहिये-

भावह अणुव्वयाई पालह सीलं च कुणह उववासं।
पव्वे पव्वे णियमं दिज्जह अणवरय दाणाउं। (448 भावसंग्रह)

अर्थ : ऐसे विशेष गुण को उपार्जन करने के लिए अणुव्रतों को पालन करना चाहिये गुणव्रत शिक्षाव्रत रूप शीलों का पालन करना चाहिये। प्रत्येक पर्व के दिन उपवास करना चाहिये और नियमपूर्वक निरंतर दान देना चाहिये।

अभय पयाणं पढमं विदियं तह होइ सत्थ दाणं च।
तइयं ओसह दाणं आहारदाणं चउत्थं च ।। (489)

अर्थ : दान के चार भेद हैं पहला अभयदान, दूसरा शास्त्रदान, तीसरा औषधदान और चौथा आहार दान।

दानों का फल

सव्वेसिं जीवाणं अभयं जो देइ मरणभीरुणं।
मो णिब्भओ तिलोए उत्तस्सो होइ सव्वेसिं। 490।।

अर्थ : जो जीव अपने मरने से भयभीत हो रहे हैं ऐसे समस्त जीवों को जो अभयदान देता है वह पुरुष तीनों लोकों में निर्भय होता है और सब मनुष्यों में उत्कृष्ट होता है।

सुयदाणेण प लब्भइ मइ सुइ णाणं ओहिमणणाणं।

बुद्धितवेणय सहियं पच्छा वर केवलं णाणं।। (491)

अर्थ : जो पुरुष शास्त्रदान देता है जिनागम को पढ़ाता है वह पुरुष मतिज्ञान श्रुतज्ञान दोनों को पूर्ण रूप से प्राप्त करता है, बुद्धि और तत्पश्चरण के साथ साथ अवधिज्ञान और मनः पर्यय ज्ञान को प्राप्त करता है पश्चात् केवलज्ञान प्राप्त करता है।

ओसहदाणेण णरो अतुलिम लवपरक्कमोमहासत्तो।
वाहि विमुक्क सरीरो चिराउ सो होइ तेयट्ठो।। (492)

अर्थ : जो पुरुष औषध ज्ञान देता है वह अतुलित व सर्वोत्कृष्ट बल और पराक्रम को धारण करता है महाशक्ति को धारण करता है, वह चिरायु होता है तेजस्वी होता है और उसका शरीर समस्त रोग व्याधियों से रहित होता है।

दाणस्साहारं फलं को सक्कइ वणिणऊण भुवणयले।
दिण्णेण जेण भो ओ लब्भंति मणिच्छियासव्वे।। (493)

अर्थ : इन तीनों लोकों में आहारदान के फल को वर्णन करने के लिए भला कौन समर्थ है।

ज्ञानवान्, ज्ञानदानेन निर्भयोऽभय् दानतः।
अन्नदानात्सुखी नित्यं निर्व्वाधिर्भेषजाद्भवेत।।

अर्थ : जो जीव ज्ञानदान से ज्ञानी होता है, अभयदान से निर्भय होता है अन्नदान से सुखी होता है और औषधदान से निरोग होता है।

दायरो वि य पत्तं दाण विसेसो तह विहाणं च।
एए चउ अहियारा णायव्वा होंति भव्वेण।। (494)

अर्थ : भव्य जीवों को सबसे पहले दान देने के चार अधिकार समझ लेने चाहिये। दाता, पात्र, देने योग्य द्रव्य और देने की विधि से चार अधिकार हैं।

दान देने वाले को दाता कहते हैं, जिसको दान दिया जाता है वह पात्र कहलाता है, दान में जो द्रव्य दिया जाता है वह दान विशेष है और दान देने के नियमों को विधि कहते हैं।

दायारो उवसंतो मणवय काएण सजुओ दच्छो।
दाणे कयउच्छाओ पयडय वर छग्गुणो अभये।। (495)

अर्थ : जो भव्य जीव शांत परिणामों को धारण करता है, जो मन वचन

काय से दान देने लगा हो अत्यंत चतुर हो, दान देने से जिसका उत्साह हो, जो मद वा अभिमान रहित हो और दाता के सात गुणों से सुशोभित हो ऐसा भव्य जीव दाता गिना जाता है।

भत्ती तुट्ठी य खमा सद्धा सत्तं च लोहपरिचाओ।
विउणाणं तक्काले सत्तगुणा होंति दायारे।। (496)

अर्थ : जिनको दान देना है उनमें जिसकी भक्ति हो, दान देने में जिसको संतोष हो, क्षमा को धारण करने वाला हो, देव शास्त्र गुण में वा पात्र में श्रद्धा रखता हो, दान देने की शक्ति रखता हो, जिसके लोभ का त्याग हो और दान देने में क्या करना चाहिये इस विषय का जिसको पूरा ज्ञान हो वही उत्तम दाता कहलाता है।

भावार्थ : दाता में ये सात गुण अवश्य होने चाहिये।

पात्रों के भेद

तिविहं भणंति पत्तं मज्झिम तह उत्तम जहण्णं च।
उत्तम पत्तं साहू मज्झिमपत्तं च सावया भणिया।। (497)
अविरइ सम्मादिट्ठी जहण्ण पत्तं तु अक्खियं समये।
णाउण पत्तविसेसं दिज्जइ दाणाइ भत्तीए।। (498)

अर्थ : पात्र तीन प्रकार के हैं उत्तम पात्र मध्यम पात्र और जघन्य पात्र। इनमें उत्तम पात्र रत्नत्रय को धारण करने वाले निर्ग्रन्थ मुनि हैं मध्यम पात्र अणुव्रती श्रावक हैं और जघन्य पात्र अविरत सम्यग्दृष्टि पुरुष हैं। ऐसा शास्त्रों में निरूपण किया है। इसलिये भव्य जीवों को इन पात्रों के भेद और विशेषता समझकर भक्तिपूर्वक दान देना चाहिये।

आगे जैसे पुरुष जैसा पात्र को दान देता है उसको वैसा ही उत्तम फल मिलता है यही दिखलाते हैं।

मिच्छाइट्ठी पुरिसो दाणं जे देइ उत्तमे पत्ते।
सो पावइ वर भोए फुड उत्तम भोय भूमीसु।। (499)

अर्थ : यदि कोई मिथ्यादृष्टि पुरुष किसी उत्तमपात्र को दान देता है तो वह पुरुष उत्तम भोगभूमि के उत्तम भोगों को प्राप्त होता है।

मज्झिम पत्ते मज्झिम भोयभूमीसु पावए भोए।
पावइ जहण्ण भोए जहण्णं पत्तस्सं दाणेण।। (500)

अर्थ : यदि मिथ्यादृष्टि पुरुष किसी मध्यम पात्र को दान देता है तो वह मध्यम भोग भूमि को भोगों को प्राप्त होता है यदि वही मिथ्यादृष्टि पुरुष किसी जघन्य पात्र को दान देता है तो वह जघन्य भोगभूमि में जन्म लेकर वहाँ के भोगों का अनुभव करता है।

आगे फलों में यह न्यूनाधिकता क्यों होती है सो बतलाते हैं।

उत्तम छित्ते वीयं फलइ जहा लक्ख कोडि गुण्णेहिं।
दाणं उत्तम पत्ते फलइ तहा किमिच्छ भणिएण।। (501)

अर्थ : जिस प्रकार उत्तम पृथ्वी पर बोया हुआ बीज लाखों गुणा या करोड़ों गुणा फलता है उसी प्रकार उत्तम पात्र को दिया हुआ दान इच्छानुसार फल को देता है।

समादिट्ठि पुरिसो उत्तम पुरिसस्स दिण्ण दाणेण।
उववज्जइ दिव लोए हवइ स महड्ढिओ देओ।। (502)

अर्थ : यदि कोई सम्यग्दृष्टि पुरुष उत्तम पात्र को दान देता है तो वह स्वर्ग लोक में जाकर महाऋद्धियों को महाविभूतियों को धारण करने वाला उत्तम देव होता है।

जह णीरं उच्छगयं कालं परिणवइ अमिय रुवेण।
तह दाणं वर पत्ते फलेइ भोएहिं विविहे हिं।। (503)

अर्थ : जिस प्रकार ईख के खेत में दिया हुआ पानी अपने समय पर अमृतरूप (मीठे रस रूप) परिणत हो जाता है उसी प्रकार उत्तम पात्र को दिया हुआ दान अपने समय पर अनेक प्रकार के भोगों से फलता है।

दान में देने योग्य द्रव्य

कुच्छिगयं जस्सण्णं जीरइ तवझाणवंभ चरिएहिं।
सो पत्तो णित्थारइ अप्पाणं चेव दायारं।। (511)

अर्थ : जिसका जो अन्न पेट में पहुँचने पर तपश्चरण ध्यान और ब्रह्मचर्य आदि के द्वारा सूखपूर्वक जीर्ण हो जाए पच जाय वही अन्न पात्र को भी संसार से पार कर देता है और दान देने वाले दाता को भी संसार से पार कर देता है।

एरिस पत्तम्मि वरे दिज्जइ आहाराणमणवज्जं।
पासुय सुद्धं अमलं जोग्गं मणदेह सुक्खयरं।। (512)

अर्थ : इस प्रकार कहे हुए उत्तम पात्रों को निरंतर आहार दान देना चाहिये। वह आहार निर्दोष हो प्रासुक्त हो, शुद्ध हो, निर्मल हो योग्य हो और मन तथा शरीर को सुख देने वाला हो।

कालस्य अणुरुवं रोयारोयत्तणं च णाऊणं।
दायव्वं जह जोग्गं आहार गेहवंतेण।। (513)

अर्थ : गृहस्थों को यथा योग्य ऐसा आहार दान देना चाहिये जो समय वा ऋतुओं के अनुकूल हो तथा जिसमें रोग वा निरोगता का भी विचार हो।

पत्तस्सेस सहावी व दिण्णं दायगेण भत्तीए।।
तं कर पत्ते साहिव गहियब्बं विगइराइयेण।। (514)

अर्थ : पात्र का भी यह स्वभाव होना चाहिये कि दाता ने जो भक्तिपूर्वक दान दिया है उसको कर पात्र में लेना चाहिये और उसको शोधकर बिना किसी राग द्वेष के ग्रहण कर लेना चाहिये।

आगे दाता का भी स्वभाव बतलाते हैं।

दायारेण पुणो विय अप्पाणो सुक्ख मिच्छमाणेण।
देयं उत्तम दाणं विहिणा वरणीय सत्तीए।। (515)

अर्थ : जो दान देने वाला दाता अपने आत्मा को सुख पहुँचाना चाहता है उसको विधिपूर्वक ऊपर कही हुई शक्ति के अनुसार उत्तम दान देना चाहिये।

लोभी दाता

जो पुण हंतइ धण कणइ मुनिहिं कुभोयणु देइ।
जम्मि जम्मिदालिद्दहण पुट्ठिंण तहो छंडेइ।। (516)

अर्थ : जो पुरुष अन्न धन आदि के होते हुए भी मुनियों को कुभोजन देता है उसकी पीठ को दरिद्रता अनेक जन्मों तक भी नहीं छोड़ती अर्थात् वह अनेक जन्म तक दरिद्री बना रहता है।

आहार दान के लाभ

देहो पाणा रुवं विज्जा धम्मं तवो सुहं मोक्खं।
सव्वं दिण्णं णियमा हवेइ आहारदाणेण।। (517)

अर्थ : शरीर, प्राण, रूप, विद्या, धर्म, तप, सुख और मोक्ष ये सब आहार

के ऊपर निर्भर है। इसलिये जो भव्य पुरुष यतियों को आहार दान देता है वह नियम से शरीर, प्राण, रूप, विद्या, धर्म, तप, सुख, मोक्ष आदि सबका दान देता है ऐसा समझना चाहिये।

भुक्खं समाणहु वाही अण्णसमाणं य ओसहं णत्थि।
तम्हा आहार दाणे अरोगत्तं हवे दिण्णं।। (518)

अर्थ : इस संसार में भूख के समान अन्य कोई व्याधि नहीं है और अन्न के समान कोई औषधि नहीं है। इसलिये जो भव्य आहार दान देता है वह पुरुष आरोग्यदान भी देता है ऐसा अवश्य समझना चाहिये।

आहारमओ देहो आहारेण विणा पडेइ णियमेण।
तम्हा जेणाहारो दिण्णो देहो हवे तेण।। (519)

अर्थ : यह शरीर आहारमय है अन्न का कीड़ा है। यदि इसके आहार न मिले तो नियम से शिथिल होकर गिर पड़ता है। इसलिये जिसने ऐसे शरीर के लिये आहार दिया उसने उस शरीर को ही दिया ऐसा समझना चाहिये।

ता देहो ता पाणा ता रुवंताम णाण विण्णाणं।
जामा हारो पविसइ देहे जीवाण सुक्खयरो।। (520)

अर्थ : इस संसार में जब तक जीवों को सुख देने वाला आहार इस शरीर में रहता है तब तक ही यह शरीर है, तब तक ही प्राण रहते हैं तब तक ही रूप रहता है, तब तक ही ज्ञान रहता है और तब तक ही विज्ञान रहता है। बिना आहार के ये सब नष्ट हो जाते हैं।

आहारसणे देहो देहेण तवो तवेण रय सडणं।
रय णासेण णाणं णाणे मुक्खो जिणोभणइं।। (521)

अर्थ : आहार ग्रहण करने से शरीर की स्थिति रहती है, शरीर की स्थिति रहने से तपश्चरण होता है, तपश्चरण से ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्मों का नाश होता है, ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्मों के नाश होने से ज्ञान की प्राप्ति होती है और ज्ञान की प्राप्ति होने से मोक्ष की प्राप्ति होती है ऐसा जिनेंद्र भगवान् ने कहा है।

आहारदान से चारों दानों का फल मिलता

चउविहदाणं उत्तं जे तं सयलमवि होइ हइ दिण्णं।
सविसेसं दिण्णेणय इक्केणाहारदाणेण।। (522)

अर्थ : जो पुरुष विशेष रीति से एक आहारदान को ही देता है उसने एक आहारदान से ही समस्त चारों दान दिये, ऐसा समझा जाता है।

भुक्खा कय मराणभयं णांसइ जीवाण तेण तं अभयं।
सो एव हणइ वाही उसहं फुडअत्थितेण आहारो।। (523)

अर्थ : देखो भूख की पीड़ा अधिक होने से मरने का भय रहता है इसलिये आहारदान देने से अभयदान की भी प्राप्ति होती है। तथा भूख ही सबसे प्रबल व्याधि है और वह आहारदान से नष्ट होती है। इसलिए आहारदान देने से ही औषध दान समझना चाहिये।

आयाराई सत्थं आहारवलेण पढइ णिस्सेसं।
तम्हा तं सुयदाणं दिण्णं आहारदाणेण।। (524)

अर्थ : इस आहार के ही बल से आचार आदि समस्त शास्त्रों का पठन पाठन होता है। इसलिए एक आहार दान से ही शास्त्र दान का भी फल मिल जाता है। इस प्रकार एक आहार दान से चारों के फल मिल जाते हैं।

आहार दान देने की विधि

सो दायव्वो पत्ते विहाण जुत्तेण सा विहि एसा।
पडिगह मुच्चाणं पादोदय अच्चणं पणामंच।। (527)
मणवयण कायसुद्धी एसणसुद्धी य परम कायव्व।
होइ फुडं आयरणं णवव्विहं पुव्वकम्मेण।। (528)

अर्थ : वह आहारदान पात्र को ही देना चाहिये और विधिपूर्वक ही देना चाहिए। उसकी विधि इस प्रकार है। प्रतिग्रह, उच्चस्थान, पादोदक, अर्चन, प्रणाम, मनशुद्धि, वचन शुद्धि काय और आहार शुद्धि इस प्रकार नवधा (नौ प्रकार) भक्तिपूर्वक आहार देना चाहिये।

अर्थ : उभयगुण अर्थात् श्रावक के आठ मूलगुण और बारहव्रत (उत्तर गुण) सप्तव्यसन, सातभय, आठमद, आठ शंकादि दोष, तीन मूढ़ता, छह अनायतन इन दोषों से रहित तथा वैराग्य उत्पन्न करने वाली भावनाएँ और मूलगुणों में और उत्तरगुणों में लगने वाले अतिचार अथवा सम्यक्त्व के पाँच अतिचार रहित भक्ति व विघ्न रहित इन सबको मिलाकर सतहत्तर सम्यग्दृष्टि श्रावक के गुण होते हैं इस प्रकार भगवान् ने कहा है।

पूजा व दान का फल

पूयाफलेण तिलोए सुरपूज्जो होइ सुद्धमणो।
दाणफलेण तिलोए सारसुहं भुंजदे णियदं।। (14) रयण.

अन्वयार्थ :- (सुद्धमणो पूया फलेण) शुद्ध मन से पूजा फल से (तिलोए) तीन लोक में (सुरपूज्जो) देवों के द्वारा पूजनीय, सेवनीय (होइ) होता है (दाण फलेण) दान फल से (तिलोए) तीन लोक में (णियदं) निश्चय से (सारसुहं) श्रेष्ठ सार सुखों को भोगता है।

पद्यभावानुवाद :-

शुद्ध मन से जो करता पूजा उससे बने वह त्रिलोक पूज्य।
दानफल से भोगता है त्रिलोकसार सुख भी नियम से।। (1)

समीक्षा व शिक्षा :-

शुद्ध मन से जो करे दान व पूजा उसे बन्धे सातिशय पुण्य।
पाप का होता संवर व निर्जरा जिससे होता आत्मविकास।। (2)

जिससे बने उत्तम देव व मानव तथाहि शलाका पुरुष-तीर्थेश।
जिससे मिले अभ्युदय-सुख व पूजा निःश्रेयस सुख तक।। (3)

इससे शिक्षा मिले महान् सर्वोदय हेतु करणीय पूजा व दान।
यह है कर्म सिद्धान्त व मनोविज्ञान तथाहि आध्यात्मिक ज्ञान।। (4)

संदर्भ :-

दान-सेवा-परोपकार से सुख व स्वास्थ्य लाभ
(वैज्ञानिक व धार्मिक दृष्टि से)

(चाल : (1) छोटी-छोटी गैया...(2) शत-शत वन्दन)

सहयोग दान परोपकार जो करता है सो करता है स्व-परोपकार।
इसी से स्वयं को खुशी मिलती है, मिलता है स्वास्थ्य व पुण्य प्रचुर।।
ग्रन्थों (धर्म) में पहले से ही यह वर्णन हुआ, शोध हुआ अभी विज्ञान में भी।।
ऑक्सीटोसिन हार्मोन का होता उत्सर्जन, जिससे बनता है उदारमन।।
जिससे प्रेम-सहयोग-सम्बन्ध बढ़े, सामञ्जस्य बढ़ता परस्पर में।

मस्तिष्क का वह भाग (भी) सक्रिय होता, जो भाग खुशी भरोसा से सम्बन्धित।।
स्वास्थ्य भी अच्छा होगा आयु बढ़ती, तनाव दूर रहे रक्त चाप सामान्य।
विश्वास-सहयोग-सम्बन्ध दृढ़ होते, समाज में मिले आदर व सम्मान।।
बढ़ती कृतज्ञता व सकारात्मकता, चैन-रिएक्शन होता है परस्पर में।
दान-सेवा-करते अन्य भी प्रेरित होते, उदार-सहयोग का होता संचार।।
ऐसा ही दयालु व विनम्र होना, प्रशंसा सान्त्वना व प्रिय बोलना।
अभिवादन करना आशीर्वाद देना, वात्सल्य प्रेम से मुस्कराना।
आहार औषधि ज्ञानदान देना, अभय वसतिका उपकरण देना।
वैयावृत्ति करना व उपसर्ग हरना, साधु हेतु सर्वोत्तम दान देना।।
इससे पुण्य-ज्ञान-अरोग्य बढ़े, तीर्थंकर प्रकृति का (भी) होता बन्ध।
अन्त में मोक्ष शाश्वत सुख मिले, 'कनक' का लक्ष्य है पाना निर्वाण।।

आहारदान से विविध-ज्ञान व लाभ

आचार्य कनकनन्दी

(चाल : 1. क्या मिलिये...2. शत-शत वन्दन...)

आहारदान है महान् काम...जिससे मिलते अनेक लाभ...
आहार बनाना नौ भक्ति करना...सप्त गुण सह सातिशय पुण्य लाभ...
आहार बनाने में आयुर्वेद ज्ञान...भौतिक रसायन गणित ज्ञान...
चाप-ताप सह गति विज्ञान...माप तौल-वनस्पति विज्ञान...
समयानुबद्धता-अनुशासन ज्ञान...क्रमबद्धता व निर्णय ज्ञान...
होता अनुपान-मात्रा का ज्ञान...जलगालन स्वच्छता मर्यादा ज्ञान...(1)

होता नवधा भक्ति का (भी) ज्ञान...पड़गाहन[1]-उच्चासन[2] पाद प्रक्षालन[3]...
पूजन[4] नमस्कार[5] मन[6] वचन[7] काय[8]...आहार शुद्धि[9] का प्रायोगिक ज्ञान...
सप्त गुण का ही प्रयोग होता...क्रोध[1] ईर्ष्या[2] माया[3] का त्याग होता...
निदान[4]-विषाद[5] का त्याग होता... हर्षभाव[6] निरहंकार[7] भाव होता...(2)

सातिशय पुण्य का बन्ध भी होता...पाप कर्म का भी संवर होता...
इह परलोक में सुख भी मिलता...परम्परा से निर्वाण भी होता...
श्रावक के षट् कर्त्तव्य पालन होते...पूजा-दान-संयम भी पालन होते...

ज्ञानार्जन रूपी स्वाध्याय भी होता...गुरु उपासना तप भी होता...(3)

धार्मिक संस्कार व आदर्श का पाठ...'अतिथि देव भवः' का महान् पाठ...
दान-दया-सेवा परोपकार का पाठ...पढ़ने को मिलता मोक्ष लक्ष्य का पाठ...
दाता-पात्र का होता परस्पर...आदान-प्रदान व परिचय ज्ञान...
जिससे होता है धर्म-संरक्षण...तथाहि सम्वर्द्धन उत्तम प्रकार...(4)

ऐसी शिक्षाएँ अन्य कहीं न मिलती...देश-विदेशों के स्कूल से न मिलती...
आहारदान अतः सदा ही करणीय... 'कनक' शाश्वतिक सुख वरणीय...(5)

आहार औषधि अभय ज्ञानदान

(आहारदान से श्रेष्ठ औषधि दान, औषधि दान से श्रेष्ठ अभयदान, अभयदान से श्रेष्ठ ज्ञानदान)

(चाल : 1. भातुकली... 2. तुम दिल की धड़कन... 3. छोटी छोटी गैया

आहार औषधि अभय ज्ञान में...उत्तरोत्तर है दान महान्...
आहार से औषधि औषधि से अभय...अभय से ज्ञानदान महान्...(स्थायी)
आहार से क्षुधा रोग दूर होता...अतः आहारदान भी औषधिदान...
इससे अभयदान भी होता...जिससे सुपात्र करता ज्ञानार्जन...
अतः आहारदान में भी गर्भित...औषधि व अभयदान...
ज्ञानार्जन करते अतः सुपात्र...आहारदान भी है ज्ञानदान...(1)

औषधि से सुपात्र निरोगी होकर...आहार करके पाता अभय...
जिससे वह ज्ञानार्जन करके...साधना से पाता परिनिर्वाण...
इसीलिये भी औषधिदान श्रेष्ठ...जिससे शरीर होता है स्वस्थ...
''शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्'' अस्वस्थ तन से न होती आत्म साधना...(2)

जीवित पात्र ही साधना करता...जिससे मिलता है परिनिर्वाण...
बिना जीव हेतु ना होता आहारदान...तथा औषधि व ज्ञानदान...
आहार के बाद भी भूख लगती...होता है रोग व जन्म-मरण...
जीवित पात्र भी सुज्ञान बिना...नहीं प्राप्त कर पाता (परि) निर्वाण...(3)

परिनिर्वाण हेतु सुज्ञान चाहिये...निर्वाण में नहीं भूख-रोग-मरण...

भूख रोग मरण विनाश हेतु चाहिये...सुज्ञान अतः ज्ञानदान महान्...
ज्ञानदाता ही है 'गुरु' होते...अन्य दानदाता न होते गुरु...
अरिहन्त आचार्य पाठक साधु...अतएव होते हैं परम गुरु...(4)...

अरिहन्त ज्ञानदाता होने से...सिद्ध से पूर्व उन्हें करते नमन...
ज्ञानदान ही है निरवद्य दान...जिससे करते चारों गुरु महान्...
आत्मकल्याण व ज्ञानवृद्धि हेतु...ज्ञानदान होता महान् दान...
दोष निवारण आत्मा साधना हेतु...ज्ञानदान देना महान् दान...(5)

अज्ञानी मोही असंयमीजन नहीं...कर पाते ज्ञानदान महान्...
चतुर्थ पञ्चम गुणस्थानवर्ती भी...ज्ञानदान हेतु न होते योग्यतम...
हर साधु भी न ज्ञानदान कर पाते...इस हेतु चाहिये योग्यता महान्...
ज्ञानी अनुभवी अध्यापन कुशल...वाग्मी प्रश्न सह अतिमतिवान्...(6)

अतएव योग्य ज्ञानदानी को...सुपात्र को ज्ञानदान विधेय/(करणीय)...
ख्याति पूजा लाभ विरहित...सत्य तथ्य जो आगम प्रमाण...
ज्ञानदान से ज्ञान वृद्धि होता...सतिशय पुण्यबन्ध होता विशेष...
असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा होती...केवली बनकर पाये निर्वाण...(7)...

प्रवचन देना गलती सुधारना...शिविर संगोष्ठी ग्रन्थ प्रकाशन...
ये सब ज्ञानदान में गर्भित...'कनक' चाहे ज्ञानदान महान्...(8)

आहारदाता के अनेक गुण

(आहारदान में 4 दान, 9 भक्ति, 7 गुण, 6 कर्त्तव्य गर्भित)

(चाल : 1. तुम दिल की धड़कन...2.छोटी-छोटी गैया...)

आहारदान तो भव्य करते, श्रद्धा प्रज्ञायुक्त आहार देते।
चारों प्रकार वे दान करते, षट् कर्त्तव्यों को पूर्ण करते।। (1)

नवधा भक्ति सहित देते, सप्त गुण युक्त आहार देते।
सातिशय पुण्य सहित होते, स्वर्ग-मोक्ष के सुख को पाते।। (2)

आहार में गर्भित तीनों ही दान, औषधि-अभय-ज्ञानदान।
क्षुधा रोगहर यह औषधिदान, प्राणरक्षा कारक अभयदान।। (3)

ध्यान-अध्ययन हेतु शक्ति मिलती, ज्ञान की प्रभावना इसी से होती।
इसीलिए यह है ज्ञानदान, धर्म तप मोक्ष देना समान।। (4)

नवधा भक्ति भी इसमें गर्भित, पड़गाहन[1] उच्चस्थान[2] ग्रहण।
पादपक्षालन[3],पूजन[4] व प्रणाम[5], मन[6] वचन[7] काय[8] आहार[9] शोधन।। (5)

सप्तगुण है इसमें गर्भित, श्रद्धा[1] भक्ति[2] निर्लोभता[3] दया[4]।
शक्ति[5] क्षमा[6] व विज्ञान[7] युक्त, दान देते दाता अति गुणवन्त।।(6)

आचार्य उपाध्याय साधु भी देव, अतएव देवपूजा[1] भी गर्भित।
गुरुपास्ति[2] तो साक्षात् होती है, जीवन्त परमेष्ठी की पूजा होती है।। (7)

आहारदान ज्ञान स्वाध्याय से होता, अतएव स्वाध्याय[3] भी गर्भित होता।
आहारदान हेतु संयम[4] भी होता, फैशन-व्यसनों का त्याग होता।। (8)

इच्छानिरोध रूपी तप[5] भी होता, आहारदान तक भोजन न होता।
साक्षात् आहारदान[6] तो होता, षट्कर्मों का भी पालन होता।। (9)

आहारदानी अतः महान् होते, सातिशय पुण्य-अर्जन करते।
सांसारिक सुख-वैभव पाते, साधु बनकर मोक्ष को पाते।। (10)

मिथ्यादृष्टि भी दाता जो होते, पात्रानुसार भोगभूमि पाते।
उत्तम पात्र से उत्तम भोगभूमि, मध्यम से पाता मध्यम भोगभूमि।। (11)

जघन्य पाता जघन्य भोगभूमि,वहाँ से पाता स्वर्ग की भूमि।
स्वर्ग से बनते हैं उत्तम मानव, तीन भवों में पाते सुख-वैभव।। (12)

भव्य होने पर पाते अन्त में मोक्ष, आहारदान की यह महिमा विशेष।
आहारदान अतः सदा ही देय, मोक्षप्राप्ति है 'कनक' का ध्येय।। (13)

गर्भस्थ शिशु की सेवा/(रक्षा) यथा करती माता, साधु की सेवा/(रक्षा) तथा करते दाता।
शक्ति-भक्ति/(स्वेच्छा) से करते दान, निस्पृह सन्त सम ज्ञान व ध्यान।।(14)

स्वामी कार्तिककेयानुप्रेक्षा भी इस कविता के प्रेरणास्रोत तथा मेरा अनुभव

''सेवा का व्यापक स्वरूप एवं फल''

(राग : छुप गया कोई रे ...)

सेवा धर्म महान् है...पापी नहीं करता। जीवन्त अंहिसा धर्म...सेवा रूप होता।
सेवा तो परमो धर्म...हर धर्म बताता। जैनधर्म इसे तो...वैयावृत्ति बताता।।
आहार औषधि ज्ञान...अभयदान रूप है। उपकरण दान तथा...वसतिका दान है।। (1)

पात्रदान सहित व...अनुकम्पा/(दयादत्ति) रूप भी। दीन-हीन दरिद्र व...रोगी विकलांग की।।
दशविध साधुओं की...वैयावृत्ति करना। उपसर्ग परीषह...रोग दूर करना।।
शरीर मर्दन द्वारा...श्रम दूर करना। विहार के समय में...व्यवस्थादि करना।
यह है वात्सल्य धर्म...भक्ति पूजा अराधन। अन्तरंग तप यह...मान-लोभ मर्दन।। (3)

इसी से स्व-पर का...होता महोपकार। सातिशय पुण्य होता...बने तीर्थंकर।।
निरोग शरीर मिले...बने बलशाली। मुनि बनकर प्राप्त...करे मोक्षपुरी।। (4)
मिथ्यादृष्टि यदि करे...दान सेवा आदि। भोग भू आर्य बने...पाये स्वर्ग भूमि।।
भव्य यदि होता...वह बने सम्यग्दृष्टि। साधना से सिद्धि मिले...पाये मोक्षभूमि।।
ऐसा महान् सेवा धर्म...भाग्यशाली करता।पूजक से पूज्य बने...आत्म (मोक्ष) सुख पाता।।

सेवा नहीं दीन वृत्ति...सेवा नहीं चाकरी। सेवा नहीं बाह्य क्रिया...सेवक न भिखारी।।(6)
सेवा का महा आदर्श... तीर्थंकर होते। पार्श्वनाथ जीवन्धर...सुग्रीवादि होते।
ईसा मसीह टेरेसा...नाइटेंगल आप्टे। गाँधी विनोबा सुभाष...दयामती माते।।
गाय भैंसा नदी वृक्ष...बादल व प्रकृति। धरती अग्नि वायु...सेवा करे प्रभृति।।
अतएव मानव तू...सदा सेवा करना। सेवा से तू स्व-पर को...सदा सुखी बनाना।। (8)

सेवा से क्रूर शत्रु (भी)...नम्र बन जाते। पाप नशे पुण्य मिले...अन्ते मोक्ष मिले।।
कनक(नन्दी) भावना आये...सेवा धर्म पाले। व्यवहार निश्चय से...यथा योग्य पाले।। (9)

पूजा-सेवा-दान-त्याग की महिमा

(चाल : तुम्हीं हो माता पिता तुम्हीं हो ...)

पूज्य के प्रति भक्ति सन्मान, सो होती है पूजा विधान।
प्रणाम आरती अभिषेक वन्दन, प्रार्थना स्मरणादि होता है पूजन।। टेक/धत्ता।।
इससे पूजक होता लाभान्वित, पूज्य को नहीं होता है लाभ।
पूज्य यदि है होता सगर्वित, होता है वह अपूज्यवान्।। पूज्य के प्रति...।।1।।

सेवा-दान से उभय लाभान्वित, दाता व पात्र दोनों भी जान।
दाता को संतुष्टि पुण्य की प्राप्ति, कीर्ति की प्राप्ति होती है जान।। पूज्य ।।2।।

आहार औषधि निवास शास्त्र से, पात्र से होता कल्याण जान।
स्व-पर उद्धार करने के योग्य, होता है सुपात्र जन महान्।। पूज्य के प्रति।।3।।

इस हेतु है पूजा से महान्, सेवा दान भी दोनों ही जान।
तीर्थंकर की पदवी पावे, ऐसा महान् है सेवा व दान।। पूज्य के प्रति।।4।।

त्याग में होता है सर्वस्व त्याग, संकल्प विकल्प आसक्ति त्याग।
स्व आत्म भिन्न सर्व उत्सर्ग, आकिञ्चन्यत्व सर्वोच्च भाव। पूज्य के ।।5।।

इसे कहते हैं सर्व संन्यास, इससे बनते हैं साधु तीर्थेश।
गणधर पाठक आचार्य महान् केवली सिद्ध बने भगवान्।। पूज्य के प्रति।।6।।

इस अपेक्षा से त्याग महान् साक्षात् मोक्ष के कारण जान।
सर्व से पूजनीय होता है त्यागी,पूजक सेवक दानीराजन।। पूज्य के प्रति।। 7।।
वन्दे तद्गुण लब्धये पूजा के भाव, अरिहन्त सिद्ध या स्वर्गीय जीव।
पूजनीय वे होते हैं विशेषतः जीवन्त पूज्य होते उपेक्षित।। पूज्य के प्रति।। 8।।

जीवन्त पूज्य का पूजा आरती से, अधिक करणीय सेवा दान है।
इससे त्याग की प्रवृत्ति जागे, त्याग से निर्वाण पदवी पावे।। पूज्य के प्रति।। (9)

निःस्वार्थ सेवादि का सुफल

(चाल : छोटी-छोटी गैया ..., तुम दिल की...)

पद प्रतिष्ठा स्वार्थ सुविधा, सभी अधिकार चाहते हैं।
सेवादान परोपकार त्याग, शुचिता न चाहते हैं।। (1)
पद प्रतिष्ठा चाहने वाले, राग-द्वेष युक्त होते हैं।
सेवा दानादि करने वाले, राग-द्वेषादि त्यागते हैं।। (2)

राग-द्वेषादि त्याग बिन न सच्चा सेवादि होते हैं।
पद प्रतिष्ठा हेतु सेवादि न सही सेवादि होते हैं।। (3)

पद प्रतिष्ठा की इच्छा बिना, जो सेवा दानादि करते हैं।
पद प्रतिष्ठादि स्वयं मिलते, स्वर्ग-मोक्ष भी मिलते हैं।। (4)

निःस्वार्थ-पावन भाव से जो, सेवा दानादि करते हैं।
शान्ति-सन्तुष्टि प्राप्त करते, सातिशय पुण्य बाँधते हैं।। (5)

तन-मन आत्मा स्वस्थ होते, सर्वोदय भी होता है।
विघ्न-बाधा दूर होते, सर्व विकास भी होते हैं।। (6)

मृत्यु परे स्वर्ग-मोक्ष प्राप्त कर, शाश्वत सुख पाते हैं।
'कनकनन्दी' तो ऐसे सेवादि को, आदर्शमय मानते हैं।। (7)

भक्ति/सेवा से भक्त बनता है भगवान्

(चाल : तुम दिल की धड़कन ...)

धन्य हो भक्त धन्य हो तुम, कितनी भक्ति करते हो।
तन मन धन समय श्रम से, कितनी सेवा करते हो ।।स्थायी।।
आहार औषधि वसतिका ज्ञान, उपकरण दान करते हो।
रोग-थकान दूर करने हेतु वैयावृत्ति सदा करते हो।।
श्रद्धा भक्ति वैयावृत्ति व दान, सेवा पूजा या आरती।
गुणस्मरण व भजन वन्दन, सभी ही होती सच्ची भक्ति।। (1)

भक्ति से सम्यक्त्व उत्पत्ति होती, वृद्धि तथा विशुद्धि होती।

पाप कर्मों का होता निरोध, पुण्य कर्मों का होता सञ्चय।।
प्रणाम से उच्च गोत्र मिलता, भोग मिलता है दान देने से।
उपासना से पूजा मिलती, स्तवन से कीर्ति भी मिलती।। (2)

भक्ति से सुन्दर रूप मिलता, वैयावृत्ति से तीर्थेश बनता।
वट बीज सम सुफल मिलता, अभ्युदय सह मोक्ष मिलता।।
सत्ता-संपत्ति-शिक्षा सहित भी, जो भक्ति सेवा न करते हैं।
दुर्लभ मानव जन्म पाकर भी, निष्फल जन्म को करते हैं।।(3)

जो अहंकारी व कुटिल होते, लोभी स्वार्थी व मोही होते।
वे दान सेवा भक्ति न करते, पाप बान्धकर पतित होते।
भक्त ही आगे भगवान् बनता, सेवा का फल मेवा मिलता।
सेवा का फल महान् होता, 'कनक' सेवा को श्रेष्ठ मानता।।

सेवा का उद्देश्य एवं फल

(सेवा, पूजा, आराधना, संगति, नौकरी-चाकरी का उद्देश्य एवं फल)

(चाल : (1) शायद मेरी शादी ...2. तुम दिल की...)

मानव उसकी सेवा करता, पूर्ति हो जिससे इच्छा की।
गुण के हेतु गुणी की पूजा/(सेवा), दुर्गुण हेतु दुर्गुणी की।।
ताप की सेवा शीत दूर हेतु, ताप दूर हेतु शीत की।
पानी की सेवा प्यास दूर हेतु, क्षुधा शान्त हेतु अन्न की।। (1)

धन प्राप्ति हेतु धनी की सेवा, ज्ञान प्राप्ति हेतु ज्ञानी की।
शान्ति प्राप्ति हेतु शान्त की सेवा, अशान्त हेतु अशान्त की।।
मोही की सेवा से मोह प्राप्त होता, निर्मोही होता निर्मोही से।
दुर्गन्ध सेवा से दुर्गन्ध मिलती, सुगन्ध हेतु सुगन्ध की।।(2)

भोग के हेतु भोगी की सेवा, वैराग्य हेतु वैरागी की।
प्रकाश हेतु दीप की सेवा, अन्धेरा हेतु तम की।।
आवश्यकता की पूर्ति हेतु ही, सेवा की होती प्रवृत्ति।
वीतरागी को न धन चाहिये, गंजा को नहीं कंगा की।। (3)

इच्छा प्रेरित प्रवृत्ति होती, प्रवृत्ति सूचक इच्छा की।
न वचन होता अन्तर्जल्प बिन, आत्म बिन चेतना की।।
आत्मा की सेवा से आत्मा की प्राप्ति, जड़ की सेवा से जड़ की।
'कनकनन्दी' चाहे आत्मोपलब्धि, तदनुकूल करे प्रवृत्ति।। (4)

जिनमुद्रा की क्या परीक्षा करना ?

दाणं भोयणमेत्तं दिण्णइ धण्णो हवेइ सायारो।
पत्तापत्त विसेसं संदंसणे किं वियारेण।। (15) रयण

अन्वयार्थ - (सायारो) सागार गृहस्थ(भोयणमेत्तं) आहार मात्र(दाणं दिण्णइ) दान देता है(धण्णो हवेइ) धन्य हो जाता है। (संदंसणे) साक्षात् मुनिदर्शन होने पर (पत्तापत्त विसेसं) पात्र अपात्र का विशेष रूप से (किं वियारेण) विचार क्या करना ?

<u>पद्यभावानुवाद-</u>

भोजन मात्र जो दान करता वह धन्य होता श्रावक।
पात्र-अपात्र विशेष विचार क्यों करे मुनि साक्षात् दर्शन से।। (1)

<u>समीक्षा व शिक्षा-</u>

साक्षात् मुनि लिंग दर्शन करके जो दान करे भोजन मात्र।
वह श्रावक तो धन्य होता है क्यों विचार पात्र-अपात्र।। (2)

अन्तरंग का तो सम्पूर्ण ज्ञान होता है सर्वज्ञ देव को।
साक्षात् मुनि लिंग देखकर आहार दान करे धन्य सो।। (3)

इससे शिक्षा मिले गुणग्राही बने न कि दोषदृष्टि।
स्व-स्व भावना के अनुसार फल मिले ऐसे श्रद्धावन्त सम्यग्दृष्टि।।(4)
संदर्भ :-

विचित्र कलिकाल में साधुत्व रूपी आश्चर्य

वर्तमान काल हुण्डावसर्पिणी का पंचम(कलि) काल है। इस काल में अधिकांश जीव नरक से आयेंगे एवं नरक में जायेगे। सम्यग्दर्शन को लेकर भी इस काल में जीव यहाँ जन्म नहीं लेंगे, भले, कुछ जीव यहाँ सम्यग्दर्शन को प्राप्त करेंगे। इसलिये अभी सम्यग्दृष्टि जीव कम हैं। कहा भी है -

कलिप्रावृषि मिथ्यात्वादि-मेघाच्छन्नासु दिक्ष्विह।
खद्योतवत्सुदेष्टारो हा द्योतन्ते क्वचित्। (19) सा. धर्मा

बड़े दुःख की बात है कि इस भरतक्षेत्र में पंचम काल रूपी वर्षाकाल में सदुपदेश रूपी दिशाओं के मिथ्या उपदेश रूपी बादलों से व्याप्त हो जाने पर सदुपदेश देने वाले गुरु जुगनुओं के समान कहीं-कहीं पर दिखते हैं अर्थात् सब जगह नहीं मिलते। सम्यग्दर्शन के अभाव से तो अंतरंग से धर्म का सेवन नहीं होता है, परन्तु कुछ बाह्य कारक से धर्माचरण होता है। कभी-कभी तो उसका साधन एवं साध्य अपवित्र रहता है, तो कभी साध्य कभी साधना अपवित्र रहता है। गौमुख व्याघ्र वाले व्यक्ति जो धर्माचरण करते हैं, उसके कुछ बाह्य कारणों का वर्णन पूर्वाचार्यों ने निम्न प्रकार से किया है।

भय दाक्षिण्य कीर्ति च लज्जया आशा तथ्यैव च।
पंचभि पंचमकाले जैनो धर्मःप्रवर्तते।।

पंचमकाल के लोग धर्म को (1) लोक भय से (2) अपनी योग्यता का प्रदर्शन करने के लिए (3) कीर्ति के लिए (4) लज्जा से (5) आशा से पालन करेंगे।

पंचम काल में धर्म की जो दयनीय स्थिति है, उसका कुछ पूर्वाभास सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के स्वप्न में पाया जाता है। उन स्वप्नों में से कुछ स्वप्नों के फल नीचे उद्धृत करता हूँ। यथा -

बहुरंध्रान्वितस्येन्दोर्मण्डलोकनादिह।
मत भेदा भविष्यंति बहवः जिनशासने।। (34)

चन्द्रमण्डल का बहुत छिद्र युक्त देखना पंचम काल में जिन मत के अनेक मतों का प्रादुर्भाव कहता है।

खद्योतोद्योतनाल्लोका जिन सूत्रोपदेशका।
मिथ्यात्व बहुलास्तच्छा जिन धर्मापि कुत्राचित्।। (35)

खद्योत का उद्योत देखने से जिनसूत्रों के उपदेश करने वाले मनुष्य मिथ्यात्व युक्त होंगे और जिनधर्म कहीं-कहीं रहेगा।

रजसाऽच्छादित सदलराशेरीक्षणतो भृशम्।
करिष्यन्ति नृपाः स्तेयां निर्ग्रन्थामुनयो मिथः।। (7)

धूलि से आच्छादित रत्नराशि के देखने से निर्ग्रन्थ मुनि भी परस्पर में निन्दा करेंगे। चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा देखे हुये स्वप्नों का फल भद्रबाहु स्वामी ने भविष्यवाणी रूप में जो घोषणा की थी वह घोषणा आज सत्य साबित हो रही है। चन्द्रगुप्त मौर्य का स्वप्न ही नहीं रहा वास्तविक रूप से परिणमन होते हुए अनुभव में आ रहा है। तीसरे स्वप्न में चन्द्रमण्डल का बहुत छिद्र युक्त देखने का फल, कलिकाल में जिनमत के अनेक मत सम्प्रदाय पंथ का प्रादुर्भाव होने का निर्णय भद्रबाहु स्वामी ने किया था। उसका वास्तविक रूप आज अहिंसापरायण, साम्यवादी अनेकांत एवं स्याद्वाद के पूजारी जैनियों में अनेक मत भेद होते जा रहे हैं। जो धर्म समस्त विवादों का विनाशक एवं समता एकता का विधाता था, आज उसी धर्म में छोटा-छोटी बातों को लेकर तनाव, विवाद, मनमुटाव, मुकदमा, शीतयुद्ध चल रहा है। इसमें केवल साधारण जैन भाग नहीं ले रहे हैं किन्तु विशिष्ट श्रावक, नेता कर्णधार, पंडित, ब्रह्मचारी, क्षुल्लक, मुनि, आर्यिका, उपाध्याय, आचार्य आदि भी सक्रिय भाग ले रहे हैं। पहले दीपक के नीचे अन्धेरा रहता था, किन्तु वैज्ञानिक युग में बल्ब, ट्यूब आदि के नीचे अन्धकार है। इसी प्रकार पहले मिथ्या कुधर्म में विवाद आदि होता था, परन्तु आज जैन धर्म में भी अधिक विवाद हो रहा है यह सब कर्म दोष से संकुचित स्वार्थान्ध मनोभाव से तथा कलियुग के प्रभाव से हो रहा है। कलियुग की दयनीय परिस्थिति का चित्रण करते हुये चित्रकों ने यथार्थ से कहा है -

सीदंति संतो विलसंत्यसंत पुत्रा म्रियेने जनकाश्चिरायुः।
परेषु मैत्री स्वजनेषु वैर पश्यन्तु लोकाः कलिकौतुकानि।।

हे विश्व के लोग! कलिकाल के आश्चर्यपूर्ण कौतुक को देखिये। इस कलिकाल में सज्जन लोग दुखित होते है तथा दुर्जन लोग प्रभाव को प्राप्त होते हैं पुत्र का मरण होता है तथा पिता दीर्घजीवी होता है। दूसरों से मित्रता करते हैं तथा स्वजन से वैरभाव रखते हैं।

अनृते पटुता चौरे चित्तं सतामपमानता।
पतिरविनये धर्म शाठ्य गुरुन्ष्वपि वंचना।।
ललित मधुर वाक् प्रत्यक्षे परोक्ष विभाषिणी।
कलियुग महाराजस्यैताः स्फुरन्ति विभूतयः।।

झूठ बोलने में चतुर-दक्ष, चोरी में दत्त चित्त, सज्जनों का अपमान, पुत्र-पिता से द्वेष करने वाला, अविनीत पति, धर्म में शठता (मायाचारी) गुरु की भी वंचना,

प्रत्यक्ष में ललित-मधुर बोलना एवं परोक्ष में विपरीत भाषण करना यह कलियुग महाराज के वैभव का विस्तार है।

धर्मः प्रज्ज्वलितस्तयः प्रचलितं, सत्यं व दूरे गतं।
पृथ्वीमन्दफला नृपोऽति कुटिलो लौल्ये गता ब्राह्मणः।।
लौकाः स्त्रीषुरता स्त्रीयोऽपि चपलाः शास्त्रागमे विप्लवेः।
साधुः सीदति दुर्जनः प्रभवति प्रायः प्रविष्टे कलौ।

कलिकाल के प्रवेश से धर्म एवं प्रज्ज्वलित तप चलायमान हो जाते हैं। सत्य दूर भाग जाते हैं। पृथ्वी कम फल देने वाली हो जाती है। राजा अत्यन्त कुटिल तथा ब्राह्मण अत्यन्त लोलुपी हो जाते हैं। लोग स्त्री में आसक्त रहते हैं स्त्री अत्यन्त चंचल हो जाती है। शास्त्र आगम में अनेक विप्लव होते हैं, साधु दुःख पाते हैं, दुर्जन लोग प्रभाव को प्राप्त करते हैं।

निर्वीर्यो पृथिवी, निरौषधिरसो, नीचा महत्वगताः।
भूपाला निज कर्म धर्म रहिता, विप्राः कुमार्गरता।।
भार्या भर्ता विरोधिनी पर रता, पुत्रा पितृद्वेषिणो।
हा कष्टं खलु वर्तते कलियुगे धन्या नरा सज्जनाः।।

दुःख की बात है कि कलियुग में पृथ्वी वीर्यहीन (सारहीन) हो जाती है, रस प्राणशक्ति को देने वाली औषधि से रहित पृथ्वी हो जाती है, नीच लोग महत्व को प्राप्त हो जाते हैं। राजा लोग स्व-कर्तव्य एवं धर्म से रहित हो जाते हैं, नीचे लोग महत्व को प्राप्त हो जाते हैं। ब्राह्मण लोग कुमार्ग में गमन करते हैं। स्त्री (भार्या) पति विरोधिनी होकर पर-पुरुष में रत होती है। पुत्र-पिता द्वेषी हो जाते हैं इसी प्रकार भयंकर कलयुग में जो नर, धर्म नीति नियम को पालन करते हैं वे धन्य हैं। वर्तमान समय में धर्म की अपेक्षा धन की, त्याग की अपेक्षा संग्रह की, योग की अपेक्षा भोग की, सहजता की अपेक्षा कृत्रिमता की, सरलता की अपेक्षा साक्षरता की प्रधानता है। अधिकांश व्यक्ति स्वदीपक को प्रज्ज्वलित किये बिना दूसरों के दीपक प्रज्ज्वलित करना चाहते हैं, बोध बिना साधना करते हैं बिना भक्त बने भगवान् बनना चाहते हैं, शिष्य के बिना गुरु बनते है, स्वयं उच्छृंखल व्यवहार करते हुए भी दूसरों को अनुशासन का पाठ पढ़ाते हैं। ''चोर कोतवाल को डाटता है।'' कहावत के अनुसार पापी सज्जन को आदर्श का उपदेश देते हैं। परिग्रहादि से लिप्त निर्ग्रन्थ साधु को भी अहिंसा का मार्ग दिखाते हैं। साधुओं की वृति अलौकिक

होती है तथापि कुछ व्यक्ति साधु के लिंग (वेष) में लोकेषणा, प्रसिद्धि, ख्याति, पूजा, लाभ, पन्थवादादि कतिपय कारणों से लौकिक जनों का ही अनुकरण/अनुसरण करते हैं, उन्हीं की प्रशंसा करते हैं, उन्हीं के निर्देश उद्देश्य के अनुसार कार्य करते हैं। यहाँ तक कुछ साधु वेषधारी तो सत्य धर्म एवं सच्ची परम्परा का भी त्याग कर देते हैं। यह सब '**विनाश काले विपरीत बुद्धिः**' के कारण होते हैं। अतः सत्यग्राही मुमुक्षुओं को अपनी प्रखर प्रज्ञा अविचल वृत्ति से सत्य, न्याय समता को ही स्वीकार करना चाहिए। क्योंकि इससे ही स्व-पर, इसलोक-परलोक-कल्याण निहित है। आगम में कहा गया है कि दूसरों के मिथ्या उपदेश को स्वीकार करना गृहीत मिथ्यात्व है। निर्दोष, निष्पक्ष, निर्लोभी, निरहंकारी, निर्भयी, निर्मल सत्यग्राही सत्यदृष्टा ही सत्यार्थ कथन कर सकता है। अतः उनके कथन को ही स्वीकार करना चाहिए। परन्तु जो उपर्युक्त गुणों से रहित है वह सत्य कथन नहीं कर सकता है अतः उसके वचन स्वीकार नहीं करना चाहिए। धर्मात्मा का एक विशिष्ट गुण है 'अमूढदृष्टि सम्पन्नता। बिना अमूढ हुये कोई सत्यग्राही-सम्यग्दृष्टि-साम्यवादी-धर्मात्मा नहीं बन सकता है और बिना सत्यग्राही हुये ज्ञान चारित्र पूजा पाठ दान अहिंसा ब्रह्मचर्य तप त्यागादि ईकाई बिना शून्य के समान है। जैसे वाम भाग में पूर्णांक ईकाई (1-2-3) के बिना एक शून्य का मूल्य शून्य है जो शून्य का मूल्य भी शून्य होता है इसी प्रकार 3-4 से लेकर करोड़ अरबों शून्य का मूल्य भी शून्य होता है परन्तु जब बाये भाग में कोई ईकाई सहित है तब एक शून्य लगाने पर 10 गुणा बढ़ जाता है। दो शून्य लगाने पर 100 गुणा बढ़ जाता है। इस प्रकार की सत्यग्राही, सम्यग्दृष्टि के ज्ञान, चारित्र, पूजा, पाठ, दान त्याग स्वाध्यायदि सत्य एवं बहुमूल्य सम्पन्न हो जाते हैं।

परन्तु विशेष ध्यान योग्य विषय यह है कि जैन धर्म की धारा पंचमकाल के अंत तक अविच्छिन्न रूप से चलती रहेगी। अतः स्वतः सिद्ध हो जाता है कि इस अवधि में भी धार्मिक व्यक्ति होते रहेंगे भले उनकी संख्या एवं मात्रा कम क्यों न हो। इस विपरीत काल में भी जो व्यक्ति सच्चे हृदय से धर्मपालन करेंगे वे अत्यन्त महान् है। क्योंकि अनुकूल स्रोत में नौका को खेकर ले जाना सरल है परन्तु प्रतिकूल स्रोत में खेकर ले जाना दुष्कर है। इसलिए पूर्वाचार्यों ने कहा है कि चतुर्थ काल की 1000 वर्ष की तपस्या के बराबर पंचमकाल की 1 वर्ष की तपस्या है। अर्थात् चतुर्थकाल में जिस कार्य को करने का जितना फल मिलता था वर्तमान में

उस धर्म कार्य का एक सहस्रांश करने पर वही फल मिलेगा। इसलिए पूर्वाचार्यों ने कहा है-

धन्या भारतवर्ष संभवजना योऽद्यापि काले कलौ।
निस्तीर्थेश्वर केवले निरवद्यो भ्रश्यन्मनःपर्यये।
त्रुट्यच्छोत्र विशेष संपदि भव दौर्गत्य दुःखापदि।
श्री जिनेन्द्रवचोनुरागवशतः कुर्वित धर्मोद्यमम्।।

वर्तमान घोर पंचम कलिकाल में तीर्थकर केवली, अवधि, मनःपर्यय ज्ञानियों का अभाव है, योग्य श्रोताओं का भी अभाव है विशेष वैभव से रहित, दरिद्रता आदि संकट से सहित कलियुग के मनुष्य हैं। इस प्रकार विपरीत (विषय) कलियुग में भी श्री जिनेन्द्र देव के वचनानुसार जो धर्म में उद्यत होते हैं वे अत्यंत अभिवंदनीय, अभिनंदनीय एवं धन्यवाद के पात्र हैं।

मज्झिम जहाणु क्कस्सा सराय इव वीयराय सामग्गी।
तम्हा सुद्धचरित्तं पंचमकाले वि देसदो अत्थि।। (344)

(द्रव्य स्वभाव प्रकाशक नयचक्र)

जिस प्रकार सरागदशा के भी जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद होते हैं। अतः एकदेश वीतराग चारित्र पंचमकाल में भी होता है। श्री नागसेन मुनि भी कहते है :-

अत्रेदानीं निषेधंति शुक्लध्यान जिनोत्तमाः।
धर्मध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणीभ्या प्राग्विवर्तिना।। (83)
यत्पुनःवज्रकायस्य ध्यानमित्यागमे वचः।
श्रेण्यो ध्यानं प्रतीत्योक्तं तन्नाधस्तान्निषेधकं।। (84)
ध्यातारश्चवेत्र सन्त्यद्यश्रुत सागरपारगाः।
तत्किमल्पश्रुतैर्न ध्यातव्यं स्वशक्तितः।। (85)
चरितारो न चेत्सन्ति यथाख्यातस्य संप्रति।
तत्किमन्ये यथाशक्तिमाचरन्तु तपस्विनः ।। (86)
समग्गुरुपदेशेन समभ्यस्यन्नारतं।
धारणासौष्ट वाद्ध्यानं प्रत्ययानपि पश्यति।। (87)
यथाऽभ्यासेन शास्त्राणि स्थिराणिस्युर्महान्त्यपि।।
तथा ध्यानमपि स्थैर्य लभतेऽभ्यासवर्तिनां।। (88)

श्री जिनेन्द्र भगवान् ने इस पंचमकाल में यहाँ पर भरतक्षेत्र में शुक्ल ध्यान का अभाव बताया है। उपशम-क्षपक श्रेणी से नीचे रहने वालों को धर्मध्यान होना बताया है। वज्रकायधारी उत्तम संहननवालों को जो ध्यान आगम में कहा है वह श्रेणी की अपेक्षा से कहा है। अधस्तन ध्यान के लिये निषेध नहीं है। यद्यपि वर्तमान में श्रुतकेवली समान ध्यानी मुनि नहीं हो सकते हैं, तो भी क्या अल्पश्रुत के ज्ञाताओं को अपनी शक्ति के अनुसार ध्यान नहीं करना चाहिये ? अर्थात अवश्य करना चाहिये। तत्त्वार्थ सूत्र में ''शक्तितस्त्यागतपसी'' शक्ति के अनुसार त्याग और शक्ति के अनुसार तपस्या करनी चाहिये कहा है। यद्यपि वर्तमान काल में यथाख्यात चारित्र के आचरण करने वाले नहीं हो सकते हैं, तो क्या तपस्वियों को यथाशक्ति सामायिक-छेदोस्थापनादि सरागचारित्र नहीं पालन करना चाहिए ? अर्थात् अवश्य ही पालन करना चाहिए। जो साधक भली प्रकार गुरु के उपदेश से भली प्रकार आध्यात्मिक अभ्यास निरन्तर करता रहेगा तो उसकी धारणा उत्तम हो जायगी। वह अनेक चमत्कारों को भी देख सकेगा। जैसे बड़े-बड़े शास्त्र भी अभ्यास के बल से समझने में आते हैं उसी प्रकार अभ्यास करने वालों का भी ध्यान स्थिर हो जाता है। इसलिए पंचमकाल में भी यथाशक्ति प्रमाद रहित होकर काम भोग, पंचेन्द्रिय के विषयों से स्त्री, कुटुम्ब, व्यापारादि से विरक्त होकर ख्याति, पूजा, लाभादि से रहित होकर धर्मध्यान पूर्वक आत्मध्यान करना चाहिए। इससे पाप कर्मों का संवर, निर्जरा होगी। निरिच्छक सातिशय पुण्य बंध होगा, जिससे परम्परा से स्वर्ग मोक्ष की प्राप्ति होगी।

कलिकाल के अन्त के मुनि आदि की समाधि

इदि पडि सहस्स वस्सं वीसे कल्कीणदिक्कमे चरिमो।
जल मथणो भविस्सदि कल्की सम्मग्ग मंथणओ।। (857)
इह इंदराय सिस्सो वीरंगद साहु चरिम सव्वसिरी।
अज्जा अग्गिल सावय वरसाविय पंगुसेणावि।। (858)
पंचम चरिमे पक्खड मासतिवासो वसेसए तेण।
मुणिपढम पिंड गहणे सण्णासणं करिय दिवस तियं।। (859)
सोहम्मे जायंते कत्तिय अमवास सादि पुव्वण्हे।
इगि जलहि ठिदी मुणिणो सेसतिए सांहियं पल्लं।। (860)

तव्वा सरस्स आदि मज्झते धम्मराय अग्गीणं।
णासो तत्तो मणुसा णग्गा मच्छादि आहार।। (861)

इस प्रकार एक-एक हजार वर्ष बाद एक कल्की होगा तथा 20 कल्कियों के अतिक्रम अर्थात् पूर्ण होने के पश्चात् सन्मार्ग का मंथन करने वाला जलमंथन नाम का अंतिम कल्की होगा। उसीकाल में इन्द्रराज नामक आचार्य के शिष्य वीरांगद नामक अंतिम साधु, सर्वश्री नामक की आर्यिका अग्गिल नामक उत्कृष्ट श्रावक, पगुसेना नामकी श्राविका होगी। पंचमकाल के अन्त में तीन वर्ष 8 माह और 1 पक्ष अवशिष्ट रहने पर उस कल्की द्वारा पूर्वोक्त प्रकार मुनिराज के हस्तपुट का प्रथम ग्रास शुल्क स्वरूप ग्रहण किया जाएगा। तब वे चारों तीन दिन के संन्यास पूर्वक कार्तिक वदी अमावस्या को स्वाति नक्षत्र, एवं पूर्वाह्न काल में मरकर मुनि तो एक सागर आयु के धारी, तथा शेष तीनों साधिक एक पल्य की आयु के धारी सौधर्म स्वर्ग में उत्पन्न होंगे। उसी दिन आदि, मध्य और अंत में क्रम से धर्म, राजा एवं अग्नि का नाश हो जायगा। इसलिए उसके बाद मनुष्य मत्स्यादि का भक्षण करने वाले और नग्न होंगे। पंचमकाल 21 हजार वर्ष प्रमाण है। वर्तमानकाल केवल वीर निर्वाण 2544 वर्ष (ई. से 2018 (प्रमाण व्यतीत हो रहा है। यह तो केवल पंचमकाल की शैशव अवस्था है अर्थात् प्राथमिक अवस्था है। अभी प्रायः 18458 वर्ष प्रमाण और भाव लिंगि मुनि रहेंगे। उपरोक्त सिद्धांत से ज्ञात होता है कि पहले धर्म का जीवन्त स्वरूप मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका का पूर्णाह्न में अंत होगा, उनके अंत से धर्म का भी अंत होगा क्योंकि **''न धर्मो धार्मिकैर्विना''**। मध्याह्न में राजा का लोप एवं सन्ध्याकाल में अग्नि का लोप होगा। इससे सिद्ध होता है कि भरतक्षेत्र में जब तक अग्नि है तब तक भावलिंगी मुनि भी हैं। जो पंचमकाल में भावलिंगी मुनियों का अस्तित्व नहीं मानता, वह जिनवाणी को नहीं मानता, जिनवाणी के न मानने के कारण मिथ्यादृष्टि है। भाव लिंगी मुनियों के सद्भाव के लिये स्वयं अग्नि ही साक्षीभूत है।

धर्मादिक के नाश का कारण

पोग्गल अइरुक्खादो जलणं धम्मे णिरासएण हदे।
असुर वइण णरिदे सयलो लोओ हवे अंधो।। (862)

पुद्गल द्रव्य में अत्यन्त रुक्षता आ जाने से अग्नि का नाश, समीचीन धर्म के

आश्रयभूत मुनिराज का अभाव हो जाने से धर्म का नाश तथा असुरेन्द्र राजा का नाश हो जाने से सम्पूर्ण लोक अंधा हो जाता है अर्थात् मार्गदर्शक कोई नहीं रहेगा।

सुपात्र दान परम्परा से मुक्ति का कारण

दिण्णइ सुपत्तदाणं विसेसदो होइ भोगसग्गमही।
णिव्वाणसुहं कमसो णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं।। (16) रयण.

अन्वयार्थ - (दिण्णइ सुपत्तदाणं) निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि संघ सुपात्र को दान देने से (विसेसदो) विशेषरूप से (भोग सग्गमही) दाता भोगभूमि व स्वर्ग को प्राप्त होता है (णिव्वाण सुहं कमसो) तथा निर्वाण सुख को क्रमशः प्राप्त होता है (णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं) यह जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है।

पद्यभावानुवाद -

सुपात्रदान का विशेष फल मिले भोग व स्वर्ग मही।
निर्वाण सुख भी क्रमशः मिले जिनेन्द्र देव की यह उक्ति।। (1)

समीक्षा व शिक्षा-

सुपात्रदान से भद्र मिथ्यादृष्टि, पाता है भोगभूमि सुख।
किन्तु सम्यग्दृष्टि सुपात्र दान से पाता है स्वर्ग भूमि सुख।। (2)

क्रमशः मनुष्य जन्म पाकर श्रमण बनकर पाते मुक्ति।
यह है जिनेन्द्र उक्ति उदाहरण वज्रजंघ व श्रीमती।। (3)

इससे महान् शिक्षा मिले सुपात्र दान सदा करणीय।
प्रमाद-आलस्य-संकीर्णतादि त्यागकर दान सेवादि वरणीय।। (4)

(धार्मिक-वैज्ञानिक व मेरे अनुभव की कविता)

दान-दया-सेवा-सहयोग से प्राप्त 10 लाभ : वैज्ञानिक दृष्टि से

(चाल : छोटी-छोटी गैया...) - आचार्य कनकनन्दी

दान-दया-सेवा व सहयोग से, मिलता है सुख विशेष रूप से।
सत्ता-संपत्ति से मिले भौतिक सुख, दान-दयादि से मिले आत्मिक सुख।।

धर्म में इनका तो है बहुत वर्णन, प्रचलन रूप से व ग्रंथों में लेखन।
आधुनिक विज्ञान भी शोध कर रहा है, धर्म के रहस्य प्रकट कर रहा है।। (1)

दिमाग का खुशी केन्द्र होता सक्रिय, सुख अनुभव हेतु बनता माध्यम।
धन कमाने से जो होता है सुख, दान-दयादि से होता है वह सुख।।
दीन दरिद्र रोगी असहाय की सेवा से, वह सुख मिले जो स्वहेतु खर्च से।

इसी से तन-मन की सुंदरता बढ़ती, अंतरंग की सुंदरता से प्रभावित होती।। (2)
वातावरण में भी प्रसन्नता फैलती, शांति व ऊर्जा भी विस्तारित होती।
अन्य लोग भी इसी से प्रभावित होते, वे भी दान-दया-सेवादि करते।।
भौतिक सुगंधी फैलती हवा की दिशा में, सुगुण की सुगंधी फैले दशों दिशा में।
जो दीपक स्वयं प्रकाशित होता है, अन्य भी प्रकाशित स्वयमेव होते है।। (3)

इसी से रोग प्रतिरोधक शक्ति वृद्धि होती, स्वास्थ्य लाभ होता आयु दीर्घ होती।
डिप्रेशन व एंग्जाइटी इनसे दूर होती, एकाग्रता व कार्य क्षमता बढ़ती।।
समय प्रबन्धन का गुण विकसित होता, जिससे स्वकाम भी शीघ्र होता।
जिससे ज्ञानार्जन या धनार्जन काम, सही होने से मिले सफलता विभिन्न।। (4)

दया-दानादि है मानव के प्राकृतिक गुण, इसी से विकसित होते अनेक गुण।
प्रेम-संगठन-सहयोग आदि बढ़ते गुण, 'कनक' को प्रिय उक्त सभी गुण।।
बाल्यकाल से कर रहा हूँ उक्त सभी काम, उपरोक्त सभी फल मिल रहे अविराम।
लेखन प्रवचन प्रेरणा देता हूँ सतत, शोध-बोध-अनुभव मेरा भी अनेक।। (5)

दान-पूजादि के उद्देश्य

(गृहस्थ संबंधी हर कार्य से उपार्जित पाप दूर हेतु, सातिशय-पुण्य व मोक्ष प्राप्ति हेतु)

(चाल : तेरे प्यार का आसरा ...)

देव-शास्त्र-गुरुओं की जो उपासना करते, श्रद्धा-भक्ति सहित जो आराधना करते।
(दया) दान-सेवा-पूजा व मंदिर निर्माण, नवकोटि से जो करते बांधे सातिशय पुण्य।।

गृहस्थ संबंधी हर कार्य के द्वारा, अवश्य ही पाप बंधे नवकोटि द्वारा।
पढ़ाई व्यापार कृषि शिल्प-नौकरी शादी, निश्चय ही पाप बंधता है नवकोटि से।। (2)

उपार्जित पाप को दूर करने हेतु, दान-सेवा-पूजादि करते आत्म शुद्धि हेतु।
सिंधुसम होता पुण्य बिन्दु सम पाप, परंपरा से मोक्ष हेतु बने पुण्य कारण।। (3)

दानादि जो नहीं करते वे न होते श्रावक, श्रद्धा-विवेक क्रिया युक्त होते श्रावक।
मोक्ष प्राप्ति हेतु पालन करते हैं धर्म, आगम अनुकूल दान-पूजादि श्रावक धर्म।। (4)

आगमोक्त दान पूजादि को नहीं करते, करने वालों को जो सही नहीं मानते।
निन्दा-विरोध या कलह आदि करते, घोरातिघोर पापी उसे आगम बताते।। (5)

आगम अनुकूल पावन भावना सहित, समता शांति उदार भावना युक्त।
मोक्ष प्राप्ति के महान् लक्ष्य से युक्त, 'कनक' सेवनीय धर्म आत्मविशुद्धि युक्त।। (6)

संदर्भ-

देवाधिदेव चरणे परिचरणं सर्वदुःख निर्हरणम्।
कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतोनित्यम्।। (19) (र.श्रा.)

श्रावक को आदर युक्त होकर प्रतिदिन मनोरथों को पूर्ण करने वाली और काम को भस्म करने वाली पूजा करनी चाहिए। अरहंत भगवान् के चरणों में समस्त दुःखों को दूर करने वाली पूजा करनी चाहिए। समन्तभद्र स्वामी दान, जिनार्चना को वैयावृत्ति में अंतर्निहित करके यह बताये है कि तीनों परस्पर परिपूरक, अनुपूरक हैं। उपरोक्त कार्य से यथार्थतः पाप संचय नहीं होता है परन्तु संचित पाप कर्म का प्रक्षालन होता है। कहा भी है-

गृह कर्मणापि निचितं कर्म विमाष्टिं खलु गृह विमुक्तानाम्।
अतिथीनां प्रतिपूजा रूधिरमलं धावते वारि।। (114) (र.श्रा.)

जिन्होंने अंतरंग और बहिरंग से घर का त्याग कर दिया है तथा सब तिथियाँ जिन्हें एक समान हैं, किसी खास तिथि से राग-द्वेष नहीं है ऐसे मुनियों के लिए जो दान किया जाता है वह सावद्य-व्यापार-सपाप कार्यों से उत्पन्न बहुत कर्म को भी उसी तरह नष्ट कर देता है जिस तरह कि स्वच्छ जल मलिन रूधिर को धो देता है नष्ट कर देता है।

वस्तुतः गृहस्थ लोग कर्म की निर्जरा एवं पुण्य बंध की अपेक्षा पापास्रव एवं पाप बंध अधिक करते हैं। इसलिये यहाँ पर समंतभद्र स्वामी-गृहस्थों को रूधिर से लिप्त विशेषण दिया है। दान-पूजा आदि को स्वच्छ जल का विशेषण दिया है।

जिस प्रकार रूधिर से लिप्त अवयव या वस्त्र को धोने के लिए स्वच्छ जल की आवश्यकता होती है उसी प्रकार कृषि, वाणिज्य आदि व्यापार क्रोध, लोभादि कषाय, भोग, विषय आदि वासना से अर्जित पाप रूपी रूधिर को प्रक्षालना करने के लिए देव पूजा, आहारदानादि पुण्य रूपी स्वच्छ जल की आवश्यकता होती है। जब तक गृहस्थ-संबंधी संपूर्ण विषय-वासनाओं को त्याग नहीं करता है तब तक दान-पूजादि त्याग करने वाला, मुनिधर्म से भी भ्रष्ट तथा श्रावक धर्म से भी भ्रष्ट अर्थात् वह उभय भ्रष्ट है। जब वह गृहस्थ संबंधी समस्त आरंभ, परिग्रहादि का त्याग कर देगा और मुनिधर्म को स्वीकार करेगा तब दान-पूजादि स्वयमेव छूट जायेंगे। गृहस्थ होते हुए भी अल्प सावद्य भय से दान नहीं करना, मानो बीज के नष्ट होने के भय से कृषक द्वारा बीजारोपण नहीं करने के सदृश है। निश्चय से कृषि कार्य के लिए पहले कुछ बीजों को भूमि में रोपण किया जाता है। इस दृष्टि से यदि कृषक बीजारोपण नहीं करेगा तब वह स्व-पर भरण-पोषण स्वरूप अनाज उत्पन्न नहीं कर सकता है। उसी प्रकार गृहस्थ आनुषंगिक अनिच्छ पाप के भय से यदि दान-पूजा आदिक नहीं करेगा तब वह इहलोक-परलोक संबंधी आत्मकल्याण रूपी फल से वंचित हो जायेगा क्योंकि जैसे बीज को उपयुक्त योग्य उपजाऊ भूमि में रोपण करने से फलित होता है उसी प्रकार धर्म क्षेत्र में दान, पूजादि रूपी बीजरोपण करने से वह बीज योग्य द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव को प्राप्त कर अंकुरित पल्लवित होकर उभयलोक सुखदायक फल पुष्प से भरित होता है। स्वामी समन्तभद्र ने कहा भी है -

क्षितिगतिमिव वटबीजं पात्रगतं दानमल्पमपि काले।
फलति च्छाया विभवं बहुफलमिष्टं शरीरभृताम्।। (116)

उचित समय में योग्य पात्र के लिए दिया हुआ थोड़ा भी दान उत्तम पृथ्वी में पड़े हुए वट वृक्ष के बीज के समान प्राणियों के लिए महात्म्य और वैभव से युक्त, पक्ष में छाया की प्रचुरता सहित बहुत भारी अभिलषित फल को देता है।

आचार्य श्री ने संक्षिप्ततः इसका फल लिखकर विराम नहीं लिए परन्तु प्रत्येक प्रकार भक्ति आदि से क्या-क्या फल की उपलब्धि होती है बताये हैं। यथा-

उच्चैर्गोत्रं प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात्पूजा।
भक्तेः सुन्दररूपं स्तवनात्कीर्ति स्तपोनिधिषु।। (115)

तपस्वियों को प्रणाम करने से उच्च गोत्र, दानादिक देने से भोग, सेवा से पूजा-प्रभावना, भक्ति अर्थात् गुणानुराग से उत्पन्न श्रद्धा विशेष से सुंदर रूप तथा आप ज्ञान के सागर है इत्यादि स्तुति करने से कीर्ति प्राप्त होती है।

यदि छठे-सप्तम गुणस्थानवर्ती मुनियों को नमस्कार आदि करने से उपर्युक्त फल प्राप्त होता है तब क्या तेरहवें गुणस्थानवर्ती अरहंत भगवान् तथा नव देवताओं की पूजा-अर्चना, भक्ति, आदर, सत्कार, नमस्कार, आरती आदि करने से उभयलोक सुखदायक फल की प्राप्ति नहीं होगी ? निश्चय से होगी ही। इसीलिये किंचित् प्रासंगिक सावद्य भय से उभय लोक सुखदायक दान-पूजादिक का त्याग नहीं करना चाहिए। यह मत केवल मेरा ही नहीं है यह अभिप्राय स्वामी समंतभद्र, जयधवला, धवलाकार आचार्य वीरसेन से लेकर सभी पूर्वाचार्यों के हैं जिसका वर्णन इसी पुस्तक में यत्र-तत्र सर्वत्र आपको देखने में मिलेगा तो भी संक्षिप्ततः समंतभद्र स्वामी की एक कारिका उद्धृत कर रहा हूँ। यथा-

पूज्यं जिनं त्वार्चयतो जनस्य सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ।
दोषाय नालं कणिका विषस्य न दूषिका शीत शिवाम्बु राशौ।।

हे जिनेन्द्र भगवान् ! आप ही निर्दोष होने के कारण पूज्य हैं। आपकी पूजा करने वाले को लेशमात्र पाप संचय होता है एवं विपुल मात्रा में पुण्य संचय होता है इसीलिए आपकी पूजा दोषकारक नहीं है। जैसे शीतल अगाध समुद्र की जल राशि में एक कण विष डालने से वह विष-कण विपुल जल राशि को दूषित नहीं बना सकता है उसी प्रकार इहलोक-परलोक, अभ्युदय एवं मोक्षसुख को देने वाली पूजा से यत्किंचित् पाप होते हैं किन्तु वह दोषकारक नहीं है।

उत्तम पात्र में दिया दान उत्तम फल प्रदाता है!

खेत्ते विसेस काले ववियं सुबीयं फलं जहा विउलं।
होइ जहा तं जाणइ पत्तविसेसेसु दाण फलं।। (17) रयण.

अन्वयार्थ - (जहा) यथा(काले) योग्य समय में (खेत्तविसेसे) उत्तम मिट्टी वाले खेत में (सुवीयं) अच्छा निर्दोष बीज (ववियं) बोया गया (विउलं फलं) विपुल फल फसल (छोइ) प्राप्त होता है (जहा) उसी प्रकार (पत्तविसेसेसु) पात्र विशेष के हाथ में दिया (दाण फलं) आहार दान का फल (जाणइ) जानना चाहिए।

पद्यभावानुवाद :-

उत्तम क्षेत्र व काल में बोया, सुबीज देता यथाफल विपुल।
तथाहि उत्तम पात्र में दिया हुआ दान देता है फल विपुल।। (1)

समीक्षा व शिक्षा :-

छोटा सा वट बीज यथा सुमृदादि से बनता है विशाल वृक्ष।
तथाहि सुपात्र में दिया हुआ दान देता है स्वर्ग से ले मोक्ष।। (2)

इससे हमें शिक्षा मिले कृषक सम सुपात्र में दान देय।
दान फल अवश्य महान् मिले ऐसी श्रद्धा-प्रज्ञा धारणीय।। (3)

सप्तक्षेत्रों में दिए गए दान का फल

इह णियसुवित्तबीयं जो ववइ जिणुत्त सत्तखेत्तेसु।
सो तिहुवण रज्जफलं भुंजदि कल्लाण पंच फलं।। (18) रयण.

अन्वयार्थ - (इह) इस लोक में (णिय) अपनी (सुवित्त) सम्पत्ति(बीयं) बीज को(ववइ) वितरण करता है(जिणुत्तं) जिनेन्द्र भगवान् द्वारा कहे हुए (सत्तखेत्तेसु) सप्त क्षेत्रों में लगता है (सो) वह (तिहुण) तीन लोक में(रज्जफलं) राज्य सुख के फल को (भुंज) भोगता है,(कल्लाण पंच फलं) पंचकल्याणक को स्वयं प्राप्त होता है।

पद्यभावानुवाद -

इह लोक में जो अपनी सुसंपत्ति को बोता है सप्त क्षेत्र में।
वह त्रिभुवन राज सुख भोग पाता है पंचकल्याणक फल।। (1)

समीक्षा व शिक्षा -

न्याय से उपार्जित सम्पत्ति को जो खर्च करता है दान-पूजादि में।
वह पंचकल्याण को प्राप्त कर भोगता त्रिभुवन राज्य सुख को।। (2)

इससे महान् शिक्षा मिले परम विकास कारण दान-पूजा।
अतएव निर्मल परिणाम से करणीय सदा ही दान पूजा।। (3)

'अतिथि देवो भवः' संस्कृति पूर्व व अभी

(स्व-संस्कृति से विमुख होते जा रहे हैं भारतीय)

(चाल : सुनो-सुनो ऐ दुनिया ...) - आचार्य कनकनन्दी

सुनो! भारतीय तुम्हारी संस्कृति, कितनी महान् वाली।
'अतिथि देवो भवः' संस्कृति, स्वर्ग से गरिमा वाली।
परम अतिथि होते हैं साधु जो बिना निमंत्रण आते हैं।
तिथि भी न होती निश्चित, जो आत्म साधना करते हैं।। (1)

उनका आना तो महान् सौभाग्य (है), जो स्वर्ग-मोक्ष के दाता है।
नवधा भक्ति सप्तगुण युक्त, उन्हें आहार देना श्रेष्ठ है।।
इसके साथ ही औषधि उपकरण, वसतिका देना योग्य है।
श्रद्धा, भक्ति, आदर, बहुमान युक्त, सेवा-व्यवस्था सहित है।।(2)

गृहस्थ आते जो निमंत्रण से, उन्हें अभ्यागत कहते हैं।
उनका भी आदर सत्कार से, व्यवस्था करने योग्य है।।
स्वागत करना पैर धुलवाना,उच्चासन दे सुखःदुख पूछना।
षट्रसयुक्त भोजन देना, हित-मित-प्रिय वार्ता करना।। (3)

शत्रु भी आने पर होता था उनका स्वागत तथाहि आदर-सत्कार।
युद्ध क्षेत्र तक में यह होता था, युद्ध विराम के अनन्तर।।
विदेशों से जब आते थे यात्री, उनका भी होता था सत्कार।
भोजन से लेकर आवास-व्यवस्था, ज्ञानदान भी देकर।। (4)

अभी तो हाय! तुम भारतीय, स्व-संस्कृति का कर रहे हो अनादर।
अतिथि से लेकर अभ्यागत, माता-पिता का कर रहे हो अनादर।।
पंथ-मत-जाति भाषा के अंतर से, अतिथि (साधु) से भी दुर्व्यवहार।
योग्य-साधु को भी गलत मानते, दान-सेवा-व्यवसाय से दूर।। (5)

तो भी स्वयं को सभ्य-सांस्कृतिक व धार्मिक का देते हो पुरस्कार।
संकीर्ण स्वार्थी व कट्टर बनकर, कर रहे हो मिथ्याचार।।
धार्मिक कट्टरता व आधुनिकता से, बन रहे हो असभ्य बर्बर।
इसे त्यागकर स्व-संस्कृति पालो इस हेतु 'कनक' करे पुकार।।(6)

सन्दर्भ :

उत्तम दाता

भागद्वयी कुटुम्बार्थे संचयार्थो तृतीयकः।
स्वरायो यस्य धर्मार्थे तुर्यस्त्यागी स सत्तमः।। (धर्मरत्नाकर)

जो पुरुष अपने अर्जित धन का कुटुम्ब पोषण के लिए दो भाग, संचय के लिए तीसरा भाग तथा धर्म के लिए चौथा भाग नियत करता है, वह उत्तम दाता माना जाता है।

मध्यम दाता

भागत्रयं तु पोष्यार्थे कोशार्थे तु द्वयी सदा।
षष्ठं दानाय यो युङक्ते स त्यागी मध्यमोऽधमात्।।

जो अपनी आय में से सदा कुटुम्ब पोषण के लिए तीन भाग, संचय के लिए दो भाग और शेष छठे भाग को दान के लिए नियत करता है वह दानी अधम की अपेक्षा मध्यम कहा गया है।

जघन्य दाता

स्वस्वस्य यस्तु षड्भागान् परिवाराय योजयेत्।
त्रीन् संचयेद्दशांश च धर्म त्यागी लघुश्च सः।।

जो दाता अपने धन के दस भागों में से छह भाग परिवार पोषण के लिए, तीन भाग संचय के लिए तथा शेष दसवें भाग को धर्म के लिए नियोजित करता है वह दाता जघन्य माना जाता है।

इतो हीनं दत्ते सति सुविभवे यस्तु पुरुषो,
मतं तद्यात्किंचित् खलु न गणितं धार्मिकनरैः।
इमान् भागास्त्यकत्वा वितरित बुधो यस्तु बहुधा,
महासत्त्वस्त्यागी भुवनविदितोऽसौ रविरिव।।

जो पुरुष अतिशय वैभव के होने पर भी इससे-एक दशांश से भी कम दान देता है-उसे धार्मिक जन दाता लोगों में कुछ भी नहीं गिनते हैं-उसे वे दाता नहीं समझते हैं। किन्तु जो विद्वान्, उपर्युक्त भागों को छोड़कर अनेक प्रकार से बहुत धन को देता है, वह दानी महात्मा लोक में सूर्य के समान प्रसिद्ध होता है।

आहारदान की पद्धति

यथाविधानं गुणिन प्रदेयं यथागमं कालमवेत्य देशम्।
पात्राय दानं स्वपरोपकारसंपादकं नित्यमतन्द्रितेन।। (1)

गुणी श्रावक को आगम के अनुसार देश और काल को देखकर आलस्य से रहित हो विधिपूर्वक सदा पात्र के लिए दान देना चाहिए। यह दान स्व-दाता और पात्र दोनों का ही उपकार करने वाला है।

नवधा भक्ति

प्रतिग्रहोच्चासनपादपूजाप्रणामवाक्कायमनः प्रसादाः।
विधाय शुद्धिश्च नवोपचाराः कार्या यतीनां गृहमेधिनेति।। (2)

प्रतिगृह (पड़गाहन), उच्चासन, पादोदक, पादपूजा, प्रणाम, वचन की प्रसन्नता (शुद्धि), शरीर की प्रसन्नता, मन की प्रसन्नता और आहार की शुद्धता यह नौ प्रकार की विशुद्धि अर्थात् आदर के प्रकार हैं। इनको नवोपचार भी कहते हैं। गृहस्थ को मुनियों का इस प्रकार से आदर करना चाहिए।

प्रतिगृह

आगच्छत्पात्रमालोक्य वदान्यो यत्र तत्र यत्।
जिनवत्प्रतिगृहणाजाति स प्रतिगृह उच्चते।। (3)

दाता जिस विधि में आते हुए पात्र को देखकर उसे जिनेश्वर के समान स्वीकारता है। अर्थात्-उसे 'तिष्ठ, तिष्ठ तिष्ठ' ऐसा तीन बार बोलकर स्वागत करता है उसे प्रतिगृह कहते हैं।

उच्चासन

यप्राक् सुसंस्कृतं यच्च स्थानं पूर्णमनोरथम्।
यत्पात्रस्थापनं तस्मिन्नुच्चैः स्थानं तदुच्यते।।(4)

जिसको पहले से ही स्वच्छ और सुशोभित कर रखा है तथा जो मनोरथ को पूर्ण करने वाला है ऐसे आसन पर पात्र को जो स्थापित करना इसे उच्चैः स्थान कहते हैं।

पादोदक

यत्पादपद्मजसापि धरास्ति तीर्थं तेषां जगन्नलिनबोधनभास्कराणाम्।

यत्क्षालनं चरणयोरघजातहन्तृ पादोदकं शमयतान्मम तद्भवाग्निम्।। (5)

जिनके चरण कमलों की पराग से भी यह पृथ्वी तीर्थ हो जाती है तथा जो जगत् के भव्य रूपी कमलों को प्रफुल्लित करने के लिए सूर्य के समान है उन मुनियों के दोनों चरणों का जो पाप समूह को नष्ट करने वाला प्रक्षालन किया जाता है उसे पादोदक कहते हैं। वह पादोदक मेरी संसाराग्नि को जन्म-मरण के संताप को शांत करे।

पादपूजा

प्रतिगृहीतपात्रस्य मन्त्रमुख्यैर्जलादिभिः।
अष्टाभिः प्रार्चना या सा पूजा पूज्यै र्निरुच्यते।। (6)

उपर्युक्त विधि से स्थापित पात्र की मंत्रोच्चारणपूर्वक जो जल-चंदनादि आठ द्रव्यों से अर्चा की जाती है उसे पूज्य ऋद्धि महर्षियों ने पूजा कहा है।

प्रणाम

प्रमत्तादिगुणस्थानमुनिसंभावनाधिका।
पात्रेऽर्चिते नतिर्या तु स प्रणामोऽभिधीयते।। (7)

आठ गुणों से पूजित पात्र के विषय में प्रमत्तादि गुणस्थानों की संभावना से अधिक आदर के साथ जो नमस्कार किया जाता है उसे प्रणाम कहा जाता है।

मन शुद्धि

यदुश्चिन्तापरित्यागात्गुणानुष्ठानपूर्वकम्।
पात्रदाने मनःस्वास्थ्यं सा मनःशुद्धिरुच्यते।। (8)

दुष्ट चिन्तन-दुर्ध्यान का त्याग करके गुणों के आचरण के साथ पात्रदान में जो मन की प्रसन्नता होती है वह मनः शुद्धि कही जाती है।

वचन शुद्धि

अयोग्यवचनत्यागात् समाश्रितमनोहरा।
पात्रदाने प्रयोक्तिर्या सा वचः शुद्धिरिष्यते।। (9)

पात्रदान के समय अयोग्य वचनों का त्याग करके मनोहर अवस्था को प्राप्त जिस प्रिय भाषा का उपयोग किया जाता है उसका नाम वचन शुद्धि है।

काय शुद्धि

यथादेशं यथाकालं पवित्रावयवांशुकः।
यद्दते संयमात्यागी कार्यशुद्धिर्मता तु सा।। (10)

देश और काल के अनुसार जिसके हाथ-पाँव आदि अवयव शुद्ध हैं, जिसने पवित्र वस्त्र को धारण किया है तथा जो अपने संयम को नहीं छोड़ता हुआ पात्र को दान देता है उसे काय शुद्धि समझना चाहिए।

एषणा शुद्धि

यत्स्वकल्प्यमवगम्यतेऽगदं नित्यकर्मपरिवर्धनोचित्तम्।
सात्म्यकं यदृतुयोग्यमाहृतं दातुरन्धस इयं विशुद्धता।। (11)

जो अपने लिए कल्प्य हो पात्र के लिए ग्राह्य हो, स्वास्थ्यप्रद प्रतीत होता हो, नित्य कर्म-सामायिक व स्वाध्याय आदि के बढ़ाने में समर्थ हो, सात्मक-प्रकृति के लिए अनुकूल हो और ऋतु के भी अनुकूल हो ऐसे आहार को जो प्रदान करना है यह दाता की अन्धोविशुद्धि-एषणा शुद्धि है।

दाता के 7 गुण

ऐहिकफलानपेक्षा क्षान्तिर्निः कपटतानसूयत्वम्।
अविषादित्वमुदित्वे निरहंकारित्वमिति हि दातृगुणाः।। (12)

(1) दान देते समय इससे मुझे धन-धान्यादि की प्राप्ति हो ऐसी मन में ऐहिक फल की इच्छा नहीं रखना। (2) क्षमा भाव को धारण करना (3) कपट भाव को मन में स्थान न देना (4) दूसरों के दातृत्वादि गुणों को देखकर द्वेष न करना (5) आहार देते समय मन में खिन्नता का अनुभव न होना (6) मन का प्रसन्न होना (7) मन में अभिमान का न होना। ये दाता के सात गुण हैं।

दान के योग्य आहार

द्वेषं तथा रागमसंयमं च मदं च दुःखं य भयदिकं च।
दत्ते न यद्द्रव्यमदः प्रदेयं स्वाध्यायवृद्धयै तपसां समृद्धयै।। (12)

श्रावक मुनि को ऐसा आहार दे जिससे उसके मन में द्वेष, राग भाव, असंयम गर्व दुःख और भयादिक उत्पन्न न हो तथा जिससे स्वाध्याय और तपों की वृद्धि हो।

योग्य पात्र

पात्रं त्रिभेदमुक्तं संयोगो मुक्तिकारणगुणानाम्।
सम्यग्दृष्टिर्विरताविरतस्तथाविरतः।। (13)

जिसके मुक्ति के कारणभूत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र गुणों का संयोग है उसे पात्र कहते हैं। उसके तीन भेद हैं-विरत सम्यग्दृष्टि, विरताविरत और अविरत।

बालग्लानतपः क्षीणवृद्धव्याधिसमन्वितान्।
मुनीनुपचरेन्नित्यं यथा ते स्युस्तपः क्षमाः।। (27) (धर्मरत्नाकर)

जो मुनि बाल, रोगी तप से कृश, वृद्ध तथा रोग से पीड़ित हैं, उनकी निरंतर सेवा-वैयावृत्य करना चाहिए, जिससे वे तपश्चरण के लिए समर्थ हो सकें।

तपोऽनुष्ठानसच्छास्त्रविशेषाध्ययनक्रमात्।
मानवःसंमतं पात्रं समयस्थोयऽप्यनेकधा।। (33)

जो मनुष्य तपश्चरण और समीचीन शास्त्रविशेषों के अध्ययन के क्रम से आगम के आश्रित हैं वह पात्र माना गया है जो अनेक प्रकार का है।

गृहस्थो वा यतिर्वापि जैनं समयमास्थितः।
यथाकालमनुप्राप्तः पूजनीयः सदृष्टिभिः।। (33-1)

जो जैन धर्म का धारक है वह चाहे गृहस्थ हो अथवा मुनि हो, समयानुसार उसके प्राप्त होने पर सम्यग्दृष्टियों को उसकी पूजा करनी चाहिए।

ज्योतिर्मनत्रनिमित्तज्ञः सुप्राज्ञः कार्यकर्मसु।
मान्यःसमयिभिः सम्यक् परोक्षार्थसमर्थकः।। (33-2)

जो ज्योतिःशास्त्र मंत्रशास्त्र और निमित्तशास्त्र का ज्ञाता है, करने योग्य कार्यों में अतिशय चतुर है तथा परोक्ष पदार्थों का समर्थक है उनके विषय में आस्था रखता है- इसका श्रावकों को भलीभाँति सम्मान करना चाहिए।

दीक्षायात्राप्रतिष्ठाद्याः क्रियास्तद्विरहे कुतः।
तदर्थे परपृच्छायां कथं च समयोन्नतिः।। (33-3)

उपर्युक्त ज्योतिशास्त्र आदि के मर्मज्ञों का यदि सम्मान नहीं किया जायेगा तो प्रायः उनका अस्तित्व ही असंभव हो जायेगा और जब उनका अस्तित्व ही न रहेगा तब उनके बिना(जिन दीक्षा, तीर्थयात्रा और प्रतिष्ठा आदि जैसे) शुभ कार्य

कैसे सम्पन्न हो सकेंगे ? यदि कदाचित् अन्य मतानुयायी ज्योतिषशास्त्रादि के ज्ञाताओं से उनके संबंध में पूछा जाये तो वैसी अवस्था में जैनधर्म की उन्नति कैसे हो सकती है ? (अतएव जैनशासन भक्तों को उनका सम्मान करना ही चाहिए।)

मूलोत्तरगुणैःश्लाघ्यैस्तपोभिर्निष्ठितस्थितिः।
साधुः साधु भवेत्पूज्यः पुण्योपार्जनपण्डितैः।। (33-4)

जो गृहस्थ पुण्य के उपार्जन में दक्ष है उसका संचय करना चाहते हैं उन्हें प्रशंसनीय मूलगुणों और उत्तरगुणों से सम्पन्न तथा अनशनादि तपों के द्वारा अपनी स्थिति को स्थिर करने वाले साधु की भलीभाँति पूजा करनी चाहिए।

ज्ञानकाण्डे क्रियाकाण्डे चातुर्वर्ण्यपुरस्सरः।
सुरिर्देव इवाराध्यः संसाराब्धितरण्डकः।। (35-5)

जो आचार्य ज्ञानकाण्ड और क्रियाकाण्ड में दक्ष होकर चातुवर्ण्य संघ का मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका समूह का अग्रणी होता हुआ संसार समुद्र से पार उतारने के लिए दृढ़ नौका के समान हैं उसकी देव के समान आराधना करनी चाहिए।

लोकवित्वकवित्वाद्यैर्वादिवागिनमत्वकौशलैः।
मार्गप्रभावनोद्युक्ताः सन्तः पूज्या विशेषतः।। (33-6)

जो सत्पुरुष लोकव्यवहार में निपुण होकर प्रतिभापूर्ण कविता आदि के द्वारा तथा वाद-शास्त्रार्थ एवं प्रशस्त वक्तृत्व में प्राप्त कुशलता के द्वारा मोक्षमार्ग की प्रभावना में प्रयत्नशील रहते हैं; उनकी विशेष रूप से पूजा करनी चाहिए।

प्रकारान्तर से दाता के सात गुण

श्रद्धा तुष्टिर्भक्तिर्विज्ञानमलुब्धता क्षमा शक्तिः।
यत्रैते सप्तगुणास्तं दातारं प्रशंसन्ति।। (18-1)

श्रद्धा, संतोष, भक्ति, विज्ञान, लोभ से रहितता, क्षमा और शक्ति ये सात गुण जिस दाता में हैं, उस दाता की प्रशंसा की जाती है।

आस्तिक्य गुण

आत्मा परोपकरणप्रमुखैर्गुणौर्घैर्यत्पात्रदेयविषयैरधिवासनःस्यात्।
आस्तिक्यमप्रतिहतं च तदन्ययोगैर्दानादिसेवापरायणमानवस्य।। (19)

सत्पात्रदान आदि के आराधन में तत्पर रहने वाले श्रावक का आत्मा पात्र और देय द्रव्य विषयक जिन परोपकार आदि गुणों के समूहों में सुसंस्कृत होता है उनके अतिरिक्त अन्य गुणों के संबंध में उनके निर्बाध आस्तिक्य गुण रहता है।

श्रद्धा गुण

सद्वैद्यमप्रतिहतं शुभनामगोत्रे तीर्थप्रवृत्तिचरितोचितधर्म एव।
स्वर्गापवर्गसुखसिद्धिरपीति बुद्धिः श्रद्धाभ्यधायि कविकल्पविमुक्तिचिते।। (20)

जिसका अंतःकरण दुष्ट विकल्पों से रहित हो चुका है उसके तीर्थ प्रवृत्ति व चारित्र के योग्य धर्म के होने पर निर्बाध सातावेदनीय तथा शुभ नाम व गोत्र कर्मों का बंध एवं स्वर्ग व अंत में मुक्ति सुख की भी प्राप्ति होती है, इस प्रकार की जो दाता की बुद्धि रहती है उसे श्रद्धा गुण कहा गया है।

संतोष गुण

व्याकोशवारिजविकासिविलोचने यत् पीयूषपानबहुलोद्धुषिताङ्गकं च।
आराध्यसद्गुणभरग्रहणानतिर्यत् सा तुष्टिरित्यकथि पुण्यसुतोषपात्रम्।। (21)

प्रफुल्ल कमल के समान दोनों नेत्र, अमृत पान की अधिकता से रोमांच युक्त शरीर तथा आराधन के योग्य समीचीन गुणों के भार से नम्रता-सत्पात्र के लिए आदर सूचक नमस्कार होती है, यह तुष्टि नाम का गुण है। यह गुण पुण्य और संतोष का स्थान है।

भक्ति गुण

लीये किमत्र नु पिबामि विलोचनाभ्या
मुत्तोषये कथमथो शिरसा वहामि।
आनन्त्यतो गुणगणस्य कथं स्तुवेऽहं
चित्ते वितृप्तिरिति भक्तिरवादि पूज्ये।। (21-1)

क्या मैं इस आराध्य, पवित्र पाठ के विषय में लीन हो जाऊँ अथवा क्या अपनी आँखों से इसे पीता रहूँ - देखता ही रहूँ ? मैं इसे किस प्रकार से संतुष्ट करूँ अथवा मैं इसे शिर पे धारण करता हूँ। इस आराध्य में अनंत गुणों का समूह होने से इसकी मैं कैसे स्तुति कर सकता हूँ ? इस तरह पूज्य पात्र के विषय में जो चित्त में विशेष तृप्ति होती है, उसे भक्ति कहते हैं।

विज्ञान गुण

यद्दीयते किमपि कालबलं विवच्य पात्रस्य च प्रकृतिमहप्यवगम्य देशम्।
रत्नत्रयस्य परिवृद्धिकरं च कल्प्यं विज्ञानमेतदनुजज्ञुरनिन्द्यबोधाः।। (22)

काल के सामर्थ्य, पात्र की प्रकृति तथा देश के जलवायु का विचार कर रत्नत्रय की वृद्धि कराने वाला जो कुछ योग्य (निर्दोष होने से ग्राह्य) आहार पात्र को दिया जाता है उसके-उस प्रकार के ज्ञान को निर्दोष ज्ञान वाले (गणधरादि) विज्ञान गुण कहते हैं।

निर्लोभता गुण

यत्केवलीसंस्तवमन्त्रविद्याममत्वबुद्धयादिफलानपेक्ष्यम्।
वितीर्यते शासनवर्धनार्थमलुब्धतां तां परिपूर्णयन्ति।। (23)

'आप केवली हैं, ऐसी स्तुति, मंत्र, विद्या और धनादिक में ममत्व बुद्धि, इत्यादि फलों की मन में अपेक्षा न करके केवल जिनशासन बढ़ाने के लिए जो पात्र को दान दिया जाता है उसको अलुब्धता गुण कहते हैं। इसे दाता पूर्ण करते हैं।'

क्षमा गुण

पात्रे क्रोशति शिक्षार्थमज्ञानाद्वापि हुष्टवत्।
चाटूक्तिगर्भशान्तोक्तिर्या क्षमा सा प्रशस्यते।। (24)

पात्र यदि शिक्षा देने के लिए अथवा अज्ञान से कुछ भी कटु शब्द बोलता है किंवा अविवेकी के समान कटु शब्द बोलने लगे तो आनंद से नम्रतापूर्वक जो शांति युक्त भाषण किया जाता है इसका नाम क्षमा है। उसकी सब ही प्रशंसा करते हैं।

शक्ति गुण

तूर्याशों वा षडंशो वा दशांशो वा निजार्थतः।
दीयते या तु सा शक्तिर्वर्या मध्याकनीयसी।। (25)

अपने धन में से दैनिक आय में से चतुर्थ, छठे अथवा दसवें भाग का जो सत्पात्र दानादि में सदुपयोग किया जाता है उसका नाम यथाक्रम से उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य शक्ति जानना चाहिए।

सत्त्व गुण

आत्मकष्टेऽपि यत्तृप्तममृतैरिवमन्यते।
पात्रोपकारतो दानं दातुः सत्त्वं तदुच्यते।। (26)

पात्रदान से स्वयं को कष्ट होने पर भी उससे जो पात्र का उपकार होता है उससे दाता अपने को जो अमृत से तृप्त हुए के समान समझता है उसे सत्त्व गुण कहा जाता है।

अयोग्य आहार

विवर्णकं नो विरसं न विद्धमसात्मकं न प्रसृतं प्रदेयम्।
गदावहं हर्म्यवतामकल्प्यं स्वयं मुनिभ्यश्च विशेषतस्तत्।। (27)

अतिशय पुराना होने से जिसका वर्ण विकृत हो गया है, रस परिवर्तित हो गया है, जो घुन गया है, असात्मक है दुःख को उत्पन्न करने वाला है, प्रसृत (विस्तृत) है तथा जिसके भक्षण से रोग उत्पन्न होने वाला है, ऐसा अन्न जब गृहस्थों के लिए योग्य नहीं है तब मुनियों के लिए तो वह सर्वथा ही योग्य नहीं है, ऐसा समझना चाहिए।

उच्छिष्टं नीचलोकार्हमन्योद्दिष्टं विगर्हितम्।
न देयं दुर्जनस्पृष्टं देवयक्षादिकल्पितम्।। (27-1)

जो अन्न जूठा हो, नीच लोगों के योग्य हो, अन्य के उद्देश्य से बनाया गया हो, निन्द्य हो, दुष्टजनों से स्पृष्ट हो तथा देव यक्षादि के लिए संकल्पित हो, ऐसे अन्न को मुनियों के लिए नहीं देना चाहिए।

ग्रामान्तरात्समानीतं मन्त्रानीतमुपायनम्।
न देयमापणक्रीत विरुद्धं चायथर्तुकम्।। (27-2)

जो अन्नादि अन्य ग्राम से लाया गया हो, मंत्र के द्वारा लाया गया हो, भेंट किया गया हो, बाजार से खरीदकर लाया गया हो, प्रकृति के विरुद्ध हो और ऋतु के प्रतिकूल हो, ऐसे अन्नादि को मुनियों के लिए देना योग्य नहीं है।

दधिसर्पिः पयोभक्ष्यप्रायं पर्युषितं मतम्।
गन्धवर्णरसभ्रष्टमन्यत्सर्वं विनिन्दितम्।। (27-3)

दही, घी, दूध से बनाया हुआ पदार्थ पर्यूषित-दूसरे दिन में भी प्रायः योग्य माना गया है। इससे भिन्न भक्ष्य पदार्थ गंध, वर्ण और रस में चलित भी हो गया हो वह सब निंद्य-पात्रदान के लिए अयोग्य माना गया है।

दाता का व्यक्तित्व

शाठ्यं च गर्वं च जलप्लुतत्वमवज्ञतां वाक्परुषत्वमन्यत्।
असंयमं वर्जयताद्विशेषादभक्तिक्षणेऽक्षुण्णतया मुनीनाम्।। (28)

कपट, गर्व, चंचलपना, तिरस्कार, कठोर भाषण, असंयम तथा अन्य अयोग्य प्रवृत्ति, इन सबका सदा ही त्याग करना चाहिए। विशेषतया मुनियों के भोजन के समय में तो उनको पूर्णतया श्रावक को छोड़ देना चाहिए।

पात्र का आत्मगौरव

असंमताभक्तकदर्यमर्त्यकारुण्यदैन्यातिशयानविताम्।
एषां निवासेषु हि साधुवर्गः परानुकम्पाहितधीर्न भुङक्ते।। (29)

दूसरों की दया में दत्तचित्त साधु समूह असंयत-जातीय बंधुओं के द्वारा बहिष्कृत भक्ति से रहित कृपण मनुष्य तथा दया व दीनता की अधिकता को प्रकट करने वाले मनुष्यों के निवास स्थान में भोजन नहीं किया जाता है।

नाहरन्ति महासत्त्वाश्चित्तेनाप्यनुकम्पनः।
किं तु ते दैन्यकारुण्यसंकल्पोज्झितवृत्तयः।। (29-1)

दयालु, पराक्रमी, साधु पूर्वोक्त मनुष्यों के घर पर मन से भी आहार नहीं करते हैं(आहार ग्रहण करना तो दूर रहा, किन्तु वे उसका विचार भी नहीं करते हैं) फिर भी उनकी प्रवृत्ति दीनता, दया और संकल्प से रहित होती है।

दान स्वयं करे

स्वामिधर्मसमुपासनस्थितौ पुत्रजन्मनि सचेतनो भवन्।
दैवकार्यवशतोऽन्यदा सदा संदिशेत्कथमिवापरं जनम्।। (30)

मनुष्य सचेतन-बुद्धिमान होकर स्वामिसेवा, धर्माराधना और पुत्रोत्पति में दैव और कार्य की परवशता को छोड़कर अन्य समय में सदा इतर मनुष्य को कैसे संदेश दे सकता है ? (अर्थात् कोई भी बुद्धिमान मनुष्य ऐसा नहीं करेगा।)

आत्मवित्तपरित्यागात्परैधर्मविधापने।
निःसंदेहमवाप्नोति परभोगाय तत्फलम्।। (30-1)

अपने धन के व्यय से दूसरों से धर्म कराने पर मनुष्य निश्चित ही दूसरों के भोग के लिए उसके फल को प्राप्त करता है (धर्मरत्नाकर-उद्दिष्टान्तप्रतिमाप्रपञ्चनम्)

एह्यागच्छ समाश्रयासनमिदं प्रीतोऽस्मि ते दर्शनात्-
का वार्ता परिदुर्बलोऽसि च कथं कस्माच्चिरं दृश्यसे।
एवं ये गृहमागतं प्रणयिनं संभाषयन्त्यादरात्।
तेषा वेश्मसु निश्चलेन मनसा गंतव्यमेव ध्रुवम्।। (524)

प्रसन्न करके कार्य आदिक प्रकाशित किया जाय। राजा ने कहा सेठ जी! अतिथि के आने पर आसनादि का देना गृहस्थों के लिए उचित है।

आइये-आइये, आसन पर बैठिये, आपके दर्शन से मुझे प्रसन्नता है क्या समाचार है ? दुर्बल क्यों हो रहे हो ? और बहुत समय बाद दिख रहे हो...इस प्रकार घर पर आये हुए स्नेही जनों से जो आदरपूर्वक संभाषण करते हैं उनके घर निश्चल चित्त से अवश्य ही जाना चाहिए।

दद्यात् सौम्यां दृशं वाचमक्षुण्णां च तथासनम्।
शक्त्या भोजन-ताम्बूले शत्रावपि गृहागते।। (525) (स.कौ.)

घर पर आये हुए शत्रु के लिए भी स्नेह पूर्ण दृष्टि, परिपूर्ण वचन, आसन और शक्ति के अनुसार भोजन तथा पान देना चाहिए।

सांसारिक सुख भी सुपात्र दान के बिना नहीं

मादु पिदु पुत्त मित्तं कलत्त धण धण्ण वत्थु वाहण विभवं।
संसार सार सोक्खं सव्वं जाणउ सुपत्त दाणफलं।। (19) रयण.

अन्वयार्थ - (मादु पिदु) माता-पिता (पुत्त मित्त) पुत्र-मित्र (कलत्त) स्त्री (धणधण्ण) गाय आदि धन धान्य आदि (वाहणं) गाड़ी मोटर आदि (विभवं) वैभव (संसार सार सोक्खं) संसार के समस्त सुख सार को (सव्वं जाणउ) यह सब जान लेना कि (सुपत्तदाणफलं) सुपात्र दान का फल है।

पद्यभावानुवाद

माता पिता व पुत्र मित्र पत्नि धन धान्य वस्तु वाहन विभव।
संसार के सार सुख सब जान लो सुपात्र दान फल ।। (1)

समीक्षा शिक्षा

यथा बीज से अंकुर से वृक्ष व पत्र फूल-फल आते हैं।
फल तो अंतिम परिणाम है किन्तु पत्रादि भी उत्पन्न होते हैं।। (2)

तथाहि सुपात्रदान फल तो मोक्ष रूपी महान्तम सुख है।
किन्तु आनुषंगिक रूप से मिलते सांसारिक सभी सुख हैं।।(3)
इससे शिक्षा मिलती है मोक्ष प्राप्ति हेतु सुपात्र दान देय है।
किन्तु आनुषंगिक रूप से सांसारिक सुख प्राप्त होता स्वयमेव है।। (4)

सुपात्रदान से चक्रवर्ती का वैभव

सत्तंगरज्जणवणिहि भण्डार सडंगबल चउद्दहरयणं।
छण्णवदि सहस्सेत्थि विहउ जाणउ सुपत्तदाणफलं।। (20) रयण.

अन्वयार्थ - (सत्तंगरज्ज) राज्य के सात अंग (णवणिहि) नवनिधि,मानव, शंख, पद्म, नैसर्प, पिंगला, मालारत्न (भण्डार) हीरा, पन्ना, सोना, चाँदी, धान्य, रूपयादि भण्डार है, (सडंगबल) छह राज्य के अंग बल-हाथी, घोड़ा, रथ, पैदल सेना हथियार (चउद्दहरयणं) पवनंजय घोड़ा, विजयगिरि हाथी, भद्रमुख गृहपति, कामवृष्टि, अयोद्ध सेनापति, सुभद्रा पत्नि, बुद्धि समृद्ध पुरोहित ये सात चेतन तथा चक्ररत्न, छत्र रत्न, तलवार रत्न, कांकणीरत्न, चिंतामणिरत्न व चर्मरत्न ये सात अचेतन इस प्रकार चौदह रत्न (छण्णवदि सहस्सेत्थि) छियानवे हजार स्त्री(विहउ) अठारह करोड़ घोड़े, चौरासी लाख हाथी, चौरासी लाख रथ इत्यादि तथा अनेक वैभव (सुपत्तदाण फल) सुपात्र दान फल (जाणउ) जान लेना।

पद्यभावानुवाद

सप्त अंग नवनिधि भंडार षडंगबल व चौदह रत्न।
छियानवे हजार स्त्री वैभव जानो है सुपात्र दान फल।। (1)

समीक्षा व शिक्षा

मनुष्य गति में चक्रवर्ती के वैभव होते हैं सर्वश्रेष्ठ।
ऐसे वैभव भी आनुषंगिक रूप से प्राप्त होता है सुदान फल।। (2)
इससे शिक्षा मिलती है सुपात्र दान फल सर्व(श्रेष्ठ) ज्येष्ठ।
अभ्युदय से निःश्रेयस सुख प्राप्ति हेतु आहार दान कर्त्तव्य।। (3)

सन्दर्भ :

वैचित्र्य कार्य सम्पन्न करने वाली वस्तुयें (चक्रवर्ती के वैभव)

विशिष्ट पुण्य प्रभाव से चक्रवर्ती को सहज रूप से अनेक भोग उपभोग

सामग्रियों को देने वाली अनेक निधियाँ प्राप्त होती हैं उसके माध्यम से चक्रवर्ती दिग्विजय (षट् खण्ड विजय) प्रजा की रक्षा, भरण-पोषण, शत्रु-दमन, युद्ध सामग्री, भोजन सामग्री, भूषण सामग्री, अलंकार सामग्री, वस्त्र, खाद्य सामग्री आदि प्राप्त करता है -

14 महारत्न, विशिष्ट शक्ति सम्पन्न 9 निधि, दैविक शक्ति सम्पन्न देवों के द्वारा प्रदत्त एवं दैविक शक्ति द्वारा सुरक्षित होते हैं।

चक्रच्छगासिदंडारते काकिणी मणि चर्मणी।
सेनागृहप्रतीभाश्चाः पुरोधः स्थपतिस्त्रियः।। (108)।।

चतुदर्श महारत्न निचयाश्चक्रवर्तिनः।
प्रत्येकं रक्षिता देवैःसहस्र गुणनैर्बभुः।। (109)।।

कालश्चापि महाकालः पांडुको माणबस्तया।
नैःसर्प सर्वरत्नाश्चशंख पद्मश्च पिंगलः।। (110)।। हरिवंश पुराण पर्व

14 रत्न - (1) चक्ररत्न, (2) छत्ररत्न, (3) खड्गरत्न (4) दण्ड रत्न, (5) कांकणी रत्न, (6) मणिरत्न, (7) चर्मरत्न ये अचेतन (अजीव) रत्न होते हैं।

(1) सेनापति रत्न (2) गृहपति रत्न (3) गज रत्न (4) अश्व रत्न, (5) पुरोहित रत्न, (6) शिलावट रत्न (7) स्त्री रत्न।

ये सचेतन (जीव) रत्न होते हैं।

उपरोक्त प्रत्येक रत्न एक हजार देवों द्वारा सुरक्षित होते हैं-

9 निधियाँ (1) काल, (2) महाकाल, (3) पाण्डुक, (4) मानव, (5) नैसर्प्य (6) सर्वरत्न (7) शंख, (8) पद्म (9) पिंगल।

ये नव निधियाँ निधिपति नामक देव द्वारा सुरक्षित लोकोपकार के लिये होते हैं।

नव निधियों के आकार प्रकार

शकटाकृतयः सर्वे चतुरक्षाष्टचक्रकाः।
नव योजन विस्तार्णा द्वादशायाम समिताः।।

ते चाष्ट योजना गाधा बहुवक्षार कुक्षयः।
नित्यं यक्ष सहस्रेण प्रत्येक रक्षितेक्षिताः।।

ये सम्पूर्ण निधियाँ गाड़ी के आकार वाली होती हैं, इनके नीचे आठ-आठ चक्र होते हैं। नवनिधियों की चौड़ाई 9 योजन (72 मील) होती है। इनकी लम्बाई 12 योजन (96 मील) होती है और ऊँचाई 8 योजन (64 मील) होती है। प्रत्येक निधि की सुरक्षा एक-एक हजार देवों द्वारा होती है।

1. काल निधि (प्रिंटिंग प्रेस) -

ज्योति निर्मित शास्त्राणि हेतुवाद कला गुणाः।
शब्द शास्त्र पुराणादयाः सर्वे काल निधौमताः।।

इस निधि से ज्योतिष निमित्य न्याय, तर्क, संगीत, कला, व्याकरण शब्दकोष पुराणशास्त्र आदि प्राप्त होता है। जैसे कि वर्तमान युग में प्रिंटिंग प्रेस, टाइपिंग मशीन, कम्प्यूटर आदि लेखनादि कार्य करते हैं, इस प्रकार प्राचीन काल में यह काल निधि करता था। काल निधि का ही रूपान्तर कारण या उत्तरदायित्व टेप मशीनादि हैं।

इंदियार्था मनोज्ञा ये वीणा वंशानकादयः।
प्रान्प्रसूते यथा कालं निधिरेष विशेषतः।।

इस निधि से वीणा, बांसुरी, नगाड़े आदि जो जो इन्द्रियों के मनोज्ञ विषय हैं, वे भी समयानुसार विशेष रीति से उत्पन्न होते रहते हैं।

2. महाकाल निधि (कारखाना) -

पंच लोहादयो लोहा नाना भेदाः प्रवर्तिताः।
शब्द वर्णेर्विनिर्णेया, महाकालनिधौ पुनः।।

महाकाल निधि पञ्च लोहादि धातुएँ देता है। जो अक्षरों का रहस्य जानता है ऐसे महागणधरों के द्वारा कहा गया है।

असि मष्यादिषट् साधन द्रव्य संपदः।
येन प्रसूयंते महाकालो निधिः स वै।।

अर्थ - इससे कृषि उपकरण, युद्ध-उपकरण, मसि (लेखन) उपकरण, वाणिज्य उपकरण, शिल्प, उपकरण, सेवा-उपकरण, आदि वस्तुयें इस महाकाल निधि से प्राप्त होती हैं। जैसे कि वर्तमान वैज्ञानिक युग में इस्पात (लोहा) कारखाना, एल्यूमीनियम कारखाना, पेन-पेन्सिल, मशीनगन, बम आदि कारखाने जो मानव समाज के लिये सेवा कर रहे हैं वही सेवा महाकाल निधि पूर्वकाल में करती थी।

3. पाण्डुक निधि (खाद्य उत्पादक कारखाना)

धन्यानां सकला भेदाः शालि ब्रीहिय वादयः।
कटुतिक्तादिभिर्द्रव्यैःप्रणीताः पाण्डुके निधौ।।

यह निधि सम्पूर्ण प्रकार के धान्य चावल, गेहूँ, जौं आदि सम्पूर्ण धान्य और कटु तिक्त चरपरा, खारा खट्टा, मधुर आदि खाद्य सामग्री देती है।

4. मानवक निधि :-

कवचैः खेटकैः खड्गैः शरैः शक्ति शरासनैः।
चक्राद्यैरायुधैर्दिव्यैः पूर्वो माणवको निधिः।।

कवच (अंग सुरक्षा पोशाक) खेटक खड्ग (तलवार) बाण, शक्ति, धनुष, चक्र आदि विभिन्न अस्त्र-शस्त्र इस निधि से प्राप्त होते हैं।

माणवान्नीति शास्त्राणां शस्त्राणां च समुद्भवः।

नीतिशास्त्र और अनेक प्रकार के शस्त्र माणवक निधि से उत्पन्न होते हैं। वर्तमान युग में जैसे-युद्ध उपकरण कारखाना से युद्ध सामग्री प्राप्त होती है उसी प्रकार प्राचीन काल में इस निधि से शस्त्र के साथ-साथ नीति शास्त्र प्राप्त होते थे।

5. नैसर्प्य निधिः-

शयनाशन वस्तूनां विविधनां महानिधिः।
सर्पो ग्रहोपयोग्यानां भोजनानां च भाजनं।।

शय्या, आसन, गद्दी, तकिया, पलंग आदि गृह-उपकरण तथा विभिन्न प्रकार की भोग्य (खाद्य) वस्तु को देने वाले अनेक प्रकार के भाजन (पात्र) इस निधि से प्राप्त होते हैं।

शय्या सनालयादीनां नैः सर्प्यात्प्रभवो निधेः।

नैःसर्प्य निधि से शय्यासन, गृह (घर) आदि बनते रहते हैं वर्तमान फर्नीचर, बढ़ई आदि से जो काम होता है, वही काम नैसर्प्य निधि से होता था।

6. सर्वरत्न

इन्द्रनील महानील वज्र वैडूर्य पूर्वकैः।
सर्व रत्न निधिः पूर्णःसरत्नैः सुमहाशिखैः।।

इन्द्रनील, महानील, वज्र, वैडूर्य, पद्मराग, मरगन इत्यादि रत्न सर्वरत्न नामक निधि से प्राप्त होते हैं, प्राप्तरत्न अत्यन्त प्रकाशमान होते हैं। आधुनिक युग में जिस

प्रकार कच्चा खनिज धातुओं की शुद्धि करके शुद्ध धातु प्राप्त करते हैं या रासायनिक प्रक्रिया से विभिन्न रासायनिक संयोग से अनेक धातुएँ प्राप्त करते हैं, इसी प्रकार प्राचीन काल में सर्वरत्न से विभिन्न रत्न प्राप्त होते थे।

7. शंख निधि (वाद्य यंत्र कारखाना)

भेरी शंखान केर्वीणा झल्लरी मुरजादिभिः।
आतो द्यैश्चोधसंपूर्णः पूर्ण शंख निधि महान्।।

भेरी, शंख, नगाड़े, वीणा,झाँझ,झालरी, मृदंग आदि अनेक प्रकार के वाद्य यन्त्र देता है, यह निधि वाद्य यन्त्र से पूर्ण रहती है।

8. पद्मनिधिः(वस्त्र कारखाना) –

पट्ट चीण महानेत्रदुक् लवरकंबलैः।
वस्त्रैर्विचित्रवणढियैः पूर्ण पद्मनिधिःसदा।। (121)।।

पाटम्बर चिन्ह वस्त्र (अत्यन्त सूक्ष्म वस्त्र)

महानेत्र दुकूल श्रेष्ठ कंबलादिक नाना प्रकार के विभिन्न रंग बिरंगे ये समस्त प्रकार के वस्त्र इस निधि से प्राप्त होते हैं। वर्तमान वैज्ञानिक युग में कपड़ा कारखाना, स्पीनिंग मिल (स्पिनिंग मिल) आदि से जो कार्य साधन होता है, वही कार्य पद्मनिधि से पूर्वकाल में सम्पादन होता था।

9. पिंगल निधि –

कटकैः कटिसूत्राद्यैः स्त्रीपुंसाभरणेः शुभेः।
स पिंगलानिधिः पूर्णो राजवाजिविभूषणैः।। (122)।।

कटुक (कड़े), कटि मेखला (कटिसूत्र), केयूर, हार, अंगद, मुकुट (किरीट) आदि अनेक प्रकार के स्वर्णरत्न निर्मित हाथी, घोड़ा, स्त्री, पुरुषों के योग्य आभूषण पिंगल निधि देती है।

निधियों के स्वामी एवं संरक्षक–

कामवृष्टि वशास्तेऽमी नवापि निधयः सदा।
निष्पादयंति निःशेषं चक्र वर्त्तिमनीषितं।। (123)।।

ये नवनिधि कामवृष्टि नामक गृहपति के तत्वावधान में सुरक्षित रहती हैं। सर्वदा चक्रवर्ती के मनवांछित वस्तुओं का उत्पादन करता हैं।

चौदह रत्न –

रत्नानि द्वितयान्यस्य जीवाजीव विभागतः।
क्षमाणाणैश्चर्य संभोग साधनानि चतुर्दश।। (83)।।
चक्रातपत्र दंडासिमणयश्चर्म काकिणी।
चमूगृह पतीभाश्वयोषित क्षपुरोधसः।। (84)।।

इन नौ निधियों के सिवाय चौदहरत्न थे, जिनसे सात सजीव और सात निर्जीव थे, ये सब रत्न पृथ्वी की रक्षा और ऐश्वर्य के उपभोग करने के साधन थे।

चक्र, छत्र, दण्ड, खड्ग, मणि, चर्म और कांकिणी ये सात निर्जीव रत्न थे और सेनापति, गृहपति, हाथी, घोड़ा, स्त्री, तक्ष(सिलावट) और पुरोहित ये सात सजीव रत्न थे।

पवनञ्जय(अश्व), विजयागिरी(गज), भद्रमुख (गृहपति), कामवृष्टि (स्तपति) अयोद्धय (सेनापति), सुभद्रा (स्त्री), बुद्धि समुद्र (पुरोहित) ये प्रत्येक सजीव रत्न होते हैं। अश्व (घोड़ा) हस्त और स्त्रीरत्न विजयार्द्ध पर्वत पर जन्म लेते हैं। शेष चार सजीव रत्न अपने अपने नगर में जन्म लेते हैं। छत्र, असि(तलवार), दण्ड, चक्ररत्न आयुद्धशाला में उत्पन्न होते हैं। कांकिणी चिन्तामणि और चर्म रत्न कोषागार में उत्पन्न होते हैं।

सूर्य प्रभ, भद्रमुख, प्रवृद्धवेग, सुदर्शन, चिन्ताजननी (चिन्तामण चूड़ामणि) ये सभी वज्र के होते हैं। उपरोक्त रत्न कभी-कभी यथायोग्य स्थान में उत्पन्न होते हैं।

1. चक्र रत्न –

चक्र रत्नमभूज्जिष्णोर्दिक्चक्राक्रमण क्षमं।
नाम्ना सुदर्शनं दीप्तं यद्दुर्दर्शमरातिभिः।।

अर्थ– जो समस्त दिशाओं में आक्रमण कर सकता था, अत्यन्त दैदीप्यमान था और भयंकर शत्रु पक्ष विध्वसंकारी होने के कारण शत्रुपक्ष पीड़ित होकर उसके संताप को सह नहीं सकते थे। इस प्रकार महान सुदर्शन नाम का चक्ररत्न था।

अप्रमेय प्रभाजलं मुक्ताजाल परिष्कृतम्।
स्वयं प्रभस्वरं दिव्यं वज्रतुण्डं महाद्भुतम्।।
नाना रत्न परीताङ्गं दिव्यमालानुलेपनम्।
अग्नि प्रकारा संकाश धारा मण्डल दीधिति।।

वैडूर्यासहस्रेण युक्तं दर्शनदुःसहम्।
सदा यक्ष सहस्रेण कृतरक्षं प्रयत्नतः।।
महासंरम्भ संबद्ध कृतान्तानसंनिभम्।
चिन्तानन्तर मेतस्य चक्रं संनिहितं करे।।

सुदर्शन चक्र अपरिमित तेज पुञ्ज का धारक था। मोतियों की झालर से सजाया गया था। स्वयं की प्रभा (कांति) से दैदीप्यमान था, दिव्य था, वज्रमणि धार से युक्त था, महान् अद्भुत था। नाना रत्नों में प्रत्येक अवयव विभिन्न रत्नों से व्याप्त था। दिव्यमाला और विलेपन से रहित था। जिसके धारों की मंडलाकार किरणें भयंकर अग्नि के समान जान पड़ती थीं। उसके एक हजार आरे थे जो वैडूर्यमणि से निर्मित थे। यह सुदर्शन चक्र अत्यन्त तेजधार वाला होने के कारण देखने में भी भयानक था। एक हजार यक्ष इसकी सदा रक्षा करते थे और जो प्रलय काल के यमराज के मुख के समान विध्वंसकारी था। यह सुदर्शन चक्र चिन्ता करते ही स्वामी के हाथ में आ जाता था जिस प्रकार आधुनिक युग में अनेक मारणास्त्र स्वयं चालित होते हैं उसी प्रकार पहले भी अनेक मारणास्त्र थे, जो कि स्वयं चालित थे। वर्तमानकालीन स्वयं चालित अस्त्र को योग्य शक्ति प्रयोग करने पर गमनागमन करते हैं। परन्तु प्राचीनकाल में इससे भी उन्नतस्वचलित अस्त्र थे जो बिना शक्ति प्रयोग इच्छा मात्र से गमनागमन कर सकते थे।

2. दण्ड रत्न-

प्रचंडश्चडवेगारव्यो दण्डेऽभूच्चक्रिणः प्रभुः।
स यस्य विनियोगोऽभूद्बिलकंटक शोधने।।

चक्रवर्ती के विशाल चण्डवेग नाम का प्रचण्ड दण्ड रत्न था। इस दण्डरत्न से चक्रवर्ती विजयार्द्ध के वज्रमय द्वार को ताडित करके खोलता है। इससे गुफा के काँटों आदि का शोधन होता है। इस रत्न के माध्यम से चक्रवर्ती वृषभाचल पर अपनी प्रशस्ति-नामोल्लेख करता है।

3. छत्ररत्न -

भास्वत्सूर्यप्रभं तस्य बभूवातपवारणं।
पराध्यं रत्न निर्माणं जित सूर्य शत प्रभं।। (156)।।

उस चक्रवर्ती के बहुमूल्य रत्नों से बना हुआ सैकड़ों सूर्यों की प्रभा को जीतने वाला और अत्यन्त दैदीप्यमान ऐसा सूर्यप्रभ नामक छत्र था।

यह रत्नवज्रमय होता है। यह 12 योजन लम्बा (96 मील) और 12 योजन चौड़ा (96 मील) होता है। वर्षा से चक्रवर्ती के सम्पूर्ण कटक की रक्षा अर्थात् छावनी और राजधानी की रक्षा छत्र रत्न से होती है।

4. खड्ग रत्न -

सौनंदकारव्य मस्यामुदसिरत्नं स्फुरद्द्युति।
यस्मिन्करतलारुढे ढोलारुढ़ मिवाखिलं।। (167)।।

उस चक्रवर्ती के सौनंदक नामक खड्ग (तलवार) थी जिसकी कांति अत्यन्त प्रकाशमान थी और जिसे हाथ में लेते ही ''अब क्या होगा'' इस प्रकार समस्त संसार सन्देह के झूले में पड़ जाता था।

5. चर्म रत्न -

नाम्ना वज्रमयं दिव्यं चर्मरत्नम् भूद्विभोः।
तद्बलं यब्दलाधानन्निस्त्रीर्णं जलविप्लवात्।। (171)।।

जिसके आश्रय से समस्त चक्रवर्ती की सेना तक को पानी की पूर्ति होती है ऐसा वज्रमय दिव्य चर्म रत्न है। जिस प्रकार वर्तमान काल में बड़े-बड़े जहाज में दुर्घटना से बचने के लिये छोटी--छोटी नौकायें जहाज में रहती हैं। उन नौकाओं का सहारा लेकर आत्म-रक्षा करते हैं। उसी प्रकार पहले चर्म-रत्न के माध्यम से नदी समुद्रों में दुर्घटनाओं से रक्षा करते थे।

6. मणिरत्न -

मणिश्चूड़ामणिर्नाम चिन्तारत्नमनुत्तरं।
जगच्चूड़ामणेरस्य चित्तं सेनानुरंजितं।। (172)।।

इस मणि को चिन्तामणि भी कहते हैं। यह इच्छानुसार फल देने वाला होने से इसे चिन्तामणि कहते हैं।

7. कांकिणी रत्न-

सा चिंताजननीत्यस्य कांकिणी भास्वराऽभवत्।
या रुप्याद्रिगुहाध्वांन विनिर्भेदैकदीपिका ।। (173)।।

अर्थ - यह जननी नामक कांकिणी रत्न दैदीप्यमान है। यह विजयार्द्ध पर्वत की गुफा के अन्धकार को दूर करने के लिये एक अपूर्व दीपक के समान है।

जिस प्रकार वर्तमान भौतिक कृत्रिम प्रकाश अर्थात् विद्युत् शक्ति के माध्यम से इच्छानुसार यत्र-तत्र प्रकाश करने में समर्थ होते हैं, इसी प्रकार प्राचीनकाल में कांकिणी रत्न के माध्यम से प्रकाश करते थे। यह एक प्रकार का विद्युत् उत्पादक यन्त्र जनरेटर के समान कार्य करता है।

8. सेनापतिरत्न -

चमूपत्तिरयोध्याख्यो नृरत्नमभवत्प्रभोः।
समेरऽरिजयाद्यस्य रोदसी व्यानशे यशः।। (174)।।

चक्रवर्ती का अयोध्य नामक सेनापति रहता है, जो मनुष्यों में रत्न हैं, श्रेष्ठ है, अपने युद्ध में योद्धाओं में अग्रज होता है, शत्रुओं को जीतकर चक्रवर्ती के यश दिग्-दिगंतर फैलाता है, जिस प्रकार वर्तमान में चीफ कमान्डर मुख्य सेना नायक रहता है इसी प्रकार प्राचीन काल में सेनापतिरत्न रहता था।

9. पुरोहितरत्न -

बुद्धिसागर नामाऽस्य पुरोधाः पुरधीरभूतत्।
धर्म्या क्रिया यदायत्ता प्रतीकारोऽपि दैविके।। (175)।।

पुर अर्थात् ग्राम, ग्राम के हितैषी को भी पुरोहित कहते हैं। बुद्धिसागर पुरोहित रत्न था। इसकी बुद्धि अत्यन्त निपुण रहती है। वे सम्पूर्ण धार्मिक क्रियायें करने के लिये अत्यन्त निपुण रहते हैं। वे अत्यन्त राजनीतिज्ञ होते हैं।

10. गृहपतिरत्न -

सुधीर्गृहपतिर्नाम्ना कामवृष्टिरभीदष्टदः।
व्ययोपव्यय चिन्तायां नियुक्तो यो निधिशिनः।। (176)।।

कामवृष्टि नाम का गृहपति रत्न था, जो कि अत्यन्त बुद्धिमान था इच्छानुसार देने वाला था, और निधियों के स्वामी भरत ने जिसे घर पर सब जमा खर्च करने के काम में नियुक्त किया था।

11. शिलावट रत्न-

रत्नं स्थपतरण्यस्य वास्तु विद्यापदात्तधीः।
नाम्ना भद्र मुखोऽनेक प्रासाद घटने पटुः।। (177)।।

भ्रदमुख नाम का शिलावट रत्न था, जिसकी बुद्धि मकान बनाने की विद्या के सब विषयों को जानती थी और जो अनेक मकानों को बनाने में चतुर था।

12. हाथी रत्न -

शैलोदग्रो महानस्य यागहस्ती क्षरन्मदः।
भद्रो गिरिचरः शुभ्रो नाम्ना विजय पर्वतः।। (178)।।

विजय पर्वत नाम का सफेद हाथी जो कि पर्वत के समान ऊँचा था, बहुत बड़ा था, पूज्य था, जिसके गंडस्थल से मद की धारा बहती थी, जो भद्र जाति का था और जिसकी गर्जना बहुत श्रेष्ठ थी।

13. अश्वरत्न (घोड़ा)

पवनस्य जयन्वेगं हयोऽस्य पवनंजयः।
विजर्याद्धगुहोत्संग हेलया यो व्यलंघयत्।। (179)।।

चक्रवर्ती के पवनंजय नाम का घोड़ा था, जो कि वायु के वेग को भी जीतता था और जिसने विजयार्द्ध पर्वत की गुफा का द्वार सहज रीति से उल्लंघन किया था।

14. स्त्री रत्न -

प्रागुक्तवर्णनं चास्यस्त्री रत्नं रुढ़नामकं।
स्वभाव मधुरं हृद्यं रसायनमिवा परं।। (80)।।

सुभद्रा नामक स्त्री रत्न था। जो कि स्वभाव से ही मधुर, हृदय का मनोहर और किसी दूसरे रसायन के समान आनन्द देने वाला था।

कांकिणी रत्न का आकार प्रकार

एगमेग्स्स णं रन्नो चाउरंत चक्कवट्टिस्स अट्ठसोवभिए कागिणिरयणे छतले दुवालसंसिए अट्ठकण्णिए अहिगरणिसंठिए पण्णते।। 44।।

प्रत्येक चातुरन्त चक्रवर्ती महाराज का कांकिणी नामक रत्न आठ सौवर्णिक आठ सुवर्ण परिणाम में षट्तल बारह अंशों, आठ कोणों तथा अधिकरणी अर्थात् लोहार की एरन के आकार वाला वर्णन किया गया है। प्रत्येक चक्रवर्ती नरदेव के पास कांकणी रत्न होता है, उस रत्न का भार आठ सौवर्णिक होता है। उसके छः तल, बारह कोटियाँ और आठ कोण होते हैं।

एक सौवर्णिक का भार परिणाम इस प्रकार समझना चाहिए - 16 सरसों का एक उड़द का दाना, उड़द के दानों के बराबर 1 रत्ति. पाँच गुंजों का एक कर्म भाषक और आठ कर्म भाषकों के वजन का परिणाम एक सौवर्णिक होता है। आठ सौवर्णिक परिणाम वजन का एक कांकणी रत्न होता है। उक्त तौल का परिणाम भरत चक्रवर्ती के कालानुसार जानना चाहिए, क्योंकि सभी चक्रवर्ती नरदेवों के कांकणी रत्न समान होते हैं। उसका संस्थान अर्थात् आकृति ऐरन के समान होती है और वह उत्सेहा अंगुल से चार अंगुल प्रमाण का हुआ करता है।

श्वेताम्बर शास्त्रों के अनुसार रत्नों का वर्णन

चक्रवर्ती के एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय रत्न –

एगमेगस णं रन्नो चाउरत चक्कवट्टिस्स णं सत्तं एगिदियारयणा पण्णता, तं जहा-चक्करयणे, छत्तरयणे, चमरण्णे, देऽरयणे, असिरयणे, मणिरणे कांकणी रयणे।

एगमेगस णं रन्नो चाउरंतचक्खवट्टिस्स सत्त पंचिदियरयणा पण्णता तं जहा ऐणावइरयणे, गाहावइरयणे, वड्ठइयणे, पुरोहियरणे, इत्थिरयणे, आसरयणे, हत्थिरयणे।। (18)।।

एक एक चातुरत्न चक्रवर्ती राजा के पास रहने वाले सात एकेन्द्रिय रत्न वर्णन किये गये हैं जैसे चक्र-रत्न, छत्र-रत्न चर्म-रत्न, दण्ड-रत्न, असि-रत्न, मणि रत्न और कांकणी रत्न आदि।

एक-एक चातुरन्त चक्रवर्ती राजा के अधिकार में रहने वाले सात पञ्चेन्द्रिय रत्न कहे गये हैं। सेनापति रत्न, गाथापति रत्न, वार्धिक रत्न, पुरोहित रत्न, स्त्री रत्न, अश्व रत्न, हरित रत्न।

प्रत्येक राजा के पास सात एकेन्द्रिय रत्न होते है अपनी जाति में जो सर्वोत्कृष्ट अद्वितीय एवं सर्वश्रेष्ठ पदार्थ हो उसे रत्न कहा जाता है। चक्ररत्न, छत्ररत्न और दण्डरत्न इन तीनों रत्नों का व्यास चार हाथ प्रमाण होता है, चर्म रत्न दो हाथ प्रमाण का हुआ करता है, खड़गरत्न 32 अंगुल प्रमाण होता है। मणि रत्न चार अंगुल प्रमाण लम्बा और दो अंगुल प्रमाण चौड़ा होता है। कांकणी प्रमाण लम्बा और दो अंगुल प्रमाण होता है। ये सब पृथ्वी परिणाम रूप है।

प्रत्येक चक्रवर्ती राजा के अधीन सात पञ्चेन्द्रिय रत्न होते हैं। जैसे कि सेनापति, गृहपति अर्थात् कोष्टागार का अधिकारी वर्द्धकी अर्थात् सूत्रधार अथवा बढ़ई, पुरोहित अर्थात् शान्ति कर्मचारी, स्त्रीरत्न, अश्व रत्न और हस्तिरत्न।

इन 14 रत्नों के एक-एक हजार देव रक्षक होते हैं। सोलह हजार देव और बत्तीस हजार मुकुटधर राजा ये सब महाराजा चक्रवर्ती के अधीन रहकर उनकी सेवा किया करते हैं।

बौद्ध धर्म की अपेक्षा रत्नों का वर्णन –

(1) चक्ररत्न - नेमि-नेमि युक्त सर्वांग परिपूर्ण आरों वाला दिव्य चक्र रत्न होता है।

(2) हस्तिरत्न- सत्व प्रतिष्ठा (बहादुर) ऋद्धिमान, आकाशगामी, अपोसप नागराज नामक सर्वश्वेत हस्ति रत्न होता है। वह हस्ति रत्न उत्तम जाति का सुशिक्षित एवं तीव्रगामी होता है। वह हस्ती इतनी तीव्र गति से गमन करता है जिस पर चक्रवर्ती आरुढ़ होकर मध्याह्न समय में पृथ्वी का अनुसंधान करने के लिये समुद्र तक जाकर और पृथ्वी का निरीक्षण करके अपनी राजधानी में लौटकर फलाहार के समय तक वापिस हो जाता है।

विशेष – यह हस्ती ऋद्धिमान अर्थात् अलौकिक शक्ति सम्पन्न होता है, यह हाथी आकाश में पक्षी के साथ गमन करता है।

(3) अश्वरत्न -जो सर्वश्वेत, काकशीर्ष, भुँजकेष, ऋद्धिमान, आकाशगामी, अखराज वलाहक नामक अश्वरत्न होता है। यह अश्वरत्न भी हस्ती रत्न, सदृश्य आकाशगामी तेजगामी होता है।

(4) मणिरत्न - चक्रवर्ती का मणिरत्न (हीरा) शुभ्र अच्छी जाति का, अष्टकोणी, सुपरिकर्म कृत अर्थात् विशेष पालिश से युक्त होता है। मणि रत्न का प्रकाश चारों ओर योजन भर तक भर जाता है। चक्रवर्ती ध्वजा के ऊपर मणि को लगाकर चतुरंगिनी सेना उसके प्रकाश में गमन करती हैं मणिरत्न के प्रकाश में कार्य भी करते हैं।

(5) स्त्रीरत्न - वह स्त्री अभिरूपा - दर्शनीया=प्रासादिका परमवर्ण अर्थात् पुष्कलता से युक्त नातिदीधी नाति हस्वा नाति कृशा, नाति स्थूला अर्थात् न बहुत मोटी, न बहुत काली, न बहुत सफेद मनुष्य वर्ण को पारकर तथा दिव्य वर्ण से

कुछ घटकर होती है। स्त्री रत्न की काया का स्पर्श तूल के फाहे या कपास के फाहे जैसा होता है। उस स्त्री रत्न का मात्र (शरीर) शीतकाल में उष्ण और उष्णकाल में शीत होता है तथा काया में चन्दन की गन्ध होती है। स्त्री रत्न पूर्वीत्थामिनी अर्थात् चक्रवर्ती से पहले जागने वाली, पश्चान्निपातिनी अर्थात् पीछे सोने वाली तथा क्या करना है इस प्रकार सुनाने वाली, प्रियचारिणी प्रियवादिनी होती है।

(6) गृहपति - वैश्य रत्न होता है, वैश्य रत्न गढ़े हुए रतन खजानों को दिव्य चक्षु से देख लेता है और चक्रवर्ती को धन के बारे में बताता है। गंगा नदी के तीर पर कहता है मुझे सोने की अशर्फी की जरूरत है जब गृहपति रत्न दोनों हाथों से पानी को छूकर हिरण्य-सुवर्ण भरे घड़े निकालकर चक्रवर्ती की देता है।

(7) परिणायक रत्न - (पण्डित और मेधावी) -परिणायक रत्न वस्तु को प्राप्त कराने में, हटाने की वस्तु को दूर कराने में, रख छोड़ने लायक वस्तु को रख छोड़ने में समर्थ होता है। वह कहता है कि मैं अनुशासन करूँगा।

सुत्त पिटका मज्झिम-निकाय
अनुवादक त्रिपिटकाचार्य राहुल सांस्कृत्यायन।

सकल सुखों की प्राप्ति सुपात्र-दान का फल!

सुकुल सुरूव सुलक्खण सुमइ सुसिक्खा सुसील सुगुणचारित्तं।
सुहलेस्सं सुहणामं सुहसादं सुपत्तदाण फलं।। (21) रयण.

अन्वयार्थ - (सुकुल) उत्तम शुद्ध कुल (सुरूव) सुन्दर रूप (सुलक्खणं, अच्छे लक्षण(सुमइ) शुभमति (सुसिक्खा सुसील सुगुण चारित्तं) धार्मिक सदाचार की सुशिक्षा, सुशील-सुगुण तथा सत् चारित्र की प्राप्ति (सुहलेस्सं) शुभ लेश्या (सुहणामं) शुभनाम (सुहसादं) सातावेदनीय (सुपत्तदाण फलं) सुपात्र को दान देने के फल हैं।

पद्यभावानुवाद -

सुकुल-सुरूप -सुलक्षण -सुमति-सुशिक्षा-सुशील-सुगुण-चारित्र।
शुभ लेश्या शुभ नाम साता वेदनीय है सुपात्र दान फल ।। (1)

समीक्षा व शिक्षा -

सुपात्र दान से होता शुभ भाव जिससे बन्धे सातिशय पुण्य।
जिससे मिलते हैं संसार में उत्तमोत्तम तन-मन-गुणगण।। (2)

अतएव उत्तम उपलब्धि हेतु करणीय उत्तम भाव सेवा दान।
ऐसी महान् शिक्षा व प्रेरणा मिलती है ऐसा है सुपात्र दान।। (3)

आहारदान के बाद बचे शेषान्न का महत्व

जो मुणिभत्तवसेसं भुंजइ सो भुंजए जिणुवदिट्ठं।
संसार सार सोक्खं कमसो, णिव्वाणवर सोक्खं।। (22) रयण.

अन्वयार्थ - (जो) भव्य सम्यग्दृष्टि मनुष्य (मुणिभत्तवसेसं) आहारदान के पश्चात् बचा हुआ अन्न का (भुंजइ) प्रसाद समझकर सेवन करता है,(सो) वह भव्य (संसार सार सोक्खं) संसार के सारभूत सब उत्तमोत्तम सुखों को (भुंजइ) भोगता है (कमसो) और क्रम से (णिव्वाणवर सोक्खं) मोक्ष सुख को (भुंजए) प्राप्त करता है (जिणुवदिट्ठं) इस प्रकार जिनेन्द्र देव ने उपदेश दिया है।

पद्यभावानुवाद -

(जो) मुनि के आहार से बचा अन्न खाता है वह खाता है जिनेन्द्रोक्त।
संसार के सार सुख पाकर क्रमशः निर्वाण श्रेष्ठ सुख।। (1)

समीक्षा व शिक्षा -

गोचरी के अनन्तर बचा हुआ भोजन प्रसाद रूप में ग्रहणीय।
मुनि को आहार देकर ही पश्चात् भक्तों को भोजन करणीय।।(2)

गुरु सेवा व आहार दान श्रावकों के हैं प्रमुख धर्म।
धर्म पालन के अनन्तर स्वयं भोजन करना सही कर्म।। (3)

इससे मिले सातिशय पुण्य जिससे मिले स्वर्ग-मोक्षसुख।
ऐसी महान् शिक्षा व प्रेरणा मिले ऐसा यह दान धर्म।। (4)

आहार-दान में विवेक

सीदुण्हवाउ पिउलं सिलेसिमं मह परीसहव्वाहिं।
कायकिलेसुव्वासं जाणिज्जे दिण्णए दाणं।। (23) रयण.

अन्वयार्थ - (सीदुण्हवाउ पिउलं) शीत उष्ण वात पित्त (सिलेसिमं), श्लेष्म-कफ(मह) महा-अति (परीसहव्वाहिं) परीषह व्याधि (काय किलेसं) शरीर को कष्ट (उपवासं) उपवास को (जाणिज्जे) भली प्रकार जानकर मुनिजनों को

(दाणं दिण्णए) आहार औषधि ज्ञान अभय वसतिका दान आदि देना चाहिए।

पद्यभावानुवाद - (चालः आत्मशक्ति...)

शीत-उष्ण-वात-पित्त व कफ महा परिषह व्याधि शरीर कष्ट।
उपवास को जानकर देने योग्य हैं आहार दान।। (1)

समीक्षा व शिक्षा -

शरीर हेतु भोजन चाहिए जो वात-पित्त-कफ समकर।
परीषह-व्याधि व शरीर कष्ट हर शीत उष्ण-उपवास जानकर।। (2)

इससे शरीर रहेगा स्वस्थ्य जिससे होंगे ध्यान-अध्ययन।
वैयावृत्ति व षट् आवश्यक पालन जिससे होगा आत्म कल्याण।। (3)

इससे शिक्षा मिलती आहार दान हेतु चाहिए आयुर्वेद ज्ञान।
साधु की प्रकृति व वातावरण योग्य देना है आहारदान।। (4)

नन्दौड़ 10.10.2018 रात्रि 12:20

आहारदान के लिए देय वस्तु में विवेक

हियमियमण्णंपाणं णिरवज्जोसहि णिराउलं ठाणं।
सयणासणमुवयरणं जाणिज्जा देइ मोक्खरओ।। (24) रयण.

अन्वयार्थ - (मोक्खरओ) जो भव्य मोक्षमार्ग में रत है वह (हियमियमण्णंपाणं) हित मित अन्न पानी (णिरवज्जोसहि) निर्दोष औषधि(णिराउलं ठाणं) निराकुल स्थान (सयणासणमुवयरणं) शयन-आसन-उपकरण को (जाणिज्जा) जानकर (देइ) देता है।

पद्यभावानुवाद -

मोक्षमार्ग रत साधु को देने योग्य है हित-मित अन्नपान।
निर्दोष औषधि निराकुल स्थान शयन आसन व उपकरण।। (1)

समीक्षा व शिक्षा -

मोक्षमार्ग रत साधु योग्य उपकरण है स्वस्थ्य शरीर।
इसके योग्य आहार उपकरण निवास आदि दान दे श्रावक।। (2)

इससे शिक्षा मिलती है आत्मा की साधना करे श्रमण।
आत्मा की साधना योग्य शरीर की सुरक्षा करे भक्त जन।। (3)

नन्दौड़ 10.10.2018 रात्रि 12:40

अहिंसा के लिये दान देने की विधि

संग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्च्चनं प्रणामं च।
वाक्काय-मनःशुद्धिरेषण शुद्धिश्च विधिमाहुः।। (68)।।

मुनियों के लिये आहारदान देने के लिये नव प्रकार की विधि या भक्ति चाहिए। यथा (1) सम्यक् प्रकार से भक्ति पूर्वक हे स्वामीन् नमोऽस्तु, नमोऽस्तु, नमोऽस्तु, अत्र,अत्र, अत्र, तिष्ट, तिष्ट, तिष्ट अहार जल शुद्ध है। बोलकर के प्रतिग्रहण/संग्रह या पड़गाहन करना चाहिये(2) उच्च आसन पर मुनियों को बैठाना चाहिये। (3) मुनियों का प्रासुक द्रव्य से पूजन करना चाहिए। (5) प्रणाम अथवा नमोऽस्तु कहकर के पंचांग आसन में नमोऽस्तु करना चाहिए । (6) वाक् अथवा वचन शुद्धि(7) काय अथवा शरीर शुद्धि (8) मन शुद्धि अथवा भाव की पवित्रता (9) एषणा शुद्धि अर्थात् नव कोटि से आहार जल की शुद्धि। इस प्रकार नवपुण्य अर्थात् नवधा भक्ति से चौदह प्रकार के मलदोषों से रहित होकर बत्तीस प्रकार के अन्तराय को टालकर मुनि की अवस्था/प्रकृति को जानकर आहार देना चाहिए।

अहिंसा के लिये दाता के सात गुण

ऐहिक-फलाऽनुपेक्षः क्षांतिर्निष्कपटताऽनसूयत्वम्।
अविषादिव्व मुदित्वं, निरहंकारित्वमिति हि दातृगुणाः।। (69)।।

निश्चय से दाता के सात गुण होते हैं। यथा (1) धनादि इहलोक फल की वांछा नहीं करता, (2) क्षमा से युक्त होना(3) कपट रहित होना (4) ईर्ष्या से रहित होना (5) खेद रहित होना (6) हर्ष से युक्त होना, (7) अहंकार से रहित रूप कोमलता होना, दाता के सप्तगुण हैं। अर्थात् दाता को इन सप्त गुणों से युक्त होकर आहार देना चाहिये।

अहिंसात्मक द्रव्य देय

राग-द्वेषाऽसंयम, मद दुःख भयादिकं न यत्कुरुते।
द्रव्यं तदेव देयं, सुतपः स्वाध्याय वृद्धिकरम्।। (170)।।

जिस आहारादि से राग, द्वेष, असंयम मद, दुःख, भय आदि शब्द से घृणा, ग्लानि, दीनता, मलिनता, कलह, वैरत्व आदि होते हैं ऐसे आहारादि नहीं देना चाहिए। जिस आहारादि से राग-द्वेष आदि उपर्युक्त दुर्गुण उत्पन्न नहीं होते हैं ऐसे आहारादि देना चाहिए। जिससे सुतप अर्थात् बारह भेद रूप तप और पाँच भेद रूप स्वाध्याय की वृद्धि होती है ऐसे आहारादि देना चाहिए।

साधु जो आहार करते हैं उसके मुख्य उद्देश्य आत्मकल्याण आत्मसाधना है। शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक स्वास्थ्य तथा साधना के लिए साधु आहार करते हैं। आहार का प्रभाव शरीर एवं मन के ऊपर भी पड़ता है। इसलिए साधु को साधना के लिए योग्य आहार करना चाहिए तथा अयोग्य आहार नहीं करना चाहिए। श्रावक को साधु की प्रकृति, आयु तथा वातावरण को देखकर के आहार देना चाहिए। आयुर्वेद के अनुसार प्रकृति तीन प्रकार की होती है। यथाः (1) वात (2) पित्त (3) कफ। वात प्रकृति वाले को वायु कारक भोजन नहीं करना चाहिए। उन्हें मटर, बेसन, उड़द, ग्वार की फली, आदि भोजन नहीं करना चाहिए। पित्त प्रकृत्ति वालों को मिर्च, उष्ण प्रकृति के भोजन, तेल, खट्टी चीज, तेल से तली हुई चीज का भोजन नहीं करना चाहिए। कफ प्रकृति वालों को ठण्डी चीज, शीत प्रकृति की वस्तु का भोजन नहीं करना चाहिए।

हितभुक् मितभुक (शाकभुक्) ... शतपद गामी वामशायी च।
अविरोध विटपुरुष (मूल-मूत्र) सदाचारीपुरुषः ... सोऽरुक् सोऽरुक्।।

हितभोजी, अल्पभोजी, ऋतु अनुकूल भोजी (शाकाहारी) आहार के बाद सौ पग चलने वाला, वाम पार्श्व में सोने वाला, मलमूत्र को नहीं रोकने वाला सदाचारी निरोगी होता है।

सम्पूर्ण आयुर्विद्या(चिकित्सा विज्ञान) इस सिद्धान्त में निहित है-

''हियाहार मियाहार अप्पाहार य जे नरा।
न ते विज्जातिगच्छति, अप्पाण ते तिगिच्छगा।।''

जो मनुष्य हित आहार, मित आहार और अल्पाहार करता है वह वैदिक चिकित्सा करने के लिए नहीं जाता है। स्वयं की चिकित्सा स्वयं कर लेता है।

''तहा भोत्तत्व जहा से, जायमाताय भवति।
न य भवति विब्भमो न मंसणा च धम्मस्स।। ''

उतना भोजन करो जिससे जीवन की संयम यात्रा सुचारु रूप से गतिशील होती है और जिससे विभ्रम उत्पन्न नहीं होता है और धर्म की भर्त्सना नहीं होती है।

भोजनक्रम

स्निग्धं यन्मधुरं च, पूर्वमशनम भुंजति भुक्तिक्रमे।
मध्ये यल्लवणाम्लभक्षणयुतं पश्चातु शेषान्नसान्।।
ज्ञात्वा सात्म्यबलं सुखासनतले स्वच्छे स्थिरस्तत्परः।
क्षिप्रं कोष्णमथ द्रवोत्तरत्तरं सर्वर्तुसाधारणम्।।

भोजन करने के लिए जिस पर सुखपूर्वक बैठ सके ऐसे साफ आसन पर स्थिर चित्त होकर अथवा स्थिरतापूर्वक बैठे। पश्चात् अपनी प्रकृति व बल को विचार कर उसके अनुकूल, थोड़ा गरम (अधिक गरम भी न हो अधिक ठण्डा भी न हो) सर्वऋतु के अनुकूल ऐसे आहार को शीघ्र ही (अधिक विलम्ब भी न हो अत्यधिक जल्दी भी न हो) उस पर मन लगाकर खावे। भोजन करते समय सबसे पहले चिकना व मधुर अर्थात् हलुआ खीर, बर्फी, लड्डू पदार्थों को खाना चाहिए तथा भोजन के बीच में नमकीन, खट्टा आदि अर्थात् चटपटा मसालेदार चीजों को व भोजनांत में दूध आदि द्रव प्राप्य आहार खाना चाहिए। मन को प्रसन्न रखकर के भोजन करना चाहिए। यदि मन अवसादयुक्त है, क्रोधादि आवेश से सहित है, चिन्ता से ग्रस्त है तो किया हुआ भोजन विष के समान हो जायेगा। इससे अपच, वायुरोग, अल्सर, मन्दाग्नि आदि अनेक शारीरिक एवं मानसिक रोग हो जायेंगे। पहले थोड़ा सा पानी पीकर पहले स्निग्ध(चिकनाई युक्त) गरिष्ट, घी, दूध आदि से निर्मित वस्तु जैसे हलुआ, पूडी, लड्डू, गुलाबजामुन आदि खाद्यों को खाना चाहिए। मध्य-मध्य में थोड़ा-थोड़ा पानी धीरे-धीरे पीना चाहिए, पानी को कभी भी गट-गट करके नहीं पीना चाहिए। धीरे-धीरे पीने से कम पानी पीने से भी प्यास बुझ जाती है। मुँह में अनेक पाचक तत्त्व पानी में मिलकर पेट में जाते हैं जिससे भोजन ठीक से पच जाता है। पहले या अन्त में अधिक पानी नहीं पीना चाहिए। क्योंकि इससे अपच, अफरा, पेट दर्द आदि रोग हो जाते हैं। दाँतों की संख्या के अनुसार भोजन का बत्तीस बार चबाना चाहिए। भोजन को इतना बार चबाना चाहिए कि वह पानी के समान पीने योग्य हो जावे। मध्य-मध्य में नमकीन युक्त भोजन करना चाहिए। परन्तु कभी भी भोजन में अधिक मिर्चि, गरम मसाला, नमक, इमली, खट्टी चीज,

बासी चीज, दुर्गन्ध युक्त भोजन, ग्लानि युक्त भोजन, जूठन आदि नहीं खाना चाहिए। ठूस-ठूस करके भी भोजन नहीं करना चाहिए। वायु संचालन के लिए पेट का कुछ भाग खाली रखना चाहिए। खरबूजा खाकर पानी नहीं पीना चाहिए। इससे हैजा रोग हो जाता है। घी या घी से निर्मित वस्तु खाने के बाद ठण्डा पानी नहीं पीना चाहिए। इससे खाँसी, विभिन्न प्रकार के गले के रोग हो जाते हैं। इसी प्रकार फल या फलरस के बाद पानी नहीं पीना चाहिए इससे भी खाँसी, जुकाम हो जाता है। इसी प्रकार और भी जो विरोधाभास भोजन है वह भी नहीं करना चाहिए। भोजन के अन्त में हाथ, मुँह,पैर ठीक से धोना चाहिए एवं कुल्ला भी ठीक से करना चाहिए। मुँह में भोजन के कण नहीं रहना चाहिए।

जीव में जो भाव होते हैं वे भाव बाह्य क्रियाओं में विभिन्न रूप में प्रकट होते हैं। एक प्रसिद्ध युक्ति है कि ''जो पिण्डे सो ब्रह्माण्डे'' अर्थात् ''जिस प्रकार दृष्टि होती है उसी प्रकार सृष्टि होती है'', जैसी मति होती है वैसी गति होती है।'' इसी प्रकार जैसे विचार होते हैं वैसा ही आहार होता है। अर्थात् जैसा मन होता है वैसा ही अन्न ग्रहण होता है। इसलिए साधारण लोक कहते हैं कि भोजन मुझे अच्छा नहीं लगता है। इससे सिद्ध होता है कि जिस तरह हमारा मन होता है उसी का हम अन्न (भोजन) ग्रहण करते हैं। प्रसिद्ध लोकोक्ति है ''जैसा खावें अन्न वैसा होवे मनः'' (As you eat so you become) अर्थात जैसा आहार वैसा विचार, परन्तु सूक्ष्म अतीन्द्रिय मनोविज्ञान तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोण से देखने पर उपर्युक्त नीति से विपरीत'' जैसा विचार होता है वैसा आहार होता है। इसलिए मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ''जैसा होवे मन वैसा खावे अन्न'' अर्थात् (As you think so you eat) मैंने जो यह अपना शोध पूर्ण विषय प्रस्तुत किया है। इसके समर्थन में गीता में प्रतिपादित विषय को यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ।

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृंणु।।(2)।।

श्री भगवान् बोले-मनुष्य से स्वभाव में ही तीन प्रकार की श्रद्धा अर्थात् प्रकृति होती है। यथा-सात्त्विक,राजसी और तामसी होती है, वह तू सुन।

सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छद्धः स एवं सः।। (3)।।

हे भारत! सबकी श्रद्धा अपने स्वभाव का अनुसरण करती है। मनुष्य में कुछ न कुछ श्रद्धा तो होती है। जैसी जिसकी श्रद्धा वैसा वह होता है।

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणाश्चन्ये यजन्ते तामसा जनाः।। 4।।

सात्त्विक लोग देवताओं को भजते हैं, राजस लोग यक्षों और राक्षसों को भजते हैं, और दूसरे तामस लोग भूतप्रेतादि को भजते हैं।

आहास्त्वपि सर्वस्व त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु।। (7)।।

आहार भी तीन प्रकार से प्रिय होता है। उसी प्रकार यज्ञ, तप और दान (भी तीन प्रकार से प्रिय होता है) उसका यह भेद तू सुन।

आयुः सत्त्वबलारोग्यं-सुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याःस्निग्धाःस्थिरा हृद्या आहाराः सत्त्विकप्रियाः।। (8)।।

आयुष्यः सात्त्विकता, बल, आरोग्य, सुख और रूचि बढ़ाने वाले, रसदार चिकने पौष्टिक और मन को रूचिकर, आहार सात्त्विक लोगों को प्रिय होते हैं।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहार राजसस्येष्टा दुःख शोकामयप्रदाः।। (9)।।

तीखे, खट्टे, खारे, बहुत चटपटे, रुखे, दाहकारक राजस लोगों को प्रिय होते हैं और वे दुःख, शोक रोग उत्पन्न करने वाले होते हैं।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषित च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्।। (10)।।

प्रहर भर से पड़ा हुआ, नीरस, दुर्गन्धित, बासी, जूठा, अपवित्र भोजन तामस लोगों को प्रिय होता है।

न्याय से उपार्जित धन से प्राप्त भोजन ही सात्त्विक भोजन हो सकता है जो कि शुद्ध, प्रासुक, शाकाहार या दुग्धाहार हो। जैसे-दूध, घी, फल, भात, रोटी, दाल सूखा मेवा, फलरस आदि। यह भोजन भी तब तक सात्त्विक रहेगा जब तक यह भोजन ताजा सुगन्ध युक्त, चक्षु के लिये प्रिय वर्ण, सुस्वादयुक्त,स्निग्ध, मन को प्रिय लगने वाला होगा। यदि यही भोजन जब बासी हो जाता है, दुर्गन्ध आने लगती है, विवर्ण हो जाता है तब भोजन तामस या अभक्ष्य हो जाता है। जिह्वा लोलुपता से

परिपूर्ण चरपरा, चटपटा, मसालेदार, गरम मसाले से युक्त भोजन राजसी है। ऐसे भोजन से क्रोध बढ़ता है, शरीर की उष्णता बढ़ती है, तन-मन उत्तेजना युक्त हो जाते हैं, जिह्वा की लालसा बढ़ती है, काम उत्तेजना बढ़ती है एवं शारीरिक व मानसिक रोग भी हो जाते हैं। बासी भोजन अमर्यादित खट्टा-मठ्ठा एवं दही, बासी रोटी, अमर्यादित आचार, पापड़ मुरब्बा, मिठाइयाँ, माँस-मछली, अण्डा, शराब, तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट, पान-पराग, चुटकी, रजनीगन्धा, पान-मसाला, टेस्टी, तुलसी, जर्दा आदि तामसिक भोजन हैं। इससे मन-तम (अज्ञानरूपी अन्धकार) से युक्त हो जाता है। इससे विवेक नष्ट हो जाता है। मन भ्रमित हो जाता है, अनेक शारीरिक एवं मानसिक रोग भी हो जाते हैं।

जैसा करे विचार वैसा करे आहार

जो न्याय, नीति, सदाचार, शिष्टाचार, शिष्टता, भद्रता, नम्रता, सरलता, अहिंसा, दया, करुणा आदि गुण से युक्त सात्त्विक व्यक्ति को सात्त्विक भोजन भाता है अर्थात् उसकी भोजन की स्वाभाविक प्रवृत्ति सात्त्विक आहार (भोजनवस्तु) में होती है। इसी प्रकार विलास प्रिय, भोगी, क्रोधी व्यक्ति की स्वाभाविक प्रवृत्ति राजसिक भोजन में होती है। मन्दबुद्धि वाला क्रूर, हिंसंक,आततायी, भ्रष्टाचारी, गुण्डा, दुष्ट व्यक्ति की प्रवृत्ति तामसिक भोजन में होती है। जिस प्रकार राजहंस को मोती, दूध आदि प्रिय लगता है, मधुमक्खी को मधु प्रिय लगता है, माँसाहारी पशु-पक्षी को जिस प्रकार माँस प्रिय लगता है, ऊँट को बबुल प्रिय लगता है, उसी प्रकार सात्त्विक आदि व्यक्तियों को सात्त्विक भोजन प्रिय लगता है। सात्त्विक जीवों की गतिविधियाँ, आचार-विचार की पद्धतियाँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं।

कर्मयोगी नारायण श्रीकृष्ण ने संक्षिप्त रूप से दुःख से निवृत्त होने का उपाय बताते हुए कहा है-

युक्ताहार विहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु।
युक्त स्वभाव बोधस्य योगो भवति दुःखहा।। (17)।। गीता

He who is moderate in food, moderate in recreation moderate in necessary action, moderate in sleep, moderate in walking, can be able to practise Dhayana(Yoga) the destroyer of grief.

जिसका आहार, विहार नियमित है, कर्मों का आचरण नपा तुला है और

सोना जागना परिमित है, उसको यह योग दुःखघातक अर्थात् सुखावह होता है।

(गीता रहस्य अथवा कर्मयोग शास्त्र, लेखक-बाल गंगाधर तिलक) जैसा होवे आहार वैसा होवे विचार एवं आचार। जीव के शरीर, उसकी द्रव्यात्मक इन्द्रियाँ, उसके द्रव्य मन पूर्णतः भौतिक (पौद्गलिक) होने के कारण एवं उसकी भावात्मक इन्द्रियाँ भाव मन की सूक्ष्म आध्यात्मिक दृष्टि से क्षायोपशमिक भाव होने से पौद्गलिक (भौतिक) है।

भोजन, पानी आदि भौतिक वस्तु होने के कारण इसका भी सुप्रभाव एवं कुप्रभाव जीव के ऊपर पड़ना भी स्वाभाविक है। जिस प्रकार पानी की कमी होने से प्यास लगती है एवं पानी पीने से शरीर, इन्द्रियाँ व मन तरोताजा हो जाते हैं। इसी प्रकार शराब पीने से शरीर दुर्बल एवं रोगाक्रान्त हो जाता है, मन क्षुब्ध हो जाता है तथा विवेक नष्ट हो जाता हैं। इसी प्रकार शुद्ध शाकाहार, माँसाहार, शुद्ध पानी एवं नशीले पानी के बारे में भी जान लेना चाहिए। इसलिए कहा गया है -

As you eat so you think and as you think so you become Our body is waht we eat.

अर्थात् जैसे आहार करते हैं वैसे विचार करते हैं एवं जैसे हम विचार करते हैं वैसे हम परिणमन करते हैं। हमारा शरीर वैसा है जैसा हम आहार करते हैं।

Animal food for those, who will fight and die,
and vegetable food for those, who will live and think

मांसाहार उनके लिये हैं, जो लड़ेंगे एवं मरेंगे।

शाकाहार उनके लिये हैं, जो जीवित रहेंगे एवं चिन्तन करेंगे।

जो अभक्ष्य भक्षण करते हैं, भ्रष्ट आचरण करते हैं वे शरीर से मानव होकर भी भाव से, क्रिया से दानव हैं। नीतिकारों ने कहा भी है।

मांसाहारी मानवा परतछ राक्षस अंग।
तिन की संगति मत करो, परत भजन में भंग।।
जो रक्त जगे कापड़े, जामा होवे पलीत।
सो रक्त पीवे मानुसा, तिन क्यों निर्मल चित्त।।

वर्तमान मनोवैज्ञानिक एवं वैज्ञानिकों ने भी सिद्ध किया है कि माँस, मद्य, धूम्रपान, तम्बाकू सेवन, अमर्यादित भोजन, अशुद्ध भोजन एवं अभक्ष्य भक्षण से अनेक शारीरिक, मानसिक रोग हो जाते हैं। इसका सविस्तृत वर्णन मैंने ''धर्म एवं

स्वास्थ्य विज्ञान'', आदर्श विचार विहार आहार'' एवं ''व्यसन का धार्मिक वैज्ञानिक विश्लेषण '' में किया है। विशेष जिज्ञासु के लिए वहाँ अवलोकनीय हैं।

पात्र का स्वरूपः अहिंसक

पात्रं त्रिभेदमुक्तं संयोगो मोक्षकारण-गुणानाम्।
अविरत-सम्यग्दृष्टिः विरताऽविरतः सकल विरतश्च।। (171)

(1) उत्कृष्ट (2) मध्यम (3) जघन्य के भेद से पात्र तीन प्रकार के हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि संयम से रहित होने के कारण तथा सम्यग्दर्शन से सहित होने के कारण चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जघन्य पात्र हैं। पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक विरताऽविरत होने से मध्यम पात्र हैं। समस्त पापों से विरत षष्टम गुणस्थानवर्ती मुनिराज उत्कृष्ट पात्र हैं। पात्र वे हैं जो मोक्ष के कारणभूत सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र से युक्त होते हैं।

दान में अहिंसा धर्म पालता है

हिंसायाःपर्यायो, लोभोऽत्र निरस्यते यतो दाने।
तस्मादतिथि वितरणं हिंसा व्युपरमणमेवेष्टम्।। (172)

लोभ भी हिंसा का नामान्तर है। अर्थात् लोभ स्वयं हिंसा है। इसलिये जहाँ लोभ है वहाँ हिंसा अवश्य ही है। जिस दान से लोभ का निराकरण होता है उसे दान कहते हैं। जिसके कारण अतिथि के लिए दिया गया दान हिंसा को दूर करता है, लोभ को दूर करता है वही दान इष्ट है, मान्य है।

जो दान नहीं देता वह हिंसक

गृहमागताय गुणिने, मधुकर वृत्त्या परानपीडयते।
वितरति यो नाऽतिथये, स कथं नहि लोभवान् भवति।। (173)

जो पुरुष ऐसे अतिथि मुनियों के लिए आहार नहीं देता है वह किस प्रकार लोभवान् नहीं होगा अर्थात् वह निश्चय से लोभवान् होगा ही। जो मधुकर वृत्ति से गृहस्थों के घर में आते हैं तथा जो मूलगुण तथा उत्तरगुण से सहित होते हैं भ्रमर वृत्ति से दूसरों को बिना क्लेश दिये हुए आहार ग्रहण करते हैं। ऐसे मुनियों के लिये जो उपासक श्रावक गृहस्थ आहार नहीं देते हैं वे कैसे लोभवान् और हिंसक नहीं होंगे। अर्थात् वे अवश्य लोभवान् और हिंसक होंगे ही।

आचार्य श्री ने इस श्लोक में एक अत्यन्त रहस्यपूर्ण विषय का उद्घाटन किया है। आचार्य श्री ने यह सिद्ध किया कि यदि कोई अस्त्र-शस्त्रों से दूसरों की हत्या करता है तो केवल वह ही हिंसक नहीं है परन्तु जो योग्य पात्र को दान नहीं देता वह भी हिंसक है; क्योंकि भाव हिंसा रूपी लोभ प्रवृत्ति उसके मन में व्याप्त है। इस श्लोक से यह भी सिद्ध होता है कि सम्यग्दृष्टि में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और उसके धारकों के प्रति अनुराग, भक्ति, समर्पित भाव होता है। वह उनका आदर करता है, सत्कार करता है, सेवा करता है। इन गुणों से युक्त जीव ही सच्चा धार्मिक है। मेरा प्रायोगिक अनुभव है कि अनेक व्यक्ति भोग विलासिता के लिये तो अनाप-शनाप खर्च करेंगे धार्मिक बाह्य आडंबरों के लिये, प्रदर्शन के लिये धन जुटायेंगे नाम के लिये पंचकल्याणक आदि मेला-ठेला, भीड़-भाड़ में लाखों रुपयों की बोली लेंगे, अहिंसा का भाषण झाड़ेंगे परन्तु साधुओं को पानी तक नहीं पिलायेंगे, आहार नहीं देंगे। ऐसे व्यक्ति यथार्थ से धार्मिक नहीं है, अहिंसक नहीं है परन्तु धर्मान्ध, लोभी तथा हिंसक हैं। जो जीवन्त धर्म-स्वरूप-साधु सन्तों की आहार दानादि देकर वैयावृत्ति नहीं करते हैं वे सब जड़वादी, जड़पूजक, बाह्य आडम्बरी हैं। इसका विशेष वर्णन मैंने अपनी कृति **''आहार दान से अभ्युदय''** **''पूजा से मोक्ष, पुण्य तथा पाप भी''** आदि में किया है।

मुनियों की वैयावृत्य कैसे करें ?

अणयाराणं वेज्जावच्चं कुज्जा जहेइ जाणिज्जा।
गब्भब्भवेमेव य मादा पिदुव्व णिच्चं तहा णिरालसया।। (25) रयण.

अन्वयार्थ - (इह) यहाँ इस पञ्चम काल में (अणयाराणं) अनगारों के लिए (वेज्जावच्चं) सेवा-वैयावृत्ति (जाणिज्जा) जानकर (तहा) उसी प्रकार (कुज्जा) करनी चाहिए (जहेइ) जिस प्रकार (गब्भब्भवेमेव) गर्भ से उत्पन्न बालक की सेवा (मादा पिदु) माता-पिता (णिरालसया) निरालस्य होकर (णिच्चं) नित्य करते हैं।

पद्यभावानुवाद -

यथा गर्भधारी माता सेवा करती है स्व-सन्तान की।
तथा पंचमकाल में साधु की वैयावृत्त करे श्रावक भी।। (1)

समीक्षा व शिक्षा -

वर्तमान है कलीकाल हुण्डावसर्पिणी के पंचमकाल।
हीन संहनन व विपरीत भाव व परिस्थिति प्रदूषित काल।। (2)

ऐसी परिस्थिति में साधु की सेवा-व्यवस्था करने योग्य।
यथा पशु-पक्षी-मनुष्य की माता, सेवा करती स्व-सन्तान योग्य(3)

इससे मिलती है शिक्षा सेवा स्वेच्छा से माता सम करणीय
संकीर्ण-स्वार्थी-पंथ-मत-परम्परा जाति से परे करणीय।। (4)

दाता के भाव की अपेक्षा दान के फल में भिन्नता

सप्पुरिसाणं दाणं कप्पतरूणं फलाणसोहवहं।
लोहीणं दाणं जइ विमाणसोहासवं जाणे।। (26) रयण.

अन्वयार्थ - (सप्पुरिसाणं) सत्पुरुषों के द्वारा दिया हुआ (दाणं) मुनिदान (कप्पतरूणं) कल्पवृक्षों के (फलाण सोहवहं) फलों के समान शोभा को प्राप्त एवं सुख को देने वाला होता है। (लोहीणंदाणं) तथा लोभी का दान (विमाण सोहासवं) मुर्दे के ठठेरे विमान के समान अशोभित होता है, यह जानना।

पद्यभावानुवाद -

सत् पुरुषों के दान कल्पतरु के फल सम होते हैं शोभायमान।
लोभी का दान शव-विमान सम होता है अशोभायमान।। (1)

समीक्षा व शिक्षा

सत् पुरुष जो देते दान वे दान होते हैं श्रद्धा व विधि युक्त।
अतएव वे दान कल्पवृक्ष के फल सम होते हैं शोभा युक्त।। (2)

लोभी जो देते दान वे दान लोभ से परिपूर्ण।
अतएव वे दान शव विमान सम होते शोभा हीन।। (3)

इससे मिलती है शिक्षा दान देय श्रद्धा-विधि युक्त।
इससे ही मिलते हैं सुफल न लोभ द्वारा देय दानफल।। (4)

लोभी को पात्र-अपात्र का विचार नहीं !

जसकित्ति पुण्णलाहे देइ सुबहुगंपिजत्थ तत्थेव।
सम्माइ सुगुण भायण पत्तविसेसं ण जाणंति।। (27) रयण.

अन्वयार्थ - (जसकित्तिपुण्णलाहे) यश कीर्ति पुण्य के लाभ के लिए (जत्थ तत्थेव) जहाँ तहाँ ही (सुबहुंगपि) बहुत सा रूपया पैसा गाय बछड़ा आदि (देइ) देता है (सम्माइ सुगुण भायण) सम्यक् दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र आदि विशेष गुणों का भाजन (पत्तविसेसं) पात्र विशेष को (ण जाणंति) नहीं जानते।

पद्यभावनुवाद -

यश-कीर्ति पुण्य लाभ हेतु देते हैं लोभी बहुत दान जहाँ -तहाँ।
सम्यक्त्व आदि सुगुण युक्त पात्र विशेष को न जानते।। (1)

समीक्षा व शिक्षा -

लोभ के वशवर्ती लोभी-लोभ-लाभ'' हेतु करते हैं दान।
समता-शान्ति-निस्पृहता युक्त सुपात्र को न देते दान।। (2)

इससे हमें शिक्षा मिलती निःकांक्षा से देने योग्य दान।
जो आध्यात्मिक गुण युक्त ऐसे सुपात्र को सदा सुदान।। (3)

दान भी अहिंसाव्रत(वैयावृत्ति)

कृत्यात्मार्थ मुनये, ददाति भक्तिमिति भावितस्त्यागः।
अरति-विषाद-विमुक्तः, शिथलित लोभो भवत्यहिंसैव।।(74।)।

(पुरुषार्थसिद्धयुपाय)

When one gives to a saint, food out of what he has prepared for himself, such thought fully offered gift, which is made without any disregard or regret, with suppressed greed, is itself Ahima.

व्याख्या भावानुवाद : जो पूर्वोक्त प्रकार से नवधा-भक्ति, सप्तगुणों से युक्त होकर स्वयं के लिये बना हुआ शुद्ध भोजन मुनियों के लिये देता है वह दान उसके लिए अहिंसा रूप ही होता है। जो व्यक्ति अप्रेम/अभक्ति, खेद (विषाद) से रहित होकर संतोष, प्रसन्न चित्त से लोभ को मन्द करता हुआ आहार दान देता है वह अहिंसाव्रती होता है।

समीक्षा : इसी ग्रन्थ में आचार्य श्री ने यत्र-तत्र-सर्वत्र हिंसा एवं अहिंसा का व्यापक, सूक्ष्म एवं सार्वभौम वर्णन किया है। वस्तुतः भाव की कलुषता ही हिंसा है और वह कलुषता लोभ, क्रोध, मान, माया, मिथ्यात्व आदि से आती है। कर्म सिद्धान्त के अनुसार एवं आध्यात्मिक दृष्टि से लोभ राग सबसे बड़ा पाप है, परिग्रह है, प्रमाद है। इसलिये लोकोक्ति है ''**लोभ पाप का बाप बखाना।**'' ऐसे लोभ को दूर करके जो पवित्र भावना से आहार देता है वह अवश्य अहिंसक है, धर्मात्मा है, त्यागी है, दानी है। मेरा स्वयं का ग्यारह प्रदेश का प्रायोगिक अनुभव यह है कि जो व्यक्ति साधुओं को आहार देते हैं उसका परिणाम अन्य स्वाध्याय उपवास, पूजादि धार्मिक क्रियाओं को करने वाले व्यक्तियों से अधिक सरल, मृदु, दयालु, परोपकारी, निर्लोभी, त्यागी, दानी होता है। आहार दान से आचार्यों ने चारों प्रकार का दान होता है, ऐसा कहा है क्योंकि क्षुधा-तृषा रूपी रोग दूर होने से आहार दान औषधिदान भी है। आहार करके निर्विघ्न अध्ययन करने से ज्ञान दान होता है तथा इससे जीवित रहा जाता है अतः अभयदान है। इस प्रकार आहार दान को पूजा,वैयावृत्ति, सेवा, वात्सल्यभाव, त्याग-दान भी कहा गया है। कुछ लोग जिनवाणी की तोता रटन्त जैसी पढ़ाई करके केवल मस्तिष्क की खुजली दूर करते हैं तथा घमण्ड को बढ़ाते हैं, दूसरों से अनावश्यक वाद-विवाद करके फूट डालते हैं। कुछ लोग मन्दिर की ही सामग्री को ही एक थाली से दूसरी थाली में चढ़ाकर स्वयं को महान् धार्मिक मान लेते हैं और सोचते है ''मैं पूजा करके भगवान् पर अहसान कर रहा हूँ। मेरे बिना तो भगवान बिना सेवा-पूजा के बासी ही रह जाते।'' वे पूजा करते-करते पूजा सामग्री को लेकर पूजा की पद्धति को लेकर यहाँ तक कि कभी-कभी पाटला, चौकी, स्थान को लेकर लड़ेगे-भिड़ेंगे, गाली-गलौज करते रहेंगे और समाज में फूट डालते रहेंगे। कुछ उपवास करने वाले भी चिड़चिड़ करते रहेंगे। उपवास में भी विकथा/कलह आदि करते रहेंगे। परन्तु मेरा अनुभव है कि आहार-दान करने वालों में उपर्युक्त दुर्गुण के परिवर्तन में सुगुण पाये जाते हैं। इतना ही नहीं जो आहारदान देते हैं उन्हें अधिक परिश्रम करना पड़ता है, अधिक समय देना पड़ता है और अधिक विवेक से काम करना पड़ता है। आहार देने के लिए सबह से लेकर मध्यान्ह 1 बजे तक परिश्रम करना पड़ता है। भोजन सामग्रियों को बर्तन, पाटा चौका, चन्दवा, लकड़ी आदि की व्यवस्था करनी पड़ती है और उसके लिये धन भी खर्च करना पड़ता है। इतना

परिश्रम, इतना ध्यान, इतने सही तरीके से धन का सद्-उपयोग वर्तमान में अन्य क्षेत्र में देखने में नहीं आता है। अन्य क्षेत्र में ज्यादा करके नाम के लिये, दिखावे के लिये काम होता है परन्तु आहारदान में तथा दानकर्त्ता में इतनी विकृतियाँ अभी भी नहीं आयी हैं।

न क्रोधो न च मात्सर्य न च मदो माया न कामो।
न द्वेषों मोहसरागदर्पमद ना लोभो भवेत्तस्य न।।
सम्यक्त्वव्रतगुप्तिपंचसमितिष्वासक्तिरभ्यासता।
नित्यं पुण्यविचारता निपुणता दानेषु यत्रादरः।। (22)।।

जिस भव्य को दान देने में आदर है उसको क्रोध, मात्सर्य, मद, माया, काम, द्वेष, मोह, गर्व विषयाभिलाषा इत्यादि दोष दूषित नहीं करते हैं परन्तु सम्यक्त्व, व्रत, गुप्ति, समिति इत्यादि पुण्य विचारों में आसक्ति, नित्य पुण्य विषयों का विचार करना, सर्व कार्यों में नैपुण्य इत्यादि गुण उसको प्राप्त होते हैं।

वातघ्नो मलमुत्रकृच्छकहरो दुष्पित्तनुत्पुष्टिकृत्।
मेधाबुद्धिबलांगकांतिकरणः पापच्छिदधीप्रदः।।
दृग्ज्ञानावरणापहो बहुगुणः शीतःसुसेव्यो बुधैः।
गव्याधार इवाप्यदभ्रगुणदो वर्षानुवत्सादरः।। (20)।।

जिस प्रकार गाय का घी आदि विधिपूर्वक सेवन किया जाय तो वह वातरोग को दूर करता है, मलमूत्र के विकार को नष्ट करता है, थकावट को दूर करता है, पित्तोद्रेक को हटाता हैं, शरीर को बल देता है, मेधा-बुद्धि और शरीर की कांति को बढ़ाता है, प्यास को दूर करता है, अग्नि तेज करता है, दृष्टिदोष, बुद्धिविकार इत्यादि दोषों को दूर करता है, वह ठण्डा है एवं सर्वजनों से सेव्य है उसी प्रकार जो व्यक्ति बहुत आदरपूर्वक दान देता है, उसका पापरूपी वात नाश होता है, उसका कर्ममल नष्ट होता है, उसकी बुद्धि अधिक तेज हो जाती है, पाप का नाश होकर पुण्य की वृद्धि होती है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म दूर हो जाता है। वह शांत बनता है। विद्वानों द्वारा आदरणीय होता है। इस प्रकार आदरभाव से पात्रदान देने में बहुत से गुण प्राप्त होते हैं।

दानपक्ष में छाया विभवम् का समास इस प्रकार होता है। ''**छाया माहात्म्यं विभवः सम्पत् तौ विद्यते यस्मिन् इति फलस्य विशेषणं**'' छाया का अर्थ

माहात्म्य होता है और विभव का अर्थ संपत्ति होता है। छाया और माहात्म्य ये दोनों जिस फल में विद्यमान है उस फल को दान देता है। वटबीज पक्ष में छाया का अर्थ अनातप-घाम का अभाव होता है और विभव का अर्थ-प्राचुर्य-अधिकता लिया जाता है। **''छाया आतप निरोधिनी तस्या विभवः प्राचुर्यं यथाभवत्येवं''** इस प्रकार क्रिया विशेषण किया जाता है।

आचार्य श्री समन्तभद्रस्वामी ने दान को वैयावृत्ति/सेवा कहा है **''दान वैयावृत्य'' भोजनादिदानमपि वैयावृत्यमुच्यते** अर्थात् भोजनादि दान को भी वैयावृत्य कहते हैं। धवला, जयधवाला, तत्त्वार्थ सूत्र, भगवती आराधना आदि में वैयावृत्य का सविस्तार वर्णन पाया जाता है। उनमें सविस्तार वर्णन किया गया है कि जो वैयावृत्य करता है वह तीर्थंकर पुण्य प्रकृति का बन्ध करता है और आगे तीर्थंकर बनकर धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करके मोक्ष को प्राप्त करता है। तीर्थंकर बनने की 16 भावना में से (1) वैयावृत्य के साथ-साथ (2) शक्ति के अनुसार त्याग (3) शक्ति के अनुसार तप (4) आचार्य भक्ति(5) बहुश्रुत भक्ति (6) वात्सल्य भाव ये सब प्रत्यक्ष-परोक्ष या आंशिक रूप से वैयावृत्य/सेवा/भक्ति/दान में गर्भित है। इससे भी सिद्ध होता है वैयावृत्य की महानता तथा व्यापकता कितनी श्रेष्ठ-ज्येष्ठ गरिष्ट है। उपर्युक्त वर्णन से वैयावृत्य का महत्त्व स्पष्ट प्रतिभासित हो जाता है। स्वामी समन्तभद्र ने दान के साथ-साथ उनकी शारीरिक सेवादि को भी वैयावृत्य कहा है यथा :-

व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात्।
वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम्।। 2।।

टीकार्थ : देशव्रती और सकलव्रती के भेद से संयमी दो प्रकार के हैं। इनके ऊपर यदि बीमारी आदि नाना प्रकार की आपत्तियाँ आई हैं तो उन्हें गुणानुराग से प्रेरित होकर दूर करना, उनके पैर आदि अङ्गों का मर्दन करना तथा इसके सिवाय और भी जितनी कुछ समयानुकूल सेवा है ये सब वैयावृत्य नामक शिक्षाव्रत है। यह वैयावृत्य व्यवहार अथवा किसी दृष्टफल की अपेक्षा से न होकर मात्र गुणानुराग अर्थात् भक्ति के वश की जाती है।

भगवती अराधना जो मुख्यतः मुनियों के लिये रचना की गई है उसमें वर्णन किया गया है कि जो मुनि 6 महीने का उपवास करके पर्वत के ऊपर तप करता है या स्वाध्याय करता है उससे भी श्रेष्ठ वैयावृत्ति करने वाले साधु को कहा गया है।

वैयावृत्ति अन्तरंग तप है जैसा कि स्वाध्याय, ध्यान अन्तरंग तप है। रयणसार में कहा है- **''दाणं पूजा मुक्खं सावय धम्मे ण सावया तेण विणा''** अर्थात् दान पूजा श्रावक धर्म में प्रमुख है और दान, पूजा के बिना कोई श्रावक नहीं होता है। प्रवचनसार में आचार्य कुन्द कुन्द देव ने कहा है कि वैयावृत्ति श्रावक का मुख्य कर्त्तव्य है तथा साधुओं के गौण कर्त्तव्य है। तथापि उनमें साधुओं की शुभ क्रिया में वैयावृत्ति का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण बताया है। यथा -

उवकुणदि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स।
कायविराधणरहिदं सो वि सरागप्पधाणो से ।।(249)।। प्र. सार

(जो वि) जो कोई (चादुव्वण्णरस समणसंघस्य) चार प्रकार साधु संघ का (णिच्चं) नित्य (कायविराधणरहिंद) छहकाय के प्राणियों की विराधना से रहित क्रिया द्वारा (उपकुणादि) उपकार करता है (सोवि) वह साधु भी (सरागप्पधाणो) शुभोपयोगीधारियों में मुख्य होता है।

समीक्षा : कुंदकुंद देव ने इस गाथा में सिद्ध किया कि जो चतुर्विध संघ का उपकार करता है, वह धर्मानुरागी में श्रेष्ठ है। इससे सिद्ध होता है कि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती से लेकर छुट्ठे गुणस्थानवर्ती श्रमण तक का कर्त्तव्य धर्मात्मा का उपकार करना है। तुलसीदास ने कहा हैं :।

परोपकार सम धर्म नहि भाई।

नीतिकार व्यास ने भी कहा है -

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयं।
परोपकाराय पुण्याय पापाय परपीडनम्।।

व्यास जी कहते है 18 पुराणों व 4 वेदों का संकलन मैंने दो वाक्यों में किया ''परोपकाराय पुण्याय पापाय परपीडनम्।'' पुण्य धर्म क्या है ? कर्त्तव्य, परोपकार। अधर्म क्या है? अनीति, पाप, पर अपकार। हमारे आचार्यों ने भी कहा है -

श्लोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रंथ कोटिभिः।
परोपकाराय पुण्याय पापाय परपीडनम्।।

रहिमन कवि ने कहा भी है -

तरुवर फल नहीं खात है, नदी न संचै नीर।
रहिमन पर के काज हित, सज्जन धरै शरीर।।

प्राचीन नीतिकारों ने भी कहा है-

परोपकाराय फलंति वृक्षा परोपकाराय वहन्ति नद्याः।
परोपकाराय दुहन्ति गावः परोपकाराय सतां प्रवृत्तयः।।

परोपकार के लिये जीवन भर वृक्ष, जीवन शक्ति प्रदायक अमृत तुल्य उत्तमोत्तम फल देते हैं। परोपकार के लिए नदियाँ शीतल मधुर जल लेकर बहती हैं। परोपकार के लिये गाय अमृत तुल्य दूध जीवन भर देती हैं। इसी प्रकार परोपकार के लिए सज्जन सतत प्रयत्नशील रहता है।

वैयावृत्ति का वर्णन भगवती आराधना में निम्न प्रकार से किया है -

सत्तीए भत्तीए विज्जावच्चुजदा सदा होइ।
आणाए णिज्जरिति य सबालउड्डुउले गच्छे।। (306)।।

बालमुनि और वृद्धमुनियों से भरे हुए इस गण में सर्वज्ञ की आज्ञा से सदा अपनी शक्ति और भक्ति से वैयावृत्ति करने में तत्पर रहो। सर्वज्ञदेव की आज्ञा है कि वैयावृत्ति तप है और तप से निर्जरा होती है।

सेज्जागासणिसेज्जा उवधी पडिलेहणाउवग्गहिदे।
आहाररोसहवायणविकिं चणुव्वत्तणादीसु।। (307)।।

सोने के स्थान, बैठने के स्थान और उपकरणों की प्रतिलेखना करना, योग्य आहार, योग्य औषधि का देना स्वास्थ्य करना, अशक्त मुनि के शरीर का शोधन करना, एक करवट से दूसरी करवट लिटाना ये उपकार वैयावृत्य है।

अध्यादाणतेण सावयरायणदीरोधगासिवे ऊमे।
वेज्जावच्चं उत्तं सगहसारक्खणोवेदं ।। (308)।।

जो मुनि मार्ग के श्रम से थक गये हैं उनके पैर आदि दबाना। जिन्हें चोरों ने सताया है, जंगली जानवरों से, दुष्ट राजा से, नदी को रोकने वालों से और भारी रोग से जो पीड़ित हैं विद्या आदि से उनका उपद्रव दूर करना, जो दुर्भिक्ष में फँसे है उन्हें सुभिक्ष देश में लाना 'आप न डरें' इत्यादि रूप से उन्हें धैर्य बंधाना तथा उनका संरक्षण करने को वैयावृत्य कहा है।

वैयावृत्य न करने की निन्दा

अणिगुहिदवलविरिओ वेज्जावच्चं जिणोवदेसेण।
जदि ण करेदि समत्थो संतो सो होदि णिद्धम्मो।। (309)

अपने बल और वीर्य को न छिपाने वाला जो मुनि समर्थ होते हुए भी जिन भगवान् के द्वारा कहे हुए क्रम के अनुसार यदि वैयावृत्ति नहीं करता है तो वह धर्म से बहिष्कृत हो जाता है यह इस गाथा का अभिप्राय है।

तित्थयराणाकोवो सुदधम्मविराधणा अणायारो।
अप्पारोपवयणं च तेण णिज्जूहिंद होदि।। (310)

वैयावृत्य न करने से तीर्थकरों की आज्ञा का भंग होता है। शास्त्र में कहे गये धर्म का नाश होता है। आचार का लोप होता है और उस व्यक्ति के द्वारा आत्मा, साधुवर्ग और प्रवचन का परित्याग होता है। तप में उद्योग न करने से आत्मा का त्याग होता है। आपत्ति में उपकार न करने से मुनिवर्ग का त्याग होता है और शास्त्र आचरण न करने से आगम का त्याग होता हैं।

गुणपरिणामो सड्ढा वच्छल्लं भतिपत्तलंभो य ?
संधाणं तव पूया अव्वो तिच्छत्ती समाधी य ।।(311)

वैयावृत्य करने का पहला गुण है 'गुण परिणाम' अर्थात् जो वैयावृत्य करता है उसकी पीड़ित साधु के गुणों में वासना होती है कि मैं भी ऐसा बनूँ और जिस साधु की वैयावृत्य की जाती है उसकी सम्यक्त्व आदि गुणों में विशेष प्रवृत्ति होती है। इसके सिवाय श्रद्धा, वात्सल्य, भक्ति, पात्र का लाभ, सन्धान, अपने में गुण पूजा, छूट गये हैं इनका पुनः आरोपण, तप, धर्म, तीर्थ की परम्परा का विच्छेद न होना तथा समाधि ये गुण हैं।

आणा संजमसालिखिल्लदा य दाणं च अविदिगिंछा यः।
वेज्जावच्चस्स गुणा पभावणा कज्जपुण्णाणि।। (312)

सर्वज्ञ के द्वारा उपदिष्ट वैयावृत्य करने से सर्वज्ञ की आज्ञा का पालन होता है। आज्ञा पालन से आज्ञा संयम होता है। वैयावृत्य करने वाले का उपकार होता है। निर्दोष रत्नत्रय का दान होता है। संयम में सहायता होती है। विचिकित्सा ग्लानि दूर होती है। धर्म की प्रभावना होती है और कार्य का निर्वाह होता है।

इय दढगुणपरिणामो वेज्जावच्चं करेदि साहुस्स।
वेज्जावच्चेण तदो गुणपरिणामों कदो होदि।। (316)

इस प्रकार ऊपर कहे गये यति के गुणों में जिसका परिणाम दृढ़ होता है वह साधु की वैयावृत्य करता है। वैयावृत्य करने से गुण परिणाम होता है। आशय यह है

कि इस यति में जो गुण है यदि मैं इनकी सेवा न करूँगा तो ये गुण नष्ट हो जायेंगे। ऐसा जो चित्त में विचारता है वह उन गुणों में परिणत होता है और जिसकी सेवा की है उसकी गुणों में परिणति होती है अर्थात् वैयावृत्य करने वाला स्वयं उन गुणों से च्युत नहीं होता। अतः अपने और दूसरों के उपकार के लिए वैयावृत्य कहा है।

जह जह गुणपरिणामो तह तह आरूहइ धम्मगुणसेढिं।
वड्ढदि जिणवरमग्गे णवणवसंवेगसड्ढावि।। (317)

जैसे-जैसे गुण परिणाम होते हैं वैसे-वैसे चारित्ररूप गुणों की सीढ़ी पर चढ़ता है और जिनेन्द्र के मार्ग में नई-नई संसार भीरूता और श्रद्धा भी बढ़ती है। यहाँ गुण शब्द से गुणों को विषय करने वाला स्मरण ज्ञान कहा गया है। तब यह अर्थ होता है जैसे-जैसे यति गुणों का स्मरण होता है वैसे-वैसे चारित्र गुण पर आरोहण करता है। जो यति के गुणों को भूल जाता है वह उसमें प्रयत्न नहीं करता। उनके गुणों का स्मरण करने से उनमें रूचि पैदा होती है। भव्य जीव गुणों के अनुरागी होते हैं। संसार से भय और श्रद्धा यति को रत्नत्रय में दृढ़ करती है। इस गाथा से श्रद्धा गुण का कथन किया। आगे कहते हैं कि गुणों के स्मरण से उनमें रूचि होती है। रूचि बढ़ने पर सम्यग्दर्शन का वात्सल्य नामक गुण होता है।

सड्ढाए वड्ढियाए वच्छल्ल भावदो उक्कमदि।
तो तिव्वधम्मराओ सव्वजगसुहावहो होइ।। (318)

श्रद्धा के बढ़ने पर मुनि से वात्सल्य करते हैं। उनमें धर्म में तीव्र राग होता है। धर्म में तीव्र राग समस्त जगत् में जो इन्द्रियजन्य और अतीन्द्रिय सुख है उसे लाता है। अथवा धर्म में तीव्र राग रखने वाला यति सब सुख को प्राप्त होता है। इस गाथा से वात्सल्य का कथन किया।

वैयावृत्य भी भक्ति

अरहंतसिद्धभत्ती गुरुभत्ती सव्वसाहुभत्ती य।
आसेविदा समग्गा विमला वरधम्मभत्ती य।। (319)

इस भव से पूर्व तीसरे भव में दर्शनविशुद्धि आदि परिणाम विशेष से जिसने तीर्थंकरत्व नामक अतिशयशाली कर्म का बंध किया है, जो स्वर्गावतरण आदि पाँच महाकल्याण का भागी है, जो कल्याण किसी अन्य को प्राप्त नहीं होते, घातीकर्मों के विनाश से जिसने त्रिकालवर्ती सब द्रव्यों के स्वरूप को प्रकाशित करने में पटु

निरतिशय ज्ञान प्राप्त किया है, दर्शनमोह के क्षय से जिन्हें वीतराग सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई है, चारित्र मोह के क्षय से जिसने वीतरागता प्राप्त की है, वीर्यान्तराय कर्म के प्रक्षय से जिनमें अनन्तवीर्य प्रकट हुआ है, जिनके संसार का अन्त आ गया है उन भव्य जीवों का उद्धार करने की प्रतिज्ञा से जो बद्ध हैं, जो आठ महाप्रतिहार्य और 34 अतिशय विशेष से युक्त हैं वे अर्हन्त हैं। मिथ्यात्व आदि से परिणामों में आये आठ कर्मों के बन्धन से छूट चुके हैं, जो अजर, अमर, अव्याबाधगुण से युक्त हैं, अनुपम अनन्त सुख से शोभित हैं। जिसके सदा प्रज्वलित रहने वाला आवरण रहित ज्ञानमय शरीर हैं, जो पुरुषाकार हैं और जिन्होंने परमात्मा को पा लिया है वे सिद्ध हैं। इन अर्हन्तों और सिद्धों की भक्ति अरिहन्त सिद्ध भक्ति है। गुरु शब्द से यहाँ आचार्य, उपाध्याय का ग्रहण किया है। इनकी भक्ति गुरु भक्ति है और सर्वसाधुओं की भक्ति तथा प्रधान धर्म रत्नत्रय में सम्पूर्ण निर्मल भक्ति। इन अर्हन्त आदि का ऊपर कहे अनुसार वैयावृत्य करने से उनकी भक्ति की गई जानना। रत्नत्रय के धारकों का उपकार करने से उनका आदर ही उनकी भक्ति है। अभिप्राय यह है कि वैयावृत्य से अर्हन्त आदि में भी भक्ति होती है।

वैयावृत्य का एक गुण पात्र लाभ

पंचमहव्वयगुत्तो णिग्गाहिदकसायवेदणो दंतो।
लब्भदि दु पत्तभूदो णाणासुदरयणणिधिभूदो।। (321)

वैयावृत्य करने से पाँच महाव्रतों के द्वारा कर्मों के आस्रव को रोकने वाला, कषाय वेदना का निग्रह करने वाला, कषाय आत्मा को संतप्त करता है इसे वेदना कहा है। दान्त अर्थात् जिसके राग जन्य दोष शान्त हो गये हैं, वस्तु तत्त्व को जानने से वैराग्य भावना होती है और वैराग्य भावना से राग शान्त होता है। इससे दान्त कहा है तथा जो नाना प्रकार के शास्त्रों रूपी रत्नों का निधि है, नाना शास्त्रों का ज्ञाता है ऐसा पात्र प्राप्त होता है अर्थात् वैयावृत्य करने वाले को वैयावृत्य के लिए ऐसे सत्पात्र मुनि प्राप्त होते हैं यह एक महान् लाभ है।

दंसणणाणे तव संजमे य संधाणदा कदा होइ।
तो तेण सिद्धिमग्गो ठविदो अप्पा परो चेव।। (322)

किसी निमित्त से सम्यग्दर्शन आदि में कोई त्रुटि हो गई हो तो वैयावृत्य करने से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्तप और सम्यक्चारित्र में पुनः नियुक्ति हो जाती

है। अतः उसी वैयावृत्यकारी के द्वारा स्वयं आत्मा का तथा जिसकी वह वैयावृत्य करता है उसकी रत्नत्रय में पुनः स्थिति होती है। इससे दोनों का ही लाभ है। इस गाथा के द्वारा संधान पद का व्याख्यान किया गया है।

वेज्जवच्चकरोपुण अणुत्तरं तवसमाधिमारूढ़ो।
पप्फोडिंतो विहरदि बहुभवबाधाकरं कम्मं।। (323)

वैयावृत्य करने वाला मुनि उत्कष्ट वैयावृत्य नामक तप में एकाग्र होकर अनेक भवों में कष्ट देने वाले कर्मो की निर्जरा करता हुआ विहार करता है।

जिणासिद्धसाहुधामा अणागदातीदवट्टमाणगदा।
विविहेण सुद्धमदिणा सव्वे अभिपूइया होंति।। (324)

शुद्धचित्त से वैयावृत्य करने वाले के द्वारा भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल के सब तीर्थंकर, सिद्ध, साधु और धर्म, मन-वचन-काय से पूजित होते हैं। तीर्थकरों की आज्ञा के पालन से सभी तीर्थंकर आदि उसके द्वारा पूजित होते हैं। तथा दस प्रकार के धर्मों में एक तप धर्म भी है और वैयावृत्य उसका एक भेद है। अतः वैयावृत्य में आदर भाव रखने तथा वैयावृत्य करने से धर्म पूजित होता है।

आइरियधारणाए संघो सव्वो वि धारिओ होदि।
संघस्स धारणाए अव्ववोच्छिति कया होइ ।। (325)

आचार्य को धारण करने से समस्त संघ धारित होता है क्योंकि आचार्य रत्नत्रय ग्रहण कराते हैं और जो साधु रत्नत्रय को धारण किये हुए होते हैं उन्हें उसमें दृढ़ करते हैं। उत्पन्न हुए अतिचारों को दूर करते हैं। आचार्य के उपदेश के प्रभाव से ही संघ गुणों के समुह को धारण करता है अतः आचार्य के धारण से संघ का धारण होता है। आचार्य के बिना संघ का धारण सम्भव नहीं है। संघ के धारण से अभ्युदय और मोक्ष के सुख का साधन जो धर्म है उस धर्म तीर्थ का विच्छेद नहीं होता। उपाध्याय आदि सभी समस्त कर्मों के विनाश की साधना करते हैं, इसलिए साधु शब्द से उन सबका ग्रहण होता है।

साधुस्स धारणाए वि होइ तह चेव धारिओ संघो।
साधु चेव हि संघो ण हु संघो साहुवदिरित्तो।। (326)

जैसे आचार्य की धारणा में संघ की धारणा होती है वैसे ही एक साधु की धारणा से अर्थात् वैयावृत्य करने से साधु समुदाय की धारणा होती है।

शंका - एक साधु की धारणा से सब साधु समुदाय की धारणा कैसे हो सकती है? क्योंकि समुदाय और व्यक्ति में तो भेद है ?

समाधान - साधु ही संघ है। साधुओं से भिन्न कोई संघ नामक वस्तु नहीं है। समुदाय और उसके अवयव व्यक्ति में कर्थचित् अभेद होता है। यह इन गाथाओं के द्वारा माना है।

गुणपरिणामादीहिं अणुत्तरविहीहिं विहरमाणेण।
जा सिद्धिसुहसमाधी सा वि य अवगूहिया होदि।। (327)

श्रद्धा, वात्सल्य, भक्ति, पात्रलाभ, संधान,तप,पूजा तीर्थं की अव्युच्छिति इत्यादि गुणों का उत्कष्ट क्रम के साथ आचरण करने वाले मुनि को जो सिद्धि सुख में एकाग्रता है वह भी प्राप्त होती है क्योंकि कार्य में समाधान हुए बिना कारण में आदर नहीं होता। यदि चित्त में घट बनाने की भावना न हो तो उसके उपायभूत जो दण्ड आदि कारण हैं उनमें मनुष्य प्रवृत्त नहीं होता। यहाँ गुण परिणाम आदि सिद्ध सुख के उपाय हैं। सिद्धिसुख में एकाग्रता के बिना उपाय नहीं हो सकते। यह अभिप्राय है।

अणुपालिदा य आणा संजमजोगा य पालिदा होंति।
णिग्गहियाणि कसायिंदियाणि साखिल्लदा स कदा।। (328)

जो वैयावृत्य करता है तीर्थंकरों की आज्ञा का पालना करता है। इस कथन में गाथा के ''आणा'' पद का व्याख्यान किया गया है। संयम योग का पालन होता हैं। इस कथन में संयम पद का व्याख्यान किया गया है, क्योंकि आचार्य आदि का संयम के साथ सम्बन्ध है। जो आचार्य आधि-व्याधि से पीड़ित होते हैं और बिना संक्लेश के रोग परीषह को सहने में असमर्थ होते हैं उनकी वैयावृत्य करने से संयम की रक्षा होती है। अथवा 'संयम रोग' अर्थात् अनशन आदि तप के भेदों की रक्षा होती है। अपने भी और दूसरों के तप की भी रक्षा होती है। दूसरों से वैयावृत्य कराकर अथवा वैयावृत्य करने की अनुमोदना करके स्वास्थ्य को प्राप्त कर अपने तप की रक्षा करता है तथा दूसरों की आपत्ति को दूर करके, उनके स्वास्थ्य लाभ करके शक्ति प्राप्त करने पर उनकी संयम की रक्षा होती है। दूसरों की सहायता का कथन गाथा के उत्तरार्द्ध से करते हैं। उसमे 'जम्हा' पद का अध्याहार करके इस प्रकार अर्थ होता है- अतः वैयावृत्य करने वाला कषाय और इन्द्रियों के दोष

बतलाकर कषाय और इन्द्रिय का निग्रह करता है। अतः वह दूसरों को सहायता प्रदान करता है।

अदिसयदाणं दत्तं णिव्विदिगिंच्छा दरिसिदा होइ।
पवयणपभावणा वि य णिव्वूढं संघकज्जं च।। (329)

वैयावृत्य करने वाला उक्त प्रकार से दूसरे साधुओं को रत्नत्रय को दान करता है इसलिए वह सातिशय दान का ज्ञाता होता है। तथा वैयावृत्य से सम्यग्दर्शन का निर्विचिकित्सा नामक गुण प्रकाशित होता है। शरीर का मल-मूत्रादि बिना ग्लानि के उठाने से द्रव्य विचिकित्सा दूर होती है। आगम में कहे हुए धर्म का पालन करने से प्रवचन की प्रभावना भी होती है और संघ का जो करने योग्य कार्य है उसका भी सम्पादन होता है। इन गाथा में ''कज्जपुण्णाणि'' पद का व्याख्यान किया है।

गुणपरिणामादीहिं। य विज्जावच्चुज्जदो समजेदि।
तित्थयरणामकम्मं। तिलोयसंखोभयं पुण्णं।। (330)

वैयावृत्य में तत्पर साधु गुण परिणाम आदि कारणों के द्वारा उस तीर्थंकर नामक पुण्यकर्म का बंध करता है जो तीनों लोकों में हलचल पैदा करता है।

एदे गुणा महल्ला वेज्जावच्चुज्जदस्स बहुया य।
अप्पट्ठिदो हु जायदि सज्झायं चेव कुव्वंतो।। (331)

वैयावृत्य में तत्पर साधु में बहुत से गुण होते हैं। जो केवल स्वाध्याय ही करता है वह तो अपने ही प्रयोजन में लगा रहता है किन्तु वैयावृत्य करने वाला अपना और दूसरों का उपकार करता है अर्थात् केवल स्वाध्याय करने वाले साधु से वैयावृत्य करने वाला विशिष्ट होता है। स्वाध्याय करने वाले साधु पर यदि विपत्ति आये तो उसे वैयावृत्य करने वाले साधु का ही मुँह ताकना पड़ता है।

यहाँ यह तात्पर्य है कि जो कोई अपने शरीर की पुष्टि के लिए शिष्यादिकों के मोह में पड़कर उनके लिए पाप कर्म या हिंसाकर्म की इच्छा नहीं रखता है उसके वह व्याख्यान शोभनीय है। परन्तु यदि वह अपने व दूसरों के लिए पापकर्म की इच्छा करता है, वैयावृत्य आदि अपनी अवस्था के योग्य धर्म को कार्य की अपेक्षा से ही नहीं चाहता है उसके तब से सम्यग्दर्शन ही नहीं है। मुनि व श्रावकपना तो दूर ही रहा।

यहाँ पर आचार्यश्री ने संसारी भोगवादी, आलसी व्यक्तियों के सम्बन्धी

मनोविज्ञान का नग्न जीवन्त रूप प्रकट किया है। अधिकांश संसारी मोही जीव उपरोक्त सिद्धान्त को मनसा वचसा प्रयोग में लाते हैं। अर्थात् वे राग-भोग, धनोपार्जन, स्वार्थसिद्धि के समय में अनर्गल रूप से हिंसा करता है, पाप करता है परन्तु जब धर्मकार्य का अवसर आता है तब वह हिंसा का बहाना लेकर उस धर्मकार्य से विमुख हो जाता है। नीतिकार ने कहा भी है :

भोगरागं स्वयुवति सुखं नित्यमिच्छन्ति जैनाः।
दानपूजादिकुरू-कुरू न में नोऽद्य वारो वन्देन्न।।

नामधारी जैन, इन्द्रियजनित भोग, राग-रंग, युवतिजनित सुख को तो नित्य चाहता है, परन्तु जब दानादि, धार्मिक कार्य का अवसर आता है तब धर्म से विमुख हो अनेक बहाने बनाता है और कहता है आज का वार अच्छा नहीं है कल करेंगे। एक कवि ने कहा भी है-

प्रभु भजन को आलसी भोजन को तैयार।
ऐसे मूढ़ नरन को बार-बार धिक्कार।।

ऐसा मूढ व्यक्ति भोग के लिए सर्वदा जागृत रहता है, कटिबद्ध रहता है, अनालसी रहता है। भोग के लिए उसका सिद्धान्त है -

काल करे सो आज कर, आज करे सो अब।
पल में प्रलय होयेगी, बहुरि करेगा कब।।

परन्तु ऐसे भोगवादी का सिद्धान्त धर्म करने के लिए दूसरा है -

आज करे सो काल कर, कल करे सो परसों।
जल्दी-जल्दी क्या पड़ी, जिन्दा रहना है बरसों।।

संसारी जीव मोह, राग द्वेष से प्रेरित जो कार्य करता है वह स्वघात के लिए होता है, क्योंकि जो आत्मा के लिए उपकारक होता है वह शरीर के लिए अपकारक होता है तथा जो आत्मा के लिए अपकारक होता है वह शरीर के लिए उपकारक होता है। भृर्तहारि ने वैराग्यशतक में कहा भी है -

भोगा न भुक्तो वयमेव भुक्ता-स्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव याता-स्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा।।(12)

हम विषयों को न भोग सके, विषयों ने हमें भोग लिया। हम तप नहीं कर सके परन्तु तप ने ही हमें तपा लिया। काल व्यतीत नहीं हुआ परन्तु हम ही व्यतीत

हो गए। तृष्णा समाप्त नहीं हुई परन्तु हम ही समाप्त हो गये।

इसलिए तो जैनाचार्यों ने कहा-यह मोही अज्ञानी जीव विषय भोग के लिए जितना अध्यवसाय कर चुका है, उसके अनंतवें भाग भी यदि आत्मकल्याण के लिए पुरुषार्थ करता तो अब तक उसे शाश्वितिक सुख मिल जाता। परन्तु मोह का माहात्म्य ही ऐसा है कि जीव विषय, रागद्वेष के कार्य चाव से इच्छापूर्वक करता है परन्तु धार्मिक कार्य से विमुख रहता है परन्तु बाहर से स्वयं को धार्मिक बताने के लिए जताने के लिए सम्यक् धार्मिक क्रियाओं में दोषारोपण कर उन धार्मिक क्रियाओं से विमुख रहता है। इसलिए हमारे आचार्य ने आह्वान किया है-

असद्धिधाविनोदेनमात्मान मूढ़ वंचय।
कुरु कृत्यं न किं वेत्सि विश्ववृत्तं विनश्वरम्।। (3)

हे मूर्ख! तू मिथ्या ज्ञान में अनुरक्त होकर स्वयं को मत ठग किन्तु जिसमें आत्महित होता है ऐसे योग्य कार्य को कर। क्या तू संसार की सब बातों को इन्द्रियों को मुग्ध करने वाले विषय भोगादिकों को नश्वर नहीं जानता ? अर्थात् तुझे समझ लेना चाहिए कि संसार के सब ही पदार्थ नष्ट होने वाले हैं, यहाँ स्थिर कुछ भी नहीं है।

आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने ऐसे ही भोगवादी आलसियों को आह्वान करते हुए सम्बोधित किया है कि -

अद्य श्वो वा परस्मिन्वा दिने धर्मं करोम्यहम्।
चिंतयान्ति जना एवं क्षणं न सहते यमः।। (95)

मैं आज नहीं तो कल व परसों अवश्य ही धर्माचरण धारण करूँगा। इस प्रकार अनेक जन विचार करते हैं परन्तु मृत्यु तो क्षणभर भी धीरज नहीं धरती इसका विचार कोई नहीं करता।

कालक्षेपो न कर्त्तव्यं आयुः क्षीणं दिने दिने।
यमस्य करूणा नास्ति धर्मस्य त्वरिता गतिः।। (96)

अब व्यर्थ ही कालक्षेप करना ठीक नहीं है, क्योंकि आयु क्षण क्षण में बीती जाती है। यमराज को दया नहीं है इस कारण धर्म को शीघ्र ही धारण करना चहिए।

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः।
नित्यं सन्निहितो मृत्युः कर्त्तव्यो धर्मसंग्रहः।। (97)

शरीर अनित्य है, वैभव भी सदा नहीं रहता। मृत्यु सिर पर (घेरा दे) मंडरा रही है इस कारण धर्म का संग्रह शीघ्र ही करना चाहिए।

जीवितं मृत्तकं मन्ये देहिनं धर्मवर्जितं।
मृतो धर्मेण संयुक्तो दीर्घजीवि भविष्यति।। (98)

आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि जो धर्म रहित है मैं उन मनुष्यों को जीवित रहते हुए भी मरा हुआ ही मानता हूँ और जो मनुष्य धर्म सहित मर गया है उसे मैं दीर्घजीवी अर्थात् जीवन ही मानता हूँ।

अल्पबंधक परोपकार भी करणीय

जोण्हाणं णिरवेक्खं सागाराणगारचरियजुजाणं।
अणुकंपयोवयारं कुव्वदु लेवो जदि वि अप्पो।। (251)

यद्यपि अल्प कर्मबंध होता है तथापि शुभोपयोगी पुरुष निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्ग पर चलने वाले श्रावकों की तथा मुनियों की सेवा व उनके साथ दयापूर्वक धर्म प्रेम या उपकार शुद्धात्मा की भावना को विनाश करने वाले प्रसिद्धि पूजा लाभ की इच्छा आदि भावों से रहित होकर करें।

समीक्षा : इस गाथा में कुंदकुंद आचार्य ने एक विकल्पात्मक महत्त्वपूर्ण विषय पर प्रकाश डाला है। उनका कहना है कि जब तक शुद्धोपयोग की प्राप्ति नहीं होता तब तक शुभोपयोग में इच्छापूर्वक उत्साहपूर्वक प्रवृत्ति करो, भले उससे आनुषंगिक रूप में थोड़ा बंध भी क्यों न हो। जैसे कृषक व्यापारी आदि पहले बीज, पूँजी आदि खर्च करते हैं परन्तु उसके फलस्वरूप आगे जाकर अधिक लाभ होता है। यदि पहले बीज या पूँजी के भय से कृषि या व्यापार नहीं किया जायेगा तो अधिक लाभ से वंचित रहना पड़ेगा। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने तीर्थंकरों की स्तुति करते हुए कहा है हे भगवान् ! जो आपकी द्रव्यादि से पूजा करते हैं उन्हें थोड़ा पाप बंध होता है पर वह पाप बंध दोषकारी नहीं है, क्योंकि उससे अधिक पुण्य का संचय होता है। यथा

पूज्यं जिनं त्वार्चयतोजनस्य सावद्यलेशोबहुपुण्यराशौ।
दोषाय नालं कणिका विषस्य न दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ।। 3

हे! भगवान् इन्द्र के द्वारा पूजनीय तथा कर्मरूप शत्रुओं को जीतने वाले मनुष्य के जो सराग परिणति अथवा आरम्भादि जनित थोड़ा सा पाप का लेश होता है वह

बहुत भारी पुण्य की राशि में दोष के लिए समर्थ नहीं है, क्योंकि विष की अल्पमात्रा शीतल एवं आह्लादकारी जल से युक्त समुद्र में दोष सम्पन्न करने वाली नहीं है।

धर्म निर्मूलं विध्वंस सहन्ते न प्रभावका।
बिना सावद्य लेशेन न स्यात्धर्मप्रभावना।।

धर्म निर्मूल विनाश को धर्मवीर, कर्त्तव्यनिष्ठ, धर्मप्रभावक, तेजस्वी व्यक्ति सहन नहीं करते हैं। धर्म की प्रभावना के लिए निर्मल भावना से कार्य करते हुए आनुषंगिक रूप से जो पाप बंध हो जाता है वह दोषकारक नहीं होता है। उदाहरण के लिए मन्दिर बनाने, मूर्ति बनाने, तीर्थयात्रा, आहार दान देने में, पंचकल्याण पूजादि में अवश्य ही कुछ न कुछ पाप बंध होता ही है। पर वह पाप पुण्य के समक्ष अत्यन्त अल्प होने के कारण नहीं के बराबर है। इसका मुख्य कारण है भाव। भाव से ही पाप बंध, पुण्य बंध एवं निर्जरा होती है। एक धीवर मछली पकड़ने के लिए दिनभर जलाशय में जाल बिछाता है परन्तु एक भी मछली पकड़ नहीं पाता तथापि वह पापी है। कृषक के द्वारा खेत में काम करते करते लाखों करोड़ों जीव मरने के बाद भी धीवर के जैसा पापी नहीं है।

सेवा वैयावृत्ति हेतु सुयोग्य समय

रोगेण वा छुधाए तण्हाए वा समेण वा रुढं।
दिट्ठा समणं साहू पडिवज्जदु आदसत्तीए।। (252)

जो रत्नत्रय की भावना से अपनी आत्मा को साधता है वह साधु है। ऐसा साधु दूसरे श्रमण को जीवन मरण, लाभ-अलाभ आदि में संभावना को रखने वाला है ऐसे साधु को रोग से पीड़ित देखकर, जो रोग अनाकुलतारूप परमात्मस्वरूप से विलक्षण आकुलता को पैदा करने वाला है, या भुख प्यास से निर्बल जानकर या मार्ग की थकान से वा मास, पक्ष आदि उपवास की गर्मी से असमर्थ समझकर अपनी शक्ति के अनुसार उसकी सेवा करें। तात्पर्य यह है कि अपनी आत्मा की भावना के घातक रोग आदि के अवसर पर वैयावृत्य करना साधु का कर्त्तव्य है तथा शेषकाल में अपना चारित्र पाले।

समीक्षा : वैयावृत्य या सेवा करना श्रावक का श्रेष्ठ कर्त्तव्य होते हुए भी यह सेवा अयोग्य समय में अयोग्य व्यक्ति को नहीं करनी चाहिए। क्योंकि अयोग्य समय में अयोग्य व्यक्ति के लिये की गई सेवा यथार्थ नहीं है 'निकी के फीकी लगे

बिना अवसर की बात' अर्थात् अच्छे कार्य भी अयोग्य समय में फिके हो जाते हैं जैसे जिसका पेट भरा है उसे बलपूर्वक भोजन करने वाले के लिए घातक हो जाता है। इस प्रकार जो स्वस्थ्य है और जिनको सेवा की आवश्यकता नहीं है उसकी सेवा करना मानो सेव्य एवं सेवकों के लिय घातक है क्योंकि इसमें दोनों का समय अपव्यय होता हैं एवं शक्ति का दुरुपयोग भी होता है। जो अस्वस्थ्य हैं उसकी सेवा करनी चाहिए।

सेवार्थ लौकिक जनों के साथ संभाषण विधेय

वेज्जावच्चणिमित्तं गिलाणगुरुबालवुढ्डसमणाणं।
लोगिगजणसंभासा ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा।। (253)

(वा) अथवा (गिलाणगुरुवालबुड्ढसमणाणं) रोगी मुनि गुरु अर्थात् स्थूलकाय मुनि या पूज्य मुनि, बालक मुनि तथा वृद्ध मुनि की (वेज्जावच्चणिमित्त) वैयावृत्य के लिए (सुहोवुदा) शुभोपयोग मुनि को (लोगिगजणसंभासा) लौकिक जनों के साथ भाषण (णिंदिदा ण) निषिद्ध नहीं है।

समीक्षा : श्रमण का एक विशेषण मुनि भी है अर्थात् जो मौनपूर्वक आत्मसाधना में लवलीन रहता है उसे मुनि कहते हैं। अधिक वार्तालाप करने से राग द्वेष की उत्पत्ति हो सकती है। मन विक्षिप्त हो सकता है, मन एवं शक्ति का दुरुपयोग हो सकता है। इसलिए श्रमणों के लिए (1) सत्य धर्म (2) सत्य महाव्रत (3) भाषा समिति (4) वचन गुप्तिरूपी चार-चार मर्यादाओं की सीमाओं में मर्यादित किया गया है। श्रमण को किस प्रकार किस तरह से कैसे वार्तालाप करनी चाहिए इसका वर्णन वीरनंदी आचार्य से सिद्धान्तसार में किया है -

उक्तिः कार्यो सहाचार्यैः कार्यार्थं शेषवयोगिभिः।
न मिथ्यादृष्टिभिर्भाज्या श्रावकैः स्वजनैश्च सा।। (69)

मुनि आचार्य के साथ वार्तालाप कर शेष मुनि के साथ कोई कार्य विशेष हो तो वार्तालाप करें। मिथ्यादृष्टियों के साथ कभी भी वार्तालाप न करें। जिन धर्मावलम्बी श्रावकों के साथ कभी किसी कार्यवश बात करें और निष्प्रयोजन कभी भी वार्तालाप न करे।

तथापि कुंदकुन्द देव ने इस गाथा में सेवा के लिए लौकिक जन के साथ

संभाषण के लिए निषेध नहीं किया है। इससे सिद्ध होता है कि सेवा के लिए लौकिक जन से संभाषण भी दोषकारक नहीं है। अतः पारिशेष न्याय से सिद्ध होता है कि सेवा श्रमण एवं श्रावक के लिए महान्तम कार्य है। प्रायश्चित शास्त्र में तो यहाँ तक लिखा है कि अति रोगी साधु के लिए चिकित्सा करने जब विशेष वैद्य आता है तब आचार्य श्री खड़े हो जाते हैं। उपर्युक्त सिद्धान्त कुछ विरोधाभास प्रतीत होता है, परन्तु यह विरोधाभास नहीं है क्योंकि अकारण साधु कोई कार्य नही करते, परन्तु धार्मिक जनों की रक्षा के लिए धर्म की प्रभावना के लिए द्रव्य, क्षेत्र काल भाव को देखकर सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र में दोष न लगे ऐसी क्रियाएँ करते हैं।

सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको: विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रत दूषणम्।।

निःसन्देह जैन धर्मानुयायियों के वे समस्त विधि विधान प्रमाण है जिससे उनका सम्यक्त्व नष्ट नहीं होता है और चारित्र दूषित नहीं होता।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि साधु सेवा के लिए लौकिक जन संभाषण दूषण नहीं परन्तु भूषण है। इसके छल से कोई यदि व्यर्थ अनर्गल, अनावश्यक लौकिक जन से सम्भाषण करना तो दूर रहे धार्मिक जन से भी सम्भाषण करेगा तो वह अयोग्य और शिथिलाचार का पोषक होगा। वर्तमान काल में साधु रात को नहीं बोलते यह अति उत्तम हैं क्योंकि रात में सूक्ष्म जीवों का संचार अधिक होता है जिससे जीवों की हिंसा हो सकती है तथा ध्यान, अध्ययन, मनन चिंतन में बाधा पहुँच सकती है। परन्तु आवश्यकवशतः धार्मिक कार्य के लिए कदाचित् कोई बोलता है तो विशेष दोषकारक नहीं है।

शुभोपयोग श्रावकों के लिए मुख्य एवं श्रमणों के लिए गौण

एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं।
चरिया परेत्ति भणिदा ता एवं परं लहदि सोक्खं।। (254) प्र.सा.

तपोधन दूसरे साधुओं की वैयावृत्य करते हुए अपने शरीर के द्वारा जो कुछ भी वैयावत्य करते हैं यह पापारम्भ व हिंसा से रहित होती है तथा वचनों के द्वारा धर्मोपदेश करते हैं। शेष औषधि, अन्नपान आदि की सेवा गृहस्थों के अधीन है इसलिए वैयावृत्य गृहस्थों का मुख्य धर्म हैं। किन्तु साधुओं का गौण है। दूसरा कारण यह है कि विकार रहित चैतन्य के चमत्कार की भावना के विरोधी तथा

इन्द्रिय विषय और कषायों के निमित्त से पैदा होने वाले आर्त्त और रौद्र ध्यान में परिणमने वाले गृहस्थों को आत्माधीन निश्चय धर्म के पालने का अवकाश नहीं है। यदि वे गृहस्थ वैयावृत्यादि रूप शुभोपयोग धर्म से वर्तन करें तो खोटे ध्यान से बचते हैं तथा साधुओं की संगति से गृहस्थों को निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्ग के उपदेश का लाभ हो जाता है, इससे ही वे गृहस्थ परम्परा से निर्वाण को प्राप्त करते हैं ऐसा गाथा का अभिप्राय हैं।

समीक्षा : इस गाथा में कुन्द-कुन्द देव ने कहा है कि भले गृहस्थ एवं श्रमण दोनों शुभोपयोग में रहते हैं तथापि शुभोपयोग क्रियाओं की मुख्यता श्रावकों की रहती है। शुभोपयोग चतुर्थ गुणस्थान से लेकर श्रेणी आरोहण से पहले तक मुख्यतया से रहता है। तथापि सप्तम गुणस्थान में अधिक शुभोपयोग रहता है। परन्तु शुभोपयोग की क्रियाएँ 5वें गुणस्थान (श्रावक) में अधिक होती है। भले पंचम गुणस्थान में सम्यग्दर्शन और एक देश चारित्र भी है तथापि चारित्र मोहनीय कर्म के तीव्र उदय से वह सर्वविरति को प्राप्त नहीं हो पाता है जिसके कारण गृह में रहकर असि, मसि, कृषि, गृहादि कार्य एवं विषयभोग भी करता है जिससे वह विशेष पापास्रव करता है। उस पाप को धोने के लिए वह वैयावृत्ति आदि विशेष रूप में करता है। कहा भी है

त्याज्यानजस्त्रं विषयान् पश्यतोऽपि जिनाज्ञया।
मोहात्यक्तुमशक्तस्य गृहिधर्मोऽनुमन्यते।।

जिसके मिथ्यात्व कर्म का नाश हो गया है और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो गई है, उस सम्यग्दर्शन के प्रभाव से जिसको हेयोपादान का ज्ञान हो गया है, जिससे वह सम्यग्दृष्टि भगवान् जिनेन्द्रदेव की आज्ञा से सांसारिक पंचेन्द्रिय विषयों को निरन्तर हेय समझता है/दुःख का कारण मानता है, मिथ्यादृष्टि के समान सांसारिक विषयभोगों में लीन/तल्लीन नहीं होता। तथापि प्रत्याख्यानावरण लक्षण चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से उसको छोड़ने में असमर्थ है ऐसे भव्य जीवों को आचार्यों ने गृहस्थ धर्म पालन का उपदेश दिया है।

... दाणु ण दिण्णउ मुणिवरहु ण वि पूज्जिउ जिण णाहु।
पंच ण वंदिय परम गुरु किमु होसइ सिव लाहु।।

आहार, औषध, शास्त्र और अभयदान ये चार प्रकार के दान भक्तिपूर्वक पात्रों को नहीं दिये अर्थात् निश्चय व्यवहार रत्नत्रय के आराधक जो यति आदिक को चार

प्रकार का दान भक्ति कर नहीं दिया। इंद्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र आदि द्वारा पूज्य केवलज्ञानादि अनन्तगुणों से पूर्ण जिननाथ की पूजा नहीं की। जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल से पूजा नहीं की। और तीन लोक द्वारा वन्दने योग्य ऐसे अरहंत सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय साधु इन पंच परमेष्ठियों की आराधना नहीं की। सो हे जीव! इन कार्यों के बिना तुझे शिव का लाभ कैसे होगा ? क्योंकि मोक्ष की प्राप्ति के ये ही उपाय है। जिनपूजा, पंच परमेष्ठी की वंदना और चार संघ को चार प्रकार दान इन बिना मुक्ति नहीं हो सकती। कुंदकुंद देव ने बारस अणुपेक्खा में कहा है-

पुत्त कलत्तणिमित्तं, अत्थं अज्जयदि पाव बुद्धिए।
परिहरदि दयादाणं सो जीव भमदि संसारे।।

यह संसारी जीव पुत्र और स्त्री के निमित्त से पाप बुद्धि से कमाता है तथा दया और दान को छोड़ देता है। वह जीव संसार में भ्रमण करता है।

जो गृहस्थ व्यापार में भोग-राग में विषय वासना में लिप्त होता हुआ भी श्रावक योग्य दान पूजादि धर्म को नहीं करता तथा एकांत आध्यात्मिक वाद का सहारा लेकर श्रावक योग्य क्रियाओं से पुण्य बंध होता है और पुण्य संसार का कारण मानकर पुण्य क्रिया से रहित हो पाप क्रियाओं में रत रहता है उसके लिए देवसेनाचार्य ने भाव संग्रह में निम्न प्रकार कहा है -

मुक्खं धम्मज्झाणं उत्तं तु पम्मायविरहिए ठाणे।
देस विरए पंभते उवयारेणेव पायव्वं।।

यह धर्मध्यान मुख्यतया से प्रमाद से रहित सातवें गुणस्थान में होता है तथा देशविरत पाँचवें गुणस्थान में और प्रमत्त संयम छठे गुणस्थान में यही धर्मध्यान उपचार से होता है।

एवं तं सालंबं धम्मज्झाणं हवेइ नियमेण।
इयंताणं जायइ विणिज्जरा असुहकम्माणं।।

इन पंचपरमेष्ठियों का ध्यान नियम पूर्वक आवलम्बन सहित धर्मध्यान कहलाता है। इन पाँचों परमेष्ठियों का ध्यान करने से अशुभ कर्मों की विशेष निर्जरा होती है।

जो भणइ को वि एवं अत्थि गिहत्थाण णिच्चलं झाणं।
सुद्धं च णिरालंवं ण मुणइ सो आयमो जइणो।।

यदि कोई पुरुष यह कहे कि गृहस्थों के भी निश्चल, निरालंब और शुद्ध ध्यान होता है तो समझना चाहिए कि इस प्रकार कहने वाला मनुष्य मुनियों के शास्त्रों को ही नहीं मानता है।

किं जं सो गिहवंतो बहिरंतगंथपरमिओ णिच्चं।
वहु आरम्भपउत्तो कइ झायइ शुद्धप्पाणं।।

गृहस्थों के मुख्य धर्मध्यान न होने के कारण यह है कि गृहस्थों के सदाकाल बाह्य आभ्यंतर परिग्रह परिमित रूप से रहते हैं तथा आरंभ भी अनेक प्रकार के बहुत से होते हैं इसलिए वह शुद्ध आत्मा का ध्यान कभी नहीं कर सकता।

घर बाबारा केइ करणीया अत्थि तेण ते सव्वे।
झाणट्ठियस पुरओ चिट्ठंति णिमीलियच्छिस्स।।

गृहस्थों को घर के कितने ही काम करने पड़ते हैं। जब वह गृहस्थ अपने नेत्रों को बन्द कर ध्यान करने बैठता है तब इसके सामने घर के करने योग्य सब व्यापार स्मरण में आ जाते हैं।

अह ढिंकुलियां झाणं झायइ अहवा स सोवए झाणी।
सोवंतो झायव्वं ण ठाण चित्तम्मि वियलम्मि।।

जो कोई गृहस्थ शुद्ध आत्मा का ध्यान करना चाहता है तो उसका वह ध्यान ढेकी के समान होता है। जिस प्रकार ढेंकी धान कूटने में लगी रहती है परन्तु उससे उसका कोई लाभ नहीं होता उसको तो परिश्रम मात्र ही होता है। इसी प्रकार गृहस्थों का निरालंब ध्यान या शुद्ध आत्मा का ध्यान परिश्रम मात्र होता है अथवा शुद्ध आत्मा का ध्यान करने वाला गृहस्थ उस ध्यान के बहाने सो जाता है। वह सो जाता है तब उसके चित्त में वह ध्यान करने योग्य शुद्ध आत्मा कभी ठहर नहीं सकती। इस प्रकार किसी भी गृहस्थ के शुद्ध आत्मा का निश्चल ध्यान कभी नहीं हो सकता।

झाणणं संताणं अहवा जाएइ तस्स झाणस्य।
आलंवण रहियस्स य ण ठाइ चित्तं थिरं जम्हा।।

अथवा वह सोता नहीं तो उसके ध्यानों की संतान रूप परम्परा चलती रहती है। इसका भी कारण यह है कि निरालंब ध्यान करने वाले गृहस्थ का चित्त कभी भी स्थिर नहीं रह सकता।

तम्हा सो सालंवं झायउ झाणं पि गिहवई णिच्चं।
पंच परमेष्ठिरूप अहवा मंतक्खरं तेसिं।।

इसलिए गृहस्थों को सदा काल आलंबन सहित ध्यान धारण करना चाहिए। या तो उसे पंचपरमेष्टि का ध्यान करना चाहिए अथवा पंच परमेष्टि के वाचक मंत्रों का ध्यान करना चाहिए।

अहिंसा के लिये अतिथि संविभाग व्रत

विधिना दातृगुणवता, द्रव्यविशेषस्य जातरूपाय।
स्व-पराऽनुग्रह हेतोः कर्त्तव्यऽवश्यमतिथये भागः।। 167

वर्तमान अतिथि संविधान व्रत का कथन कर रहे हैं। सप्त गुणों से युक्त होकर नवधा भक्ति से सहित होकर योग्य भोजनादि द्रव्य को जात रूप धर ऐसे निर्गंन्थ अतिथि साधुओं के लिये संविभाग करके देना अतिथि संविभाग है। यह अतिथि संविभाग अवश्य करणीय है। स्वपर अनुग्रह के लिये अर्थात् निज पर सुख के लिये अतिथि संविधान को करना जरूरी है। यही इसका भावार्थ है। संयम में बिना दोष लगाते हुए जो भोजन के लिये गमन करते हैं उन्हें अतिथि कहते हैं। अथवा जिनकी प्रतिपदा द्वितीया आदि कोई तिथि निश्चत नहीं है उन्हें अतिथि कहते हैं। अर्थात् जिस प्रकार श्रावक तिथि के अनुसार व्रतादि करता है उसी प्रकार साधु के लिये ऐसी बाध्यता नहीं है। अतिथि के लिये समीचीन भाग अर्थात् स्व विशिष्ट भोजन को अतिथि के लिये प्रदान करना अतिथि संविभाग है। वह अतिथि संविभाग चार प्रकार का है।

(1) आहार दान (2) उपकरण दान (3) औषध दान (4) आवास दान।

उसमें से जो मुनि संयम में तत्पर हैं उन्हें निर्दोष भिक्षा देना चाहिये। रत्नत्रय के वर्द्धक पिच्छी, कमंडल, पुस्तक आदि धर्म उपकरण का प्रदान साधुओं के लिये करना चाहिये। शारीरिक सामर्थ्य को बढ़ाने वाली तथा रोग को दूर करने वाली औषधि का दान देना चाहिये। मुनियों के रहने के लिये आवास का दान देना वसतिका दान है।

ऐहिक कामना सहित दान निरर्थक

जंतं मंतं तंतं परिचरियं पक्खवाय पियवयणं।
पडुच्च पंचमकाले भरहे दाणं ण किं पि मोक्खस्स।। (28) रयण.

अन्वयार्थ - (जंतं) यंत्र (मंतं) मन्त्र (तंतं) तन्त्र (परिचरियं) परिचर्या (पक्खवायं) पक्षपात (पियवयणं) प्रिय मृदुवचन (भरहे) भरत क्षेत्र में (पंचमकाले) पञ्चम काल में (पडुच्च) प्रतीति (किमपि) कुछ भी (दाणं) दान (मोक्खस्स) मोक्ष के लिए (ण) नहीं है।

पद्यभावानुवाद -

यंत्र-मंत्र-तंत्र परिचर्या पक्षपात व प्रियवचन।
प्रतीति पंचम काल में भरत में जो होते वे नहीं मोक्ष कारण।। (1)

समीक्षा व शिक्षा -

सम्प्रति पंचमकाल में जो करते हैं स्वार्थ व पक्षपात से।
दान से ले प्रिय वचन वे सभी करते यंत्र-मंत्र तंत्रादि कारण से।।(2)

ऐसे दानादि न होते मोक्ष हेतु स्वार्थ व पक्षपात युक्त से।
ये तो व्यापार व विनिमय सम अतः यह न होते मोक्ष हेतु।। (3)

इससे महान् शिक्षा मिले धर्म होता निस्वार्थ-निष्पक्ष।
लौकिक कामना व लेन देन परे आत्म विशुद्धि से परम मोक्ष।। (4)

दानी को दरिद्रता, लोभी का ऐश्वर्य क्यों ?

दाणीणं दालिद्दं लोहीणं किं हवेइ महाइसरियं।
उहयाणं पुव्वज्जियकम्मफलं जाव होइ थिरा।। (29) रयण.

अन्वयार्थ - (दाणीणं दालिद्दं) दानी पुरुषों को दारिद्रय (लोहीणं महाइसरियं) लोभी पुरुष के महा ऐश्वर्य (किं) क्यों (हवेइ) होता है। (उहयाणं) दोनों के (पुव्वज्जिय) पूर्वोपार्जित (कम्मफलं) पुण्य-पाप कर्म का फल है। (जाव थिरा) जानकर स्थिर (होइ) होता है।

पद्यभावानुवाद-

दानी भी होते हैं दरिद्र, लोभी भी होते हैं सम्पन्न।
ये हैं पूर्वार्जित कर्मफल, यह जानकर करणीय सदा पुण्य।। (1)

समीक्षा व शिक्षा -

पूर्वार्जित कर्म फल से दानी भी हो सकते हैं दरिद्र।

तथाहि लोभी हो सकते सम्पन्न अतएव सदा करणीय पुण्य।। (2)

इससे शिक्षा मिलती है दान का फल नहीं है दरिद्र।
लोभ का फल नहीं सम्पन्नता ये हैं पूर्वार्जित कर्म।। (3)

अतएव सदा पालनीय धर्म, धर्म से ही मिले शाश्वत सुख।
लोभादि पाप कर्म तो किंपाक फल सम अतएव त्यजनीय पाप कर्म(4)

सुख-दुःख का कारण

धण धण्णाइ समद्धिं सुहं जहा होइ सव्वजीवाणं।
मुणिदाणाइ समद्धिं सुहं तहा तं विणा दुक्खं।। (30) रयण.

अन्वयार्थ - (जहा) जहाँ पर (धण धण्णाइ समद्धिं) धन धान्यादिक की समृद्धि होने पर (सव्वजीवाणं सुहं) सभी जीवों को सुख(होइ) होता है (तहा) उसी प्रकार (मुणिदाणाइ समद्धिं) मुनियों के लिए दिया हुआ दान सब ऐश्वर्य समृद्धि के लिए कारण होता है (सुहं) सुख प्राप्त होता है (तं विणा दुक्खं) उसके बिना दुःख होता है।

पद्यभावानुवाद-

यथा-धन-धान्य समृद्धि से होते हैं सभी जीव सुखी।
तथा मुनिदान से समृद्धि मुनि दान बिना तथा दुःखी।। (1)

समीक्षा व शिक्षा -

धन-धान्य भी मिले पुण्य से मुनिदान से पुण्य मिले।
अतएव धन-धान्य व पुण्य हेतु मुनिदान सदा करणीय।।(2)

इससे शिक्षा मिले अंत्योदय से ले सर्वोदय तक।
पुण्य/(धर्म) से प्राप्त होते हैं अतः करणीय सदा धर्म।। (3)

संदर्भ :-

पापाद् दुःखं धर्मात्सुखमिति सर्वजनसुप्रसिद्धमिदम्।
तस्माद्विहाय पापं चरतु सुखार्थी सदा धर्मम्।। (8) (आत्मानुशासन)

Demerit produces pain, happiness follows Truth(Dharma) This is well-known to all. Therefore, the man who desires happiness should always refrain from demerit(and) follow Dharma.

पाप से दुःख और धर्म से सुख होता है, 'यह बात सब जनों(जन सामान्य) में प्रसिद्ध है' इसे सब ही जानते हैं। इसलिये जो भव्य प्राणी सुख की अभिलाषा करता है, उसे पाप को छोड़कर निरन्तर धर्म का आचरण करना चाहिये।

सुखितस्य दुःखितस्य च संसारे धर्म एव तव कार्य।
सुखितस्य तदभिवृदहरौ दुःख भुजस्तदुयघाताय।। (18)

Whether happy or miserable in this world, thou must exercise piety, if happy to increase the happiness and if miserable to remove the misery.

हे जीव! तू चाहे सुख का अनुभव कर रहा हो और चाहे दुःख का, किन्तु संसार में इन दोनों ही अवस्थाओं में तेरा एकमात्र कार्य धर्म ही होना चाहिए। कारण यह है कि वह धर्म, यदि तू सुख का अनुभव कर रहा है तो, तेरे उस सुख की वृद्धि का कारण होगा, और यदि तू दुःख का अनुभव कर रहा है तो वह धर्म तेरे उस दुःख का विनाश का कारण होगा।

उपरोक्त मुनिराज के संबोधन से दोनों प्रतिबोध को प्राप्त हुए। वेश्यागामी अधर्मात्मा व्यक्ति तथा अधर्म से उपार्जित दुर्भाग्य का कष्टप्रद फल जानकर पाप से भयभीत होकर पाप का त्याग कर धर्म कर्म में रुचि लेने लगा। धर्मात्मा व्यक्ति धर्म का फल एवं पाप का फल गुरुमुख से सुनकर और अधिक धर्मनिष्ठ होकर धार्मिक कार्यों में तत्पर हो गया।

कबीरदास ने कहा है -

दुःख में सुमिरन सब करें, सुख में करे न कोय।
जो सुख में सुमिरन करें, तो दुःख काहे को होय।।

साधारणतः जीव दुर्भाग्य के कारण जिस समय में अनेक प्रकार के दुःख संकटों से गुजरता है, उस समय में धर्म का स्मरण करता है। परन्तु सुख सुविधाओं के अनुभव करते समय धर्म को भूल जाता है, जिसके कारण पुण्य-क्षय के पश्चात् पुनः अनेक प्रकार की आपत्तियों -विपत्तियों का सामना करना पड़ता है। परन्तु सुख-सुविधाओं के समय में यदि धर्माचरण करता है तब उसे कभी भी मुसीबतों का सामना नहीं करना पड़ता क्योंकि धर्माचरण से जो पुण्य संचय होता है, उस पुण्य से भविष्य में सुख की प्राप्ति होती है। धर्माचरण के समय में मन

प्रसन्न, भाव प्रशस्त होने के कारण मानसिक शांति से सुख मिलता है। इसलिये धर्म-पुरुषार्थ के फलस्वरुप सौभाग्य से भविष्य में सुख मिलता है। अधर्म से तात्कालिक मानसिक दुःख, लोक निन्दा, प्रताड़ना मिलती है और भविष्यत् काल में उसके फलस्वरुप दुर्भाग्य से अनेक शारीरिक, मानसिक दुःख मिलते हैं।

प्रत्यक्ष से संसार में देखने में आता है कि कभी-कभी धर्मात्मा पुरुषों को शारीरिक एवं भौतिक दुःखों की प्राप्ति होती है। कभी-कभी पापी शारीरिक एवं भौतिक सुखों का अनुभव करता हुआ दृष्टिगोचर होता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि जो धर्मात्मा धर्म कर रहा है उसके फलस्वरुप उसको दुःख हो रहा है। परन्तु पूर्वोपार्जित दुर्भाग्य (दुर्दैव) का फल अनुभव कर रहा है।

भाग्य (दैव) की प्रचण्डशक्ति

प्रत्येक जीव स्वभावतः प्राकृतिक रूप से अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य का स्वामी हैं। स्वभाव का कभी अभाव नहीं होता है, तो भी संसार अवस्था में जीव अनन्त दुःख, अज्ञान का अनुभव करता है। यहाँ पर प्रश्न होना स्वाभाविक है कि अनन्तज्ञान सुखादि गुण तिरोभाव क्यों एवं कैसे हुए ? इस प्रश्न का प्रत्युत्तर आध्यात्मिकयोगी कुन्दकुन्दाचार्य समयसार में देते हैं -

सो सत्वणाणदरिसी कम्मरयेण णियेणांवच्छण्णो।
संसारसमावण्णो णावि जाणदि सत्वदो सत्वं।। (167)

आत्मा स्वभाव से ही वस्तु मात्र का जानने वाला देखने वाला है, फिर भी वह अपनी कर्मरूपी रज से आच्छादित है। अतः संसार को प्राप्त होता हुआ सर्व प्रकार से सम्पूर्ण वस्तुओं को जान नहीं रहा है।

The self who is by nature all-knowing and all perceiving when soiled by his own karmas is dragged on towards samsara the cycles of births and deaths and becomes incapable of knowing all things completely.

अनन्तशक्ति सम्पन्न जीव को पराभूत करने वाला प्रतिपक्ष द्रव्य भी अनन्तशक्ति सम्पन्न होना चाहिए, क्योंकि कम शक्ति से अधिक शक्ति को पराभूत करना सम्भव नहीं है। इसलिए जीव के उपादानभूत अनन्तगुण को घात करने वाला निमित्त भूत कर्म भी अनन्तशक्ति सम्पन्न है। परमात्मप्रकाश में श्री योगेन्द्रदेव 'कर्मशक्ति' का वर्णन करते हुए बताते हैं -

कम्मइँ दिढ़-घण चिक्कणइँ गरूवइँ वज्जसमाई।
णाण-वियक्खणु जीवड़उ उप्पहि पाड़हिं ताइँ।। (78)

कम्मं णामसमक्खं सभावमध अप्पणो सहावेण
अभिभूय णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि।। (117)

(अथ) अब, (नामसमायख्यं कम्म), 'नाम' संज्ञावाला कर्म (स्वभावेन) अपने स्वभाव से (आत्मनःस्वभावं अभिभूय) जीव के स्वभाव का पराभव करके (नरं तिर्यञ्च नैरयिकं वा सुरं) मनुष्य, तिर्यञ्च, नरक अथवा देव(इन पर्यायों) को (करोति) करता है।

जैसे अग्नि कर्त्ता होकर तेल के स्वभाव का तिरस्कार करके बत्ती के आधार से उस तेल का दीपक की शिखा रूप में परिणमन कर देती है, वैसे ही कर्मरूपी अग्नि कर्त्ता होकर तेल के स्थान में शुद्धात्मा के स्वभाव का तिरस्कार करके बत्ती के समान शरीर के आधार से उसे दीपक की शिखा के समान नर नारकादि पर्यायों के रूप से परिणमन कर देती है। इससे जाना जाता है कि मनुष्यादि पर्यायें निश्चय से कर्मजनित है।

नरनारकतिर्यक् सुरा जीवाः खलु नामकर्म निर्वृत्ताः।
न हिं ते लब्धस्वभावाः परिणममानाः स्वकर्माणि।। (118)

(नरनारकतिर्यक् सुराः जीवाः) मनुष्य, नारक, तीर्यंच और देव रूप जीव (खलु) वास्तव में (नामकर्मनिवृत्ताः) नाम कर्म से निष्पन्न है। (हि) वास्तव में (ते) वे जीव (स्वकर्माणि) अपने-अपने उपार्जित कर्मरूप (परिणममानाः) से परिणत होते हुए। (न लब्धस्वभावाः) चिदानन्द स्वभाव को प्राप्त नहीं होते।

जीवो आणाइ-णिहणो परिणममाणो हु णव-णवं भावं।
सामग्गीसु पवट्टदि कज्जाणि समासदे पच्छा।। (231)

जीव द्रव्य अनादि निधन है। किन्तु वह नवीन नवीन पर्यायरूप परिणमन करता हुआ प्रथम तो अपनी सामग्री से युक्त होता है, पीछे कार्यों को करता है।

जीव द्रव्य अनादि और अनन्त है अर्थात् न उसकी आदि है और न अन्त है। परन्तु अनादि अनन्त होते हुए भी वह सर्वथा नित्य नहीं है, किन्तु उसमें प्रति समय नई नई पर्याय उत्पन्न होती रहती है। नई-नई पर्यायों को उत्पन्न करने के लिए प्रथम वह जीव द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव आदि रूप सामग्री से युक्त होता

है फिर नई-नई पर्यायों को उत्पन्न करता है। जैसे, कोई जीव देव पर्यायरूप परिणमन करने के लिये पहले समीचीन व्रतों का धारण, सामयिक, धर्मध्यान आदि सामग्री को अपनाता है पीछे वर्तमान पर्याय को छोड़कर देव पर्याय धारण करता है। कोई जीव नारकी अथवा तिर्यंच पर्यायरूप परिणमन करने के लिए पहले सात व्यसन, बहुत आरम्भ, बहुत परिग्रह, मायाचार कपट छल दंभ वगैरह सामग्री को अपनाता है, पीछे नारकी अथवा तिर्यंच पर्याय धारण करता है। इस तरह अनादि निधन जीव में भी कार्यकारणभाव बन जाता है।

पात्र-अपात्र का विवेक आवश्यक

पत्त विणा दाणं य सुपुत्त विणा बहुधनं महाखेत्तं।
चित्त विणा वय गुण चारित्तं णिक्कारणं जाणे।। (31) रयण.

अन्वयार्थ (पत्त विणा दाणं) सत्पात्र के बिना दान (सुपुत्त विणा बहुधणं महाखेत्तं) सुपुत्र बिना अपार धन महाक्षेत्र (य) तथा (चित्तविणा) सम्यक्त्व भाव के बिना (वय गुण चारित्तं) व्रत गुण चारित्र धारण करना (णिक्कारणं) सब निरर्थक (जाणे) जानो।

पद्य- सुपात्र बिना दान होता है यथा सुपुत्र बिन बहु धन-धान्य।
उत्तम भाव बिन व्रत गुण चारित्र होते हैं सभी निरर्थक ।। (1)

समीक्षा- कुपात्र को दिया हुआ दान तथा सुपुत्र बिना वैभव।
होते हैं सभी निरर्थक यथा सुभाव बिन व्रत गुण चारित्र।।(2)

इससे मिलती है महान् शिक्षायें सुपात्र को ही दान देय।
सुपुत्र को ही धन देय सुभाव से ही व्रत-गुण-चारित्र पालनीय(3)

निर्माल्य द्रव्य के भोग का दुष्परिणाम

जिण्णुद्धार पतिट्ठा जिणपूजा तित्थवंदण विसयं धणं।
जो भुंजइ सो भुंजइ जिणदिट्ठं णरयगय दुक्खं।। (32) रयण.

अन्वयार्थ :- (जिण्णुद्धार) जीर्णोद्धार (पतिट्ठा) प्रतिष्ठा (जिणपूजा) जिनपूजा(तित्थ वंदना) तीर्थक्षेत्र वन्दना (विसयं) विषय में (धणं) दान दिया गया धन (जो) (भुंजइ) खा लेता है (स) वह मनुष्य (नरयगइदुक्खं) नरकगति के दुःखों को (भुंजइ) भोगता है (जिणदिट्ठं) ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा।

पद्य- जीर्णोद्धार प्रतिष्ठा जिनपूजा तीर्थ वन्दना के धन।
जो खाता वह भोगता है जिनोक्त नरक गति दुःख।। (1)

समीक्षा- दान-पूजादि निमित्त देय दान तथाहि धार्मिक सम्पत्ति।
वे सब ही निर्माल्य द्रव्य उसे खाने से पाते दुर्गति।। (2)

केवल नहीं है पूजा में प्रयोग किया गया द्रव्य निर्माल्य द्रव्य।
किन्तु समस्त धार्मिक द्रव्य होते हैं निर्माल्य द्रव्य जो अग्राह्य।। (3)

इससे शिक्षा मिले कोई भी धार्मिक धन नहीं है ग्रहणीय।
रूढ़ि से पूजा द्रव्य को ही मानकर धार्मिक धन नहीं ग्रहणीय।। (4)

परस्त्रीगमनं नूनं देवद्रव्यस्य भक्षणं।
सप्तमं नरकं यांति प्राणिनो नात्र संशयः।। (प्र.चा.)

परस्त्री सेवन करने से और देव द्रव्य को हजम कर जाने से मनुष्य सातवें नरक को प्राप्त होता है। यदि समस्त पाप एक तरफ रक्खे जावें और परस्त्रीसंगम रूप पाप दूसरी बाजू रक्खा जाए,तो पर दारा सेवन का पाप समस्त पापों की अपेक्षा वजनदार निकलेगा, ऐसा शास्त्रों में लिखा हैं।

सन्दर्भ :

पुण्य की प्राप्ति और पूर्वोपार्जित पाप की हानि होगी, इसलिये पात्रदानादि करने के लिए धन कमाना चाहिये, नौकरी खेती आदि करके धन कमाता है, समझना चाहिये, कि वह 'स्नान कर डालूँगा' ऐसा विचार कर अपने शरीर को कीचड़ से लिप्त करता। स्पष्ट बात यह है कि जैसे कोई आदमी अपने निर्मल अंग को स्नान कर लूँगा का ख्याल कर कीचड़ से लिप्त कर डाले, तो वह बेवकूफ ही गिना जायेगा। उसी तरह पाप के द्वारा पहिले धन कमा लिया जाय, पीछे पात्र दानादि के पुण्य से उसे नष्ट कर डालूँगा, ऐसे ख्याल से धन के कमाने में लगा व्यक्ति भी समझना चाहिये। संस्कृत टीका में यह भी लिखा हुआ है कि चक्रवर्ती आदिकों की तरह जिसको बिना यत्न किये हुये धन की प्राप्ति हो जाय, तो वह उस धन से कल्याण के लिये पात्रदानादिक करे तो करे।

''सत्पुरुषों की सम्पत्तियाँ, शुद्ध ही शुद्ध धन से बढ़ती हैं, यह बात नहीं है। देखो, नदियाँ स्वच्छ जल से ही परिपूर्ण नहीं हुआ करती है। वर्षा में गंदले पानी से

भी भरी रहती है।''

उपर्युक्त कारणों से सिद्ध होता है कि पूजक को पहले स्वयं में योग्यता लानी चाहिए। श्रावक के कुछ विशिष्ट गुणों का वर्णन करते हुए कहा भी है -

न्यायोपात्तधनो याजन् गुणगुरुन् सदगीस्त्रिवर्ग भजन्न
न्योन्यानुगुणं तदर्हगृहिणीस्थानालयो हीमयः।
युक्ताहारविहारआर्यसमितिः प्राज्ञः कृतज्ञो वशी
शृण्वन् धर्मविधिं दयालुरघभीः सागारधर्म चरेत्।।

न्यायपूर्वक धन कमाने वाला गुणों,गुरुजनों और गुणों से महान् गुरुओं को पूजने वाला, आदर, सत्कार करने वाला परनिन्दा, कठोरता आदि से रहित प्रशस्त वाणी बोलने वाला, परस्पर में एक दूसरे को हानि न पहुँचाते हुए धर्म, अर्थ और काम का सेवन करने वाला, धर्म, अर्थ और काम सेवन के योग्य पत्नी, गाँव, नगर और मकान वाला, लज्जाशील, शास्त्रानुसार खान-पान और गमनागमन करने वाला सदाचारी पुरुषों की संगति करने वाला, विचारशील, पर के द्वारा किये गये उपकार को मानने वाला, जितेन्द्रिय, धर्म की विधि को प्रतिदिन सुनने वाला, दयालु और पापभीरू पुरुष गृहस्थ धर्म को पालन करने में समर्थ होता है।

उपर्युक्त श्रावकों के गुण में प्रथम गुण है ''न्यायपूर्वक धन कमाना'' श्रावक हेतु गृह में रहता है व्यापार धन्धा करना है इसलिए उसको धन की आवश्यकता पड़ती है। तथापि धनार्जन असत् उपायों से नहीं करना चाहिए।

स्वामिद्रोह, मित्रद्रोह, विश्वासघात, ठगना, चोरी करना आदि निन्दित उपायों से धनोपार्जनरहित तथा अपने-अपने वर्णों के अनुसार सदाचार को न्याय कहते हैं। न्यायपूर्वक धनोपार्जन करना न्यायोपात्तधन कहलाता है। जो पुरुष न्यायपूर्वक धनोपार्जन करता है वही गृहस्थ धर्म धारण करने योग्य है। क्योंकि गृहस्थों की मनोवृत्ति प्रायः कर वित्तोपार्जन में ही लगी रहती है। इसलिये धनेच्छुक मनुष्य यद्वा तद्वा न्याय अन्याय का विचार न करके धनोपार्जन करते हैं। उनकी मनोभूमि एकदेशव्रत पालन करने की तरफ नहीं झुक सकती है। न्यायोपार्जन किया हुआ धन ही इस लोक और परलोक में सुख देने वाला है। सो ही आचार्यों ने कहा है ।

सर्वत्र शुचयो धीराः सुकर्मबलगर्विताः।
स्वकर्मनिहितात्मानः पापाः सर्वत्र शंकिताः।।

जो पुरुष न्याय और उत्तम कर्मों के बलगर्वित हैं वे पुरुष सब जगह प्रत्येक स्थिति में तथा प्रत्येक कार्य में धीर तथा पवित्र रहते हैं। उनको कहीं पर भी किसी प्रकार का भय नहीं होता है। परन्तु जिन्होंने निंद्य तथा नीच कर्मों से अपनी आत्मा को पतित किया है, वे सब शंकित तथा भयभीत हैं। और भी आचार्यों ने कहा है -

अन्यायोपार्जितं वित्त दश वर्षाणि तिष्ठति।
प्राप्ते त्वेकादशे वर्षे समूलं च विनश्यति।। (1)
यांति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यंचोऽपि सहायतां।
अपंथानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति।।(2) सा.ध.

अन्यायपूर्वक उपार्जन किया हुआ धन अधिक से अधिक दश वर्ष तक रह सकता है और ग्यारहवें वर्ष लगने पर मूल सहित नष्ट हो जाता है। न्याय मार्ग पर चलने वाले पुरुषों को तिर्यंच भी सहायता करता है और अन्यायपूर्वक प्रवृत्ति करने वालों का साथ अपना सगा भाई भी छोड़ देता है। दूसरों की तो बात ही क्या है। इसलिये न्यायपूर्वक धनोपार्जन करना चाहिये।

परन्तु वर्तमान में प्रायः दिखाई देता है कि अनेक लोग अनैतिक व्यापार हिंसात्मक व्यापार, निषिद्ध व्यापार आदि करके धन कमाते हैं और उससे दानादि करके धर्म करना चाहते हैं। जैसे कुछ व्यक्ति स्वयं तो शराब नहीं पीते किन्तु शराब की फेक्ट्रियाँ, दुकानें चलाते हैं। कुछ व्यक्ति स्वयं तो बीड़ी नहीं पीते परन्तु बीड़ी की फेक्ट्री में बीड़ी बनवाते हैं व दुकान पर बेचते हैं। कुछ व्यक्ति खुद तो मांस नहीं खाते किन्तु डालडा में चर्बी मिलाकर दूसरों को खिलाते हैं कुछ व्यक्ति स्वयं चर्म निर्मित वस्तुओं का प्रयोग नहीं करते परन्तु चर्म की विभिन्न सामग्रियाँ यथा जूते, चप्पल, बेल्ट,सूटकेस, मनी बैग आदि का निर्माण करके विक्रय करते हैं। वे सोचते हैं कि हम तो स्वयं नहीं खाते प्रयोग में भी नहीं लाते, हम तो केवल धन कमाने के लिये, व्यापार रूप में प्रयोग लाते हैं इसमें हमारा क्या दोष ? परन्तु उन्हें जान लेना चाहिये कि केवल पाप कृत रूप में नहीं होता है परन्तु पाप मनसा, वचसा, कर्मणा, कृत, कारित, अनुमोदना से भी होता हैं। उनका सोचना ऐसा है कि हम विष पीते नहीं पिलाते हैं यह क्या दोषकारक है ? परन्तु विवेक से विचार करने पर सिद्ध होता है कि विष पीने से तो स्वयं की एक ही हत्या होती है परन्तु विष पिलाने से अनेक व्यक्तियों की हत्या होती है। इस प्रकार मांस खाने से, बीड़ी, तम्बाकू आदि नशीली वस्तुओं का सेवन करने से तो स्वयं पाप कमाता है परन्तु

इसके उत्पादन एवं विक्रय करने से तो स्वयं भी पाप कमाता है एवं दूसरों से भी पाप करवाता है, हिंसा करवाता है। इन हिंसात्मक व्यापारों से हिंसा के साथ-2 पर्यावरण भी दूषित हो जाता है। विश्व में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से हिंसा व अत्याचार को प्रोत्साहन मिलता है। इसलिये उपर्युक्त निषिद्ध व्यापार जो करता है वह कभी धार्मिक नहीं हो सकता। प्राचीन धार्मिक साहित्य में अनेक निषिद्ध व्यापारों का वर्णन पाया जाता है। यथा -

व्रतयेत्खरकर्मात्र मलान् पंचदश त्यजेत्।
वृत्तिं वनाग्न्यस्फोटभाटकैर्यत्रपीऽनम्। (21) सागर धर्मामृतम्

प्रभावना - प्रकृष्ट/उत्कृष्ट/उदार/निर्मल/पवित्र/साम्य भाव को प्रभावना कहते हैं। प्रभावना पहले स्वयं में होती है, उसके अनन्तर उसका प्रचार-प्रसार विभिन्न माध्यम से किया जाता है। रत्नत्रय रूपी प्रकाश को पहले स्वयं में प्रकाशित करना चाहिए उसके बाद दूसरों को प्रकाशित करना चाहिए। जैसे जो दीपक स्वयं पहले प्रकाशित होता है वही दीपक दूसरों को प्रकाशित करता है। बुझा हुआ दीपक न स्वयं को प्रकाशित कर सकता है न दूसरों को प्रकाशित कर सकता है। प्रभावना के अनेक कारक/कारण/उपाय होते हैं। जैसे दान, पूजा, उपवास, ज्ञान/उत्सव/सांस्कृतिक कार्यक्रम/रथयात्रा/पंचकल्याणक/वेदी प्रतिष्ठा/तीर्थयात्रा/सत्साहित्य/धार्मिक पत्रिका आदि आदि। परन्तु पवित्र/प्रकृष्ट भावना या महान-उदार उद्देश्य के बिना उपरोक्त कारक/कारण भी वस्तुतः प्रभावना के अंग/उपाय नहीं बन सकते हैं। जैसे अंकुरोत्पत्ति शक्ति से रहित बीज को कितना भी पानी, खाद, औषध देने पर भी उस बीज से अंकुरोत्पत्ति नहीं हो सकती है। अन्तरंग अच्छी भावना से रहित बाह्य प्रभावना की शोभा उसी प्रकार है जिस प्रकार शव-यात्रा की शोभा है। नाम बढ़ाई काम के लिये जो दानादि बाह्य प्रभावना करते हैं उसके कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं -

कुछ व्यक्ति माता-पिता-भाई-बहन की सेवा/सुश्रुषा/व्यवस्था के लिए तो बेपरवाह हैं, यहाँ तक कि अपने ग्राम, नगर में आगत उत्तम पात्र स्वरूप मुनि, आर्यिका आदि को दान-मान-सम्मान नहीं देता है, ग्राम के मंदिर में पूजा, दर्शनादि नहीं करता है वो भी पंचकल्याणकादि में भीड़ देखकर लाखों रूपयों की बोली लेता है।

देवदर्शन तीर्थयात्रा, पूजा, पंचकल्याणकादि का मुख्य उद्देश्य स्वदर्शन, अन्तर्यात्रा, स्वकल्याणक के लिये है। अभी अनेक व्यक्ति धर्मकार्य को धनकार्य, परमार्थ को अर्थोपार्जन उपाय रूप में प्रयोग कर रहे हैं। अभी पंचकल्याणक तो पंचों

के कल्याण (कमेटी वालों की स्वार्थ सिद्धि) रूप में हो रहा है। वहाँ विशेषता, धर्म के नाम पर धन की पूजा, धर्मी के नाम पर धनी की पूजा, प्रभावना के नाम पर बाह्य-आडम्बर, मनमंजन(भाव निर्मल के स्थान पर मनोरंजन (बैण्ड पार्टी, संगीत-नाटक कार्यक्रम के अतिरेक) पंचकल्याण की मूल क्रिया के स्थान पर बोली, धनी व्यक्तियों की मान-सम्मान की क्रिया होती है। धार्मिक कार्य के नाम पर पहले शोषण भी करते हैं और जो यात्री उस कार्यक्रम में आते है उनकी व्यवस्था नहीं करते हैं और व्यवस्था धनी की करेंगे तथा साधारण व्यक्ति की करेंगे तो शोषण करने के लिए। उसी ही प्रकार बड़े-बड़े तीर्थस्थान की भी महिमा है।

जो व्यक्ति बोली में लाखों रूपये खर्च करते हैं वे भी सत्साहित्य प्रकाशन, प्रचार-प्रसार के लिए, बच्चों के धार्मिक संस्कार के लिए, धार्मिक विद्यालय-शिविर के लिए 10-20 रूपये भी दान में नहीं देंगे। मंदिर, धर्मशाला, मूर्तिनिर्माण, पंचकल्याण जरूर करना चाहिए परन्तु इससे भी अधिक आवश्यक है ज्ञान-प्रचार, बच्चों में संस्कार, स्वयं का निर्माण।

आज जैन लोग करोड़ों, अरबों रूपये निर्जीव मूर्ति के भगवान् बनाने में खर्च करते हैं परन्तु हजारों रूपये भी सजीव बच्चों को संस्कार से महामानव या भगवान् बनाने में खर्च नहीं करते हैं। मैं मंदिर, मूर्ति पंचकल्याणक का विरोधी नहीं हूँ, परन्तु व्यर्थ खर्च, बाह्य आडम्बर का अवश्य विरोधी हूँ। कुछ त्यागी-व्रती, आचार्य, उपाध्याय, साधु-साध्वी, और पंडित, प्रतिष्ठाचार्य भी आडम्बर बोली आदि आगम विरुद्ध कार्य को करते, करवाते हैं। उनकी निन्दा जैन पत्रिकाओं तक में बार-बार आती हैं परन्तु वे वैसे कार्य समाज के लिए करके निन्दा के पात्र बनते हैं। कुछ निहित स्वार्थी व्यक्ति भी अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए साधु का इस्तेमाल करते हैं एवं स्वार्थ सिद्धि के बाद वे भी उन साधु आदि की निन्दादि करते हैं तथा साधु की सेवा/व्यवस्था भी नहीं करते हैं।

पूजा-दान आदि के द्रव्य के अपहरण का परिणाम

पुत्तकलत्त विदूरो दारिद्दो पंगु मूक बहिरंधो।
चाण्डालाइ कुजादो पूजा दाणाइ दव्वहरो।। (33) रयण.

अन्वयार्थ - (पूजा दाणाइ) पूजा में दिया दान (दव्वहरो) द्रव्य को अपहरण करता है वह (चाण्डालाई कुजादो) चाण्डाल आदि कुजाति में जाता है।

(पुत्तकलत्त विदूरो) पुत्र स्त्री रहित (दारिद्दो) धन हीन दरिद्री(पंगु) लंगड़ा(मूक) गूंगा (बधिर) बहरा (अंधो) नेत्रहीन (भवति) होता है।

पद्य-जो पूजा दानादि के द्रव्य हरण करते वे होते पुत्र स्त्री-रहित।
दरिद्र-पंगु-गुंगा बहरा अन्धा व चाण्डालादि कुजाति में जन्म ग्रहण।(1)
समीक्षा- ''जैसी करणी वैसी भरणी'' के अनुसार कर्म फल मिलता अवश्य।
इस जन्म में या पर भव में भोगते पापी जो दान द्रव्य हर।। (2)
न्याय से धन कमाने पर भी यदि होता है पापास्रव।
अन्याय से व धर्म धन ग्रहण से कितना होगा पापास्रव।। (3)

इससे शिक्षा मिलती है सर्व त्यागकर साधु बनना श्रेय।
नहीं तो कम से कम पाप हो ऐसे भाव-व्यवहार श्रेय।। (4)

पूजा-दान के द्रव्य का अपहरण बीमारियों का घर

इत्थियफलं ण लब्भइ जइ लब्भइ सो ण भुंजदे णियदं।
वाहीणमायरो सो पूजादाणाइ दव्वहरो।। (34) रयण.

अन्वयार्थ - (पूजादाणाइ दव्वहरो) पूजा दानादि का जो द्रव्य हरण करता है(सो) वह (इत्थिय फलं) इच्छित फल को (ण लब्भइ) नहीं प्राप्त होता, (जइ लब्भइ) यदि प्राप्त भी हो (सो ण भुंजदेणियदं) तो भी वह उसका फल नियम से नहीं भोग सकता है, (सो वाहीण मायरो) वह व्याधियों का घर बन जाता है।

पद्य- जो दानादि द्रव्य हरण करता वह न इच्छित फल पाता।
यदि भी वह लाभ प्राप्त करता रोगादि के कारण न भोग पाता।। (1)
समीक्षा- ''साधन पवित्र से साध्य पवित्र'' होता ''लक्ष्यानुसार प्राप्य''।
''शुभ भाव से शुभ फल है'' तो ''अशुभ भाव से अशुभ फल।। (2)
''चोरी का माल मोरी में जाता'' ''यथा बोया तथा पाता''।
यह है ''प्राकृतिक क्रिया प्रतिक्रिया'' या ''कार्य कारण सिद्धान्त''।। (3)

दान द्रव्य के अपहरण से विकलांग

गयहत्थपायणासिय कण्णउरं गुलविहीणदिट्ठीए।
जो तिव्वदुक्खमूलो पूयादाणाइ दव्वहरो।। (35) रयण.

अन्वयार्थ - (जो पूया दाणाई दव्वहरो) पूजा आदि में रखा हुआ द्रव्य दान का अपहरण करने वाला व्यक्ति (गय हत्थ पायणासिय) हाथ, पैर रहित, पंगु नाक रहित (कण्ण उरंगुल) कानों से रहित, छाती, हाथ-पैर की अंगुलियों से रहित (विहीणदिट्ठीए) जन्मान्ध(जो) जो (तिव्वदुक्खमूलो) तीव्र दुःखों को प्राप्त करता है।

पद्य- हाथ पैर से रहित पंगु नाक व कानों से भी रहित।
छाती-हाथ-पैर-अंगुल विहीन जन्मांध तीव्र दुःखी द्रव्य चोर।।
संदर्भ :-

अशुभ नामकर्म के आस्रव के हेतु

मनोवाक्कायवक्रत्वं विसंवादनशीलता।
मिथ्यात्वं कूटसाक्षित्वं पिशुनास्थिरचित्तता।। (44)
विषक्रियेष्टकापाकदावाग्नीनां प्रवर्तनम्।
प्रतिमायतनोद्यानप्रतिश्रयविनाशनम्।। (45)
चैत्यस्य च तथा गन्धमाल्यधुपादिमोषणम्।
अतितीव्रकषायत्वं पापकर्मोपजीवनम्।। (46)
परूषासह्यवादित्वं सौभाग्यकारणं तथा।
अशुभस्येति निर्दिष्टा नाम्र आस्रवहेतवः।। (47) (तत्त्वार्थसार)

मन, वचन, काय की कुटिलता, विसंवाद करने का स्वभाव, मिथ्यात्व, झूठी गवाही देना, चुगली करना, चित्त का अस्थिर रहना, विष के प्रयोग, ईंट पकाना तथा दावाग्नि-वन में आग लगाने की प्रवृत्ति चलाना, मंदिर सम्बन्धी उद्यान के भवन का विनाश करना,प्रतिमा को चढ़ाने योग्य गन्ध, माला तथा धूप आदि की चोरी करना, अत्यन्त तीव्र कषाय करना, पाप कार्यों से जीविका करना, कठोर और असह्य वचन बोलना तथा सौभाग्य वृद्धि के लिये वशीकरण आदि उपायों को मिलाना ये सब अशुभ नामकर्म के आस्रव के हेतु हैं।

योगवक्रताविसंवादनं चाऽशुभस्यःनाम्रः।।(122)।। (तत्त्वार्थवार्तिक)

मन, वचन और काय की कुटिल वृत्ति रूप योगवक्रता तथा विसंवादन ये अशुभ नामकर्म के आस्रव के कारण है।

मिथ्यादर्शन-पिशुनताऽस्थिरचित्तस्वभावता-
कूटमानतुलाकरणसुवर्णमणिरत्नाद्यनुकृति-कुटिलसाक्षित्वा-

ऽङ्गोपाङ्गच्यावन-वर्णगन्धरसस्पर्शान्यथाभावनयन्त्रपञ्जर-क्रिया-
द्रव्यान्तरविषयसंबन्धनिकृतिभूयिष्ठता-
परनिन्दात्मप्रशंसाऽनृतवचनपरद्रव्यादान-महारम्भपरिग्रहउज्ज्वलवेषमद-
परुषासभ्यप्रलाप-आक्रोश-मौखर्य-सौभाग्योपयोगवशी-करणप्रयोग-
परकुतूहलोत्पादनाऽलङ्कारादरचैत्यप्रदेशगन्ध-माल्यधूपादिमोषण-विलम्ब-
नोपहास-इष्टिकापाकदवाग्निप्रयोग-प्रतिमायतनप्रतिश्रयारामोद्यानविनाशन-
तीव्रक्रोधमान-मायालोभपापकर्मोपजीवनादि लक्षणः। स एष
सर्वोऽशुभस्य नाम आस्रवः।

मिथ्यादर्शन, पिशुनता, अस्थिर चित्त स्वभावता, कूटमान तुलाकरण(झूठे बाट, तराजू रखना) कृत्रिम सुवर्ण मणि रत्न आदि बनाना, झूठी साक्षी देना, अंग-उपाङ्ग का छेदन करना, वर्ण,गन्ध,रस, स्पर्श का विपरीतपना अर्थात् स्वरूपविकृति कर देना, यन्त्र पिंजरा आदि पीड़ा कारक पदार्थ बनाना, एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का विषय सम्बन्ध करना, माया की बहुलता, परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, मिथ्याभाषण, परद्रव्यहरण, महारम्भ, महापरिग्रह, उज्ज्वल वेष और रूप का घमण्ड करना, कठोर और असभ्य भाषण करना क्रोध भाव रखने और अधिक बकवाद करने में अपने सौभाग्य का उपभोग करना, दूसरों को वश करने के प्रयोग करना, दूसरे में कुतूहल उत्पन्न करना, बढ़िया-बढ़िया आभ2षण पहनने की चाह रखना, जिनमंदिर-चैत्यालय से गन्ध(चन्दन) माल्य, धूप, आदि को चुरा लेना, किसी की विडम्बना करना, उपहास करना, ईंट चूने का भट्टा लगाना, वन में अग्नि लगाना, प्रतिमा का प्रतिमा के आयतन का अर्थात् चैत्यालय का और जिनकी छाया में विश्राम लिया जाये ऐसे बाग-बगीचों का विनाश करना, तीव्र, क्रोध, मान, माया और लोभ करना तथा पाप कर्म जिसमें हो ऐसी आजीविका करना इत्यादि बातों से भी अशुभ नामकर्म का आस्रव होता है। ये सब अशुभ नामकर्म के आस्रव के हेतु हैं।

शुभनाम के आस्रव के कारण

संसार भीरुता नित्यमविसंवादनं तथा।
योगानां चार्जव नाम्नः शुभस्यास्रवहेतवः।। (48) (तत्त्वार्थसार)

संसार से निरन्तर भयभीत रहना, सहधर्मी जनों के साथ विसंवाद विरोध नहीं करना और योगों की सरलता रखना वे शुभनाम कर्म के आस्रव के हेतु हैं।

तद् विपरीतं शुभस्य।। (23)

योग वक्रता और विसंवादन से विपरीत योगों की सरलता और अविसंवादन शुभ नामकर्म के आस्रव के कारण हैं। (रा.वा.)

सरल योग और अविसंवादन उस योगवक्रता आदि से विपरीत हैं। मन, वचन, काय की सरलता और अविसंवादन शुभ नामकर्म के आस्रव के कारण है। धर्मात्मा पुरुषों का दर्शन करना, आदर सत्कार करना, उनके प्रति सद्भाव रखना, संसार भीरुता, प्रमाद का त्याग, निश्छल चारित्र का पालन आदि पूर्वोक्त अशुभ नाम कर्म के आस्रव के कारण से विपरीत परिणाम शुभ नामकर्म के आस्रव के कारण हैं। इन सब शुभ नामकर्म के आस्रव के कारणों का 'च' शब्द से संग्रह होता है ऐसा समझना चाहिये।

पूजा-दानादि धर्मकार्यों में अन्तराय करने का फल

खयकुट्ठमूलसूलो लूयभयंदरजलोयरक्खिसिरो।
सीदुण्ह वाहिराइ पूयादाणांतरायकम्मफलं।। (36) रयण.

अन्वयार्थ - जो (पूयादाणांतरायकम्मफलं) भगवान् की पूजा, रथयात्रा, जलयात्रा, तीर्थयात्रा, जीर्णोद्धार, जिनबिम्ब प्रतिष्ठा इत्यादि धार्मिक कार्यों में बाधा डालता है अर्थात् अन्तराय कराता है, वह प्राणी (खयकुट्ठमूलसूलो) क्षयरोग, कुष्ठरोग मूलव्याधी, शूल (लूयभयंदर जलौयरक्खिसरो) भगन्दर, जलोदर, खिसर, लूला (सीदुण्ह वाहिराइ) शीत, उष्ण व्याधि इत्यादि रोगों के समूह को प्राप्त होता है।

पद्य- क्षय-कुष्ठ-मूल-शूल लूला भगन्दर जलोदर खिसर।
शीत-उष्ण-व्याधि(आदि) रोग प्राप्त करे पूजा दान द्रव्य हर।।(1)

संदर्भ :-

भोग भूमिज के योग्य कर्म

भक्त्योत्तमसुपात्रायान्नदानं ददतेऽत्र ये।
महाभोगसुखाकीर्णां भोगभूमिं व्रजन्ति ते।। (95)

जो पुरुष भक्ति से उत्तम सुपात्रों को यहाँ पर आहारदान देते हैं, वे महान् भोगों और सुखों से भरी हुई भोगभूमि को जाते हैं। (श्री वीरवर्धमानचरिते)

नपुंसक होने योग्य कर्म

अतीवकामसेवान्धाः परदारादिलम्पटाः।
अनङ्गक्रीडनासक्ता निःशीला व्रतवर्जिताः।। (100)
नीचधर्मरता नीचा नीचमार्गप्रवर्तिनः।
ये ते नपुंसकाः स्युश्च क्लीबवेदवशाजडाः।। 101

जो पुरुष काम-सेवन में अत्यन्त अन्ध(आसक्त) होते हैं, पर स्त्री-पुत्री आदि में लम्पट हैं, हस्तमैथुनादि अनङ्गक्रीडा में आसक्त रहते हैं, शील रहित हैं, व्रत रहित हैं, नीच धर्म में संलग्न है, नीच हैं, और नीच मार्ग के प्रवर्तक हैं ऐसे जड़ जीव नपुंसकवेद के वश में नपुंसक होते हैं। (श्री-वीरवर्धमानचरिते)

तदहं ते प्रवक्ष्यामि श्रृणु कल्याणि कारणम्।
ये पुरा मनुजा भूत्वा घोरकर्मरतास्तथा।
पशुपुंस्त्वोपघातेन जीवन्ति च रमन्ति।
एवंयुक्तसमाचाराः कालधर्मं गतास्तु ते।।
दण्डिता यमदण्डेन निरयस्थाश्चिरं प्रिये।
यदि चेन्मानुषं जन्म लभेस्ते तथाविधाः।
क्लीबा वर्षवराश्चैव षण्डकाश्च भवन्ति ते।।

श्री महेश्वर ने कहा- कल्याणि! मैं वह कारण तुम्हें बताता हूँ, सुनो! जो मनुष्य पहले भयंकर कर्म में तत्पर होकर पशु के पुरुषत्व का नाश करने अर्थात् पशुओं को बधिया करने के कार्य-द्वारा जीवन-निर्वाह करते और उसी में सुख मानते हैं। प्रिये! ऐसे आचरण वाले मनुष्य मृत्यु को पाकर यमदण्ड से दण्डित हो चिरकाल तक नरक में निवास करते हैं, यदि मनुष्य जन्म धारण करते हैं तो वैसे ही कायर, नपुंसक और हीजड़े होते हैं।

स्त्रीणामपि तथा देवि यथा पुंसां तु कर्मजम्।
इति ते कथितं देवि भूयः श्रोतुं किमिच्छसि।।

देवि! जैसे पुरुषों को कर्म जनित फल प्राप्त होता है। उसी प्रकार स्त्रियों को भी अपने-अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है। यह विषय मैंने तुम्हें बता दिया। अब और क्या सुनना चाहती हो। (महाभारत)

तिर्यग्गति के योग्य कर्म

मायाविनोऽतिकौटिल्यकर्मकोटिविधायिनः।
परश्रीहरणसक्ता अष्टप्रहरभक्षकाः।। (73)।।
महामूर्खाः कुशास्त्रज्ञाः पशुवृक्षादिसेविनः।।
नित्यस्नानकराः शुद्धयै कुतीर्थगमनोद्यताः।। (74)।।
जिनधर्मबहिर्भूता व्रतशीलादिदूरगाः।
निन्द्याः कपोतलेश्याढया आर्तध्यानकराः सदा।। (75)।।
इत्याद्यपरदुष्कर्मरता ये मूढमानसाः।
आर्तध्यानेन ते प्राप्य मरणं दुःखविह्वलाः।। (76)।।
तिर्यग्गतीः प्रगच्छन्ति बह्वीर्दुःखखनीर्दुतम्।
मरणोत्पत्तिसंपूर्णाः पराधीनाः सुखच्युताः।। (77)।।

जो मायाचारी हैं, अतिकुटिलता युक्त कोटि-कोटि कार्यों के विधायक हैं, पर लक्ष्मी के अपहरण करने में आसक्त हैं,दिन -रात के आठों पहरों में खाते-पीते रहते हैं, महामूर्ख हैं, खोटे शास्त्रों के ज्ञाता हैं, धर्म मानकर पशुओं और वृक्षों की सेवा पूजा करते हैं। शुद्धि के लिये नित्य स्नान करते है, कुतीर्थों की यात्रार्थ जाने को उद्यत रहते हैं जिन धर्म से बहिर्भूत हैं, व्रत शीलादि से दूर रहते हैं, निन्दनीय है, कपोत लेश्या से युक्त हैं, सदा आर्तध्यान करते रहते हैं, तथा इसी प्रकार के अन्य दुष्कर्मों के करने में जो मूढ़चित्त पुरुष संलग्न रहते हैं, वे आर्तध्यान से मरण कर दुःखों से विह्वल होकर बहुत दुःखों की खानरूप तिर्यग्गति में जाते हैं, जहाँ पर वे उत्पत्ति से लेकर मरण-पर्यन्त पराधीन और दुःखी रहते हैं। (श्री-वीरवर्धमानचरिते)

निगोद के योग्य कर्म

नास्तिका ये दुराचाराःपरलोकं वृषं तपः।
वृत्तं जिनेन्द्राशास्त्रादीन् मन्यन्ते न च दुर्धियः।। (78)।।
तेऽत्यन्तविषयासक्तास्तीव्र मिथ्यात्वपूरिताः
अन्तातीतं निकोतं प्रयान्ति दुःखकैसागरम्।। (79)।।
अनन्तकालपर्यन्तं महादुखं वचोऽतिगम्।
भुञ्जन्ति तत्र ते पापान्मरणोत्पत्तिजं खलाः।। (80)।।

जो नास्तिक हैं, दुराचारी है, परलोक, धर्म, तप, चारित्र, जिनेन्द्र शास्त्र आदि को

नहीं मानते हैं, दुर्बुद्धि हैं, विषयों में अत्यन्त आसक्त हैं, तीव्र मिथ्यात्व से भरे हुए हैं, ऐसे जीव अनन्त दुःखों के सागर ऐसे निगोद को जाते हैं। और वहाँ पर वे पापी अपने पाप से अनन्त काल पर्यन्त वचनातीत जन्म-मरण-जनित महादुःखों को भोगते हैं।

नैःशील्यं निर्व्रत्वं च मिथ्यात्वं परवञ्चनम्।
मिथ्यात्वसमवेतानामधर्माणां देशनम्।। (35।)।
कृत्रिमागुरुकर्पूरकुङ्कमोत्पादनं तथा।
तथा मानतुलादीनां कूटादीनां प्रवर्तनम्।। (36)।।
सुवर्णभौक्तिकादीनां प्रतिरूपकनिर्मितः।
वर्णगन्धरसादीनामन्यथापादनं तथा।। (37)।।
तक्रक्षीरघृतादीनामन्य द्रव्यविमिश्रणम्।
वाचान्यदुत्काकरणमन्यस्य क्रियया तथा।। (38)।।
कापोतनीललेश्यात्वमार्त्तध्यानं च दारुणम्।
तैर्यग्योनायुषो ज्ञेया माया चास्रवहेतवः।। (39)।।

शील रहित होना, व्रत रहित होना, मिथ्यात्व धारण करना, दूसरों को ठगना मिथ्यात्व से रहित अधर्म का उपदेश देना, कृत्रिम अगुरु, कपूर और केशर को बनाना, झूठे नापतौल के बाट तराजू तथा कूट आदि को चलाना, नकली स्वर्ण तथा मोती आदि को बनाना, वर्ण, गन्ध, रस आदि को बदलकर अन्यरूप देना, छाँछ दूध तथा घी आदि में अन्य पदार्थों को मिलाना, वाणी तथा क्रिया द्वारा दूसरों की विषयाभिलाषा को उत्पन्न करना, कपोत लेश्या से युक्त होना तीव्र आर्तध्यान करना और मायाचार करना ये सब तिर्यञ्च आयु के आस्रव के हेतु जानना चाहिये।

कौआ, गीध, सुअर में जन्म लेने का कर्म

यश्च मांसप्रियो नित्यं काकगृध्रान्, स संस्पृशेत्।
सुरापः सततं मर्त्यः सूकरत्वं व्रजेद् ध्रुवम्।

जो प्रतिदिन मांस के लिये लालायित रहता है वह कौओं और गीधों की योनि में जन्म लेता है। सदा शराब पीने वाला मनुष्य निश्चय ही सुअर होता है।

कौआ, प्रेत होने का कर्म

अभक्ष्यभक्षणो मर्त्यः काकजातिषु जायते।
आत्मघ्नो यो नरः कोपात् प्रेतजातिषु तिष्ठति।।

अभक्ष्य भक्षण करने वाला मनुष्य कौए के कुल में उत्पन्न होता है तथा क्रोधपूर्वक आत्महत्या करने वाला पुरुष प्रेत योनि में पड़ा रहता है।

मुर्गा, मृग होने का कर्म

पैशुन्यात् परिवादाच्च कुक्कुटत्वमवाप्नुयात्।
नास्तिकश्चैव यो मूर्खो मृगजातिं स गच्छति।।

दूसरों की चुगली और निन्दा करने से मुर्गे की योनि में जन्म लेना पड़ता है। जो मूर्ख नास्तिक होता है, वह मृग-जाति में जन्म ग्रहण करता है।

कीड़ा, गधा होने का कर्म

हिंसाविहारस्तु नरःकृमिकीटेषु जायते।
अतिमानयुतो नित्यं प्रेत्य गर्दभतां व्रजेत्।।

हिंसा या शिकार के लिए भ्रमण करने वाला मानव कीड़ों की योनि में जन्म लेता है। अत्यन्त अभिमान युक्त पुरुष सदा मृत्यु के पश्चात् गधे की योनि में जन्म पाता है।

चूहा होने का कर्म

आगम्यागमनाच्चैव परदारनिषेवणात्।
मूषिकत्वं व्रजेन्मर्त्यो नास्ति तत्र विचारणा।।

अगम्या-गमन और परस्त्रीसेवन करने से मनुष्य चूहा होता है, इसमें शङ्का करने की आवश्यकता नहीं है।

सियार, भेड़िया, स्थावर होने का कर्म

कृतघ्नो मित्रघाती च शृगालवृकजातिषु।
कृतघ्नःपुत्राघाती च स्थावरेष्वथ तिष्ठति।।

कृतघ्न और मित्रघाती मनुष्य सियार और भेड़ियों की योनि में जन्म लेता है। दूसरों के किए हुए उपकार को न मानने वाला और पुत्रघाती मनुष्य स्थावर योनि में जन्म लेता है।

सर्पादि गति प्राप्त योग्य कर्म

वितरन्ति न दानं ये पात्रेभ्यः कृपणाः क्वचित्।
धनं न जिनपूजायै त्रिजगच्छ्रीसुखार्थिनः।। (162)।।

ते दुर्गतौ चिरं भ्रान्त्वा तीव्रलोभाकुला ह्यघात्।
पुनः सर्पादिगत्याप्त्यै जायन्ते कृपणा भुवि।। (163)।।

जो कृपण पुरुष क्वचित् कदाचित् भी पात्रों के लिये दान नहीं देते हैं और तीन लोक की लक्ष्मी और सुख के इच्छुक होकर के भी जिनपूजा के लिये धन नहीं देते हैं वे कृपण अपने इस पाप के द्वारा तीव्र लोभ से आकुलित होकर चिरकाल तक दुर्गतियों में परिभ्रमण कर पुनः सर्प आदि की गति पाने वाले होते हैं। (श्री वीरवर्धमान चरिते)

वन्दना व स्वाध्याय आदि धर्म कार्यों में विघ्न डालने का फल

णरइतिरियाइदुगइदारिद्दवियलंगहाणि दुक्खाणि।
देवगुरुसत्थवंदणसुयभेयसज्झादाणविघणफलं।। (37) रयण.

अन्वयार्थ - (देवगुरुसत्थवंदण सुयभेयसज्झादाण विघण फलं) जो देवपूजा, गुरु उपासना, शास्त्रवन्दना, श्रुतरत्न तथा स्वाध्यायशाला (स्वाध्याय) इनमें विघ्न उत्पन्न करता है अन्तराय डालता है वह (णरइतिरियार दुगइ दारिद्द) नरकगति, तिर्यञ्चगति के दुःखों को भोगता है; मनुष्य गति में दरिद्री होता है। दुर्गति में जन्म लेता है (वियलंग हाणिदुक्खाणि) अंगहीन हानि सहित नाना प्रकार के दुःखों को प्राप्त होता है।

पद्य- **देव-शास्त्र-गुरु वन्दन श्रुत स्वाध्याय दान विघ्न फल।**
नरक-तिर्यंचादि दुर्गति दरिद्र विकलांगादि दुःख भोग।। (1)

समीक्षा- **जो शुभ कार्यों में बाधा डाले वह बान्धे अन्तराय कर्म।**
दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्य में उसे नहीं मिलता सुफल।।(2)

ऐसे जीव होते ईर्ष्यालु दंभी जिससे वे अविवेकी होते।
जिससे वे असंयमी होकर शुभ कार्यों में विघ्न डालते।। (3)

सन्दर्भ :-

अन्तराय कर्म का आस्रव

विघ्नकरणमन्तरायस्य। (27) मोक्ष शा.

The inflow of obstructive अन्तराय Karma is caused by disturbing others in दान Charity लाभ gain, भोग enjoyment of consumable things; and वीर्य making use of their powers.

दानादिक में विघ्न डालना अन्तराय कर्म का आस्रव है।

दानादि का विघात करना विघ्न कहलाता है। दानादि अर्थात् दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य। किसी के दान लाभादि में विघ्न उपस्थित करना विघ्न कहलाता है। ज्ञान का प्रतिच्छेद सत्कारोपघात (किसी के सत्कार में विघ्न डालना) दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, स्नान, अनुलेपन, गन्ध, माल्य, आच्छादन, विभूषण, शयन, आसन, भक्ष्य, भोज्य, पेय, लेह्य और परिभोग आदि में विघ्न करना, किसी के विभव, समृद्धि में विस्मय करना, द्रव्य का त्याग नहीं करना, द्रव्य के उपयोग के समर्थन में प्रमाद करना, देवता के लिए निवेदित किये गये या अनिवेदित किये गये द्रव्य का ग्रहण करना, देवता का अवर्णवाद करना, निर्दोष उपकरणों का त्याग, दूसरों की शक्ति का अपहरण, धर्म का व्यवच्छेद करना, कुशल चारित्र वाले तपस्वी, गुरु तथा चैत्य की पूजा में व्याघात करना, दीक्षित, कृपण, दीन, अनाथ आदि को दिये जाने वाले वस्त्र, पात्र, आश्रय, आदि में विघ्न करना, परनिरोध, बन्धन, गुह्य अंगच्छेदन, कान, नाक, ओंठ आदि का काट देना, प्राणिवध आदि अन्तराय कर्म के आस्रव के कारण हैं।

तपस्विगुरुचैत्यानां पूजालोपप्रवर्तनम्।
अनाथदीनकृपणभिक्षादिप्रतिषेधनम्।। (55)।।
वधबन्धनिरोधैश्च नासिकाच्छेदकर्तनम्।
प्रमादाद्देवतादत्तनैवेद्यग्रहणं तथा।। (56)।।
निरवद्योपकरणपरित्यागो वधोऽङ्गिनाम्।
दानभोगोपभोगादिप्रत्यूहकरणं तथा।। (57)।।
ज्ञानस्य प्रतिषेधश्च धर्मविघ्नकृतिस्तथा।
इत्येवमन्तरायस्य भवन्त्यास्रवहेतवः।। (58)।। (तत्त्वार्थसार)

तपस्वी गुरु और प्रतिमाओं की पूजा न करने की प्रवृत्ति चलाना, अनाथ, दीन तथा कृपण मनुष्यों को भिक्षा आदि देने का निषेध करना, वध-बन्धन तथा अन्य प्रकार की रुकावटों के साथ पशुओं की नासिका आदि का छेद करना,

देवताओं को चढ़ाये हुए नैवेद्य का प्रमाद से ग्रहण करना, निर्दोष उपकरणों का परित्याग करना(जिन पीछी या कमण्डल आदि उपकरणों में कोई खराबी नहीं आई है उन्हें छोड़कर नये ग्रहण करना) जीवों का घात करना, दान-भोग-उपभोग आदि में विघ्न करना, ज्ञान का प्रतिषेध करना-स्वाध्याय या पठन-पाठन का निषेध करना तथा धर्मकार्यों में विघ्न करना ये सब अन्तराय-कर्म के आस्रव के हेतु हैं।

पञ्चमकाल में विशुद्धि की हीनता (काल प्रभाव)

सम्मविसोही तवगुणचारित्तं सण्णाण दाणं परिहीणं।
भरहे दुस्समकाले मणुयाणं जायदे णियदं।। (38) रयण.

अन्वयार्थ - (भरहे दुस्समकाले) इस भरत क्षेत्र के दुषमा काल में (मणुयाणं) मनुष्यों के (णियदं) निश्चयकर (सम्मविसोही) सम्यक् दर्शन की विशुद्धि (तवगुणचारित्तं) तप मूलगुण व चारित्र (सण्णाण) सम्यग्ज्ञान (दाणं) दान में (परिहीणं) हीनता (जायदे) होती है।

पद्य- भरत क्षेत्र में दुषमा काल में मनुष्यों में होते नीच गुण।
सम्यक्त्व विशुद्धि तप-गुण चारित्र सुज्ञान दान परिहीन।। (1)

संदर्भ :-

(13) बछड़ों से वहन किये हुए रथ को देखने से बहुधा करके लोग तारुण्य अवस्था में संयम ग्रहण करेंगे किन्तु शक्ति के घट जाने से वृद्धा अवस्था को धारण नहीं कर सकेंगे।

(14) ऊँट पर चढ़े हुए राजपुत्र को देखने से ज्ञात होता है कि राजा लोग निर्मल धर्म को छोड़कर हिंसा मार्ग स्वीकार करेंगे।

रजसाऽच्छादित सद्रत्नराशेरी क्षणतो मृशम्।
करिष्यन्ति नपाः स्तेयां निर्ग्रन्थमुनयो मिथः।। (47)।।

(15) धूलि से आच्छादित रत्नराशि को देखने से निर्ग्रन्थ मुनि भी परस्पर में निन्दा करने लगेंगे।

(16) काले हाथियों का युद्ध देखने से मेघ मनोभिलाषित नहीं बरसेंगे।

भद्रबाहु स्वामी के मुख से स्वप्न के विचित्र फल को सुनकर चन्द्रगुप्त मौर्य ने विशाल भारत का शासन छोड़कर वे भद्रबाहु स्वामी से निर्ग्रन्थ दिगम्बरी दीक्षा लेकर आत्मकल्याण करके स्वर्ग सिधारे।

चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा देखे हुए स्वप्नों का जो फल भद्रबाहु स्वामी ने भविष्यवाणी रूप से जो घोषणा की थी वह घोषणा आज सत्य साबित हो रही है। चन्द्रगुप्त मौर्य का स्वप्न स्वप्न ही नहीं रहा किन्तु वास्तविक रूप में परिणमन होते हुए अनुभव में आ रहा हैं। तीसरे स्वप्न में चन्द्रमण्डल को बहुत छिद्र युक्त देखने का फल कलिकाल में जिनमत में अनेक मत, सम्प्रदाय पंथप्रादुर्भाव होने का निर्णय भद्रबाहु स्वामी ने किया था। उसका वास्तविक रूप आज अहिंसा परायण साम्यवादी अनेकांत एवं स्याद्वाद के पुजारी जैनियों में अनेक मतभेद होते जा रहे हैं, जो धर्म समस्त विवादों का विनाशक एवं समता, एकता का विधाता था। आज उसी धर्म में छोटी-छोटी बातों को लेकर तनाव, विवाद, मन-मुटाव, मुकदमा, शीतयुद्ध चल रहा है। इसमें केवल साधारण जैन ही भाग नहीं ले रहे हैं किन्तु विशिष्ट श्रावक नेता, कर्णधार पंडित, ब्रह्मचारी, क्षुल्लक, मुनि, आर्यिका, उपाध्याय, आचार्य आदि भी सक्रिय भाग ले रहे हैं। पहले दीपक के नीचे अंधकार रहता था, किन्तु वैज्ञानिक युग में बल्ब, ट्यूब आदि के नीचे अंधकार है, इसी प्रकार पहले मिथ्या कुधर्म में विवाद आदि होता था । परन्तु आज जैन धर्म में भी अधिक विवाद हो रहा है, यह सब कर्म दोष से संकुचित स्वार्थान्ध मनोभाव से कलियुग के प्रभाव से हो रहा है। कलियुग की दयनीय परिस्थिति का चित्रण करते हुए चित्रकों ने यथार्थ से कहा है-

सीदंति संतो विलसत्यसंतः पुत्रा म्रियंते जनकश्चिरायुः।
परेषु मैत्री स्वजनेषु वैरं पश्यन्तु लोकाः कलिकौतुकानि।।

हे विश्व के लोगों। कलिकाल के आश्चर्यपूर्ण कौतुक को देखिये! इस कलिकाल में सज्जन लोग दुःखित होते हैं तथा दुर्जन लोग प्रभाव को प्राप्त होते हैं, पुत्र का मरण होता है तथा पिता दीर्घजीवी होता है। दूसरें से मित्रता करते हैं तथा स्वजन से वैरभाव रखते हैं।

अनृते पटुता चौरे चित्तं सतामपमानता। (पुत्राः पितुर्द्वेषिणः)
मतिरविनये धर्मे शां गुरुष्वपि वंचना।।
ललित मधुर वाक् प्रत्यक्षे परोक्ष विभाषिणी।
कलियुग महाराजस्यैताः स्फुरन्ति विभूतयः।।

झूठ बोलने में चतुर, दक्ष, चोरी में दत्त चित्त, सज्जनों का अपमान, पुत्र पिता से द्वेष करने वाला, अविनीत मति, धर्म में शठता(मायाचारी) गुरु की भी वंचना,प्रत्यक्ष में ललित मधुर वचन बोलना एवं परोक्ष में विपरीत भाषण करना यह

सब कलियुग महाराज के वैभव का विस्तार है।

धर्मः प्रज्वलितस्तपः प्रचिलितं, सत्यं च दूरे गतं।
पृथ्वी मन्दफला नृपोऽति कुटिलो, लौल्यं गता ब्राह्मणाः।।
लोकोः स्त्रीषुरताः स्त्रीयोऽति चपलाः शास्त्रागमे विप्लवः।
साधुःसीदति दुर्जनः प्रभवति प्रायः प्रविष्टे कलौ।।

कलिकाल के प्रवेश से धर्म एवं प्रज्वलित तप चलायमान हो जाते हैं, सत्य दूर भाग जाता है, पृथ्वी कम फल देने वाली हो जाती है, राजा अत्यन्त कुटिल तथा ब्राह्मण अत्यन्त लोलुपी हो जाते हैं, लोग स्त्री में आसक्त रहते हैं, स्त्री अत्यन्त चंचल हो जाती है, शास्त्र-आगम में अनेक विप्लव होते हैं, साधु दुःख पाते हैं, दुर्जन लोग प्रभाव को प्राप्त करते हैं।

निर्वीर्यो पृथिवी, निरोषधिरसो, नीचा महत्वं गताः।
भूपाला निज कर्म धर्म रहिता, विप्राः कुमार्गे रताः।।
भार्या भर्तृ विरोधिनी पररता, पुत्राः पितृद्वेषिणो।
हा कष्टं खलु वर्तते कलियुगे धन्या नराः सज्जनाः।।

दुःख की बात है कि कलियुग में पृथ्वी वीर्यहीन(सारहीन) हो जाती है, रस, प्राण-शक्ति को देने वाली औषधि से रहित पृथ्वी हो जाती है, नीच लोग महत्व को प्राप्त हो जाते हैं, राजा लोग स्व-कर्त्तव्य एवं धर्म से रहित हो जाते हैं, ब्राह्मण लोग कुमार्ग में गमन करते हैं, स्त्री (भार्या) पति विरोधिनी होकर पर पुरुष में रत होती है, पुत्र पिता के द्वेषी हो जाते हैं। इसी प्रकार भयंकर कलियुग में जो नर धर्म, नीति, नियम को पालन करते हैं, वे धन्य हैं।

कलिकाल में धर्म करने वाले धन्य

धन्या भारतवर्ष संभवजना योऽद्यापि काले कलौ।
निस्तीर्थश्वर केवले निरवद्यो भ्रश्यन्मनःपर्यये।
त्रुट्यच्छ्रोत्र विशेष संपदि भव दौर्गत्य दुःखापदि।
श्री जैनेन्द्रवचोनुरागवशतः कुर्वित धर्मोद्यमम्।।

वर्तमान घोर पंचम कलिकाल में तीर्थंकर, केवली, अवधि, मनःपर्यय ज्ञानियों का अभाव है, योग्य श्रोताओं का भी अभाव है, विशेष वैभव से रहित, दरिद्रता आदि संकट से सहित कलियुग के मनुष्य है। इसी प्रकार विपरीत कलियुग में भी

जिनेन्द्र देव के वचनानुसार धर्म में उद्यत होते हैं वे अत्यन्त अभिनंदनीय, अभिवंदनीय एवं धन्यवाद के पात्र हैं।

प्राचीन काल में अर्थात् चतुर्थ काल में धर्म साधन के अनुकूल परिस्थिति थी। इसलिये उस समय में धर्म का आचरण करना सरल साध्य था, परन्तु वर्तमान पंचम काल में विपरीत परिस्थिति में धर्म आचरण कष्ट साध्य है। जैसे अनुकूल जल के स्रोत में नौका को खेकर ले जाना सरल सहज है, परन्तु प्रतिकूल स्रोत में नौका को खेकर ले जाना श्रम साध्य है। जो प्रतिकूल स्रोत में एवं तूफान के समय में नौका को खेकर अपने गंतव्य स्थान में बढ़ते हैं, वह जैसे धन्यवाद के पात्र है उसी प्रकार उपर्युक्त कलिकाल में जो धर्म का श्रद्धापूर्वक, विवेकपूर्वक पालन करते हैं वे धन्य हैं। कलिकाल में अधिकांश लोग श्रद्धा, विवेक एवं आत्मकल्याण की बुद्धि से रहित होकर धर्माचरण अहंकार की पुष्टि, ख्याति, लाभ, कीर्ति के लिये करते हैं। पूर्वाचार्यों ने कहा भी है -

भयं दक्षिण्य कीर्ति च लज्ज्या आशा तथैव च।
पचभिः पंचमेकाले जैनो धर्मः प्रवर्तते।।

पंचम काल में लोग जैन धर्म को (1) लोकभय (2) अन्य का मनःदुखित न होने के लिये (3) कीर्ति (4) लज्जा(5) आशा से पालन करेंगे।

श्रद्धा, विवेक, आत्म विशुद्धि से रहित होकर कुछ संकुचित स्वार्थनिष्ठ मनोभाव से धर्माचरण के कारण जब उस संकुचित स्वार्थ निष्ठ भाव को धक्का लगता है, तब वे धर्म से उस प्रकार टूट पड़ते हैं जिस प्रकार रत्न के समान प्रतिभाषित काँच थोड़े से धक्के के कारण टूटकर नीचे गिर पड़ता है, परन्तु यथार्थ से जो रत्न होता है वह सामान्य धक्के से टूटकर नहीं गिरता है। इसी प्रकार जो यथार्थ धर्मात्मा होता है वह सामान्य प्रतिकूल अवस्था से प्रतिघातित होकर धर्म से च्युत नहीं होता है। इससे सिद्ध होता है कि जो छोटी-छोटी बातों को लेकर धर्म में कलह उत्पन्न करके धर्म, समाज, राष्ट्र देश में फूट डालकर आतंकवाद मचा देते हैं वे यथार्थ से धर्मात्मा नहीं है।

अवध प्रभाव जान तब प्रानी, जब उर बसहिं राम धनुपानी।
सो कलिकाल कठिन उरगारी, पाप परायन सब नर नारी।।

अयोध्या के प्रभाव को प्राणी तब ही जानता है, जब श्री रामचन्द्र जी धनुष

हाथ में लिये उनके हृदय में वास करते हैं हे गरुड़जी! वह कलियुग बड़ा कठिन है क्योंकि सब नर-नारी पाप में लिप्त हैं।

कलिमल ग्रसे धर्म सब, लुप्त भए सद्ग्रन्थ।
दंभिन्ह निज मति कल्प करि, प्रगट किये बहु पन्थ।।

कलिकाल के पापों ने सब धर्मों को दबा लिया, सद्ग्रन्थ लुप्त हो गये। पाखण्डियों ने अपनी बुद्धि से कल्पना करके अनेक पन्थ प्रगट कर दिये।

भये लोग सब मोह बस, लोभ ग्रसे सुभ कर्म।
सुनु हरिजान ग्यान निधि, कहउँ कछुक कलिधर्म।।

सब लोग मोह के वश हो गये, लोभ ने शुभ कर्मों को ग्रस लिया । हे ज्ञानवान् गरुड़जी! अब कलियुग के कुछ धर्म कहता हूँ तो सुनिये-

मारग सोई जा हूँ जोइ भावा, पंडित सोई जो गाल बजावा।
मिथ्यारंभ दंभ रत जोइ, ता कहुँ संत कहइ सब कोई।।

जिसको जो अच्छा लगे वही मार्ग है और वही पण्डित है जो डींग मारता है। जो झूठ ही से आरम्भ करता है और पाखण्ड में लगा है, उसी को सब लोग सन्त कहते हैं।

सोइ सयान जो परधन हारी, जो कर दंभ सो बड़ आचारी।
जो कह झूठ मसखरी जाना, कलिजुग सोइ गुनवंत बखाना।।

जो पराया धन हर लेता है वही होशियार है। जो बहुत सा-पाखण्ड फैलाता है वही बड़ा आचारी है। जो झूठ बोलना और हँसी करना जानता है, कलियुग में वही गुणवान् कहलाता है।

असुभ वेष भूषण धरें, भच्छाभच्छ जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर, पूज्यते से कलिजुग माहिं।।

जो अमंगल वेष और अमंगल भूषण धारण किये हैं और भक्ष्य-अभक्ष्य सब खा लेते हैं, कलियुग में वही योगी, सिद्ध और वही पूज्य हैं।

जे अपकारी चार, तिन्ह कर गौरव मान्य तेइ।
मन कर्म वचन लबार, तेइ बकता कलिकाल महुँ।।

जो पराया अहित करते हैं उन्हीं को गौरव मिलता है, वे ही मान्य हैं। मन, कर्म, वचन से जो लबार हैं, वे ही कलियुग में वक्ता कहलाते हैं।

सब नर काम लोभ रत क्रोधी, देव बिप्र श्रुति संत विरोधी।
गुन मन्दिर सुन्दर पति त्यागी, भजहिं नारि पर पुरुष अभागी।।

सब लोग काम, लोभ और क्रोध में रत हैं। देवता, ब्राह्मण गुणी और सन्तजनों से विरोध करते हैं। गुणवान् सुन्दर पति को छोड़कर अभागिनी स्त्रियाँ पर पुरुषों से प्रीति करती हैं।

सोभागिनीं विभूषण हीना, बिधवन्ह के सिंगार नबीना।
गुरु सिष बधिर अंध का लेखा, एक न सुनइ एक नहिं देखा।।

सुहागिनी स्त्रियाँ जो आभूषण से रहित रहती हैं और विधवाओं के नित्य नये शृंगार होते हैं। गुरु और शिष्य का अन्धे और बहिरे का सा बर्ताव होता है। एक (शिष्य) सुनता नहीं और एक (गुरु) देखता नहीं।

पर त्रिय लंपट कपट सयाने, मोह द्रोह ममता लपटाने।
तेइ अभेदबादी ग्यानी नर, देखा मैं चरित्र कलियुग कर।।

जो पराई स्त्री में आसक्त, ठगने में चतुर और मोह, द्वेष और ममता में फँसे हुए हैं, वे ही मनुष्य अभिवादी(अद्वैतवादी)ज्ञानी कहते हैं। मैंने कलियुग के ऐसे चरित्र देखे हैं।

आपु गये अरु तिन्हहू घालहिं, जे कहुँ सत मारग प्रतिपालहिं।

स्वयं तो नष्ट होते ही हैं और जो कोई अच्छे मार्ग पर चलते हैं, उनको भी नष्ट कर देते हैं।

भये बरन सङ्कर कलि, भिन्न सेतु सब लोग।
करहिं पाप पावहिं दुःख, भय रुज सोक वियोग।।

सब लोग कलियुग से वर्ण शङ्कर और मर्यादा से च्युत हो गये। वे पाप करके दुःख, भय,रोग, शोक और वियोग पाते हैं।

बहु दाम सँवारहिं धाम जाती, विषया हरि लीन्हि न रहि विरती।
तपसी धनवंत दरिद्र गृही, कील कौतुक तात न जात कही।।

सन्यासी बहुत सा धन लगाकर घर सजाते हैं। वैराग्य उनमें नहीं रहा, उसे विषयों ने हर लिया है। तपस्वी धनवान् है और गृहस्थ दरिद्र! हे तात! कलियुग का कौतुक कुछ कहा नहीं जाता।

कुलवंति निकारहिं नारि सती, गृह आनहिं चेरि निबेरि गती।

सुत मानहिं मातु पिता तब लौं, अबलानन दीख नहीं जब लौं।।

पुरुष कुलवन्ती और पतिव्रता स्त्री को घर से निकाल देते हैं और अच्छी चाल छोड़कर दासी को घर में रखते हैं। लड़के-माता-पिता को तब तक ही मानते हैं जब तक स्त्री का मुँह नहीं देखते।

ससुरारि पिआरी लगी जब तें, रिपुरुर कुटुम्ब भये तब तें।
नृप पाप परायण धर्म नहीं, करि दंड बिडम्ब प्रजा नितहीं।।

जब से ससुराल प्यारी लगने लगी, तब से कुटुम्बी वैरी हो गये। राजा पाप में लग गये, उनमें धर्म नहीं रहा। वे प्रजा को दण्ड देकर सताते हैं।

कवि वृन्द उदार दुनी न सुनी
गुन दूषक ब्रात न कोपि गुनी।
लिक बारहिं बार दुकाल परै
बिनु अन्न दुःखी सब लोग मरै।।

कवि तो बहुत हैं संसार में कोई उदार पुरुष सुनने में नहीं आते। गुणों में दोष लगाने वाले हैं पर गुणी कोई नहीं है। कलियुग में बार-बार अकाल पड़ते हैं। सब लोग अन्न के बिना दुःखी होकर मरते हैं।

सुनु खगेस काल कपट हठ, दम्भ द्वेष पाषण्ड।
मान मोह मारादि मद, व्यापि रहे ब्रह्माण्ड।।

हे पक्षीराज गरुड़जी! सुनो कलियुग में छल, हठ, दम्भ, ईर्ष्या, पाखण्ड काम, क्रोध, लोभ और अहंकार संसार भर में फैल रहे हैं।

तामस धर्म करहिं नर, जप, तप, व्रत मख दान।
देव न वरषिहिं धरनी, बए न जामहिं धान।।

मनुष्य जप, तप, यज्ञ, व्रत, दान, तामसी भाव से करते हैं। देवता पृथ्वी पर वर्षा नहीं करते और बोया हुआ अन्न उगता नहीं।

नर पीड़ित रोग न भोग कहीं, अभिमान विरोध अकार नहीं।
लघु जीवन संबतु पंच दसा, कलपांत न नास गुमान असा।।

रोगों से मनुष्य पीड़ित हैं, सुख कहीं नहीं मिलता। बिना कारण ही लोग अभिमान करते हैं। दस-पाँच वर्ष की थोड़ी आयु होने पर भी ऐसा घमण्ड है कि मानों कल्पों तक भी नाश न होगा।

कलिकाल बिहाल किए मनुजा, नहिं मानतकौं अनुजा तनुजा।
नहिं तोष विचार न सीतलता, सब जाति कुजाति भए मगता।।

कलियुग ने मनुष्य को बेहाल कर डाला। कोई बहन-बेटी को भी नहीं मानता। न सन्तोष है, न विचार है, न शान्ति है। सब जाति, कुजाति बन गये हैं।

इरिषा पुरुषाच्छर लोलुपता, भरि पूरि रही समता बिगता।
सब लोग वियोग विसोक हुये, बरनाश्रम धर्म अचार गये।।

डाह, कठोरता, छल, लालच हो रहे हैं समता जाती रही। सब लोग वियोग व अधिक दुःख से भरे पड़े हैं वर्णाश्रम, धर्म व विचार जाता रहा।

दम दान दया नहिं जानपनी, जड़ता परवंचनताति घनी।
तनु पोषक नारि नरा सगरे, पर निंदक जे जग मो बगरे।।

इन्द्रियों को जीतना, दान, दया और समझदारी किसी में नहीं, मूर्खता और ठगाई बहुत बढ़ गई है। सब स्त्री-पुरुष अपने शरीर को पुष्ट करने वाले हैं। पराये निन्दक संसार में बहुत फैल गये हैं। (तुलसीदास कृत रामयाण)

दुर्गति का पात्र कौन ?

णहि दाणं णहि पूया णहि सीलं णहि गुणं ण चारित्तं।
जे जइणा भणिया ते णेरइया हुंति कुमाणुसा तिरिया।।(39) रयण.

अन्वयार्थ - (जे) जो मानव (णहि दाणं) दान नहीं देता है (णहि पूया भगवान् जिनेन्द्र की पूजा नहीं करता (णहि सीलं) शील व्रतों का पालन नहीं करता है (णहि गुणं) श्रावक के अणुव्रतों प्रतिमाधारण आठ मूलगुणों का पालन नहीं करता है (चास्तिं) सकल चारित्र अर्थात् मुनि धर्म का पालन नहीं करता है(ते) वे मानव (पेरइया) नारकी(तिरिया) तिर्यञ्च(कुमाणुसा) कुमनुष्य (होंति) होते हैं ऐसा (जइणा भणिया) जिनदेव ने कहा है।

<u>पद्य-</u> **जो न देते दान नहीं पूजा नहीं शील नहीं गुण न चारित्र।**
वह मानव कुमानव होता है तथाहि नारकी या तिर्यंच।। (1)

हेयोपादेय विचार से रहित जीव मिथ्यादृष्टि है!

ण वि जाणइ कज्जमकज्जं सेयमसेयं च पुण्ण पावं हि।
तच्चमतच्चं धम्ममधम्मं सो सम्मुउम्मुक्को।। (40) रयण.

अन्वयार्थ - (कज्जमकज्जं) जो कार्य-अकार्य(सेयमसेयं) श्रेय-अश्रेय अर्थात् हितकारी अहितकारी (पुण्णं पावं) पुण्य और पाप (धम्ममधम्मं) धर्म और अधर्म (तच्चमतच्चं) तत्त्व और अतत्त्व (ण वि जाणइ) नहीं जानता है (सम्मउम्मुक्को) वह मनुष्य सम्यक्त्व से रहित है, अर्थात् मिथ्यादृष्टि है।

पद्य- जो न जानता है कार्य-अकार्य, श्रेय-अश्रेय व पुण्य-पाप ही।
तत्त्व-अतत्त्व व धर्म-अधर्म वह होता सम्यक्त्व मुक्त।। (1)

हेयोपादेय विचार रहित जीव के सम्यक्त्व कहाँ ?

ण वि जाणइ जोग्गमजोग्गं णिच्चमणिच्चं हेयमुवादेयं।
सच्चमसच्चं भव्वमभव्वं सो सम्मउम्मुक्को।। (41) रयण.

अन्वयार्थ - (जोग्गमजोग्गं) योग्य व अयोग्य (णिच्चमणिच्चं)नित्य व अनित्य (हेयमुवादेयं) त्यजनीय व ग्रहणीय (सच्चमसच्चं) सत्य व असत्य (भव्वमभव्वं) भव्य व अभव्य (ण वि जाणइ) नहीं जानता (सो) वह मनुष्य (सम्मउम्मुक्को) सम्यक्त्व से विमुख है।

पद्य- जो न जानता है योग्य-अयोग्य, नित्य-अनित्य व हेय-उपादेय
सत्य व असत्य, भव्य-अभव्य वह होता सम्यक्त्व रहित।। (1)

संदर्भ :-

निजशुद्धात्म श्रद्धान बिन समस्त धर्म कार्य व्यर्थ संसारवर्द्धक

(चाल : छिप गया कोई रे ...)

सम्यग्दृष्टि महान् है... आत्मश्रद्धानी होते,
स्व-पर भेद ज्ञान से...सम्यग्ज्ञानी होते।
श्रद्धा-प्रज्ञा सहित वे...सदाचारी होते,
सातिशय पुण्यशाली...मोक्षमार्गी होते।। (1)

देव-शास्त्र-गुरु भक्ति...सहित वे होते,
तत्त्वार्थ-श्रद्धान युक्त...तत्त्वज्ञानी होते।
इसी से युक्त वे श्रावक-साधु बनते,
आत्मसाधना से वे अर्हन् सिद्ध बनते।। (2)

आत्मश्रद्धान से वे स्व को जीव द्रव्य मानते,
निश्चय से शुद्ध-बुद्ध-आनन्दमय मानते।
अनादि कर्म बन्ध से स्व को अशुद्ध मानते,
आत्मसाधना से शुद्ध/(सिद्ध) बनूँ यह लक्ष्य धरते।। (3)

आत्मश्रद्धान बिन सभी धर्म कार्य व्यर्थ,
आत्मश्रद्धान बिन सभी ज्ञान है कुज्ञान।
आत्मश्रद्धान बिन (सभी) आचरण मिथ्याचार,
मिथ्या श्रद्धा-ज्ञान आचरण संसार कारण।। (4)

बीज बिन यथा न होता है वृक्ष,
इकाई बिन यथा शून्य का मूल्य शून्य।
आत्मा बिन यथा शरीर होता है शव,
आत्मश्रद्धान बिन सभी धर्म है अधर्म।। (5)

आत्मश्रद्धान बिन लक्ष्य न होता मोक्ष,
आत्मश्रद्धान बिन तप होता है कुतप।
आत्मश्रद्धान बिन त्याग होता भोग/(संसार, दुःख) हेतु,
धर्म कार्य होते सभी ख्याति-पूजा-वर्चस्व हेतु।। (6)

आत्मश्रद्धा-प्रज्ञा-चर्या बिन न होता मोक्षमार्ग,
रत्नत्रय बिन न होते राग-द्वेष-मोह क्षय।
समता-शान्ति-शुचिता न होती संभव,
निस्पृह-वीतरागता न होते संभव।। (7)

सातिशय पुण्य बन्ध भी न होता संभव,
संवर-निर्जरा-मोक्ष भी न होते संभव।
अतः आत्मश्रद्धान ही प्रथम/(प्रधान) करणीय,
सर्वज्ञ कथित सत्य यह 'कनक' को मान्य।। (8)

लौकिक जनों की संगति योग्य नहीं

लोइय जणसंगादो होइ मइमुहर कुडिल दुब्भावो।

लोइय संग तम्हा जोइ वि तिविहेण मुंचा हो।। (42) रयण.

अन्वयार्थ :- (लोइय जण संगादो) लौकिक जनों की संगति से (मइमुहर) मति वाचक वाचाल है (कुडिल दुब्भावो) कुटिल दुर्भाव से (होइ) हो जाती है (तम्हा) इस कारण (जोइवि) देखकर (लोइय) लौकिक जनों की (संग) संगति (तिविहेण) मन वचन काय से(मुंचा हो) छोड़ देना चाहिए।

पद्य : लौकिक जन संपर्क से होते, मति वाचाल, कुटिल, दुर्भाव।
इसलिए लौकिक जन संपर्क, मन-वचन-काय से त्यज।। (1)

संदर्भ :-

''रूढ़िवादी होते है प्रायः लोग''

(चाल : छोटी-छोटी गैया ...)

रूढ़िवादी होते है अधिक जन, सत्य-तथ्य विहीन भौतिक जन।
नैतिक आध्यात्मिकता से होते वे शून्य, परम्परावादी व स्वार्थी दुर्जन।।
चक्षु से आकाश नीला दिखता, यथार्थ से अमूर्तिक आकाश होता।
चक्षु सम रूढ़िवादी जन भी होते, सत्य-तथ्य से अनभिज्ञ रहते।।
धर्म शिक्षा कानून व राजनीति, इतिहास पुराण व आध्यात्म नीति।
रीति रिवाज परम्परा पर्व व भाषा, न जानते भोजन संस्कृति सभ्यता।।
लकीर से फकीर लोकानुगतिक होते, देखा-देखी सुना-सुनी काम करते।
मिथक दन्त कथा को सत्य मानते, शिक्षा व रहस्य से रहित होते।।
साक्षरता को ही वे शिक्षा मानते, रटन्त पाठ को भी अनुभव मानते।
जानकारी को ही ज्ञान मानते, धन कमाना शिक्षा का फल मानते।।
बाह्य क्रिया काण्ड को ही धर्म मानते, रीति रिवाज पालने से धार्मिक होते।
पर्व उत्सव खाना पीना में सीमित होते, पूजा पाठ माला में बन्धे रहते।।
धर्म से धन जन मान चाहते, भोग विलासिता व सत्ता चाहते।
स्व के ख्याति पूजा लाभ चाहते, विद्यार्थी प्रति विपरीत चाहते।।
स्व क्रियाकाण्ड से जो भिन्न मानते, उन्हें विधर्मी पाखण्डी मानते।
उनमें ईर्ष्या घृणा द्वेष करते, कलह-वाद-विवाद व हत्या करते।।
स्वमत पंथ को श्रेष्ठ मानते, उदार सहिष्णु पावन कहते।

स्व-पर विश्व हितकारी बताते, नैतिक सदाचार युक्त जताते।।
अन्य पंथ वालों से ईर्ष्यादि करते, तो भी स्वयं को श्रेष्ठ मानते।
कथनी करनी में सम न होते, रूढ़ि से ही स्वर्ग-मोक्ष मानते।।
न्याय राजनीति को भी न सही जानते, धन-जन मान का ही साधन मानते।
प्रयोग करते स्वार्थ सिद्धि के हेतु, प्रतिपक्षी शत्रु को कष्ट भी देते।।
इतिहास पुराण को न सही मानते, रहस्य व शिक्षाहीन कोरा जानते।
जन्म मरण घटनादिमय जानते, ज्ञान विज्ञान संस्कृति से रिक्त जानते।।
तथाहि रीति रिवाज परम्परा पर्व, भाषा भोजन नीति का न जानते मर्म।
सभ्यता संस्कृति का न जानते मर्म, अनुकरण करते केवल अन्ध के सम।।
आध्यात्मिक सब से होता महान्, इससे विपरीत चलते अधिक जन।
पलायनवादी या होते निकम्मे जन, बगुला भक्त भोगी विभ्रम जन।।
आध्यात्मिक होता है पावन परम, सत्य समता सहित आत्मिक ज्ञान।
निस्पृह वीतराग व आत्मा का ध्यान, स्वाधीन निराडम्बर आत्मशासन।।
मानव इन कमियों से न बन पाता महान्, राष्ट्र विश्व भी न होते महान्।
इन सब दुर्गुणों को त्यागो मानव, 'कनक' करे अतएव आह्वान।।

लौकिक से परे व विपरीत भी है : आध्यात्मिक

(चाल : शत-शत वंदन...,आत्मशक्ति से ओतप्रोत...)

लौकिक से परे आध्यात्मिक, कथंचित् विपरीत भाव व्यवहार (भी)।
राग द्वेष मोह पक्षपात परे, परम पवित्र साम्य भाव ही।।
लौकिक जन तो सत्ता-संपत्ति में, करते ममत्व राग द्वेष भी।
तन-मन-भाई-बंधु कुटुम्ब को, अपना मानते करते राग द्वेष भी।।
सत्ता-संपत्ति व प्रसिद्धि डिग्री से, करते स्व-मूल्यांकन भी ।
इसी की वृद्धि से स्व-वृद्धि, इसी की हानि से मानते स्व-हानि भी।।
भोगोपभोग में/(से) आनंद मानते, उसी हेतु होते प्रयत्नशील भी।
इसी हेतु करते अनेक पाप, अन्याय अत्याचार शोषण भी।।
आध्यात्मिक में यह सब कुछ न होता, इस से परे होते भाव-व्यवहार ही।
ज्ञान-वैराग्य समता शुचि सह, निस्पृह वीतराग आकिंचन्य भी।।
शरीर मन से परे हैं आध्यात्मिक, सत्ता-संपत्ति प्रसिद्धि परे भी।

अपना पराया भेद-भाव से परे, भोगोपभोग शत्रु-मित्र से भी।।
सामाजिक लौकिक नियम-कानून, रीति-रिवाज-परंपरा बंधन।
उच्च-नीच भेद-भाव पक्षपात परे, समता -शांति व वैराग्य सह।।
आत्मा में ही आत्मा के लिये, आत्मा द्वारा हर भाव-व्यवहार भी।
आत्मा द्वारा आत्मा का भोगोपभोग, आत्म वैभव में ही होता रमण भी।।
यह ही आध्यात्मिक (का) परम सत्य, यह ही परम धर्म, परम लक्ष्य।
अहिंसा आराधना साधना तप, 'कनकनन्दी' का यह परम लक्ष्य।।

संदर्भ-

जो संग तु मुइत्ता जाणादि उवओगमप्पगं सुद्धं।
तं णिस्संगं साहुं परमट्ठवियाणया विंति।। (131) स. सार

जो साधु बाह्य अभ्यन्तर दोनों प्रकार की सम्पूर्ण परिग्रह को छोड़कर अपने आप की आत्मा को दर्शन-ज्ञानोपयोग स्वरूप शुद्ध अनुभव करता है। उसका परमार्थ स्वरूप जानने वाले गणधरादिक देव निर्ग्रन्थ साधु कहते हैं।

जो मोहं तु मुइत्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं।
तं जिदमोहं साहु परमट्ठवियाणया विंति।। (32)

जो पर पदार्थ में होने वाले मोह को छोड़कर अपने आप को केवल मात्र निर्विकल्प ज्ञानस्वभावमय अनुभव करता है। परमार्थ के जानने वाले तीर्थंकरादिक परमेष्ठी उसी साधु को मोह रहित कहते हैं।

चारित्रं भवति यतः समस्त सावद्ययोग परिहरणात्।
सकल कषाय विमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत्।। (39) पु. सिद्धि.

समस्त पापयुक्त योगों के दूर करने से चारित्र होता है, वह चारित्र समस्त कषायों से रहित होता है, निर्मल होता है, राग-द्वेष रहित वीतराग होता है, वह चारित्र आत्मा का निज स्वरूप है।

अनुसरता पदमेतत् करंविताचार नित्यनिरभिमुखा।
एकान्तविरतीरूपा भवति मुनीनामलौकिकी वृत्ति।। (16) पु. सिद्धि.

इसी पद को अनुसरण करने वाले अर्थात् रत्नत्रय को प्राप्त हुये मुनियों की पापमिश्रित आचार से सदा पराङ्मुख सवर्था त्यागरूप लोक को अतिक्रम किये हुये वृत्ति होती है।

मानव भौतिक-आर्थिक-सामाजिक आदि से परे आध्यात्मिक भी है

(चाल : छोटी-छोटी गेया..., तुम दिल की धड़कन...)

मानव नहीं केवल भौतिक तथाहि सामाजिक या आर्थिक
बुद्धि व मन से भी परे हैं, संवेदनशील-नैतिक-आध्यात्मिक।।
आध्यात्मिक ही है मौलिक तत्त्व/(परम सत्य), भौतिक आदि है मिश्रतत्त्व।
आत्मतत्त्व से ही अनुश्रुत होकर, भौतिक आदि बनते (हैं) मिश्रतत्त्व।
जिनोम से लेकर शरीर तक, सभी होते हैं भौतिक तत्त्व।
द्रव्यकर्म व नोकर्म आदि भी, होते हैं सभी भौतिक तत्त्व।।
सत्ता संपत्ति व धन वैभव भी, सोना-चाँदी व उपकरण भी।
यान-वाहन, वैज्ञानिक यंत्रादि, भौतिक होते हैं कंप्यूटर भी।
चार्वाक व आधुनिक वैज्ञानिक, मानव को मानते है भौतिक-तत्त्व।
अर्थशास्त्री व अर्थलोलुपी, मानव को मानते हैं आर्थिक जीव।।
समाजशास्त्री मानते हैं, सामाजिक जीव, बुद्धिजीवी मानते है बौद्धिक जीव।
मन को प्रधानता देते मनोविज्ञानी, नीतिज्ञ मानते मानव नैतिक-जीव
इसी से परे भी है मानव अस्तित्व, संवेदनशील-सांस्कृतिक, आध्यात्मिक।
उत्तरोत्तर भी ये श्रेष्ठ होते, परम सत्य तो है आध्यात्मिक।।
आध्यात्मिक तो है अजर-अमर, स्वयंभू सनातन सत्य शिव सुन्दर।
अखण्ड अविनाशी सच्चिदानन्द, अमूर्तिक चैतन्य अनंत गुण भण्डार।
आध्यात्मिक को न जानते अधिक मानव रूढ़िवादी धार्मिक से वैज्ञानिक तक।
सर्वज्ञ जानते पूर्णतः आत्मा को,वीतरागी साधु भी मानते/(जानते)आत्मा को।।
आत्मज्ञान ही है परम विज्ञान, आत्मविश्वास ही है परम श्रद्धान।
आत्मोपलब्धि ही है परम सफलता, 'कनकनन्दी' चाहे परम सफलता।।

लौकिक ज्ञान से आध्यात्मिक ज्ञान सीखना अति कठिन क्यों?

(चाल : तुम दिल की धड़कन, क्या मिलिये ऐसे...)

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोग बन्धकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहतस्स।। (4) प्र. सार

गाथार्थ - (सर्वस्य अपि) सर्व लोकको (काम भोगबंध कथा) काम भोग संबंधी बंध की कथा तो (सुदपरिचिदाणुभूदा) सुनने में आ गई है, परिचय में आ गई है और अनुभव में भी आ गई है इसलिये सुलभ है किन्तु (विभक्तस्य) भिन्न आत्मा का (एकत्वस्य उपलंभः) एकत्व होना न तो सुना है, न परिचय में आया है, न अनुभव में आया हैं इसलिये (केवलं) एकमात्र वही(न सुलभः) सुलभ नहीं है।

सरल है सीखना लौकिक ज्ञान, वह भी बिना शिक्षक के भी।
कठिन है सीखना आत्मिक ज्ञान, वह भी आध्यात्मिक गुरु से भी।।
बिना गुरु से भी पशु-पक्षी तक, सीखते हैं अनेक विध ज्ञान।
खाना-पीना व सोना जागना, प्रजनन व शिशु पालन ज्ञान।
यौन क्रिया हेतु भी नाचना-गाना, घर बनाना व उसे सजाना।
भोजन हेतु यात्रा भी करना, आक्रमण व आत्म-रक्षा-करना।।
औजार बनाना व औषधि खोजना/(खाना) चलना तैरना व उड़ना।।
संगठित होना सफाई करना, उपकार (व) अपकार को समझना।।
ऐसा ही मानव बिन गुरु से भी, सीख जाता है लौकिक ज्ञान।
आहार रक्षा/(भय) मैथुन परिग्रह हेतु, भोगोपभोग से प्रेरित संज्ञा ज्ञान।।
यह सब अनादि कालीन संस्कार व आवश्यकता भी पूर्ति का ज्ञान।
कर्मजनित ये प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ, कषाय व लेश्या/(इच्छा) से प्रेरित काम।।
अतः लौकिक सभी ज्ञान-विज्ञान, शोध-बोध व निर्माण काम।
बिना सीखाये भी होना सरल है, ये सभी भौतिक सांसारिक काम।।
आध्यात्मिक ज्ञान इस से विपरीत, अभूतपूर्व सूक्ष्म अपरिचित।
अमूर्तिक इन्द्रिय ज्ञान से अतीत, श्रेष्ठ-ज्येष्ठ व क्लिष्ट-गरिष्ट।।
अतः आध्यात्मिक ज्ञान (होता) कठिन, सुयोग्य गुरु के उपदेश से भी।
इसलिए तीर्थंकर भी पूर्व जन्म में, आध्यात्मिक ज्ञान पाये गुरु से ही।।
प्रकाण्ड विद्वान-इन्द्रभूति गौतम भी, आत्मज्ञान पाये महावीर से ही।
साठ हजार प्रश्न किये उन्होंने, उत्तर दिये भगवान महावीर ने।।
शास्त्रों से यह सब मैंने पढ़ा, गुरुओं से भी मैंने (ये) सब पढ़ा।
अनुभव से भी मैंने (यह) सब पाया, 'कनकनन्दी' को आध्यात्मिक भाया।।

संदर्भ - अविणिच्छिओ च समयं तह तह सिद्धंतपडिणीओ।।''(66)

जो आचार्य स्व-समय रूप सिद्धान्त नहीं जानते हैं परन्तु बहुश्रुत (अनेक शास्त्रों के ज्ञाता) होते है वे मूलतः तत्त्व निर्णय के अभाव में शिष्य समूह से घिर जाते हैं और शनैःशनैः उनका जीवन सिद्धान्त के प्रतिकूल होता है। अतएव ऐसे आचार्य को सिद्धान्त का शत्रु कहा गया है।

''चरण करणप्पहाण ससमय-परसमयमुक्कवावारा।
चरण करणस्स सारं णिच्छयसुद्धं ण याणंति।। (67)''

जो जीव विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभाव वाले शुद्धात्मतत्व के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान चारित्र रूप निश्चय मोक्ष मार्ग से निरपेक्ष होकर केवल व्रत, नियमादि शुभाचरण रूप व्यवहार नय को ही मोक्ष मार्ग मानते हैं वे देवलोक आदि की क्लेश-परंपरा को भोगते हुए संसार में परिभ्रमण करते हैं। परन्तु जो शुद्धात्मानुभूति लक्षण युक्त निश्चय मोक्षमार्ग को मानता है, तथा साधन-शक्ति सम्पन्नता के अभाव में निश्चय साधक शुभाचरण करते हैं तो वे सराग सम्यग्दृष्टि परम्परा से मोक्ष प्राप्त करते हैं। परन्तु जो जीव केवल निश्चयनयावलम्बी हैं, वे व्यवहार रूप क्रिया-कर्मकाण्ड को आडम्बर जानकर स्वच्छन्द हो न निश्चयपद पाते हैं और न व्यवहार को ही प्राप्त करते हैं, वे महान् आलसी हैं।

आचरण का सार परमतत्व की उपलब्धि करना है, परमात्मा बनना है। किन्तु शुद्धात्मा को जाने बिना यह जीव मोक्ष-मार्ग का पथिक नहीं बन सकता है। केवल व्रत नियमादि के परिपालन से शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं हो सकता है। जो शुद्ध आत्मा को आगम से जानकर उसका चिन्तन-मनन, शुद्ध-अनुभव तथा अभ्यास करते हैं वे ही निश्चय शुद्ध आत्मा को जान सकते हैं।

प्रवचनसार में कहा है कि जिसकी आगम में श्रद्धा नहीं है वह श्रमण नहीं है श्रमणाभास है-

आगमपुव्वा दिट्ठी ण हवदि जस्सेह संजमो तस्स।
णत्थीदि भणदि सुत्तं असंजदो होदि किध समणो।। (236)

इस लोक में जिसकी आगमपूर्वक दृष्टि(दर्शन) नहीं है उसके सयंम नहीं है, इस प्रकार सूत्र कहता है, और जो असंयत है, वह श्रमण कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता।

लौकिक जन का लक्षण -

णिग्गंथो पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहि कम्मेहि।

सो लोगिगो त्ति भणिदो संजमतवसंजुदो चावि।। (269) प्र.सा.

if a monk after become a Nirgrantha ascetic, Still dabbles in wordly professions (like palmistry etc) he is called a wordly man (or a commoner), even though he is endowed (externally) with selfcontrol and austerities

जिनसे वस्त्रादि परिग्रह को त्याग कर मुनि पद की दीक्षा लेकर यति पद धारण कर लिया है ऐसा साधु यदि निश्चय और व्यवहार रत्नत्रय के नाश करने वाले भाव जो अपनी प्रसिद्धि, बढ़ाई व लाभ के बढ़ाने के कारण ज्योतिष्कर्म, मंत्र, यंत्र वैद्यक आदि लौकिक गृहस्थों के जीवन के उपायरूप व्यापारों के द्वारा वर्तन करता है तो वह द्रव्य संयम व द्रव्य तप को धारता हुआ भी लौकिक अथवा व्यावहारिक कहा जाता है।

परमनिर्ग्रन्थतारूप प्रवज्या की प्रतिज्ञा लेकर जो जीव संयम तप के भार को वहन करता है वह भी यदि मोह की बहुलता के कारणण शुद्धचेतन व्यवहार को छोड़कर निरन्तर मनुष्य व्यवहार में चक्कर खाने से लौकिक कर्मों को करता है तो लौकिक कहा जाता है।

समीक्षा - कुन्द-कुन्द देव ने इस गाथा में श्रमणाभास या लौकिक श्रमण का वर्णन किया है। उन्होंने केवल गृह व्यापार में लिप्तजनों को ही लौकिक नहीं कहा परन्तु निर्ग्रन्थ होकर भी जो आत्म कल्याण को छोड़कर बाह्य कार्यों में रत रहता है उस श्रमण को भी लौकिक कहा है। श्रमण का अर्थ है जो आत्मा के लिए रागद्वेष आदि भावों से रहित होकर सतत श्रम करे उसे श्रमण कहते हैं, इन्हें साधु कहते हैं। कहा भी है -

मानमायामदामर्ष क्षपणात्क्षपणः स्मृतः।

यो न श्रान्तो भवेद्भ्रान्तेस्तं विदुः श्रमणं बुधाः(402) य. ति. चम्पू.

गर्व, कपट, मद व क्रोध का क्षय कर देने के कारण साधु क्षपण कहा गया है और अनेक स्थानों में इर्या समिति पूर्वक विहार करने से थका हुआ नहीं होता इसलिए विद्वान् उसे श्रमण कहते हैं।

निर्ममोनिरहंकारो निर्माणमदमत्सरः।

निन्दायां संस्तवे चैव समधीः शंसितव्रतः।। (409)

जो मूर्च्छा (ममता) से रहित है, अहंकार-शून्य है जो मान-मद व ईर्षा से रहित है, जिसके अहिंसा-आदि महाव्रत प्रशंसनीय है और जो अपनी निन्दा व स्तुति में समान बुद्धि युक्त (राग द्वेष शून्य) है अर्थात् जो अपनी निन्दा करने वाले शत्रु से द्वेष नहीं करता और स्तुति करने वाले मित्र से राग नहीं करता अतः उसे समधी कहते हैं। समन्तभद्र स्वामी ने कहा भी है -

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।

ज्ञानध्यान तपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते।। (10)

जो विषयों की आशा के वश से रहित हो, परिग्रह रहित हो और ज्ञान ध्यान तथा तप रूपी रत्नों से सहित हो वह गुरु प्रशंसनीय है।

जीव अनादिकाल से स्वभाव से बहिर्मुख होकर विभाव में रच रहा है, पच रहा है, रमण कर रहा है। इसे ही संसार/भवभ्रमण/पर परिणति कहते हैं। इस समय में जो परिणति/ज्ञान होती है वह स्वरूप से विपरीत होती है। इसलिए मोक्ष की गति इससे विपरीत है मुमुक्ष की गति/प्रवृत्ति सांसारिक लोगों की गति से विपरीत होना स्वाभाविक है, इसलिए तो अमृतचंद सूरी ने कहा है -

अनुसरंता पदमेतत् करंविताचार नित्यानिराभिमुखा।

एकांतविरतिरूपा भवति मुनीनामलौकिकीवृत्तिः।। (16)

इस पद को अनुसरन करने वाले अर्थात् रत्नत्रय को प्राप्त हुए मुनियों को पाप मिश्रित आचार से सदा पराङ्मुख (सवर्था त्यागरूप लोक) को अतिक्रम किए हुए वृत्ति होती है।

ऐसे महाश्रमणों की हर क्रिया हर आचार-विचार स्व आत्मकल्याण को लक्ष्य करके होते हैं वे कोई भी कार्य इनके विपरीत न करते हैं, न करवाते हैं न अनुमोदन करते है। दशवैकालिक में कहा भी है -

आचार समाधि के चार प्रकार है, जैसे(1) इहलोक के निमित्त आचार के पालन नहीं करना चाहिए(2) परलोक के निमित्त आचार का पालन नहीं करना चाहिए। (3) कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक के निमित्त आचार का पालन नहीं करना चाहिए। (4) परन्तु उपरोक्त भावना से रहित जो अन्य किसी भी लौकिक भावना से प्रेरित होकर धर्म करते हैं उनका धर्म धर्माभास है एवं वह श्रमण भी

श्रमणाभास है। पंचमकाल में कुछ विशेष लौकिक प्रयोजन से धर्म करते हैं। यथा

भय दाक्षिण्य कीर्ति च लज्जया आशा तथ्यैव च।
पंचभि पंचमकाले जैनो धर्मः प्रवर्तते।।

पंचमकाल में लोग जैन धर्म को (1) लोकभय से (2) अपनी योग्यता को प्रदर्शन के लिए (3) कीर्ति के लिए (4) लज्जा से (5) आशा से पालन करेंगे।

जो मुनि लिंग को धारण करके भी सिद्धि को छोड़कर प्रसिद्धि में लग जाते हैं, प्रभावना के नाम पर भावना में रत रहते हैं स्वनिर्माण को छोड़कर भौतिक निर्माण (धर्मशाला, संस्था) में लगे रहते हैं, नीहित स्वार्थ के लिए चमत्कार के प्रदर्शन के लिए भौतिक उपार्जन के लिए लोक प्रसिद्धि लोकसंग्रह के लिए मंत्र, तंत्र, यंत्र में लगे रहते हैं- वे भी श्रमणाभास है। ज्ञानार्णव में ध्यान के अयोग्य व्यक्तियों का वर्णन करते हुए कहा है -

लोकानुरञ्जकैः पापैः कर्मभिर्गौरवं श्रिताः।
अरञ्जितनिजस्वान्ता अक्षार्थगहने रताः।। (46)
अनुद्धृतमनः शल्या अकृताध्यात्मनिश्चयाः।
अभिन्नभावदुर्लेश्या निषिद्धा ध्यानसाधने।। (47)

जो लोगों को रंजित करने वाला पापरूप कार्यों के गुरुता को प्राप्त हैं, नहीं रंजित हुआ है आत्मा में चित्त जिनका ऐसे हैं, तथा इन्द्रिय के विषयों की गहनता में लीन हैं, जिनने मन के शल्य को दूर नहीं किया है तथा अध्यात्म का निश्चय नहीं किया है और अपने भावों से दुर्लेश्या को दूर नहीं किया है ऐसे पुरुष ध्यान साधना में निषेधित है। क्योंकि इनमें ध्यान की योग्यता नहीं है।

नर्मकौतुककौटिल्यपापसूत्रोपदेशकाः।
अज्ञानज्वरशीर्णाङ्ग मोहनिद्रास्तचेतनाः।। (48)
अनुधुक्तास्तपः कर्तुं विषयग्रासलालसाः।
ससङ्ग शङ्किता भीता मन्येऽमी दैववञ्चिताः।। (49)
एते तृणीकृतस्वार्था मुक्तिश्रीसङ्गनिःस्पृहाः।
प्रभवन्ति न सद्ध्यानमन्वेषितुमपि क्षणं।। (50)

जो हास्य, कौतुहल, कुटिलता तथा हिंसादि पाप प्रवृति के शास्त्रों का उपदेश

करने वाले हैं तथा मिथ्यात्वरूपी ज्वर रोग से जिनकी आत्मा शीर्ण (रोगी) है,विकाररूप है और मोहरूप निद्रा से जिनकी चेतना नष्ट हो गयी है, जो तप करने को उद्यमी नहीं है, विषयों की जिनके अतिशय लालसा है, जो परिग्रह और शंकासहित है, वस्तु का निर्णय जिनको नहीं है तथा जो भयभीत है, मैं ऐसा मानता हूँ कि ऐसे पुरुष दैव के द्वारा ठगे गये हैं फिर ऐसे पुरुषों से ध्यान कैसे हो सकता है? इन पुरुषों ने अपने हित को तृण के समान समझ लिया है तथा मुक्ति रूपी स्त्री के संगम करने से निःस्पृह हो गये हैं। इस कारण ये समीचीन ध्यान के अन्वेषण करने को क्षणमात्र भी समर्थ नहीं हो सकते हैं।

पापभिचारकम्माणि सातर्द्धिरसलम्पटैः।
यै क्रियन्तेऽधर्मैर्मोहाद्धा हतं तैः स्वजीवितं।। (51)

जो सातावेदनीयजनित सुख और अणिमा-महिमादि तथा धनादिक ऋद्धि तथा रसीले भोजनादिक में लंपट है, मोह से पापाभिचार कर्म करते हैं, उनके लिए आचार्य महाराज खेदसहित कहते हैं कि हाय! हाय! अपने जीवन का नाश और अपने को संसारसमुद्र में डूबा दिया। वे पापाभिचार कर्म कौन-कौन से हैं, सो कहते हैं -

वश्याकर्षणविद्वेषं मारणोच्चाटनं तथा।
जलानलविषस्तम्भो रसकर्म रसायनम्।। (52)
पुरक्षोभेन्द्रजालं च बलस्तम्भो जयाजयौ।
विद्याच्छेदस्तथा वेधं ज्योतिर्ज्ञानं चिकित्सितम्।। (53)
यक्षिणीमन्त्रपातालसिद्धयः कालवञ्चना।
पादुकाञ्जननिम्नंशभूतभोगीन्द्रसाधनं।। (54)
इत्यादिविक्रियाकर्मरञ्जितैदुष्टचेष्टितैः।
आत्मानमपि न ज्ञातुं नष्टं लोकद्वयच्युतैः।। (55)

वशीकरण, आकर्षण,विद्वेषण, मारण, उच्चाटन तथा जल, अग्नि, विष का स्तंभन रसकर्म रसायान, नगर में क्षोभ उत्पन्न करना, इन्द्रजालसाधना, सेना का स्तंभन करना, जीतहार का विधान बताना,विद्या के छेदने का विधान साधना, बेधना, ज्योतिष का ज्ञान वैद्यकविद्यासाधन, यक्षिणीमंत्र, पातालसिद्धि के विधान का अभ्यास करना, कालवंचना (मृत्यु जीतने का मंत्र साधना) पादुकासाधन (खड़ाऊँ पहनकर आकाश वा जल में विहार करने की विद्या) करना, अदृश्य होने तथा गड़े

हुए धन देखने के अञ्जन साधना, शस्त्रादिक का साधना, भूतसाधन इत्यादि विक्रियारूप कार्यों में अनुरक्त होकर दृष्ट चेष्टा करने वाले जो हैं उन्होंने आत्मज्ञान से भी हाथ धोया और अपने दोनों लोक का कार्य भी नष्ट किया। ऐसे पुरुषों के ध्यान की सिद्धि होना कठिन है।

यतित्वं जीवनोपायं कुर्वन्तः किं न लज्जिताः।
मातुः पण्यमिवालम्ब्य केचिद्गतघृणाः।। (56)
निस्रपाः कर्म कुर्वन्ति यतित्वेऽप्यतिनिन्दितम्।
ततो विराध्य सन्मार्ग विशन्ति नरकोदरे।। (57)

कई निर्दय निर्लज्ज साधुपन में भी अतिशय निंदा करने योग्य कार्य करते हैं। वे समीचीन हितरूप मार्ग का विरोध कर नरक में प्रवेश करते हैं। जैसे कोई अपनी माता को वेश्या बना कर उससे धनोपार्जन करते हैं तैसे ही जो मुनि होकर उस मुनि दीक्षा को जीवन का उपाय बनाते हैं और उसके द्वारा धनोपार्जन करते हैं, वे अतिशय निर्दय तथा निर्लज्ज हैं।

अविद्याश्रयणं युक्तं प्राग्गृहावस्थितैर्वरम्।
मुक्त्यङ्ग लिङ्गमादाय न श्लाघ्य लोकदम्भनं।। (58)

जो गृहस्थावस्था में हैं, उनको तो ऐसी अविद्या का आश्रय करना कदाचित् युक्त भी कहा जा सकता है, परन्तु मुक्ति के अंगस्वरूप मुनि के भेष को धारण करके लोक का ठगना कदापि प्रशंसनीय नहीं है।

मनुष्यत्वं समासाद्य यतित्वं च जगत्नुतम्।
हेयमेवाशुभं कार्य विवेच्य सुहितं बुधैः।। (59)

मनुष्यपन पा कर उसमें फिर जगत्पूज्य मुनिदीक्षा को ग्रहण करके विद्वानों को अपना हित विचार अशुभ कर्म अवश्य ही छोड़ना चाहिए।

अहोविभ्रान्तचित्तानां पश्यपुंसां विचेष्टितम्।
यत्प्रपञ्चैर्यतित्वेऽपि नीयते जन्म निःफलम्।। (60)

आचार्य महाराज कहते हैं कि देखो भ्रमरूप चित्तवाले पुरुषों की चेष्टा साधुपन में पाखण्ड प्रपंच करके जन्म को निष्फल कर देती है।

असतं भावनमिच्छेप्य पुरेक्खारञ्च भिक्खुसु।
आवासेसु च इस्सरियं पूजा परकुलेसु च।। (14)

ममेव कतमञ्ञन्तु गिही पब्बजिता उभो।
ममेव कतमञ्ञन्तु गिही पब्बजिता उभो।
ममेवातिवसा अस्सु किच्चाकिच्चेस किस्मिचि।
तचि बालस्स सङ्कप्पा इच्छा मानो च वड्ढति।। (15)

भिक्षुओं के बीच अगुआ होना, मठों का अधिपति बनना, गृहस्थ परिवारों में पूजित होना, गृही और प्रव्रजित दोनों मेरा ही किया माने, सभी प्रकार के काम में मेरे ही अधीन रहें। ऐसा मूर्ख का संकल्प होता है, जिससे उसकी इच्छा और अभिमान बढ़ते हैं।

अञ्ञा हि लाभूपनिसा अञ्ञा निब्बानगामिनी।
एवमेतं अभिञ्ञाय भिक्खु बुद्धस्स सावको।।
सक्कारं नाभिनन्देय्य विवेकमनुब्रूहये।। (16)

लाभ का रास्ता दूसरा और निर्वाण को ले जाने वाला दूसरा इस प्रकार इसे जानकर बुद्ध का अनुगामी भिक्षु सत्कार का अभिनन्दन न करे और विवेक (एकान्तवास) को बढ़ावे।

न वाक्करणमत्तेन वण्णापोक्खरताय वा।
साधुरुपो नरो होति इस्सुकी मच्छही सठो। (7)

ईर्ष्यालु और शठ पुरुष वक्ता या रूपवान होने मात्र से साधु रूप नहीं होता।

न मुण्डकेन समणो अब्बतो अलिकं भणं।
इच्छालाभसमापन्नो समणो किं भविस्सति।। (9)

जो व्रतरहित, मिथ्याभाषी है वह पण्डित होने मात्र से श्रमण नहीं होता, इच्छा-लाभ से भरा (पुरुष) क्या श्रमण होगा ?

कुसो यथा दुग्गहीतो हत्थंमेवानुकन्तति।।
सामञ्ञं दुप्परामट्ठं निरयाय उपकड्ढति।। (6)

जैसे ठीक न पकड़ने से कुश हाथ को ही छेदता है, (इसी प्रकार) श्रामण्य ठीक से न ग्रहण करने पर नरक में ले जाता है।

गिद्धी यदा होति महग्धसो च। निद्दायिता सम्मपरिवतसायी।
महावराहो व निवापपुट्ठो पुनप्पुनं गब्भमुपेति मन्दो(6)

आलसी, बहुत खाने वाला, निद्रालु, करवट बदल-बदल कर सोने वाला,

खिला-खिला कर पुष्ट किये मोटे सुअर की तरह मन्द बार-बार गर्भ में पड़ता है।

जे के इमे पव्वइए, निछासीले पगामसो।
भोच्चा पेच्चसुहं सुवइ, पावसमणे त्ति वुच्चइ।। (उत्त. अ.)

जो कोई प्रव्रजित होकर निद्राशील रहता है, यथेच्छ खा-पीकर बस आराम से सो जाता है, वह पापश्रमण कहलाता है।

अरियउवज्झाएहिं सुयं विणयं च गाहिए।
ते चेव खिंसई बाले, पावसमणे त्ति वुच्चइ।। (4)

जिन आचार्य और उपाध्यायों से श्रुत (विचार) और विनय (आचार) ग्रहण किया है, उन्हीं की निंदा करता है, वह बाल अर्थात् विवेक भ्रष्ट पापश्रमण कहलाता है।

आयरिय-उवज्झायाणं, सम्मं नो पडितप्पइ।
अप्पडिपूयए थद्धे, पावसमणे त्ति वुच्चई।। (5)

जो आचार्य और उपाध्यायों की चिंता (सेवा आदि का ध्यान) नहीं करता है, अपितु उनका अनादर करता है, जो ढीठ है पाप श्रमण कहलाता है।

सम्मछमाणे णाणाणि बीमाणि हरियाणिय।
असंजस संजयमन्नमाणे, पावसमणे त्ति वुच्चई।। (6)

जो प्राणी (द्विन्द्रिय आदि जीव) बीज और वनस्पति का समर्दन करता रहता है, जो असंयत होते हुए भी स्वयं को संयत मानता है वह पापश्रमण कहलाता है।

पडिलेहेइ पमत्ते से किंचि हु निसामिया।
गुरुं परिभावए निच्चं पावसमणे त्ति वुच्चई।। (10) उत्त. अ.

जो इधर-उधर की बातों को सुनता हुआ प्रमत्तभाव से प्रतिलेखन करता है, जो गुरु की अवहेलना करता है वह पाप श्रमण कहलाता है।

बहुमाई, पमुहरे, थद्धे लुद्धे अणिग्गहे।
असंविभागी, अचियत्ते, पावसमणे ति वुच्चइ। (11)

जो बहुत मायावी है, जो वाचाल हैं, जो स्तब्ध ढीठ हैं, लोभी है, जो अनिग्रह है अर्थात् इन्द्रिय एवं मन पर उचित नियंत्रण नहीं रखता है, जो प्राप्त वस्तुओं का परस्पर संविभाग नहीं करता है, **जिसे गुरु के प्रति प्रेम नहीं है वह**

पाप श्रमण कहलाता है।

विवादं च उदीरेइ अहम्मे अत्तपन्नहा।
दुग्गहे कलहेस्ते, पावसमणे ति वुच्चई।। (12)

जो शान्त हुए विवाद को पुनः उखाड़ता है, जो अधर्म में अपनी प्रज्ञा का हनन करता है, जो कदाग्रह (विग्रह) तथा कलह में व्यस्त हैं वह पाप श्रमण कहलाता है।

पौल्ले व मुट्ठी जह से असारे, अयन्तिए कूडकहावणे वा।
राढामणी वेरुलियप्पगासे, अमहग्घए होइ य जाणएसु।। (42)

''जो पोली (खाली) मुट्ठी की तरह निस्सार है खोटे-सिक्के की तरह अयन्त्रित अप्रमाणित है, वैडूर्य की तरह चमकने वाली तुच्छ राढामणि-काचमणि है वह जानने वाले परीक्षकों की दृष्टि में मूल्यहीन है।''

कुसी ललिंग इह, धारइत्ता, इसिज्झयं जीविय वूहइत्ता।
असंजए संजयलप्पमाणे, विणिधायमागच्छइ से चिरंपि।। (43)

''जो कुशील आचारहीनों का वेष और ऋणि ध्वज जीविका चलाता है, असंयत होते हुए भी अपने आप को संयत कहता है'' वह चिरकाल तक विनाश को प्राप्त होता है।

विसं तु पीयं जह कालकूडं, हणइ सत्थं जह कुग्गहीयं।
एसे व धम्मो विसओववन्नो, हणाइ वेयाल इवाविवन्नो।। (44)

''पिया हुआ कालकूट-विष, उलटा पकड़ा हुआ शस्त्र, अनियन्त्रित वेताल-जैसे विनाशकारी होता है वैसे ही विषय विकारों से युक्त धर्म भी विनाशकारी होता है।

जे लक्खणं सुविणं पउंजमाणे, निमित्त-कोऊहलसंपगाढे।
कुहेडविज्जासवदारजीवी, नगच्छई सरणं तम्मि काले।। (45)

''जो लक्षण और स्वप्न विद्या का प्रयोग करता है, निमित्त शास्त्र और कौतुक कार्य में अत्यन्त आसक्त है, मिथ्या आश्चर्य को उत्पन्न करने वाली कुहेट विद्याओं से जादूगरी के खेलों से जीविका चलाता है वह कर्मफल-भोग के समय किसी की शरण नहीं पा सकता।''

मंतमेणेव उसे असीले, सया दुही विप्पारियासुवेइ।
संथावइ नरगतिरिक्खजोणिं मोणं विराहेत्तु आसाहुरूखे।। (46)

''वह शील रहित साधु अपने तमस्तमस् तीव्र अज्ञान के कारण विपरीत दृष्टि को प्राप्त होता है, फलतः असाधु प्रकृति वाला वह साधु मौन मुनि धर्म की विराधनाकर सतत दुःख भोगता हुआ नरक और तिर्यंच गति में आवागमन करता रहता है।''

उद्देसियं कीयगंड, नियागं न मुंचइ किंचि अणेसणिज्जं।
अग्गी विवा सव्वभक्खीभविता, इओचुओ गच्छइकट्ट पावं।। (47)

''जो औद्देशिक, क्रीत, कृत, नियाग नित्यपिण्ड आदि के रूप में थोड़ा सा भी अनेषणीय आहार नहीं छोड़ता वह अग्नि की भांति सर्वभक्षी भिक्षु पाप कर्म करके यहाँ से मरने के बाद दुर्गति में जाता है।''

नतंअरी कंठछेत्ता करेइ, जं से करे अप्पणिया दुरप्पा।
से नाहिई मच्चुमुहं तु पत्ते, पच्छाणुतावेण दयाविहुणो।। (48) उत्त. अ.

''स्वयं की अपनी दुष्प्रवृति शील दुरात्मा जो अनर्थ करती है वह गला काटने वाला शत्रु भी नहीं कर पाता है। उक्त तथ्य को निर्दयी संयमहीन मनुष्य मृत्यु के क्षणों में पश्चाताप करते हुए जान पाएगा।''

निरट्ठिया नग्गरुई उ तस्स, जे उत्तमट्ठं विवज्जासमेइ।
इमे वि से नात्तिपरेविलोए, दुहओ वि से झिज्जइतत्थलोए।। (49)

''जो उत्तमार्थ में अन्तिम समय की साधना में विपरीत दृष्टि रखता है, उसकी श्रामण्य में अभिरुचि व्यर्थ है। उसके लिए न यह लोक है न परलोक है। दोनों लोक के प्रयोजन के शून्य होने के कारण वह उभय भ्रष्ट भिक्षु निरन्तर चिन्ता में घुलता रहता है।

एमेवरहाछन्द-कुसीलउवे, मग्गं विराहेतु जिणुत्तमाणं।
कुररी विवा भोगरसाणु गिद्धा, निरट्ठसोया परियावमेइ।। (50)

''उसी प्रकार स्वच्छन्द और कुशील साधु भी जिनोत्तम भगवान के मार्ग की विराधना कर वैसे ही परिताप को प्राप्त होता है, जैसे कि भोग रसों में आसक्त होकर निरर्थक शोक करने वाली कुररी (गीध) पक्षिणी परिताप को प्राप्त होती है।''

सोच्चाण मेहावि सुभासियं इमं, अणुसासणं नाणगुणोववेयं।
मग्गं कुसीलाण जहाय सव्वं, महानियण्ठाण वए पहेणं।। (51)

''मेधावी साधक इस सुभाषित को एवं ज्ञान गुण से युक्त अनुशासन

(शिक्षा) को सुनकर कुशील व्यक्तियों के सब मार्गों को छोड़कर, महान निर्ग्रन्थों के पथ पर चले।''

अनासक्ति योग(गीता) में नारायण श्रीकृष्ण ने भी लौकिक जन (धर्म बाह्य) भोगी का वर्णन करते हुए कहा है-

यमिमां पुष्पितां वाचं प्रवदत्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थनान्यस्तीति वादिनः।(42)
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति।। (43)
भोगैश्वर्य प्रसक्तनां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिक बुद्धिःसमाधौ न विधीयते।। (44)

अज्ञानी, वेदवादी, 'इसके सिवा और कुछ नहीं है' यह कहने वाले, कामना वाले, स्वर्ग को श्रेष्ठ मानने वाले, जन्म-मरण रूपी कर्म के फल देने वाली, भोग और ऐश्वर्य प्राप्ति के लिए किए जाने वाली कर्मों के वर्णन से भरी हुई बातें बढ़ा बढ़ाकर कहते हैं। भोग और ऐश्वर्य में आसक्त रहने वाले इन लोगों की बुद्धि मारी जाती है, इनकी बुद्धि न तो निश्चयवाली होती है और न वह समाधि में ही स्थिर हो सकती है।

मानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः।। (7)
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्।। (8)
आसक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समाचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु।। (9)
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेश सेवित्वमरतिर्जनसंसदि।। (10)
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एत्तज्ज्ञानमित्ति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा।। (11)

अमानीनित्व, अर्दभित्व, अहिंसा, क्षमा सरलता, आचार्य की सेवा, शुद्धता-स्थिरता, आत्मसंयम, इन्द्रियों के विषयों में वैराग्य अहंकार-रहितता, जन्म, मरण, जरा व्याधि, दुःख और दोषों का निरन्तर भान, पुत्र, स्त्री और गृह आदि में मोह

तथा ममता का अभाव प्रिय और अप्रिय में नित्य समभाव, मुझमें अनन्य ध्यानपूर्वक एक निष्ठ भक्ति, एकांत स्थान का सेवन, जन समूह में सम्मिलित होने की अरुचि, आध्यात्मिक ज्ञान की नित्यता का भान और आत्मदर्शन वह सब ज्ञान कहलाता है। इससे जो उलटा है वह अज्ञान है।

लौकिक जनसंसर्ग असंयम का कारण-

णिच्छिदसुत्तत्थपदो समिदकसाओ तवोधिगो चावि।
लोगिगजणसंसग्गं ण चयदि जदि संजदो ण हवदि।। (268) प्र.सा.

He who has property grasped the interpretation of the sacred text who was pacified the passions and who exceis in austerities, cannot be self-controlled. if he does not abandon company with common people.

(णिच्छिदसुत्तत्थपदो) जिसने सूत्र के अर्थ और पदों को निश्चयपूर्वक जान लिया है, (समिदकसायो) कषायों को शांत कर दिया है (तवोधिको चावि) तथा तप करने में भी अधिक है ऐसा साधु (जदि) यदि (लोगिगजणसंसग्गं) लौकिक जनों का अर्थात् असंयमियों का भ्रष्टचारित्र साधुओं का संगम (ण जहदि) नहीं त्यागता है (संजदो ण हवदि) तो वह संयमी नहीं रह सकता है। जिसने अनेक धर्ममय अपने शुद्धात्मा आदि पदार्थों को बताने वाले सूत्र के अर्थ और पदों को अच्छी तरह निर्णय करके जान लिया है, अन्य जीवों व पदार्थों में क्रोधादि कषाय को त्याग करने से तथा भीतर परमशांत भाव में परिणमन करते हुए अपने शुद्धात्मा की भावना के बल से कषायों को शांत कर दिया है, तथा अनशन आदि छः बाहरी तपों के बल से व अंतरंग में शुद्धात्मा की भावना के संबंध में औरों से विजय प्राप्त किया है, ऐसा तप करने में जो श्रेष्ठ है। इन तीन विशेषणों से युक्त साधु होने पर भी यदि स्वेच्छाचारी लौकिक जनों का संसर्ग न छोड़े तो वह स्वयं संयम से छूट जाता है। भाव यह है कि स्वयं आत्मा की भावना करने वाला होने से जैसे अग्नि की संगति से जल उष्णपने को प्राप्त हो जाता है, ऐसे वह साधु विकारी हो जाता है।

समीक्षा-परिणत दशा में जीव बाह्य निमित्त से अधिक परिणमन करता है जैसे-पानी अग्नि के संपर्क में उष्ण हो जाता है एवं फ्रीज में रखने पर बर्फ बन जाता है, उसी प्रकार परिणत दशा वाला जीव कुसंगति से धर्मशील सदाचार से रहित हो जाता है एवं सुसंगति से सज्जन बन जाता है जिसको जो भाता है वह

उसकी संगति करता है। यदि कोई शीतलता चाहता है वह शीतल वस्तु जैसे जल, चंदन, बर्फ आदि की संगति करेगा और जिसे उष्णता चाहिए वह अग्नि, सूर्यकिरण, गरमपानी आदि की संगति करेगा। इसी प्रकार यदि श्रमण होकर भी लौकिक जन की संगति कर रहा है तो वह अंतरंग से लौकिकता (असयंम, विषयभोग) चाह रहा है। इसलिए इस गाथा में कुन्द-कुन्द देव ने कहा है जो श्रमण होकर भी लौकिक जनों की संगति करता है वह संयमी नहीं है। नीतिकारों ने कुसंगति का फल निम्न प्रकार से कहा है-

पापं वर्धयते चिनोति कुमतिं कीर्त्याङ्गना नश्यति।
धर्मं ध्वंसयतेनतीति विपदं सम्पत्तिमुन्मर्दति।
नीतिं हन्ति विनीतिमत्रकुरुते कोपं धुनीते शमं,
किं वा दुर्जन सङ्गर्तिन कुरुते लोकद्वय ध्वंसिनी।।(1)

कुसंगति पाप को बढ़ाती है, कुमति का संचय करती है, कीर्ति रूपी स्त्री नष्ट होती है, धर्म का विध्वंस करती है, विपत्ति को विस्तृत करती है, सम्पत्ति को नष्ट करती है, नीति और विनय को नष्ट करती है, क्रोध उत्पन्न करती है और शान्ति को दूर करती है। इस प्रकार दोनों लोकों को नष्ट करते वाली दुर्जन की संगति क्या-क्या नहीं करती है ?

दुर्जनजन ससंर्गात्, साधुजनश्चापि दोषमायाति।
दशमुखकृतापराधे जलनिधिरपि बन्धनं प्राप्तः।।

दुर्जन मनुष्य की संगति से सज्जन पुरुष भी दोष को प्राप्त करता है, जैसे रावण के द्वारा अपराध किये जाने पर समुद्र भी बंधन को प्राप्त हुआ।

अणुरप्यासतां सङ्गः सद्गुण हन्ति विस्तृतम्।
गुण रुपान्तरं याति तक्रयोगाद् यथा पयः।। (6)

दुर्जन का थोड़ा भी संसर्ग विस्तृत सद्गुण को नष्ट कर देता है, जैसे कि तक्र-छाछ के योग से दूध अन्य गुण और अन्य रूप को प्राप्त हो जाता है।

मलिनयति कोटिपात्रं दहति गुणं स्नेहमाशु नाशयति।
अमले मलं प्रयच्छति दीप ज्वालेव खलमैत्री।। (10)

दुर्जन की मित्रता दीपक की ज्वाला के समान करोड़ों पात्रों को मलिन कर देती है, गुण (पक्ष में बत्ती) को जलाती है, स्नेह (पक्ष में तेल) को शीघ्र नष्ट करती

है और निर्मल पुरुष में मल दोष-प्रदान करती है अर्थात् निर्दोष को सदोष बना देती है। कुन्द कुन्द देव ने दर्शनपाहुड में कहा है-

जे दंसणेसु भट्ठा णाणे भट्ठा चरित्तभट्ठा य।
भट्ठविभट्ठा सेसं पि जणं विणासंति।। (8)

जो मनुष्य सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है, ज्ञान से भ्रष्ट है और चारित्र से भ्रष्ट हैं वे भ्रष्टों में विशिष्ट भ्रष्ट हैं अर्थात् अत्यन्त भ्रष्ट हैं तथा अन्य मनुष्यों को भी भ्रष्ट कर देते हैं।

लौकिक जन की परिभाषा करते हुए आचार्य जयसेन ने कहा है कि जो स्वेच्छाचारी है वह लौकिक जन है अर्थात् जो आगम,नीति, आदर्श, मर्यादाओं का उल्लंघन करके स्वेच्छा से विचार करता बोलता हो, आचरण करता हो वह स्वेच्छाचारी है ऐसे जो स्वेच्छाचारी होते हैं वे दूसरों के उपदेश को सत्यार्थ मार्ग को भी जानते नहीं है मानते नहीं है और न ही आचरण करते हैं। जैसे प्रबल वेग में बहती हुई नदी स्रोत में गिरने वाले प्राणियों तथा तटस्थ वृक्ष आदि को भी बहाकर ले जाती है उसी प्रकार स्वेच्छाचारी व्यक्ति दूसरों को भी स्वेच्छाचार में प्रवृत्ति कराता है। मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है कि व्यक्ति अपने परिसर के व्यक्तियों को भी स्वयं के समान बनाना चाहता है। जैसा-जो मद्यपायी होता है उसकी संगति में आने वाले को मद्य पिलाता है तथा जो धुम्रपायी होता है वह अपने मित्रों को धूम्रपान कराता है। इसलिए तो व्यसन सीखने का एक कारण व्यसनी की संगति भी है। अभी प्रायोगिक रूप में देखा जाता है कि क्लब, होस्टल, परिवार, मित्रमंडली, प्रीतिभोज अदि में अधिकांश व्यक्ति जिस आचार, विचार, खान-पान के होते हैं वे दूसरों को भी उसी प्रकार बनाना चाहते हैं। अधिकांश व्यक्ति अशुद्ध खान-पान के होते हैं वे दूसरों को भी उसी प्रकार बनाना चाहते हैं। अधिकांश व्यक्ति अशुद्ध खान-पान वाले हैं। वे दूसरों को भी अपने समान बनाना चाहते हैं और वह नहीं बनता है तो उसकी कटु आलोचना करते हैं अधिकांश दुर्बल मानसिक, दृढ़संकल्प हीन व्यक्ति अशुद्ध आचार-विचार वालों के जैसे ही बन जाते हैं। इतना ही नहीं दुर्जन संगति से वादविवाद कलह आदि भी बढ़ता है क्योंकि सबकी विचार धारा अलग-अलग होती है और जब नहीं मिलती तो उसमें टकराव व संघर्ष होता है। इसलिए नियमसार में कुन्द कुन्द आचार्य ने कहा है -

णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी।
तम्हा वयणविवादं, सगपरसमएहि वज्जिज्जो।। (156)

नाना प्रकार के जीव हैं नाना प्रकार के कर्म है, और नाना प्रकार की लब्धियां हैं, इसलिए स्व और पर समय सम्बन्धी वचन विवाद वर्जित करना चाहिए।

लद्धूणं णिहि एक्को, तस्स फलं अणुहवेइ सुजणते।
तह णाणी णाणणिहिं,भुजेइ चइतु परतत्तिं।। (157)

जैसे कोई निर्धन निधि को पाकर सुजनरूप से गुप्तरूप से उसके फल का अनुभव करता है वैसे ही ज्ञानीजन परजनों के समुदाय को छोड़कर ज्ञाननिधि का अनुभव करता है। समाधि तंत्र में भी पूज्यपाद स्वामी ने लौकिक जन का संसर्गत्याग एवं सम्भाषण त्याग करने को कहा है। यथा-

जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमा।
भवन्ति तस्मात्संसर्ग जनैर्योगी ततस्त्यजेत् ।। (72)

मनुष्यों से अनेक प्रकार की बातें सुनने को मिलती है उन बातों को सुनने से, आत्मा में हलन-चलन होती है, उससे मन में विविध प्रकार के क्षोभ या चित्त विक्षेप होते हैं। इस कारण से आत्मध्यान करने वाला मुनि अन्य मनुष्यों के साथ सम्बन्ध रखना छोड़ दें।

अज्ञापितं न जानन्ति यथा मां ज्ञापितं तथा।
मूढ़ात्मानस्ततस्तेषां वृथा में ज्ञापनश्रम।। (58)

मूर्ख बहिरात्मा जीव बिना बतलाये मेरे आत्मस्वरूप को जिस तरह नहीं जानते हैं, उसी प्रकार बतलाने पर भी आत्म स्वरूप को नहीं जानते इस कारण मूर्ख बहिरात्माओं के लिए मेरा आत्मा का शुद्ध स्वरूप समझाने का परिश्रम व्यर्थ है।

अभवत्तिविक्षेप एकांते तत्वसंस्थिति।
अभ्यस्येदभियोगेन योगी तत्वं निजात्मनः।। (36)

जिसके चित्त में रागद्वेष आदि का क्षोभ नहीं है तथा हेय तथा उपादेय तत्व विचार में जिसकी बुद्धि स्थिर है, ऐसा आत्मध्यानी मुनि अकेले निर्जन स्थान में आलस्य तथा निद्रा त्यागकर सावधानी से अपने आत्मा में शुद्ध स्वरूप के चिन्तन का अभ्यास करें। बोद्ध ग्रंथ धम्मपद में कहा है -

चरञ्जे नाधिगच्छेय्य सेय्यं सदिसमत्तनो।

एक चरियं दल्हं कयिरा नत्थि बाले सहायता।। (2)

विचरण करते यदि अपने श्रेष्ठ या अपने समान व्यक्ति को न पाये, तो दृढ़ता के साथ अकेला ही विचरे। मूर्ख से मित्रता अच्छी नहीं।

यावजीवम्पि चे बालो पण्डितं पविरूपासति।

न सो धम्मं विजानाति दब्बी सूपरसं यथा।। (5)

यदि मूर्ख जीवन भर पण्डित के साथ रहे, तो भी वह धर्म को वैसे ही नहीं जान सकता है, जैसे कि कछली दाल (सूप) के रस को।

न भजे पापके भित्ते न भजे पुरिसाधमे।

भजेथ मित्ते कल्याणे भजेय पुरिसुत्तमे।। (3)

बुरे मित्रों का साथ न करें, न अधम पुरुषों का सेवन करे। अच्छे मित्रों का साथ करें, उत्तम पुरुषों का सेवन करें।

बालसंगतिचारी हि दीधमद्यान सोचति।

दुक्खो बालेहि संवासो अभितेनेव सव्वदा।

धीरो च सुखसंवासो ञातीनं व समागमो।। (11)

मूढ़ों की संगति में रहने वाला दीर्घकाल तक शोक करता है, मूढ़ों का सहवास शत्रु की तरह सदा दुःखदायक होता है। बन्धुओं के समागम की भाँति धीरों का सहवास सुखद होता है।

जैनाभास यति के साथ क्रियाओं का निषेध

विसंधैस्समध्यात्मं प्रायश्चित विधिक्रियाः।

सिद्धान्ताचार भावास्य नालोच्या यतिना सदा।। (73) नीति सार

मुनिराज को जैनभास (विसंघ) संघ के यतियों के साथ अध्यात्म, प्रायश्चित विधि (अनुष्ठान) क्रियाओं को और सिद्धान्ताचार ग्रन्थ के अभिप्राय के सम्बन्ध में आलोचना (विचार) नहीं करना चाहिए।

भद्रोविभेति दुःसंगत परः परःसगच्छते तथा।

अभद्रेण समं नित्य यथा स्यात् तत्कुटुम्बभाक् ।। (1) कु. का.

योग्य पुरुष कुसंग से डरते हैं पर क्षुद्र प्रकृति के आदमी दुर्जनों से इस रीति से मिलते जुलते हैं कि मानों वे उनके कुटुम्ब के ही हों।

यथाभूमौ वहत्यम्भस्तत्था परिवर्तते।

यादृशी संगतिस्तस्य पुरुषोऽपि तथाविधः।। (2)

पानी का गुण बदल जाता है, वह जैसे धरती पर बहता है वैसा ही गुण उसका हो जाता है। इसी प्रकार मनुष्य की जैसी संगति होती है उसमें वैसे ही गुण आ जाते हैं।

बुद्धेर्यद्यपि सम्बन्धो मस्तकादेव वर्तते।

यशसः किन्तु सम्बन्धो गोष्ट्रया उपरिनिर्भरः।। (3)

आदमी की बुद्धि का सम्बन्ध तो उसके मस्तक से है, पर उसकी प्रतिष्ठा तो उन लोगों पर पूर्ण अवलम्बित है जिनकी संगति में वह रहता है।

जिनके संसर्ग नहीं करना चाहिए ऐसे श्रमण का स्वरूप मूलाचार में निम्न प्रकार से वर्णन किया गया है।

चंडो चवलो मंदो तह साहू पुट्ठिमंसपडिसेवी।

गारवकसायबहुलो दुरासओ होदि सो समणो।। (937)

जो साधु क्रोधी, चंचल,आलसी, चुगलखोर हैं एवं गौरव और कषाय की बहुलता वाला है वह श्रमण आश्रय लेने योग्य नहीं है।

वेज्जावच्चविहूणं विणयविहूणं च दुस्सुदिकुसीलं।

समणं विरागहीणं, सुजमो साधू ण सेविज्ज।। (958)

सुचारित्रवान् साधु वैयावृत्य से हीन, विनय से हीन, खोटे शास्त्र में युक्त, कुशील और वैराग्य से हीन श्रमण का आश्रय न लेवें।

दंभं परपिरवादं णिसुणत्तण पावसुत्तपडिसेवं।

चिरपव्वइदं पि मुणी आरंभजुदं ण सेविज्ज।। (959)

मायायुक्त, अन्य का निन्दक, पैशुन्यकारक, पापसूत्रों के अनुरूप प्रवृत्ति करने वाला और आरम्भ सहित श्रमण चिरकाल से दीक्षित क्यों न हो तो भी उसकी उपासना न करें।

चिरपव्वइदं पि मुणी अपुट्ठधम्म असंपुडं णीचं।

लोइय लोगुत्तरियं अयाणमाणं विवज्जेज्ज।। (960)

मिथ्यात्व युक्त, स्वेच्छाचारी, नीचकार्ययुक्त, लौकिक, व्यापारयुक्त, लोकोत्तर व्यापार को नहीं जानते ऐसे चिकराल से भी दीक्षित मुनि को छोड़ देवें।

आयारियकुलं मुच्चा विहरदि समणो य जो दु एगागी।
ण य गेण्हदि उवदेसं पावस्समणोति वुच्चदि दु।। (961)

जो श्रमण आचार्य संघ को छोड़कर एकाकी विहार करता है और उपदेश को ग्रहण नहीं करता है वह पापश्रमण कहलाता है

आयरियत्तण तुरिओ पुव्वं सिस्सत्तणं अकाऊणं।
हिंडई ढुंढायरिओ णिरंकुसो मत्तहत्थित्व।। (962)

जो पहले शिष्यत्व न करके आचार्य होने की जल्दी करता है वह ढोंगाचार्य है। यह मदोन्मत्त हाथी के समान निरंकुश भ्रमण करता है।

अंबो णिबत्तणं पत्तो दुरासएण जहा तहा।।
समणं मंदसंवेग अपुट्ठधम्मं ण सेविज्ज।। (953)

जैसे आम खोटे संसर्ग से नीमपने को प्राप्त हो जाता है वैसे ही आचरण से हीन और धर्म में आलसी श्रमण का आश्रय न लें।

बिहेदव्वं णिचं दुज्जणवयणा पलोट्टजिब्भस्स।
वरणायरणिग्गमं पिच वयणकयार वहंतस्स।। (964)

दुर्जन के सदृश वचन वाले यद्वा तद्वा बोलने वाले, नगर के नाले के कचरे को धारण करते हुए के समान मुनि से हमेशा डरना चाहिए।

आयरियत्तणमुवणायइ जो मुणि आगमं ण जाणंतो।
अप्पाणं पि विणासिय अण्णे वि पुणो विणसेई।। (965)

जो मुनि आगम को न जानते हुए आचार्यपने को प्राप्त हो जाता है वह अपने को नष्ट करके पुनः अन्यों को भी नष्ट कर देता है।

घोडयलछिसमाणस्स बाहिर बगणिहुदकरणचरणस्स।।
अब्भंतरम्हि कुहिदस्स तस्स दु किं बज्झजोगेहिं।। (966)

घोड़े के लीद के समान अन्तरंग मे निन्द्य और बाह्य से बगुले के सदृश हाथ-पैरों को निश्चल करने वाले साधु के बाह्य योगों से क्या प्रयोजन ?

पासत्थादिपणयं णिच्चं वज्जेह सव्वधा तुम्हे।
हंदि हु मेलणदोसेण होइ पुरिसस्स तम्मयदा।। (341) भ. आ.

पार्श्वस्थ, अवसन्न, संसक्त, कुशील और मृगचरित्र इन पाँच प्रकार के

कुमुनियों से तुम सदा दूर रहो। उनसे मेल रखने से पुरुष उनके समान पार्श्वस्थ आदि रूप हो जाता है।

लज्जं तदो विहिसं णिव्विसंकदं चेव।
पियधम्मो वि कमेणारुहंतओ तम्मओ होइ।। (342)

पार्श्वस्थ आदि का संसर्ग करने की इच्छा रखते हुए भी लज्जा करता है। पश्चात् असंयम के प्रति ग्लानि करता है कि मैं कैसे इस प्रकार व्रत भंग करूं, यह तो दुरन्त संसार में गिराने वाला है। पश्चात् चारित्र मोह के उदय से परवश होकर असंयम का प्रारम्भ करता है। असंयम का प्रारम्भ करके यति आरम्भ, परिग्रह आदि में निशंक होकर प्रवृत्ति करता है। इस प्रकार धर्म का प्रेमी भी मुनि क्रम से लज्जा आदि करते हुए पार्श्वस्थ आदि रूप हो जाता है।

संविग्गस्सवि संसग्गीए पीदी तदो य विंसभो।
सदि वीसंभे य रदि होई रदिए वि तम्मयदा।। (343)

संसार से भयभीत भी मुनि पार्श्वस्थ आदि के संसर्ग से उनसे प्रीति करने लगता है। प्रीति करने से उनके प्रति विश्वासी हो जाता है। उनका विश्वास करने से उनका अनुरागी हो जाता है और उनमें अनुराग करने से पार्श्वस्थादिमय हो जाता है।

जइ भाविज्जइ गंधेण मट्टिया सुरभिणा व इदरेण।
किहं जोएण ण होज्जो परगुणपरिभाविओ पुरिसो।। (344)

यदि सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध के संसर्ग से मिट्टी भी सुगन्धित अथवा दुर्गन्ध युक्त हो जाती है तो संसर्ग से पुरुष पार्श्वस्थ आदि के गुणों से तन्मय क्यों न होगा ?

जो जारिसीय मेत्ती केरइ सो होइ तारिसो चेव।
वासिज्जइ च्छुरिया सा रिया वि कणयादिसंगेण।। (345)

जो जिस प्रकार की वस्तु से मैत्री करता है वह वैसा ही हो जाता है। स्वर्ण आदि के संसर्ग से लोहे की छुरी भी उसी रूप हो जाती है।

दुज्जणसंसग्गीए पजहदि णियगं गुणं खु सुजणो वि।
सीयलभावं उदयं जह पजहदि अग्गिजोएण।। (346)

दुष्टजन के संसर्ग से सज्जन भी अपना गुण छोड़ देता है। जैसे आग के सम्बन्ध से जल अपने शीतल स्वभाव को छोड़ देता है। आग के सम्बन्ध से जल की तरह साधु भी अपना गुण छोड़ देता है। यह स्वाभाविक गुण के त्याग में दृष्टांत है।

सुजणो वि होइ लहुओ दुज्जणसंमेलणाए दोसेण।
माला वि मोल्लगरुया होदि लहू मडयसंसिट्ठा।। (347)

दुर्जनों की गोष्ठी के दोष से सज्जन भी अपना बड़प्पन खो देता है। फूलों की कीमती माला भी मुर्दे पर डालने से अपना मूल्य खो देती है।

दुज्जणसंसग्गीए संकिज्जदि संजदो वि दोसेण।
णाणागारे दुद्धं पियंतओ बंभणो चेव।। (348)

दुर्जन के संसर्ग से लोग संयमी के भी सदोष होने की शंका करते हैं। जैसे मद्यालय में बैठकर दूध पीने वाले ब्राह्मण के भी मद्यपायी होने की शंका करते हैं

परदोसगहणलिच्छो परिवादरदो जणो खु उस्सुणं।
दोसत्थाणसं परिहरह परिवादरदो जणो खु उस्सूणं।
दोसत्थाणं परिहरह तेण जणजंपणोगोसं।। (349)

लोग दूसरों के दोषों को पकड़ने के इच्छुक होते हैं और परोक्ष में दूसरों के दोषों को कहने में रस लेते हैं। इसलिए जो दोषों का स्थान है उनसे अत्यन्त दूर रहो क्योंकि ऐसा न करने से लोगों को अपवाद करने का अवसर मिल जाता है।

अदिसंजदो वि दुज्जणकरएण दोसेण पाउणइ दोसं।
जह घूगकए नोसे हंसो या हओ अपावो वि।। (350)

महान् संयमी भी दुर्जन के द्वारा किए गए दोष से अनर्थ का भागी होता है। जैसे उल्लू के द्वारा किए गए दोष के लिए निर्दोष हंस भी मारा गया।

दुज्जण संसग्गीए वि भविदो सुयणमज्झयारम्मि।
ण रगदि रगदि य दुज्जणमज्झे वेरग्गमवहाय।। (351)

दुर्जनों की संगति से प्रभावित मनुष्यों को सज्जनों का सत्संग रुचिकर नहीं लगता। यह वैराग्य को त्यागकर दुर्जनों में ही रमता है। मन की पवित्रता और कर्मों की पवित्रता आदमी की संगति की पवित्रता पर निर्भर है। पवित्र हृदय वाले पुरुष की संगति उत्तम होगी और जिसकी संगति अच्छी है वो हर प्रकार का गौरव प्रदान करती है।

धर्म मनुष्यों को स्वर्ग ले जाता है और सत्पुरुषों की संगति उसको धर्माचरण में रत करती है।

सम्यक्त्व रहित जीव का लक्षण

उग्गो तिव्वो दुट्ठो दुब्भावो दुस्सुदो दुरालावो।
दुम्मदरदो विरूद्धी सो जीवो सम्मउम्मुक्को।। 43 रयण.

अन्वयार्थ :- (उग्गो) उग्र (तिव्वो) तीव्र (दुट्ठो) दुष्ट (य) और (दुब्भावो) दुर्भावना वाला (दुस्सुदो) दुश्रत (दुरालावो) दुर्भाषण-मिथ्या भाषण (दुम्मदरदो, मिथ्यामद में अनुरक्त (विरुद्धो) विरोध वाले (सो) वह (जीवो) जीव(सम्मउम्मुक्को) सम्यक्त्व गुण से विमुक्त है।

पद्य : उग्र तीव्र-दुष्ट-दुर्भाव-दुश्रुत, दुर्भाषण, दुर्मदरत (जीव)।
होता है सम्यक्त्व रहित जो विरोध से सहित।। (1)

क्षुद्र स्वभावी व दुर्भावना युक्त जीव सम्यक्त्व हीन हैं

खुद्दो रुद्दो रट्ठो अणिट्ठपिसुणा सग्गत्थि असूयो।
गायण जायण भंडण दुस्सुणसीलो दु सम्मउम्मुक्को।। 44 रयण.

अन्वयार्थ :- (खुद्दो) क्षुद्र (रुद्धो) रौद्र (रूट्ठो) रुष्ट (अणिट्ठ) अनिष्ठ(पिसुणा) चुगलखोर (सग्गत्थि) अभिमानी (असूयो) ईर्ष्यावाला (गायण) गाना गाने वाला (जायण) याचक(भण्डण) झगड़ा करने वाला (दु) और (दुस्सुणसीलो) अनेक दूषण युक्त(सम्मउम्मुक्को) ऐसे परिणाम वाला मनुष्य प्राणी सम्यक्त्व गुण रहित होता है।

पद्य - क्षुद्र, रौद्र, रूष्ट-अनिष्ठ-पैशुन्य, अहंकारी-ईर्ष्या युक्त।
गायक, याचक, कलह, युक्त, दूषण युक्त वह सम्यक्त्व मुक्त।। (1)

जिन धर्म विनाशक जीवों के स्वभाव

वाणर गद्दह साण गय वग्घ वराह कराह।
पक्खि जलूय सहावणर जिणवरधम्म विणासु।। 45 रयण.

अन्वयार्थ :- (वाणर) बंदर (गद्दह) गर्दभ (साण) कुत्ता(गय) हाथी (वग्घ) व्याघ्र (वराह) शूकर (कराह) उंट (पक्खि) पक्षी (जलूय) जलोक (सहावणर) स्वभाव वाले मानव (जिणवरधम्म विणासु) श्रेष्ठवर जिनेन्द्र भगवान् के कहे हुए धर्म का विनाश करने वाले होते हैं।

पद्य- वानर, गर्दभ, कुत्ता,हाथी, व्याघ्र, शूकर, ऊँट, पक्षी।
जोंक स्वभाव वाले मानव होते है जिनेन्द्र धर्म ध्वंशी।। (1)

सम्यक्त्व की हानि का कारण

कुतव कुलिंग कुणाणी कुवय कुसीले कुंदसण कुसत्थो।
कुणिमित्ते संथुय थुइ पसंसणं सम्महाणि होइ णियमं।। 46 रयण.

अन्वयार्थ :- (कुतव) कुतप(कुलिंग) निर्ग्रंथ दिगंबरत्व को छोड़कर अन्य अन्य प्रकार के भेष को धारण करने वाले (कुणाणी) कुज्ञानी अर्थात् आत्ममुक्ति का सच्चा ज्ञान नहीं है (कुवय) कुव्रत अर्थात् जिस व्रतों में कर्म निर्जरा पाप नाश आदि नहीं हैं, जिसमें शुद्ध चारित्र नहीं है(कुशील) शील भ्रष्ट (कुसत्थो) कुशास्त्र अर्थात् मनोवांछित तथा मनोकल्पित शास्त्र समझकर रचना करना अर्थात् जिसमें केवली भगवान् सर्वज्ञ देव का उपदेश नहीं है ऐसे(कुनिमित्त संथुइ थुइ पसंसण) कुदेव कुशास्त्र कुगुरु कुधर्म की स्तुति प्रशंसा करने से (णियम सम्म हाणि होदि) नियम से सम्यक्त्व की हानि होती है।

पद्य- कुतप, कुलिंग,कुज्ञानी, कुव्रत, कुशील, कुदर्शन, कुशास्त्र।
कुनिमित्त से स्तुति, प्रशंसा करे जो, सो सम्यक्त्व करे विनाश

संदर्भः-

आगम एवं आध्यात्मिक दृष्टि से

लौकिक व्यवहार सम्यग्दृष्टि तथा निश्चय सम्यग्दृष्टि
(व्यवहार से धार्मिक तथा निश्चय से धार्मिक)

(चाल : छोटी-छोटी गैया ...)

आत्म-स्वभाव है सम्यग्दर्शन, जो सत्य प्रतीति/(श्रद्धान) मय होता है।
आत्मविश्वास सह सुज्ञान होता, जिससे होता सम्यग्चारित्र है।। (1)

अनन्तानुबन्धी व मिथ्यात्व कर्म के, उपशम क्षयोपशम क्षय सहित है।
अष्टमद व तीन मूढ़ता रहित, अष्टगुण-अष्टअंग सहित है।। (2)

इसी से होता है तत्त्वार्थ श्रद्धान, जो षट् द्रव्य सप्त तत्त्व मय है।
नव पदार्थ का भी होता है श्रद्धान, देवशास्त्र गुरु श्रद्धान भी है।।(3)

यह है आगम करणानुयोग वर्णित, निश्चय-व्यवहार सम्यग्दर्शन है।
चतुर्थ गुणस्थान से प्रारम्भ होकर, होता है पंचपरमेष्ठी तक में है।।(4)

नारकी देव भी हो सकते सुदृष्टि, नहीं हो सकते वे पंचपरमेष्ठी।
संज्ञी पंचेन्द्रिय पशु-पक्षी भी, हो सकते हैं सुदृष्टि-देशव्रती।। (5)

अनेक देव भी होते हैं कुदृष्टि, किन्तु न होते हैं द्रव्य मिथ्यादृष्टि।
पूजते विमान स्थित जिनचैत्य को, कुलदेव मानकर (अतः) वे कुदृष्टि।। (6)

ऐसा ही जो मानव करते हैं, देव शास्त्र गुरु की भी आराधना।
मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धी उदय में, न होती उनकी सच्ची आराधना।। (7)

लोक व्यवहार से भले वे, नहीं सेवते हैं द्रव्य मिथ्यात्व।
अन्तरंग मिथ्यात्व उदय से, नहीं होता है उन्हें सम्यक्त्व।। (8)

अतः उन्हें होता है अष्टमद, सत्ता सम्पत्ति प्रसिद्धि का मद।
न होते संवेग[1] 'निर्वेद[2] उपशम[3] पश्चात्ताप[4] व दोष[5] शोधन।। (9)
भक्ति[6] वात्सल्य[7] अनुकम्पा[8] से रिक्त होते हैं अष्टअंग से रहित।
न जानते आत्म परमात्म स्वरूप, न जानते आत्म-अनात्म रूप।।(10)

भले होते कुछ मन्दकषायी जीव, यथा भोग भूमिज कुदृष्टि जीव।
तथापि न वे होते सुदृष्टि जीव, उदय से मोह मिथ्यात्व भाव।।(11)

सच्चा सम्यग्दृष्टि स्वयं को मानते, निश्चय से शुद्ध बुद्ध रूप।
द्रव्य-भाव-नोकर्मों से रहित,अनन्त चतुष्टय सहित रूप।। (12)

स्वयं को न मानते दीन व हीन, नहीं करते हैं वे अभिमान।
सत्ता सम्पत्ति प्रसिद्धि बुद्धि से, स्वयं को मानते हैं पूर्ण भिन्न।। (13)

पंच अणुव्रतधारी व निर्व्यसनी, होते हैं जो वे देशव्रती।
पंच महाव्रतों को धारण करते, होते हैं जो होते महाव्रती।। (14)

अमूर्तिक गुण है सम्यग्दर्शन, जो आत्मविशुद्धि से है उत्पन्न।
केवली ज्ञानगम्य है यह गुण, उक्त गुणों से होती बाह्य पहचान।। (15)

ज्ञानावरणीय कर्म तीव्र उदय से, भले न बने कोई महाज्ञानी।
तो भी सुदृष्टि होता है भेदज्ञानी/(सुज्ञानी), 'कनक'बनना चाहे सर्वज्ञानी।। (16)

रत्नत्रय में सम्यग्दर्शन की मुख्यता

सम्मविणा सण्णाणं सच्चारित्तं ण होइ णियमेण।
तो रयणत्तयमज्झे सम्मगुणक्किट्ठमिदि जिणुद्दिट्ठं।। 47 रयण.

अन्वयार्थ :- (सम्मविणा) सम्यक्त्व के अभाव में (सण्णाणं) सम्यग्ज्ञान (सच्चारितं) सम्यक्चारित्र (णनियमेण होई) निश्चय से नहीं होता है। (तो रयणत्तय मज्झे) इसलिए रत्नत्रय में (सम्मगुणक्किट्ठमिदि) यह सम्यक्त्व गुण उत्कृष्ट है ऐसा (जिणुद्दिट्ठं) जिनेन्द्र भगवान् का उपदेश है।

पद्यभावानुवाद-

सम्यक्त्व बिन न होता सुज्ञान, सुज्ञान बिन न सदाचरण।
अतएव ही सम्यग्दर्शन रत्नत्रय मध्य में होता प्रधान।।

संदर्भ :-

आत्मविश्वास युक्त ज्ञान सुज्ञान अन्यथा मिथ्याज्ञान

(चाल : तेरे प्यार का आसरा..., एकान्त मौन...) - आचार्य कनकनन्दी

सम्यग्ज्ञान होता है आत्मविश्वास युक्त मिथ्याज्ञान होता है आत्मविश्वास मुक्त।
श्रद्धा प्रज्ञा युक्त होता है सुज्ञान, श्रद्धा प्रज्ञा मुक्त होता है कुज्ञान।। (1)

इन्द्रिय मन से जो ज्ञान होता, श्रद्धायुक्त सो सुमतिज्ञान होता।
श्रद्धामुक्त से कुमतिज्ञान होता, श्रद्धा का नामान्तर आत्मविश्वास होता।। (2)

मतिज्ञान पुरस्सर होता श्रुतज्ञान, श्रवण अध्ययन से होता यह ज्ञान।
आत्म अभिमुख होता यह ज्ञान, आत्मानुभव रूप होता श्रुतज्ञान।। (3)

केवल सुनना या श्रुत/(ग्रंथ) पढ़ने से, होता है मतिज्ञान अनुभव शून्य से।
श्रद्धा रहित यदि होता श्रुतज्ञान, वह है कुश्रुतज्ञान यह आगम वर्णन।। (4)

अवग्रह ईहा आवाय व धारणा, मति स्मृति संज्ञा चिंता अभिनिबोध।
जो ज्ञान होते इन्द्रिय मन से, वे सब मतिज्ञान जानो आगम से।। (5)

अनुभवपूर्ण सुश्रुतज्ञान से ही, होता है ज्ञात आत्मा परमात्मा भी।
मूर्तिक अमूर्तिक का भी होता ज्ञान, आंशिक रूप से ही परोक्ष ज्ञान।। (6)

अन्यथा मतिज्ञान या कुश्रुतज्ञान से, न होता यह ज्ञान अनुभव शून्य से।
अवधिज्ञान भी होता सु या कुज्ञान, श्रद्धा सहित सु अन्यथा कुज्ञान।। (7)

मनः पर्यय होता अवश्य सुज्ञान, अन्य के मनगत जानता यह ज्ञान।
केवलज्ञान तो अनंत सम्यग्ज्ञान, लोकालोकज्ञाता होता है यह ज्ञान।। (8)

संपूर्ण घातीकर्म क्षय होने से, संपूर्ण ज्ञानगुण प्रगट होने से।
युगपत् यह ज्ञान जानता सभी को, 'कनकनन्दी'चाहे केवलज्ञान को।। (9)

आध्यात्मिक गीत

अन्तरात्मा के द्वारा मन को सम्बोधन

मन रेऽऽ तू काहे न धीर धरेऽऽ
चञ्चल यथा तेरा स्वभावऽऽऽ लोग भी...वैसा करेऽऽऽ
मन रेऽऽ...(ध्रुवपद)...
मोही रागी द्वेषी स्वार्थी (जन) से ऽऽ काहे तू नेह करेऽऽऽ
निस्पृह बन तू शांति पायेगाऽऽ स्थिरता तुझे वरेऽऽऽ
समता/(धैर्य) भाव धरेऽऽऽमन रेऽऽ(1)
मोही जन तो स्वयं (ही) अस्थिरऽऽ संतोष नहीं धरेऽऽऽ
अतः तुझे क्या संतोष देंगेऽऽ शिला से क्या/(न) जल झरेऽऽऽ
आत्मा से शांति झरेऽऽऽ मन रेऽऽ(2)
कृतघ्न दगाबाज लोभी जनो से ऽऽ क्यों तू अपेक्षा करेऽऽऽ
विवेक जगाओ स्व को समझाओऽऽऐसा ही आदेश तोरेऽऽऽ
निष्पक्ष भाव धर रेऽऽ मन रेऽऽऽ(3)
बहिरातमपन त्यागकर तूऽऽ अंतर आतम तू बनोऽऽऽ
अंतर से परमातम बननेऽऽ हेतु तू (मेरा) सहयोगी बनोऽऽऽ
अंतर आतम बन रेऽऽ मन रेऽऽ(4)
अपेक्षा-उपेक्षा-प्रतीक्षा रहितऽऽ मुझमें रमण करोऽऽऽ
मैं ही अनंत सुख आगारऽऽ मुझसे सुख को वरोऽऽऽ

अनंत सुख वर रेऽऽऽ मन रेऽऽ(5)
मेरे अनुसार तू कार्य करोऽऽ होगा मेरा सर्वोदयऽऽऽ
इसी हेतु ही कनकनन्दीऽऽ करता सदा प्रयासऽऽऽ
चरम लक्ष्य वर रेऽऽऽ मन रेऽऽ(6)

आत्मविश्वासी का स्वरूप एवं फल

(चाल : शत-शत वंदन..., भातुकली...)

आत्मविश्वासी जो जन होते...स्व-गुण-दोषों को सही जानते...
सनग्र सत्यग्राही वे जन होते...अहंकार रिक्त स्वाभिमानी(वे) होते...स्थायी...
आत्मविश्वासी होते सत्य के निकट...अहंकारी होते मिथ्या के निकट...
सु/(स्व) निर्णय आत्मविश्वासी करते...अहंकारी मिथ्या निर्णय करते...
आत्मविश्वासी जाने निज-स्वभाव...स्व-लक्ष्य व अपने कर्त्तव्य...
आत्मविश्वास से होते प्रेरित...आत्मबल व धैर्य से सहित...(1)

बार-बार लक्ष्य की आवृत्ति करते...लक्ष्य प्राप्ति हेतु संकल्पित होते...
अहंकार रिक्त वे यह करते...दृढ़ता धैर्य हेतु वे करते...
इसी से विकास तीव्र करते...अविचलित हो आगे बढ़ते
हानि-पराजय से नहीं घबराते...हतोत्साहित कुंठित न होते...(2)

निःशंक निर्भय व अमूढ़ होते...निन्दा अपमान से परे होते...
विवेक सहित आचरण करते...स्व-मूल्यांकन स्वयं ही करते...
इससे उन्हें सफलता मिलती...आत्मसंतुष्टि व शांति मिलती...
विघ्न-बाधाएँ भी कम आती...आने पर वे नष्ट हो जाती...(3)

आत्मविश्वास रहित जो होते...उपरोक्त गुणों से रहित होते...
स्व को दीन-हीन-दुर्बल मानते...सफलता-शांति वे न पाते...
आत्मविश्वास है सम्यग्दर्शन-जिससे सही होते ज्ञान आचरण...
जिससे होता मोक्ष प्रयाण...अंत में मिलता परिनिर्वाण...(4)

आत्मविश्वास शून्य है मिथ्यादर्शन...जिससे मिथ्या होते ज्ञान-आचरण...
इसी से न होता मोक्ष प्रयाण...जिससे न मिले परिनिर्वाण...

आत्मविश्वास अतः महान् गुण...इह-परलोक हितकारी महान्...
सुफलदायक गुण प्रथम-प्रधान...'कनकनन्दी' का आत्मिक गुण...(5)

सत् < चित् < आनन्द या आनन्द > चित् > सत्

(सत् से श्रेष्ठ चित् , चित् से श्रेष्ठ आनन्द)

(राग : एक परदेशी मेरा ..., रघुपति राघव...,सायोनारा...,ॐकार स्वरूपा...)

'सच्चिदानंद' है मेरा स्वरूप, 'सत्यशिवसुंदर' मेरा ही रूप।
'शुद्ध-बुद्ध आनंदकंद' स्वरूप, 'आत्मविश्वास ज्ञान चारित्र' रूप।।
श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर गुण सहित,सत् से श्रेष्ठतर चित्त सहित।
चित्त से श्रेष्ठतम आनंद युक्त, तथाहि सत्यशिवसुंदर युक्त।।
शुद्ध से श्रेष्ठतर बुद्ध स्वरूप, बुद्ध से श्रेष्ठतम आनंद रूप।
आत्मविश्वास ज्ञान चारित्र तथा, श्रेष्ठ से श्रेष्ठ (तर) श्रेष्ठतम कथिता।
सत् होने से मैं (हूँ) अस्तिवान, अनंत स्वगुणों की मैं हूँ खान।
चित्त होने से मैं हूँ ज्ञानवान, आनंद होने से हूँ आह्लादवान्/(सौख्यवान्)।।
'शुद्ध' होने से मैं बंधन मुक्त, 'बुद्ध' होने से मैं ज्ञान से युक्त।
'आनंद' होने से मैं सुख स्वरूप, इसलिए अन्य द्रव्यों से श्रेष्ठ।।
'सत्य' तो अन्य द्रव्य भी होते,'चित्त' रहित वे निर्जीव होते।
इसलिए वे न भोगते सुख, 'चिदानंद' होने से मैं हूँ प्रमुख।।
'शुद्ध' भी चारों द्रव्य भी होते, 'चिदानंद' शून्य निर्जीव होते।
'आनंद' रिक्त यदि मै होता है 'बुद्ध' जानने का फल न होता समृद्ध।।
'बुद्ध' सहित यदि होता है दुःख, 'बुद्ध' से यदि न मिलता सुख।
'बुद्ध' तो अधिक होगा दुःखद, अधिक ज्ञान से अधिक दुःख।।
अतएव श्रेष्ठगुण होता 'आनंद', 'आनंद' हेतु बनना शुद्ध-बुद्ध।
'आनंद' रिक्त शुद्ध/बुद्ध/(ज्ञान) नहीं है श्रेष्ठ, 'आनंद' रिक्त बुद्ध नहीं है ज्येष्ठ।।
'आनंद' प्रमुख जीवों का, 'आनंद' लक्ष्य हर जीवों का।
आनंद हेतु ही हर कार्य करते, पुण्य-पाप या मोक्ष करते/(चाहते)।।
मुझे चाहिए शुद्ध-बुद्ध, आनंद, न चाहिए मुझे बंध/(भोग) आनंद।
स्व-स्वरूप का मैं आनंद चाहूँ, 'कनक' अशुद्ध या पर न चाहूँ।।

मैं हूँ स्वयंपूर्ण, अतः निस्पृही-वीतरागी हूँ

(चाल : तुम्ही मेरे मंदिर ..., रघुपति राघव...)

विपरीत द्रव्य-क्षेत्र-काल व जनों से, निर्लिप्त रहना (है) मुझे कमल यथा जल /(स्वभाव से)।
अनंत जीव तथा अनंत कर्म हैं, कभी न होगा अनुकूल संसार है।।
स्व-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव सु बनाऊँ, स्वयं के द्वारा मैं स्वयं को पाऊँ।
अभेद कारक मैं स्वयं में ही बनूँ, भेद कारक यथायोग्य मैं पाऊँ।।
परस्पर उपकारी हर द्रव्य होते हैं, परस्पर उपकारी हर जीव होते हैं।
तथापि स्व-गुणों को त्याग न करे हैं, तथाहि मैं स्वभाव को न त्याग कर हूँ।।
मुझमें हैं अनंत ज्ञान व दर्शन, सुख वीर्य व सम्यग्दर्शन।
अस्तित्व वस्तुत्व व अगुरुलघु गुण, सुक्ष्मत्व अव्याबाध अविनाशी गुण।।
अतएव मैं हूँ स्वयं में ही पूर्ण, अनंत गुण गण सुख के धाम।
स्वावलंबी हूँ मैं स्वतंत्र स्वभावी, ''कनक'' अतएव बाह्य वीतरागी।।

(व्यवहार-निश्चय सम्यग्दर्शन संबंधी शोधपूर्ण कविता)

देव-शास्त्र गुरु के माध्यम से स्व-शुद्धात्मा का श्रद्धान हैः सम्यग्दर्शन

(वर्तमान में सच्चे गुरु से ही तीनों की होती है श्रद्धा-प्रज्ञा)

(चाल : तुम दिल की धड़कन ..., सायोनारा...)

सच्चे देश-शास्त्र गुरु का जो, श्रद्धान करते हैं भव्य प्राणी।
वे होते हैं सम्यग्दृष्टि, कहती है श्री जिनवाणी।।
देव की वर्तमान पर्याय ही, मेरी है भावी पर्याय।
मेरी पर्याय अभी तो अशुद्ध देव की शुद्ध पर्याय।।
तप त्याग ध्यान अध्ययन से, मुझे भी बनना है देव/(शुद्ध)।
ऐसी जब होती है श्रद्धा/(आत्मविश्वास), तब होता है सम्यक्त्व।। (1)
स्वयं के द्रव्य-गुण पर्यायों को, जानता है जिनवाणी।
मैं हूँ जीवद्रव्य मुझमें चैतन्य गुण, अशुद्ध हूँ (पर्याय) मैं अनादि से।।
जिनवाणी से जानता है द्रव्य, तत्त्व व नव पदार्थों को।

स्वयं में भी उन द्रव्यादि को, घटित करता है स्वयं को।।(2)
स्वयं में भी होते हैं आस्रव बंध, संवर निर्जरा व मोक्ष।
पुण्य-पाप भी स्वयं में होते, ऐसी श्रद्धा से होता सम्यक्त्व।।
देव स्वरूप होता है मोक्ष, शास्त्र है मोक्ष कथक।
गुरु होते हैं मोक्ष पथिक तीनों के श्रद्धान से सम्यक्त्व।। (3)
मोक्ष पथिक है चारित्रमय, जो है रत्नत्रय आराधक।
मोक्षमार्ग के जीवन्त रूप गुरु तरण-तारण जहाज।
पंचमकाल में तो सच्चा गुरु ही, तीनों रत्न के हैं प्रतिनिधि।
देव को बताने वाले गुरु होते, पढ़ाते हैं वे श्री जिनवाणी/(श्रुतनिधि)।। (4)

इसी हेतु ही (सच्चे) देवशास्त्र गुरु का, श्रद्धान होता है सम्यग्दर्शन।
तीनों के माध्यम से स्व-श्रद्धान से होता है सम्यग्दर्शन।।
देवशास्त्र गुरु रूपी निमित्त से, स्व का जब होता है श्रद्धान।
तब होता है सम्यग्दर्शन, दर्पण से यथा स्व-बिम्ब दर्शन।। (5)

अंधा यथा दर्पण से भी न देख पाता है स्व-प्रतिबिंब।
तथाहि अभव्य व घोर मिथ्यादृष्टि को, नहीं होता है सम्यक्त्व।।
भद्र मिथ्यादृष्टि भी यदि करता है भक्ति तीनों की।
वह भी सांसारिक सुख भोगे, (ऐसी) शक्ति निरतिशय पुण्य की।।(6)

सम्यग्दृष्टि तो सातिशय पुण्य से, भोगता है सांसारिक सुख।
साधु बनकर पाये मोक्ष सुख, 'कनक' का लक्ष्य आत्म सुख।
यथा दीपक के सम्पर्क से, बुझा हुआ दीपक होता प्रज्ज्वलित।
तथा ही देवशास्त्र गुरु से, सम्यक्त्व होता प्रगट।। (7)

चुम्बक के घर्षण से यथा, लोहा बनता है चुम्बक।
तथाहि देवशास्त्र गुरु की भक्ति/(श्रद्धा) से भव्य को होता सम्यक्त्व।।
अग्नि से (यथा) ईंधन अग्नि बनती, तथाहि निकट भव्य।
देवशास्त्र गुरु की श्रद्धा से, स्वयं में प्रगट करता सम्यक्त्व।।(8)

देवशास्त्र गुरु के माध्यम से, स्वगुण में ही हुआ सम्यक्त्व।

स्व-श्रद्धा प्रज्ञा के कारण, मिथ्या श्रद्धा हो गई सम्यक्त्व।।
अतएव हे! भव्य जीव, स्व-विभाव को करो परिवर्तन।
देवशास्त्र गुरु निमित्त से, पाओ तुम सम्यग्दर्शन।(9)

देवशास्त्र गुरु रूपी निमित्त से, न करो हे! राग द्वेष मोह।
राग द्वेष मोह क्षय करके, पाओ है! आध्यात्मिक सुख।।
छह द्रव्य सप्त तत्त्व नव पदार्थ व देवशास्त्र गुरु श्रद्धान।
होता है व्यवहार सम्यग्दर्शन, स्व-शुद्धात्म रूचि निश्चय श्रद्धान।। (10)

(व्यवहार व निश्चय सम्यक्त्व का समन्वय प्रायः शिष्य वर्ग नहीं कर पाते हैं उनको समझाने के लिए यह कविता बनी।)

सम्यक्त्व(परम सत्य श्रद्धान) का स्वरूप

(सामाजिक मान्यता आदि से ही नहीं होती है सही श्रद्धा-प्रज्ञा)

(चाल : छोटी-छोटी गैया...)

समाज-व्यक्ति या राष्ट्र मान्यता से, सम्यक्त्व/(सत्य) न होता लोकमान्यता से।
संविधान कानून या रूढ़ि मान्यता से, न होता धर्म/(अध्यात्म) ढोंग मात्र से।।(1)
सम्यक्त्व होता है आत्मा का स्वभाव, आत्मा होता है सच्चिदानंद स्वभाव।
परम सत्यमय स्व-शुद्धात्म श्रद्धान, होता है आध्यात्ममय धर्म प्रधान।। (2)
परम सत्य को जानते केवल सर्वज्ञ, परम सत्य को न जाने छद्मस्थ ज्ञान।
सर्वज्ञ कथन ही होता यथार्थ सत्य,अन्य का कथन न होता यथार्थ सत्य।।(3)
सर्वज्ञ कथित शुद्धात्मा स्वरूप का, श्रद्धान करना निश्चय से सम्यक्त्व।
इस से होता यथार्थ से सुज्ञान, अन्य सभी न होते यथार्थ ज्ञान।।(4)
सच्चिदानंदमय स्वयं को मानना, होता है सत्यार्थमय श्रद्धान।
ऐसी श्रद्धा युक्त होती जो प्रज्ञा, वह होता है सत्यार्थ ज्ञान।।(5)
श्रद्धा-प्रज्ञा से युक्त आचरण ही, होता है यथार्थ से आचरण।
समता शांति व पावनता युक्त, आत्म विशुद्धि/(आत्म विकास) हेतु सदाचरण।।(6)
इससे अन्यथा सभी ही मान्यता, नहीं होती है परम सत्य-तथ्य।
वे सभी भले ही लौकिक व्यवहार, नहीं होता है उससे आत्म उद्धार।।(7)

व्यवहार व निश्चय रत्नत्रय मोक्षमार्ग

(चाल : आत्मशक्ति..., शत-शत वंदन..., सायोनारा...)

देव-शास्त्र गुरु के श्रद्धान से, होता है सम्यग्दर्शन।
यह है व्यवहार नय से, निश्चय से स्व-शुद्धात्म दर्शन।।(1)

अरिहंत व सिद्ध समान, मेरा भी है शुद्ध स्वरूप।
ऐसी श्रद्धा से होता है, निश्चय से सम्यग्दर्शन।।(2)

आगम में जो वर्णित है, षट् द्रव्य तत्त्व व पदार्थ।
उससे स्व-द्रव्यादि का श्रद्धान, होता है सम्यग्दर्शन।।(3)

स्व-शुद्ध तत्त्व की उपलब्धि, हेतु जो बने हैं श्रमण।
उनके आदर्श को स्व-आदर्श, मानना यह है सम्यग्दर्शन।।(4)

इसी से जो होता है ज्ञान, वह होता है सम्यग्ज्ञान।
सम्यग्दर्शन ज्ञान सहित, होता है सम्यक् आचरण।। (5)

अष्टमद रहित पंचाणु व्रतादि से, युक्त होता है प्राथमिक श्रावक।
षट् कर्त्तव्य सह-व्यसन रहित, संसार शरीर से विरक्त।।(6)

क्षुल्लक ऐलक होते हैं उत्कृष्ट, श्रावक वे होते गृहत्यागी।
पंचमहाव्रतादि अठ्ठाइस मूलगुण, धारी होते श्रमण वे गृहत्यागी।।(7)

ध्यान-अध्ययन व समता-शांति से, करते हैं वे आत्मा विशुद्धि।
निस्पृह निराडम्बर विरागता से, करते हैं वे आत्मा की सिद्धि।।(8)

घाति नाश से बनते अरिहंत, अघाति भी नाश से बनते सिद्ध।
स्वयं की उपलब्धि स्वयं में ही करके, बनते हैं स्वयं शुद्ध-बुद्ध।। (9)

निश्चय-व्यवहारमय होता है, रत्नत्रय साधना-साध्य रूप से।
दोनों के यथायोग्य समन्वय से, मोक्ष मिले 'कनक' स्व-शुद्धात्मा से।।(10)

निश्चय व्यवहार दोनों सापेक्ष, दोनों ही परस्पर उपकारी।
व्यवहार होता है साधन, निश्चय साधन कहे जिनवाणी।। (11)

व्यवहार बिना निश्चय न मिले, बिना निश्चय न व्यवहार।
निरपेक्ष दोनों होते है मिथ्या, सापेक्ष दोनों होते महोपकार।।(12)

मेरी कहानी जो माँ जिनवाणी से जानूँ

(चाल : माँ मुझे अपने आँचल में छिपा ले...)

माँ मुझे सुनाओ मेरी कहानी...मेरे 'मैं'/(स्व, निज) की कहानी...
सर्वज्ञ प्रभु ने है जो जानी...(स्थायी)...
मेरी ये व्यथा अन्य कोई न जाने...तुझे छोड़कर अन्य कोई न जाने...
वैज्ञानिक-दार्शनिक/(कथाकार) भी न जाने...
मुझे न सुनना/(चाहिए) अन्य की कहानी...मेरे मैं की कहानी...(1)...

मेरी कहानी हेतु कहो अन्य कहानी...मुझ संबंधी कहो है आपकी जुबानी...
समय नहीं सुनने को अन्य की कहानी...
मेरी कहानी(तो) अभी तक पूरी न जानी...मेरे निज की कहानी... (2)

जिनवाणी माँ मेरी सुना रही कहानी...अनादि अनंत भवों की कहानी...
मेरा अस्तित्व है अनादि कालीन...
अनंत तक रहेगी अस्तित्व(की) कहानी... मेरे स्व की कहानी...(3)

चारों गतियों की ये मेरी कहानी...लाख चौरासिया योनि की कहानी...
पञ्च परिवर्तन की दीर्घ ये कहानी...
उत्थान पतन की ये मेरी कहानी...मेरे निज की कहानी...(4)

उत्सर्पिणी के काल में तो मैं रहा हूँ...अनंत अवसर्पिणी काल में भी रहा हूँ
भोगभूमि में भी व कर्मभूमि में...
अनंतानंत काल चक्र (में) घुमानी/(घुमाई)...मेरे स्व की कहानी...(5)

हर जीवों से मेरा हुआ संबंध...जन्य-जनक भाई-बंधू संबंध...
शत्रु मित्र आदि हर संबंध...
भक्ष भक्षक संबंध की भी ये कहानी...मेरे निज की कहानी...(6)

ऐसी विचित्र है ये मेरी कहानी...नाटक-सिनेमा से परे ये कहानी...
काल्पनिक-तिलस्मी से भी परे कहानी...

उत्थान-पतन/(विकास-विनाश) की ये मेरी कहानी...मेरे मैं की कहानी...(7)...

सभी खाया व सभी पीया भी...भोग-उपभोग सभी किया भी...
किन्तु अभी तक एक काम न किया भी...
स्वयं की उपलब्धि अभी तक न करानी/(कराई)...मेरे स्व की कहानी...(8)

अभी जानूँ स्वयं को तथाहि मानूँ...स्वयं की प्राप्ति हेतु प्रयास करूँ...
मैं तो शुद्ध-बुद्ध-आनन्द स्वरूपी...
राग-द्वेष-मोह-काम रिक्त कहानी...मेरे निज की कहानी...(9)

इसी हेतु सतत प्रयत्नरत हूँ...ध्यान-अध्ययन इसी हेतु करूँ हूँ...
समता-शांति भी इसी हेतु धारूँ...
कथा करे 'कनक' स्वयं की सदा ही...मेरे मैं की कहानी...(10)

माँ मुझे सुनाओ मेरी कहानी...मेरे मैं/(स्व, निज) की कहानी...
सर्वज्ञ प्रभु ने है जो जानी...

शुभ व शुद्ध भाव के अंचित्य फल

(चाल : आत्मशक्ति..., सायोनारा...भातुकली...)

शुद्ध लक्ष्य रखकर जो शुभ करते, अचिंत्य वैभव को अवश्य (ही) पाते।
सांसारिक सुख सह मोक्ष(सुख) पाते, शुद्ध-बुद्ध बन आत्मसुख पाते।।(ध्रुव)
यथा वट-बीज विशाल वृक्ष बनता, बीज से वृक्ष अरबों गुणा बढ़ता।
शाखा-प्रशाखाओं से भी युक्त बनता, पत्र-फूल-फल से सहित होता।।
पशु-पक्षी कीट पतंग(भी) आश्रय लेते, छाया में श्रांत-क्लांत विश्राम लेते।
प्रदूषणों को भी वह शोषण करता, खरबों बीजों को भी उत्पन्न करता।।(1)

सुयोग्य क्षेत्रादि से यथा बीज वृक्ष बनता, तथा शुभ-शुद्ध वे वैभव मिलता।
शुभ से पुण्य कर्म का संचय भी होता, जिससे सांसारिक वैभव मिलता।।
दया दान सेवा जो परोपकार करते, ख्याति पूजा-लाभ बिन शुभ (कर्म) करते।
ध्यान-अध्ययन-तप-त्याग करते, सांसारिक (व) मोक्ष सुख पाते।।(2)

प्रशस्त भाव से होता शुभ के भाव, राग द्वेष मोह का मंद प्रभाव।

ईर्ष्या तृष्णा घृणादि भी होते है मंद, प्रशम-संवेग-आस्तिक्य होते भाव।।
आध्यात्मिक उन्नति का होता है भाव, आत्म विशुद्धि का भी होता है भाव।
उदार सहिष्णु क्षमादि भाव, लक्ष्य रहता (है) मिले शुद्ध स्वभाव।।(3)

ऐसे जो भाव व शुभ कर्म करते, राजा-महाराजा के (वे) पाते वैभव।
इन्द्र चक्रवर्ती के भी वैभव पाते, सातिशय पुण्य से तीर्थंकर (भी) बनते।।
शुद्ध प्राप्ति हेतु जो बनते श्रमण, सत्ता-संपत्ति त्यागे करे जो ध्यान।
समता शांति आत्म विशुद्धि से, कर्म क्षय से पाते वे आत्म वैभव।।(4)

मोक्ष में मिलते है अनंत वैभव, अनंत ज्ञानदर्शन सुखवीर्य।
अतः सदा शुभ शुद्ध(ही) करणीय, 'कनक' का लक्ष्य है आत्म वैभव।।(5)

निर्दोष सर्वज्ञ भगवान् ही जानते हैं परम सत्य

(सर्वज्ञ को छोड़कर अन्य वैज्ञानिक-दार्शनिक भी नहीं जानते हैं परम सत्य)

(चाल : तुम दिल की..., छोटी-छोटी गैया...)

परम वैज्ञानिक व दार्शनिक ...होते हैं सर्वज्ञ भगवान्...
त्रिकालवर्ती समस्त ज्ञेय को...युगपत् जानते केवली भगवान्...(स्थायी)...
कोई भी वैज्ञानिक या दार्शनिक...नहीं जानते हैं परम सत्य...
सभी भी वैज्ञानिक व दार्शनिक...नहीं जानते हैं संम्पूर्ण सत्य
अणु से लेकर ब्रह्मण्ड तक...आत्मा से परमात्मा तक...
वैज्ञानिक हो या दार्शनिक...नहीं जानते हैं अनंत तक...(1)...

नहीं जानते हैं वे स्व-आत्मा के ...अनंत गुण-पर्यायों को...
अनंत भूत व भविष्य को...अनंत जन्म व मरणों को...
निश्चय-व्यवहार नय-निक्षेपों से...अनेकान्त व स्याद्वाद से...
नहीं जानते हैं सम्पूर्ण विश्व को...बिना यंत्र व इन्द्रियों से...(2)...

समस्त शंकाओं का समाधान भी...उनके पास न होता है...
स्व-पर-विश्व समस्याओं का...समाधान भी न होता है...
अपरिवर्तित भी न होता...उनका हर सिद्धांत भी...

खण्डित होता स्व-वचनों से...पूर्वापर स्व-वचनों से भी...(3)...

राग द्वेष मोह काम क्रोधादि से...वे नहीं होते पूर्ण मुक्त...
ईर्ष्या घृणा तृष्णा पक्षपातादि से...नहीं होते वे पूर्ण मुक्त...
पूर्ण मुक्त होते जो राग-द्वेषादि से ...वे होते हैं सर्वज्ञ भगवान्...
'कनकनन्दी' भी बना है श्रमण...बनने हेतु सर्वज्ञ भगवान्...(4)...

वैश्विक अन्तर्सम्बद्ध(6 द्रव्य 7 तत्त्व) परक शोधपूर्ण कविता

स्व-अस्तित्व से सिद्ध होता है विश्व का अस्तित्व

(आत्मज्ञान हेतु चाहिए विश्व ज्ञान!)

(स्व-ज्ञान हेतु अन्य द्रव्य-तत्त्व का ज्ञान चाहिए!)

(चाल : आत्मशक्ति से ओतप्रोत..., छोटी-छोटी गैया...)

स्व-ज्ञान हेतु(मुझे) अन्य ज्ञान चाहिए...सभी द्रव्य-तत्त्वों का ज्ञान चाहिए...
अन्यथा मुझे न होगा मेरा ज्ञान...निश्चय-व्यवहार से न होगा ज्ञान...(ध्रुव)...
'मै' हूँ सच्चिदानंद(मय) जीव द्रव्य ...स्वयंभू स्वयंपूर्ण अमूर्त द्रव्य...
अनादि अनिधन शाश्वत द्रव्य...अनंतज्ञान दर्शन सुखमय...
किन्तु अभी हूँ 'मैं' सशरीरी मूर्तिक ...जन्म मरण सह अशुद्धमय...
कारण है इसका भौतिक कर्म पुद्गल...मेरे राग द्वेष मोह (भी) बने कारक...(1)

कहाँ है कर्म व कैसे आये कर्म...कैसे मुझमें बन्धे ये कर्म...
कैसे होऊँगा 'मैं' कर्म से मुक्त,...इसी हेतु चाहिए मुझे बोध...
आकाश में रहते है कर्म पुद्गल कर्म आने का कारण आत्मकम्पन...
कर्म आगमन के निमित्त धर्म द्रव्य कर्मबंध में हेतु(मेरा) विभाव भाव...(2)

इसी से संसार में (मेरा) होता भ्रमण...शरीर सह होने से जन्म-मरण...
भ्रमण (गति) हेतु निमित्त धर्मद्रव्य, परिणमन में निमित्त कालद्रव्य...
जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश काल होते हैं शाश्वत द्रव्य मौलिक (द्रव्य)
सभी द्रव्य रहते हैं लोकाकाश में गमनागमन करते जीव-पुद्गल लोक में...(3)

सभी द्रव्यों में परिणमन होता सतत...परिणमन में काल-द्रव्य निमित्त...

गति-स्थिति हेतु धर्माधर्म निमित्त, हर द्रव्य स्वयं ही है मुख्य निमित्त...
कर्मक्षय हेतु संवर-निर्जरा चाहिए, ...अथ सद्दृष्टि ज्ञान वृत्त चाहिए...
इसी हेतु उक्त सभी ज्ञान चाहिए,...आत्मविश्वास आत्मशुद्धि चाहिए...(4)

आत्मविशुद्धि हेतु विभाव क्षय चाहिए, राग-द्वेष-मोहादि का क्षय चाहिए...
कर्मक्षय से 'मैं' बनूँगा सच्चिदानन्द -'कनक' बनेगा शुद्ध-बुद्ध-आनंद...(5)...

सन्दर्भ-

एकोभावःसर्वभाव स्वभावः सर्वेभावा एक भाव स्वभावाः।
एकोभावस्तत्त्वतो येन बुद्धःसर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन बुद्धाः।। प्र.सा.

भाव यह है कि एक भाव सर्वभावों का स्वभाव है और सर्वभाव एक भाव के स्वभाव हैं। जिसने निश्चय से यथार्थ रूप से एक भाव को जाना उसने यथार्थ रूप से सर्वभावों को जाना है। यहाँ ज्ञाता व ज्ञेय सम्बन्ध लेना चाहिए, जिसने ज्ञाता को जाना उसने सब ज्ञेयों को जाना ही है।

तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं।
वट्टन्ते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं।।(37) प्र.सार

उन प्रसिद्ध शुद्ध जीव द्रव्यों की व अन्य द्रव्यों की वे पूर्वोक्त सर्व सद्भूत और असद्भूत अर्थात्, वर्तमान, भूत तथा भविष्य काल की पर्यायें निश्चय से या स्पष्ट रूप से केवलज्ञान में विशेष करके अर्थात् अपने-अपने प्रदेश, काल, आकार भेदों के साथ संकर, व्यतिकर दोष के बिना वर्तमान पर्यायों के समान वर्तती है अर्थात् प्रतिभासती है या स्फुरायामान होती है।

अहो! सबसे बड़ा कष्ट मिथ्यात्व

तणु कुट्ठी कुलभंगकुणइ जहा मिच्छमप्पणो वि तहा।
दाणाइ सुगुण भंगसुगइभंगं मिच्छमेव हो कट्ठं।। 48 रयण.

अन्वयार्थ :- (जहा) यथा (तणुकुट्ठी) शरीर कुष्ट रोग से व्याप्त रोगी(कुलभंगं) अपने कुल का नाश(कुणइ) कर देता है (तहा) उसी प्रकार (मिच्छामप्पणो वि) मिथ्यात्वी जीव भी अपने (दाणाइ सुगुणभंगं) दान-पूजा संयमादि सुगुणों का नाश कर देता है (सुगइभंगं) शुभ गति नाश करता है (हो! मिच्छमेव कट्ठं) अहो! मिथ्यात्व ही कष्टप्रद है।

पद्यभावानुवाद

यथा कुष्ट रोगी करता है नाश स्वकुल को तथाहि मिथ्यात्वी।
दानादि सुगुणों को नाश करता सुगति को तथा नाशे ये कुदृष्टि।।1

समीक्षा

मिथ्यात्व सहित दानादि से न होती है आत्मविशुद्धि।
जिससे न होता उसका आत्म विकास ऐसा दुर्गुण कुदृष्टि।। 2
अतएव इससे शिक्षा मिलती आत्म श्रद्धान आत्म शुद्धि से।
हर भाव-व्यवहार पूजन दान से ले श्रमण धर्म पालनीय।। 3

सम्यग्दृष्टि ही धर्मज्ञ है

देवगुरुधम्मगुण चारित्तं तवायार मोक्खगइ भेयं।
जिणवयणसुदिट्ठिविणा दीसइ किह जाणए सम्मं।। 49 रयण.

अन्वयार्थ :- (देव गुरु धम्मगुण चारित्तं) अरहंत देव निर्ग्रन्थ गुरु, अहिंसा-मय धर्म, विनय आदि गुण, उत्तम चारित्र, (तवायार) तपाचार (मोक्खइ भेयं) मोक्षगति के भेदों को (जिणवयण) जिन वचन को (सुदिट्ठि विणा) सम्यग्दृष्टि के बिना (किह) किस प्रकार (दीसइ) देखता है (सम्मं जाणए) सम्यग्दर्शन ही जानता है।

पद्यभावानुवाद -

देव-गुरु-धर्म व गुण चारित्र, तपाचार व मोक्षमार्ग के भेद।
जिन वचन को सुदृष्टि बिन कैसे जान पायेगा सम्यक्त्व।। 1

समीक्षा- **सम्यक्त्व से सुज्ञान होता जिससे होता देवशास्त्रादि ज्ञान।**
अन्यथा मिथ्यात्व से कुज्ञान होता, जिससे न होता देवशास्त्रादि ज्ञान।।
इससे मिलती महान् शिक्षा भाव पवित्रता से पाना है सम्यक्त्व
प्रशम, संवेग अनुकम्पा आस्तिक्य आदि गुणों से बढ़ता है सम्यक्त्व।।3

आध्यात्मिक जन होते हैं परम सकारात्मक विचारवान्

(आध्यात्मिक विचारः परम सकारात्मक विचार)
(परम सकारात्मक विचारः आत्मविश्वास ज्ञान चारित्र)

(चाल : सायोनारा ..., छोटी-छोटी गैया..., तुम दिल की धड़कन...)

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र ही (है), परम सकारात्मक विचार।

इसी से ही होता संपूर्ण विकास, लौकिक से आत्मिक विकास।।
सत्य-तथ्य सह आत्मा विश्वास ही(से), होता है सही सम्यक् दर्शन।
वस्तुस्वरूप के परिज्ञान से ही, होता है सही सम्यक् ज्ञान।।
इनसे युक्त सही आचरण/(पुरुषार्थ) से ही, होता सही सम्यक् चारित्र।
इसी से होता है सर्वांगीण विकास, लौकिक से आत्मिक विकास।
जब होता है सम्यक् दर्शन, जीव स्वयं को माने सिद्ध-समान।
स्वयं को न मानता बाल वृद्ध युवा, धनी-गरीब या दीन-हीन।।
नारकी पशु या देव न मानता, शुद्ध रूप से माने सिद्ध समान।
सप्तभय अष्ट मद विवर्जित, ईर्ष्या द्वेष घृणा तृष्णा से रहित।।
संपूर्ण संकीर्णता क्रूरता रहित, उदार सहिष्णु धैर्य से सहित।
निन्दा चुगली अपमान रहित, भेद-भाव (व) द्वंद्व से रहित।।
कलह विसंवाद संक्लेश रहित, स्व-पर-विश्व-हित से सहित।
शुद्ध नय से सिद्ध सम मानता, अशुद्ध नय से कर्म-बंधन।।
अनादि कर्म बंधन बद्ध से, बना हुआ अभी अशुद्ध जीव।
सप्त तत्त्व नव पदार्थ सहित, द्रव्य भाव, नोकर्मों से युक्त।।
तथापि आत्मिक विकास द्वारा, बनना चाहता है शुद्ध स्वरूप।
श्रावक-मुनिधर्म अतः पालता, स्वयं को न मानता अजीव रूप।।
इसी हेतु ही राजा महाराजा चक्री भी, बनते हैं आध्यात्मिक संत।
आध्यात्मिक विकास के द्वारा, बनते हैं परम सच्चिदानंद।।
तदनुकूल ज्ञान-आचरण करता, त्यागे पंच-पाप सप्त-व्यसन।
ध्यान-अध्ययन व आत्म-शुद्धि से, मोक्षमार्ग में करे गमन।।
लक्ष्य होता है मोक्ष प्राप्ति का, जो है अनंत सुख का धाम।
सच्चिदानंदमय परम विकास, अजर-अमर व पावन धाम।।
सकारात्मक यह (ही) परम विचार, अन्य सभी है गौण विचार।
परम-आध्याात्मिक यह विचार, 'कनकनन्दी' का यह श्रेय विचार।।

(आध्यात्म रहस्यवादी कविता)

स्व-उपलब्धि ही सर्व उपलब्धि

(स्व-आत्म सम्बोधन एवं मेरा अंतिम लक्ष्य)

(राग: कसमें-वादे-प्यार-वफा सब बातें हैं...)

तू ही तेरा परम-सत्य है-अन्य सब सहयोग है
तू ही तेरा आदि अंत-मध्य/(सार्वभौम) शाश्वत सत्य है...(स्थायी/धत्ता)...
जब से हैऽऽ ब्रह्माण्ड भी यह...तब से तेरा भी अस्तित्व ऽऽ
अनादि अनंतऽऽ शाश्वतिक यह...तेरा भी हैऽऽ सह-अस्तित्व (1)...
तू तो चेतनऽऽ ज्ञानानंदमय...विश्व/(ब्रह्माण्ड) उभय रूप हैऽऽ
तेरे समान हीऽऽ अनंत चेतन...और भी अचेतन रूप हैऽऽ (2)...
अणु से लेकरऽऽ निहारिका तक...अनंत अचेतन रूप हैऽऽ
निगोदिया सेऽऽ नित्यानंदमय...अनंत चिन्मय रूप हैऽऽ (3)
तेरा अस्तित्वऽऽ यदि न होता...अन्य से (तेरा) क्या लाभ हैऽऽ
तुझे तू हीऽऽ यदि न पाया/(मिला) तो ...अन्य लाभ क्या लाभ हैऽऽ (4)
यदि शरीर मेंऽऽ तू न रहा तो...शरीर जड़ का पिण्ड हैऽऽ
जलाओ गाढ़ोऽऽ या फेंक दो...तुझ से नहीं सम्बन्ध हैऽऽ (5)
ऐसा ही तेराऽऽ अस्तित्व कारण...विश्व/(ब्रह्माण्ड) अस्तित्ववान हैऽऽ
अन्यथा स्वऽऽ अस्तित्व बिन... तेर लिए सत्ता शून्य हैऽऽ (6)
तू है ज्ञाताऽऽ ब्रह्माण्ड ज्ञेय...ज्ञाता बिना न ज्ञेय हैऽऽ
ज्ञाता-ज्ञेयऽऽ उभय सम्बन्ध...ज्ञाता से ज्ञेय अनुबन्ध हैऽ (7)
यथा दीपऽऽ स्व-पर प्रकाशी...ज्योति से प्रकाशित द्रव्य हैऽऽ
द्रव्य से दीपऽऽ न प्रकाशित है...तथा ही ज्ञान व ज्ञेय हैऽऽ (8)
इसीलिए तोऽऽस्वयं को जानो...ब्रह्माण्ड/(विश्व) बनेगा ज्ञेय हैऽऽ
स्वज्ञान हेतुऽऽ अनंत ज्ञान...जिससे ब्रह्माण्ड ज्ञेय है (9)
स्वात्मोपलब्धिऽऽ सर्वोपलब्धि...यह आध्यात्मिक सार हैऽऽ
'कनकनन्दी' काऽऽ सर्वस्व यह...अन्य तो मिथ्या मोह हैऽऽ (10)

देव दर्शन से स्व-आत्म दर्शन

(चाल : तम दिल की धड़कन...)

जो जाणदि अरहंत दव्वत्तगुणत्तपजयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्सलयं।।(80) (प्रवचन सार)
जो जानता है अरिहंत को, द्रव्य-गुण और पर्याय से।
वह जानता (है) स्व-आत्मा को, सम्यक्त्वी बनता मोह नाश से।।(1)

जो जानता है अरिहंत को, द्रव्य दृष्टि से जीव द्रव्य रूप।
तथाहि जानता स्वयं को, द्रव्य दृष्टि से शुद्ध जीव रूप।।(2)

अरिहंत में है अनंतज्ञान, दर्शन-सुख वीर्यादि अनंत गुण।
तथाहि स्वयं को मानता है, निश्चयनय से अनंत गुणमय।।(3)

पर्याय दृष्टि से जानता है, अरिहंत होते हैं शुद्धोपयोगमय।
अतएव अनंत ज्ञान दर्शन सुख, वीर्यादि होते है प्रगटमय।।(4)

परन्तु पर्याय दृष्टि से स्वयं को, जानता है अशुभ व शुभमय।
अतएव अनंत ज्ञान-दर्शन, सुख वीर्यादि नहीं होते प्रगट रूप।।(5)

ऐसा जब जानता /(मानता) है निकट भव्य, महान विशुद्ध भाव से।
सम्यग्दृष्टि बनता है मिथ्यात्व, अनंतानुबंधी के नाश से।।(6)

चतुर्थ गुणस्थान में होता है अशुभ विशेष व शुभोपयोग किंचित्।
पंचम(श्रावक) व षष्टम (मुनि) गुणस्थान में होता है शुभोपयोग अधिक।।(7)

ऐसी अवस्था में भी वह मानता है, हर जीव को सिद्ध समान।
''सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया'' से मानता, है हर जीव को एक समान।। (8)

हर जीव में करे मैत्री भावना व, गुणी जीव में धरे प्रमोद भाव।
दुःखी जीव में धरे करुणा भाव, विपरीत में करे माध्यस्थ भाव।।(9)

संसार शरीर व भोग से, सत्ता सम्पत्ति व प्रसिद्धि से।
जन्म-मरण व जरा रोग(को) से, भिन्न माने स्व को कर्मों से।। (10)

अष्टअंगों को धरे भाव से, व अष्टमद न सेवे भाव से।

सप्तभय शून्य आत्मा से, अष्टगुण युक्त भाव से।। (11)

यह ही धर्म का मूल है, देव दर्शन पूजन का मूल्य है।
आत्म कल्याण का यह सूत्र है, मोक्ष प्राप्ति का महान मंत्र है।। (12)

चक्रवर्तीत्व से भी महान है, भौतिक संपत्ति से अनमोल है।
मोक्ष प्राप्ति हेतु यह मूल है, 'कनकनन्दी' ध्याये हर पल है।।(13)

मेरी आध्यात्मिक-भावना (स्वरूप)

(चाल : तुम दिल की धड़कन ...)

एगो में सास्सद अप्पा, णाण दंसण समग्ग हूँ।
स्वयंभू स्वयंपूर्ण स्वावलंबी, सच्चिदानंद स्वरूपी हूँ।।
एक होने से मेरा कोई अन्य, न होता मेरा स्वरूप।
द्रव्य-भाव-नोकर्म रहित, शत्रु-मित्र आदि मेरा न रूप।।
इसलिए मैं स्वयं के लिए, स्वयं में ही लवलीन रहूँ।
अन्य के कारण राग-द्वेष-मोह, संकल्प-विकल्प नहीं करूँ।।(1)

शाश्वत होने से अविनाशी हूँ, जन्म-जरा-मरण से परे।
इसलिए मैं सप्त-भय रहित हूँ, हानि-लाभ से परे।।
ज्ञानदर्शन स्वरूपी होने से, अज्ञान मेरा विभाव है।
अतः विभाव को मैं दूर करूँ, प्राप्त करूँ स्व-स्वभाव है।। (2)

स्वयंभू होने से अन्य से मेरा, जन्म होना संभव नहीं।
जन्म रहित होने के कारण, मरण भी मेरा संभव नहीं।
स्वयंपूर्ण होने से(मैं) अन्य से, मुझे कुछ भी नहीं चाहिए।
अतः ही मैं ईर्ष्या रहित हूँ, परिग्रह तृष्णा नहीं चाहिए।।(3)

इन (सब) कारणों से मैं स्वावलंबी हूँ अतएव हूँ मैं स्वतंत्र।
पर-निरपेक्ष आत्मावलंबी हूँ, अपेक्षा-प्रतीक्षा से स्वतंत्र।।
सच्चिदानन्द हूँ सत्य-शिव-सुंदर, अव्यय-अविनाशी-परब्रह्म हूँ।
मेरा स्वरूप ही मुझे चाहिए, पर से मैं पूर्ण विरक्त हूँ।।(4)

मेरे द्वारा मैं ही उपास्य हूँ

आचार्य कनकनन्दी

(राग : भावे वन्दू तो अरिहंत..., मेरी भावना...)

श्लोक- यः परात्मा सएवाहं सोऽहं स परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्य नान्यःकश्चिदिति स्थिति।।(31) समाधितंत्र

हिन्दी- जो परमात्मा है वे ही मैं हूँ, जो मैं हूँ वह है परमात्मा।
अतएव मम आत्मा की उपासना, परमात्मा की है उपासना।।

समीक्षा- खाना-पीना भोग करना, फैशन-व्यसन व मौज करना।
सत्ता सम्पत्ति व प्रसिद्धि पाना, नहीं है यथार्थ से स्व-उपासना।।
इसे त्याग करना व रत्नत्रय धरना, व्रत समिति व गुप्ति पालना।
दश धर्म पालना कषाय-त्यागना, ध्यान अध्ययन ही स्व-उपासना।।
परमात्म ज्ञान से सम्यक्त्व पाना, श्रद्धा भक्ति व प्रतीति करना।
दान पूजादि श्रावक व्रत पालना, प्राथमिक है स्व-उपासना करना।।
इसी से होती है स्व-आत्म विशुद्धि, पाप संवर सह पुण्य की भी वृद्धि।
सम्यग्ज्ञान की भी होती परिणति, सम्यक चरित्र की भी आंशिक वृद्धि।।
इससे मिलता है स्वर्ग में सुख, पुनः मिलता है मानव सुख।
आत्माराधना करे बनके श्रमण, आत्म विशुद्धि से पाता है निर्वाण।।
स्वयं में स्वयं के द्वारा स्वयं में, लीन हो जाता है शुद्ध भाव में।
यह ही स्वयं की परम आराधना, 'कनकनन्दी' की भी यही भावना।।

मुझे जानने वाले या न जानने वाले मेरे न शत्रु, न मित्र

- आचार्य कनकनन्दी

(राग : छोटी-छोटी गैया...)

मामपश्यन्नयं लोको न में शत्रुन च प्रियः।
मां प्रपश्यन्नयं लोको न में शत्रुर्न च प्रियः।।(26)

हिन्दी- मुझे जानने वाले कोई मेरे, न होते है शत्रु या प्रिय/(मित्र)।
मुझे न जानने वाले कोई मेरे, न होते है शत्रु या प्रिय/(मित्र)।। (1)

समीक्षा- मुझे जानने वाले कोई होते हैं, आत्मज्ञ या सर्वज्ञ।

रागद्वेष से परे होने से वे, न करते (मुझसे) राग या द्वेष।। (2)

मैं हूँ सच्चिदानंद स्वरूप, अमूर्तिक व शुद्धात्मा रूप।
मुझे जानने वाले मुझ से, नहीं करते अतः राग-द्वेष।। (3)

राग द्वेष से रहित होने से, शत्रु मित्रता नहीं करते।
अतएव मुझे जो जानते वे, शत्रु-मित्रता भी न करते।। (4)

अज्ञानी-मोही अल्पज्ञजन, आत्म तत्त्व को भी नहीं जानते।
आत्म-तत्त्वमय मेरा स्वरूप, वे अज्ञानी मोही नहीं जानते।। (5)

अतएव जो मुझे न जाने, मेरे शत्रु-मित्र भी नहीं बनते।
अतएव अज्ञ या विज्ञ मेरे, शत्रु मित्र भी नहीं बनते।।(6)

अतएव शत्रुता या मित्रता परे, मेरा स्वरूप है अजातशत्रु।
आकाश के सम मैं भी हूँ, भेद-भाव शून्य निर्बाध वस्तु।।(7)

राग-द्वेष यदि कोई (भी) करे, उससे मेरा क्या लेना-देना।
मेरा कर्त्ता-धर्त्ता मैं ही हूँ, अन्य से मेरा क्या लेना-देना।।(8)

हर द्रव्य है स्वतंत्र-स्वतंत्र, द्रव्य गुण व पर्यायों से युक्त।
मैं मुझ में ही परिणमन करूँ, 'कनक' पर से होकर मुक्त।।(9)

नव कोटि से स्वात्म भावना ही सर्वोत्तम

(राग : तुम दिल की धड़कन ...)

उत्तमा स्वात्मचिन्तास्यान्मोहचिन्ता च मध्यमा।
अधमा काम चिन्तास्यात्, परचिन्ताऽधमाधमा।।(परमानंद स्तोत्र)

हिन्दी-उत्तम स्वात्म चिन्ता है, मोह चिन्ता है मध्यमा।
अधमा काम चिन्ता है, पर चिन्ता अधमा-अधमा।।

अविद्याभिदुरं ज्योति, परं ज्ञानमयं महत्।
तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं, तद् द्रष्टव्यं मुमुक्षुभि।(49) इष्टोपदेश

हिन्दी- अज्ञान नाशक ज्ञान प्रकाशक, आत्म ज्योति है अति महान्।

उसके लिए ही करो जिज्ञासा, उसे ही चाहो उसे ही पाओ।।
तद् ब्रूयात्तत्परान्पृच्छेत् तदिच्छेत्तत्परो भवेत।
येनाविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत्।। इ.उ.
हिन्दी- उसे ही बोलो उसे ही पूछो, उसे ही चाहो उसे ही पाओ/(वैसे ही बनो)।
जिससे अज्ञान रूप को त्यागकर, विद्यामय रूप पाओ/(विद्यामय रूप बनो)।।
समीक्षा - आत्मचिन्ता है सबसे उत्तम, जिससे मोह का होता विनाश।
जिससे होता है आत्मविश्वास, ज्ञान चारित्र का भी होता विकास।।
इसे ही कहते हैं रत्नत्रय जो, मोक्ष के कारण महान्।
आत्मज्ञान व आत्मध्यान के माध्यम से मानव बनो है भगवान्।।
मोहचिन्ता को मध्यम कहा, मोह जानकर उसका त्याग।
बिन जाननते दोष गुणन को, कैसे ग्रहण व कैसे हो त्याग।।
अधम कामचिन्ता है जिससे, आसक्ति की होती है वृद्धि।
तृष्णा उत्पादक व बंधकारक, संसार चक्र की होती (है) वृद्धि।।
परचिन्ता है अधमा-अधमा, पर हेतु जो रागद्वेष करे।
पर निन्दा अपमान करे व ईर्ष्या घृणा व मोह करे।।
इससे होते हैं वाद-विवाद, कलह-विसंवाद युद्ध हत्या।
होते है अनेक अनर्थ काम, अतएव पर चिन्ता अधमाधमा।।
परन्तु अज्ञानी मोही जीव, करते है विपरीत भाव व काम।
आत्मचिन्ता तो नहीं करते, शेष तीनों चिन्ता के करते काम।।
अष्टमद सप्त व्यसन सेवते, करते क्रोध लोभ माया/(भोग)।
आत्म चिन्तक को गलत मानकर, बांधते पाप घोरतम।।
गुण-गुणी निन्दक होते महापापी, बांधते वे घोर घाति कर्म।
जिससे संसार में मिले नाना दुःख, अतएव अकरणीय पाप कर्म।।
गुण-गुणी प्रशंसा व अनुमोदना से, होता है पाप कर्म क्षीण।
अतएव आत्मगुण-गुणी प्रशंसा, करने हेतु 'कनक' करे सदा मन।।

मेरा परिचय

(राग : छोटी-छोटी गैया ...)

सत्ता-संपत्ति व प्रसिद्धि डिग्री, यह नहीं है मेरा स्व-परिचय।

नाम-ग्राम-जन्म-मरण तिथि, शत्रु-मित्र या कुटुम्ब-परिवार।।(1)
तन-मन-इन्द्रिय न मेरा परिचय, नहीं देश-भाषा राजनीति आदि।
यह सब तो अशुद्ध भौतिकमय, इसी से परे है मेरी स्थिति।।(2)
मैं हूँ सच्चिदानंदमय अमूर्तिक, स्वयंभू स्वयंपूर्ण शाश्वतिक।
अव्यय अविनाशी अविभागी, नित्य-नूतन व नित्य-पुरातन।।(3)
अतः सत्ता-सम्पत्ति आदि न मेरा रूप, यह तो भौतिकमय पर रूप।
नाम ग्राम आदि सब काल्पनिक, लोक-व्यवहारमय अशुद्ध रूप।।(4)
तन-मन-इन्द्रिय भी है कर्मजन्य, कर्म भी है सब भौतिकमय।
शत्रु मित्रादि भी सभी कर्मजन्य, मेरा शुद्ध रूप है अकर्मजन्य।।(5)
आकाश में दृश्यमान विभिन्न रंग-रूप, आकाश के नहीं होते वे भौतिक रूप।
तथाहि व्यवहार के सभी परिचय, मेरा परिचय नहीं है सभी जड़मय।।(6)
मुनीनां अलौकिक वृत्तिःभवन्ति, लौकिक व्यवहार से परे प्रवृत्ति।
कर्मसह मुनिदशा सहितोऽपि, श्रद्धा-प्रज्ञा में स्वभाव की प्रवृत्ति।।(7)
उक्तंच- सर्व विवत्तोत्तीर्ण, यदा स चैतन्यमचलमाप्नोतिः।
भवति तदा कृतकृत्य, सम्यक् पुरुषार्थ-सिद्धिमापन्नः।।(11 परु. सि.)
हिन्दी- समस्त विभावों को पारकर जब, अचल चैतन्य को प्राप्त करे।
तब होता है जीव कृतकृत्यमय, सही पुरुषार्थ को प्राप्त कर।।

श्लोक- नित्यमपि निरूपलेपः स्वरूपसमवस्थितो निरूपद्घघातः।
गगनमिव परम पुरुषःपरम-पदे स्फुरति विशदतमः।।(223 पुरु.सि)

हिन्दी- निरूपलेप होकर जब जीव, स्वरूप में स्थित होता है बिना घात।
आकाश के सम वह परम-पुरुष, परम पद में होता विशद प्रकाशित।।

श्लोक कृतकृत्यःपरमपदे परमात्मा सकल-विषय विरतात्मा।
परमानंद निमग्नो, ज्ञानमयो नन्दति सदैव।। (224 पुरु. सि.)

हिन्दी- सकल विषय से विरक्त परमात्मा, कृतकृत्य(हो)स्थित होता परमपद में।
परमानंद में ही निमग्न होकर, ज्ञानानंद में ही रमते सदैव।।
ऐसा ही श्रद्धान व ज्ञान से सम्पन्न, मैं हूँ अनंत-गुणों के धाम।
व्यवहार से हूँ मैं 'आचार्य कनक' आचार्य कुंथुसागर गुरु है मम।।

स्व-उपकार की विधि

(राग : तुम दिल की घड़कन ...)

श्लोक - परोपकृतिमुत्सृज्य स्वोपकारपरो भव।
उपकुर्वन्परस्याज्ञो दृश्यमानस्य लोकवत्।। (32 इष्टोपदेश)

हिन्दी- देहादि पर उपकार त्यजकर, स्व-उपकारी भव आत्मन्।
यथा संकीर्ण स्वार्थी जन स्व-उपकार में ही होते लीन।।

रहस्य- स्व-शुद्धात्मा से परे, देहादिक, परद्रव्य होते आत्मन्।
स्व आत्मा का उपकार करो, राग-द्वेष-मोह से हो भिन्न।।(1)

अनादि काल से अनंत भवों में, अनंत शरीर को धारण किया।
उन शरीरों को स्वरूप मानकर, उनका भरण-पोषण किया।।(2)

उन शरीरों से संबंधित, जो माता-पिता-भाई व बंधु।
पत्नि या पति पुत्र या पुत्री, शत्रु-मित्रादि को अपना माना।।(3)

सत्ता-संपत्ति-प्रसिद्धि भोग को, अपना मानकर ग्रहण किया।
इस सबके हेतु नवकोटि से, हर प्रकार के प्रयत्न किया।।(4)

इन सबके कारण अनंत बार, पंच-पाप व सप्त-व्यसन किया।
पच्चीस कषाय व मोह को किया, जिससे अनंत दुःखों को भोगा।।(5)

पर दोष व कमियों को देखा, उसके लिए ईर्ष्या द्वेष किया।
उन्हें सुधारने के हेतु राय से, लेकर युद्ध व हत्या किया।।(6)

इन कारणों से बहुविध पाप किया, उसके फल से दुःखों को भोगा।
पर के लिए कुत्ता या दास धोबी, बनकर नाना काम किया।।(7)

इन सब हेतु जितना परिश्रम, अनादिकाल से तुमने किया।
उसका अनंतवाँ भाग यदि स्व-उपकार करते तो मोक्ष (हो) जाता।।(8)

अज्ञानी-मोही यथा स्वार्थवश, स्व-उपकार में होता लीन।
तथाहि तू आत्मज्ञान से, स्व-उपकार में हो जाओ लीन।।(9)

आत्महित हेतु न चाहिए, (तुझे) सत्ता-संपत्ति या प्रसिद्धि।
आमा के द्वारा आत्मा के लिए, आत्म पुरुषार्थ से मिलेगी।।(10)

आत्महित में परहित समाहित, स्व-पर प्रकाशक यथा दीपक।
सर्व संक्लेश व विभाव त्यागकर, 'कनक' तू बन आत्म दीपक।।(11)

मिथ्यादृष्टि की पहचान

एक्कु खणं ण विचिंतइ मोक्खणिमित्तं णियप्पसाहावं।
अणिसं विचित्तपावं बहुलालावं मणे विंचितेइ।। 50 रयण.

अन्वयार्थ- मोही अज्ञानी संसारी प्राणी मिथ्यादृष्टि जीव (एक्कु खण) एक क्षण मात्र भी अपने लिए (मोक्ख निमित्तं) मोक्ष प्राप्ति के लिए(णिय अप्पसहावं) अपने आत्मा के स्वभाव का (णविचिंतइ) चिंतवन नहीं करता है (अणिसं) दिन रात (विचितपावं) आरंभ आदि और परिग्रह रूप पापों का (मणे) मन में (बहुलालावं) बहुत ही लालसापूर्वक (विचिंतेइ) अति चिंता करता है।

पद्यभावानुवाद-

जो एक क्षण भी नहीं सोचता मोक्ष निमित्त निजात्म स्वभाव।
किन्तु सतत चिन्ता करे बहुलालसा से विचित्र पाप।।1

समीक्षा-

निजात्मस्वभाव चिन्तन बिन नहीं होता है आत्म श्रद्धान।
आत्मश्रद्धान बिन नहीं बनता सुदृष्टि अतः करणीय आत्मचिंतन।। 2

इससे महान् शिक्षा मिलती परचिन्ता त्यागो करो आत्म चिंतन।
पर चिन्ता व परिग्रह चिन्ता से नहीं होता है आत्म श्रद्धान।। 3

साम्य भाव का घातक

मिच्छामइमय मोहा सवमत्तो बोलए जहा भुल्लो।
तेण न जाणइ अप्पा अप्पाणं सम्म भावाणं।। 51 रयण.

अन्वयार्थ :- (मिच्छामइ) मिथ्यामति (मय) मद (मोहासव) मोह के आस्रव से (मत्तो) मदोन्मत्त होकर (जहा) यथा (भुल्लो) मार्ग भ्रष्ट (बोलए) जो कुछ भी बोलता है (तेण) उससे (अप्पा) आत्मा (अप्पाणं) आत्मा को (सम्मं भावाणं) आत्मा के साम्यभाव को (ण) नहीं (जाणइ) जानता है।

पद्यभावानुवाद-

मिथ्यामति मद मोहास्रव से यथा मदोन्मत्त भूले स्वमार्ग।

न जाने स्व-आत्मा को वह कैसे जानेगा आत्म साम्यभाव।।1

समीक्षा-

मद्य से भी अनन्तगुणीत मोहमद से जो होता मोहीत।
वह न जानता स्व स्वभाव तथाहि आत्मा के साम्यभाव।। 2
इससे शिक्षा मिले आत्म स्वभाव जानने हेतु त्यजनीय मोह-मद।
मोह क्षय से ही होता है मोक्ष मोह सहित न मिले कभी मोक्ष।।3

कर्म क्षय हेतु सम्यक्त्व

मिहरो महांधायारं मरुदो मेहं महावणं दाहो।
वज्जो गिरिं जहाविह सिज्जइ सम्मे तहा कम्मं।। 52 रयण.

अन्वयार्थ :- (जहाविह) जिस प्रकार (मिहरो महांधयारं) सूर्य महा अंधकार को हरता है नष्ट करता है (मरुदोमेहं) हवा चलने से मेघ-समूह नष्ट होते हैं (दाहो महावणं) दावानल अग्नि महावन को जला देती है (वज्जोगिरि) वज्र के प्रहार से वज्र गिरने से बड़े पर्वत नष्ट चूर-चूर होते हैं (तहा) उसी प्रकार (सम्मे कम्मं) सम्यक्त्व में अर्थात् सम्यक्त्व कर्मों का नाश करने में (सिज्अइ) सिद्ध अर्थात समर्थ है ।

पद्य - यथा अन्धेरा को नाशता है सूर्य, मेघ को नाशती है वायु।
दावानल से जले यथा वन, पर्वत को वज्र, सम्यक्त्व तथा कर्म को।

सम्यग्दर्शन रूपी रत्न दीपक

मिच्छंधयाररहियं हियमज्झं मिव सम्मरयणदीव कलावं।
जो पजलइ स दीसइ सम्मं लोयत्तयं जिणुदिट्ठं।। 53 रयण.

अन्वयार्थ :- (हियमज्झं) जिसके हृदय के मध्य में (सम्मरयण दीव कलावं) सम्यक्त्व रूपी रत्नदीप जाज्वल्यमान हो रहा है (मिच्छंधयाररहियं) मिथ्यात्व रूपी अंधेरे से रहित है (जो) सम्यक्त्वरूपी रत्नदीप (दीपक) (पज्जलइ) जल रहा है (स) वह (सम्मं लोयत्तयं) तीन लोक को सम्यक्त्व (दीसइ) देख लेता है। (जिणुदिट्ठं) ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने उपदेश दिया है।

पद्य- सम्यक्त्व रत्न दीप जले जिसके हृदय में मिथ्यान्धकार होता दूर
उसे त्रिलोक देखाई देता सम्यक् ऐसा कहा जिनवर।।

मुक्ति-मुक्ति का सुख

कामदुहि कप्पतरूं चिंतारयणं रसायणं य परमम्।
लद्धो भुजंइ सोक्खं जहच्छियं जाण तहा सम्मं।। 54 रयण.

अन्वयार्थ :- (कामदुहि) कामधेनु (कप्पतरूं) कल्पवृक्ष (चिंतारयणं) चिंतामणि रत्न (रसायणं) रसायण को (परमं) उत्कृष्ट लब्धि (लद्धो) प्राप्त कर, (सोक्खं भुजंइ) सुख को भोगता है (तहा) उसी प्रकार (सम्मं) जिसने सम्यक्त्व को प्राप्त कर लिया है वह (जहाच्छियं) यथार्थ इच्छित सुख निरन्तर भोगता है।

पद्य- कामधेनु, कल्पवृक्ष, चिन्तामणि रत्न, रसायन परम जो पाये।
वह इच्छित सुख यथा पाये तथा सम्यक्त्व से इच्छित सुख पाये।।

निर्मल, शुद्ध सम्यक्त्व

कतकफल भरिय णिम्मलववगय कालिय सुवण्णं च।
मलरहियसम्मजुत्तो भव्वणरो लहइ लहु मोक्खं।। 55 रयण.

अन्वयार्थ :- (कतकफल भरिय) कतकफल फिटकरी डालने पर (णिम्मलं) कीचड मिश्रित जल निर्मल हो जाता है (सुवण्णं च) और स्वर्ण पाषाण को तपाने से और औषधि का प्रयोग करने से (गयकालिया) कालिमा, फिहिमा रहित शुद्ध स्वर्ण बन जाता है (मलरहियसम्म जुत्तो) शंकादि 25 मल दोषों से रहित सम्यक्त्व (भव्वणरो) भव्य मनुष्यों को (लहु मोक्खं) शीघ्र ही मोक्ष सुख को (लहइ) प्राप्त होता है।

पद्य :- कतक फल से यथा जल मल रहित, सुवर्ण शुद्ध रसायन से।
तथा मल रहित सम्यक्त्व से भव्यनर शीघ्र पाता है मोक्ष।।

मैं ही मेरे समस्त गुणपर्यायों में मैं ही हूँ
(मेरे बिना मेरा कुछ भी असंभव)

- आचार्य कनकनन्दी

(चाल : क्या मिलिए ...)

स्वयं (मैं) हेतु ही स्वयं हूँ प्रमुख तत्त्व, स्व से स्व के ''अभिन्न षट् कारक''
मम द्रव्य-तत्त्व-पदार्थ मैं ही हूँ, मम उपादान मैं ही हूँ अन्य बाह्य कारक''।। 1

षट द्रव्य में मैं ही ''जीव द्रव्य'' अनन्त जीवों में से मैं हूँ पृथक।
मेरे तत्त्व में 'मैं' ही व्याप्त मेरे पदार्थ में 'मैं' ही संव्याप्त।। 2

मेरे बिना मेरे ये नहीं संभव, पानी बिन बर्फ व वाष्प न संभव।
चेतना बिन यथा जीव न संभव, सत्य/(अस्तित्त्व) बिना यथा कुछ न संभव।।3

मेरे अस्तित्व-वस्तुत्व-द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रमेय-प्रमेयत्व।
उत्पाद-व्यय ध्रौव्य व शुद्ध-अशुद्ध, संसार-मोक्ष मेरे न होते संभव।। 4

सहयोगी इस हेतु अन्य भी होते, सचित्त-अचित्त, मूर्त व अमूर्त।
देव-शास्त्र-गुरु धर्म भी होते, द्रव्य क्षेत्र भाव कालादि अनन्त होते।। 5

यथा बीज ही अंकुर से वृक्ष बने, मृदा-जल वायु सूर्य रश्मि निमित्त।
तथाहि 'मैं' ही मेरे गुणपर्यायों में, विद्यमान रहूँ ऐसा सर्वज्ञ कहते।। 6

अतएव 'मैं' ही मेरा कर्त्ता-धर्त्ता, भोक्ता-विधाता व सम्पूर्ण सत्ता।
'मैं' अभी संसारी हूँ मुक्त-बनूँगा, मोक्ष मार्ग में 'मैं' हूँ मोक्ष बनूँ।। 7

नव कोटि से 'मैं' ही मेरा होता, पुण्य-पाप से ले मोक्ष में होता।
मेरे अनन्त गुण-गण मुझमें स्थित,आत्म शुद्धि से मैं ही करूँ प्रगट।।8

इस हेतु 'मैं' मेरा करूँ आत्मविश्वास आत्मज्ञान से ले आत्मानुचरण।
स्वअध्ययन रूपी स्वाध्याय करूँ, स्वध्यान रूप आत्म ध्यान 'मै' करूँ।।9

आत्मानुशासन व आत्मसंयम करूँ, स्वयं में गुप्त हो गुप्ती 'मैं' बनूँ।
इससे 'मैं' परम आत्मविश्वास से, 'कनक' सच्चिदानन्द 'मैं' बनूँ।। 10

नन्दौड़ 14.10.2018 पूर्वाह्न (केशलोंच के दिन)

सार्वभोम-शाश्वतिक-अन्तोदय-सर्वोदय सूत्र

(आगम-विदेशी वैज्ञानिक T.V. चैनल तथा साहित्य व मेरे अनुभव के आधार से)

(चाल : तुम दिल की...2. सायोनारा...) - आचार्य कनकनन्दी

द्रव्य स्वरूप के परिज्ञान से, स्व-शुद्धात्मा के अनुभव से।
समता आती है सभी में/(से), राग-द्वेष-मोह दूर से।। (1)

हर द्रव्य स्वतंत्र होने से, अनन्त गुण-गण युक्त से।

स्व-कर्त्ता-भोक्ता स्वयं से/(में), स्वाधीनता आती/(होती) है शुद्ध में/से(2)

सत्य-असत्य, ज्ञान-अज्ञान से, गुण-दोष परिज्ञान से।
हिताहित परिज्ञान से, श्रद्धा-प्रज्ञा होती जीवों में।। (3)

सत्य-समता व शान्ति, उदार-पवित्रता-मैत्री।
आत्म श्रद्धा-प्रज्ञा व चर्चा, आत्मोपलब्धि से धर्म की पूर्णता।। (4)

आत्मा में निहित अनन्त शक्ति, उसकी पूर्णता ही आत्मोपलब्धि।
आत्म शुद्धता से शक्ति की प्राप्ति, राग-द्वेष-मोह-क्षय से आत्मविशुद्धि(5)

ये हैं परम लक्ष्य व परम धर्म, परम नीति-नियम व कानून।
परम सफलता व परम विकास, इसे पाने हेतु 'कनक' करे प्रयत्न।। (6)

नन्दौड़ 13.10.2018 रात्रि 10:38

शब्द एवं नामातीत है-परम-आत्म-सत्य

(चाल : तुम दिल की घड़कन..., सायोनारा...रघुपति राघव...,भातुकली (मराठी)...क्या मिलिये ऐसे लोगों से....)

शब्दातीत है परम-सत्य...नामातीत है आत्म तत्त्व...
सर्वज्ञ ज्ञानगम्य परम सत्य...अनुभव गम्य है आत्म तत्त्व...(ध्रुवपद)...
शब्द तो सीमित व मूर्त रूप...न होता (है) स्थापना निक्षेप...
अगम्य अतः इसी से पूर्ण सत्य...अनादि अनंत आत्म तत्त्व...
व्यवहार हेतु होते शब्द नाम...यथा आकाश के/(में) है शब्द नाम...
आकाश अमूर्तिक व शाश्वतिक...अतः आकाश के/(में) न है शब्द नाम...(1)

सत्य भी अनंत व शाश्वतिक...अतः सत्य भी शब्द व नामातीत...
सो ही धर्म व आत्म-स्वरूप...अनंत अकृत्रिम शाश्वतिक...
लोक प्रचलन नहीं (है) सत्य रूप ... यह(है) व्यवहार व अशुद्ध रूप...
अतः शब्द नाम से न करो मोह...मोह से उत्पन्न होते विभ्रम...(2)

जिससे राग-द्वेष होते उत्पन्न...ईर्ष्या घृणा व तृष्णा का जन्म...
संकल्प-विकल्प-संक्लेश होते सत्य समता शांति भी नशते...

शोध-बोध सहित हो अनुभव...जिससे नशेंगे भ्रम-मोह...
होगा परम-सत्य आत्म लाभ...'कनकनन्दी' चाहे स्व-स्वभाव...(3)

जब तुम अपने भीतर की अन्तर-शान्ति से सम्पर्क खो देते हो, तो अपने आपसे भी सम्पर्क तोड़ लेते हो, जब तुम अपने आपसे सम्पर्क खो देते हो, तो स्वयं को भी संसार में खो देते हो तुम्हारा अन्तरतम का बोध जो कि तुम स्वयं हो, अन्तर शान्ति से अलग नहीं हो सकता यही मैं हूँ जो कि नाम और आकार से भी अधिक गहरा है अन्तर-शान्ति तुम्हारा मूल स्वभाव है, अन्तर-शान्ति क्या है ? यह अन्तर का विस्तार है या फिर ऐसी जागरूकता है,जिसमें इस पृष्ठ पर लिखे शब्द स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं और विचारों में बदल जाते हैं इस जागरूकता के बिना कुछ भी बोध नहीं, न ही विचार और न ही यह संसार है विचारों का बाहरी शोर अन्तर के शरीर के समान होता है. बाहरी मौन के समान ही अन्तर की शान्ति होती है. जब भी तुम्हारे चारों तरफ़ किसी प्रकार का मौन हो- उसे सुनो. मतलब उसे अनुभव करो, उस पर ध्यान दो, मौन को सुनने से तुम्हारे अन्तर की शान्ति का विस्तार तुम में ही जाग उठेगा, क्योंकि अन्तर-शान्ति द्वारा ही तुम मौन को पहचान सकते हो.

ध्यान रखो कि अपने चारों ओर फैले मौन को देखते हुए तुम सोच नहीं रहे हो. तुम चेतन हो, परन्तु सोच नहीं रहे हो. जब तुम मौन को पहचान लेते हो, तब अचानक एक अंदरूनी अन्तर-शान्ति की चेतना की स्थिति हो जाती है. तुम वर्तमान हो. हज़ारों वर्षों के सामूहिक मानवीय संस्कारों से तुम बाहर आ जाते हो.

एक पेड़, फूल और पौधे को देखो. अपनी चेतना को उस पर केन्द्रित कर दो, वे कितने शान्त हैं, अपने अस्तित्व में कितने गहरे धंसे हुए हैं. प्रकृति से अन्तर-शान्ति का पाठ सीखो.

जब तुम एक पेड़ की ओर देखते हो और उसकी अन्तर-शान्ति को जान जाते हो, तुम स्वयं भी शान्त हो जाते हो. तुम उसके साथ एक गहराई के स्तर तक जुड़ जाते हो, जो कुछ भी तुम उसके भीतर और अन्तर-शान्ति के द्वारा देखते हो तुम उसके साथ एकात्म हो जाने का अनुभव करते हो. सभी वस्तुओं के साथ एकात्म हो जाने का अनुभव ही सच्चा प्रेम है.मौन हमारे लिए सहायक है, परन्तु अन्तर-शान्ति पाने के लिए तुम्हें उसकी ज़रूरत नहीं, अगर चारों तरफ़ शोर भी हो, तो तुम शोर के नीचे छिपी अन्तर-शान्ति को जान सकते हो, उसके विस्तार को

पहचान सकते हो, जहां से शोर पैदा होता है. सच्ची जागरूकता का यही अन्तरतम विस्तार स्वयं की चेतना है.

अपने सभी विचारों और ज्ञानेन्द्रियों की पृष्ठभूमि में तुम इसी चेतना के प्रति सचेत हो सकते हो. चेतना के प्रति सचेत हो जाना ही अन्तर की शान्ति का जाग जाना है.

किसी प्रकार का परेशान करने वाला शोर भी मौन की भांति सहायक हो सकता है. कैसे ? अपने अन्दर के प्रतिरोध को शोर के सामने झुका दो और वह जैसा है, वैसा ही रहने दो. यही स्वीकृति तुम्हें अन्तर की शान्ति के प्रदेश में ले जाएगी, जो कि प्रशान्ति है.

जब भी तुम इस क्षण को गहराई में स्वीकार करते हो, वह चाहे किसी भी रूप में क्यों न हो - तुम स्थिर हो जाते हो और तुम्हें शान्ति मिल जाती है.

बीच के ख़ाली स्थान पर ध्यान दो- दो विचारों के बीच के ख़ाली स्थान पर, यह बातचीत में शब्दों के बीच का संक्षिप्त मौन विस्तार है. प्यानो या बांसुरी के स्वरों के बीच या फिर श्वास-प्रश्वास के बीच का खाली स्थान है.

जब तुम इन बीच के ख़ाली स्थानों पर ध्यान देते हो, तो यही ''कुछ का'' बोध चेतना बन जाता है, सच्ची चेतना का आकारहीन विस्तार तुम्हारे भीतर जाग उठता है और आकार की पहचान को हटा देता है.

सच्ची बुद्धि चुपचाप कार्य करती है अन्तर-शान्ति वहीं पर होती हैं, जहां सृजनात्मकता हो और समस्याओं का हल पाया जाता हो. क्या शोर और अन्तर्वस्तु की अनुपस्थिति ही अन्तर-शान्ति है ? नहीं, यह स्वयं बुद्धि ही है - हमारे भीतर की छिपी हुई चेतना, जिससे सभी आकार जन्म लेते हैं, जिससे तुम हो, उसी से अलग कैसे हो सकते हो ?

जिसे तुम अपना आकार समझते हो, वह उसी से आया है और इसी के सहारे जीवित है.

यह सभी आकाश-गंगाओं का, घास के तिनकों, फूल, पेड़, पक्षी और अन्य सभी आकारों का मूल है.

इस संसार में केवल अन्तर-शान्ति ही ऐसी चीज़ है, जिसका कोई आकार नहीं, यह वास्तव में कोई वस्तु भी नहीं है और इस संसार की भी नहीं है.

जब तुम किसी मनुष्य या वृक्ष को अन्तर-शान्ति में देखते हो, तब उसे कौन

देख रहा होता है ? कोई चीज़ जो एक व्यक्ति से भी अधिक गहरी है. चेतना ही अपने सृजन को देख रही होती है.

बाईबिल में लिखा है कि परमात्मा ने इस जगत् को बनाया और देखा कि यह अच्छा है. तुम भी यही देखते हो जब तुम बिना विचार के अन्तर-शान्ति के साथ देखते हो.

क्या तुम्हें और जानकारी की आवश्यकता है ? क्या और भी अधिक सूचनाएं अथवा तेज़ रफ्तार कम्प्यूटर, अधिक वैज्ञानिक और बौद्धिक गणनाएं संसार की रक्षा कर सकते हैं ? क्या ऐसा नहीं है कि मानवता को इस समय केवल समझदारी या सत्य ज्ञान की आवश्यकता है ?

परन्तु यह सत्य ज्ञान क्या है और कहां मिलेगा ? शान्त रहने की क्षमता से ही ज्ञान प्राप्त होता है, केवल देखो और सुनो, और कुछ भी करने की जरूरत नहीं है, शान्त रहने, देखने और तुम्हारे भीतर का भावना विहीन ज्ञान जाग्रत हो जाता है. अन्तर-शान्ति को ही अपने शब्दों और कार्यों को दिशा बताने दो **(अन्तर-शक्ति की आवाज़, एकहार्ट टाल्ल)**

तुम अपने जीवन का भार तब तक नहीं उठा पाओगे, जब तक तुम इस क्षण यानी वर्तमान का दायित्व नहीं उठाओगे, क्योंकि वर्तमान ही वह स्थान है, जहा जीवन को पाया जा सकता है.

इस क्षण का दायित्व लेने का अर्थ यही है कि वर्तमान का ''इस प्रकार'' अन्तर से भी विरोध न करो, वह जो भी है, उससे बहस न करो. इसका मतलब है, जीवन के साथ शामिल होकर चलो.

वर्तमान ऐसा ही है, क्योंकि वह और किसी भी प्रकार का नहीं हो सकता, बौद्ध धर्म को मानने वाले यह सब हमेशा से ही जानते थे, अब भौतिकवादी भी इसे स्वीकार करते हैं : यहां अलग वस्तुएं या घटनाएं कभी नहीं होती. सतह के नीचे सभी वस्तुए आपस में जुडी हुई हैं, ब्राह्मण्ड की पूर्णता का अंश हैं, जो कि यही रूप लेता है और जिसे यह क्षण प्राप्त करता है.

जब तुम जो भी है, उसे ''हाँ'' कहते हो, तो तुम स्वयं ही जीवन की ऊर्जा एवं बुद्धि से जुड़ जाते हो. तभी तुम जगत् में सकारात्मक परिवर्तन के प्रतिनिधि बन जाते हो. **(अन्तरशक्ति की आवाज़, एकहार्ट टॉल्ल)**

एक सरल, परन्तु तत्व रूप आध्यात्मिक अभ्यास तो यही है कि वर्तमान में जो भी पैदा हो, उसके भीतर व बाहर से उसे स्वीकार करो.

जब तुम्हारा ध्यान वर्तमान से जुड़ जाता है, तो वहां सजगता आ जाती है यह ऐसा है जैसे तुम सपने से जाग रहे हो, विचारों के सपने, अतीत और भविष्य के सपने में कितनी स्पष्टता और कितनी सरलता है. इसमें समस्याओं के पैदा होने के लिए कोई जगह नहीं है. बस, यह क्षण, जैसा है वैसा ही है.

जैसे ही तुम वर्तमान में ध्यान के साथ प्रवेश करते हो, तुम अनुभव करते हो कि जीवन दिव्य है, जब तुम उपस्थित होते हो, प्रत्येक वस्तु, जिसे तुम देखते हो, उसमें दिव्यता आ जाती है जितना अधिक तुम वर्तमान में रहते हो, उतना ही अधिक तुम अपने अस्तित्व और सम्पूर्ण जीवन की दिव्यता में सरल, परन्तु अत्यधिक आनन्द अनुभव करते हो.

अधिकतर लोग वर्तमान को और इस समय जो घटित हो रहा है, उसको एक समान समझने की गलती कर बैठते हैं, परन्तु यह ऐसा नहीं है. वर्तमान में जो घट रहा है, वह उससे अधिक गहरा है. यह तो स्थान है, जिसमें वह घट रहा है.

इसलिए इस क्षण की विषयवस्तु को वर्तमान से भ्रमित मत समझो. उन सब विषय वस्तुओं में से जो पैदा होता है, वर्तमान उससे कहीं अधिक गहरा है.

जब तुम वर्तमान में प्रवेश करते हो, तो तुम अपने मस्तिष्क की विषय-वस्तुओं से बाहर आ जाते हो विचारों का निरंतर प्रवाह रुक जाता है. विचार तुम्हारे ध्यान को अब और नहीं खींचते और तुम्हें पूर्णता में नही ले जाते, विचारों के बीच में खाली स्थान पैदा हो जाता है- विस्तार और अन्त-शान्ति. तुम यह अनुभव करना शुरू कर देते हो कि अपने विचारों के मुक़ाबले में तुम कितने अधिक विशाल और गहन हो.

विचार, भावनाएं, इन्द्रिय ज्ञान और जो कुछ भी तुम अनुभव करते हो, वही तुम्हारे जीवन की विषयवस्तु बन जाती है. ''मेरा जीवन'' वही है, जो तुम अपने स्व के ज्ञान से प्राप्त करते हो और ''मेरा जीवन' ही विषयवस्तु है, इसी में तुम विश्वास करते हो.

तुम लगातार एक मौजूदा सच्चाई को अनदेखा कर देते हो. मैं हूं के तुम्हारे अन्तर-बोध का तुम्हारे जीवन की घटनाओं से कुछ लेना-देना नहीं, उसे विषयवस्तु

से कुछ मतलब नहीं. मैं हूं का बोध 'वर्तमान' के साथ है. यह हमेशा ऐसा ही रहता है। बचपन और बुढ़ापे में, स्वास्थ्य और बीमारी में, सफलता या असफलता में - मैं हूं - वर्तमान का स्थान - अपने गहनतम स्तर तक बिना बदले रहता है, अक्सर विषयवस्तु से भ्रम हो जाता है, इसलिए अपने जीवन की विषयवस्तु द्वारा मैं हूं या फिर वर्तमान को बहुत ही धुंधला और प्रत्यक्ष अनुभव करते हो, दूसरे शब्दों में तुम्हारे अस्तित्व का बोध तुम्हारे विचारों के प्रवाह और इस जगत् की अन्य बहुत-सी बातों से ढक जाता है. वर्तमान समय में खो जाता है.

इस प्रकार आप भूल जाते हो, अपने अस्तित्व की अपनी जड़ों से जुड़ा होना, अपनी दिव्य वास्तविकता और संसार में अपने आपको खो देते हो. जब मानव यह भूल जाता है कि वह कौन है, तब भ्रम, क्रोध, निराशा, हिंसा और संघर्ष पैदा हो जाते हैं. इस प्रकार सत्य को याद रखना कितना आसान है और इससे घर वापस लौटना भी.

मैं अपने विचार, भावनाएँ, इन्द्रिय-बोध और अनुभव नहीं हूँ. मैं अपने जीवन की विषयवस्तु नहीं हूँ मैं जीवन हूँ. मैं वह स्थान हूँ, जिसमें सब कुछ घटता है. मैं चेतना हूँ. मैं ही वर्तमान हूँ मैं हूँ.

सम्यक्त्व को जाना तो ऐसा जाना ?

(सत्य-विश्वास-आत्म विश्वास से सहित जीव सम्यक्त्वी-चतुर्थ गुणस्थानवर्ती)

(चाल : एक लड़की को देखा तो...)

सम्यक्त्व को जाना तो ऐसा पाया...आत्म श्रद्धान/(सत्य श्रद्धान) सहित जीवों को जाना...
चारो गति में संज्ञी(पंचेन्द्रिय जीव) सम्यक्त्वी संभव...मनुष्य तिर्यञ्च नारकी देव संभव...(1)
अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभमिथ्यात्व के उपशमादि से होता सम्यक्त्व...
देवशास्त्र गुरु व द्रव्य तत्त्व पदार्थ...श्रद्धान होता है स्व-शुद्धात्मा तक...(2)
अष्ट अंग सहित अष्टमद रहित...सप्त व्यसन व सप्त भय रहित...
संवेग-वैराग्य-आस्तिक्य-अनुकंपा युक्त...सनम्र सत्यग्राही अष्टमल रहित...(3)

सम्यक्त्व सहित ही होता सुज्ञान...दोनों सहित ही होता सदाचरण...
यहाँ से ही मोक्षमार्ग होता प्रारंभ...अरिहंत सिद्ध में होता मोक्षमार्ग पूर्ण...(4)
सम्यक्त्वी होते दश प्राण युक्त...चारों संज्ञाओं से होते संयुक्त...
त्रसकाय व तीनों वेद से युक्त...इक्कीस कषाय व तीन सुज्ञान युक्त...(5)
असंयमी होते है वे छहों लेश्या युक्त...भव्य वे होते तीन दर्शन युक्त...
संज्ञी वे होते तीन सम्यक्त्व युक्त...छहों उपयोग सहित बारह ध्यान युक्त...(6)
छियालीस (46) आस्रव से वे सहित होते...छब्बीस लाख जाति में वे होते...
साढ़े एक सौ छह लाख कुल कोटि युक्त...आहारक द्वय से भी होते संयुक्त...(7)
वे श्रावक से लेकर साधु बनकर...यथायोग्य गति के अनुसार...
कर्म नाशकर अवश्य वे मोक्ष पाते...'कनक' सूरी संक्षेप से काव्य में लिखे...(8)

सन्दर्भ -

अविरत-सम्यग्दृष्टि

इस गुणस्थान से वास्तविक मोक्ष का मंगलाचरण होता है। अंतरंग-बहिरंग समस्त कारणों के सद्भाव से मिथ्यात्व एवं अनंतानुबंधी चतुष्क का उपशम, क्षयोपशम, क्षय से यथाक्रम उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है जो कि मोक्षफल के लिए बीजभूत है। जिस प्रकार बीज के अभाव से बीज की उत्पत्ति, वृद्धि नहीं हो सकती है। सम्यग्दर्शन एक अंक प्रमाण है और ज्ञान चारित्र दो शून्य के समान है। जैसे स्वतंत्र शून्य का कोई मूल्य नहीं है परन्तु एक के आगे जोड़ने पर 100 संख्या हो जाती है। वर्तमान शून्य में विशेष मूल्य है जिसके कारण एक मूल्य बढ़कर सौ हो गया। यदि सौ पूर्ण मोक्षमार्ग है तो स्वतंत्र एक संख्या रूपी सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग नहीं है, दश स्थान स्थित शून्य रूप सम्यग्ज्ञान पूर्ण मोक्षमार्ग नहीं है तथा तृतीय स्थान स्थित शून्य रूपी चारित्र मोक्षमार्ग नहीं है परन्तु सम्यग्दर्शन रूप एक के आगे सम्यग्ज्ञान रूप शून्य जोड़ने पर दश तथा सम्यक् चारित्र रूप शून्य जोड़ने पर सौ हो जाता है जो कि पूर्णमोक्षमार्ग है। वर्तमान काल में संस्कृत जैनवाङ्मय के आद्य सूत्रकार उमास्वामी प्रथम सूत्र में कहते हैं-

''सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणी मोक्षमार्गः''

इस सूत्र में सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणी बहुवचन है और मोक्षमार्ग एक वचन रखने में एक महान् रहस्य छिपा हुआ है, जिसका अर्थ है स्वतंत्र सम्यग्दर्शन,

सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र मोक्षमार्ग नहीं है परन्तु तीनों का सम्यक् समन्वय ही मोक्षमार्ग है। सूत्र में जो पद क्रम रखा गया है, उसमें भी एक महान् आगमिक एवं आध्यात्मिक सूक्ष्म रहस्य भरा है अर्थात् सम्यग्दर्शन पूर्वक सम्यग्ज्ञान और सम्यग्ज्ञान पूर्वक सम्यक्चारित्र होता है। अन्य भी एक कारण है कि सम्यग्दर्शन पूर्ण होने के बाद भी साक्षात् तत्काल मोक्ष नहीं है। कोई जघन्य से एक भव तो और कोई उत्कृष्ट से 4 भवों तक परिभ्रमण करता है।

सम्यग्ज्ञान 13वें गुणस्थान में पूर्ण हो जाता है तो भी तत्क्षण मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है जघन्य से अन्तर्मुहूर्त से लेकर उत्कृष्ट से कुछ कम एक पूर्व कोटि वर्ष तक संसार में रुका रहता है। चौदहवें गुणस्थान के अंत में शैलेश अवस्था प्राप्त होती है एवं चारित्र पूर्ण होता है तब सम्पूर्ण कर्म नष्ट होकर शाश्वतिक मोक्ष पदवी प्राप्त होती है। इस सिद्धांत को जब हम सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करते हैं तब पाते हैं कि सम्यग्दर्शन की पूर्णता मोक्षमार्ग की पूर्णता नहीं है, तथा सम्यग्ज्ञान की पूर्णता भी मोक्षमार्ग की पूर्णता नहीं है, किन्तु सम्यक् चारित्र की पूर्णता ही मोक्षमार्ग की पूर्णता है। इसलिए सूत्र में पहले सम्यग्दर्शन को उसके पश्चात् सम्यग्ज्ञान और शेष में सम्यक्चारित्र को रखा है। मोक्षमार्ग का प्रारंभ सम्यग्दर्शन से एवं पूर्णता सम्यक्चारित्र से होती है। जहाँ पर सम्यक्चारित्र है वहाँ सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान निश्चित रूप से रहेंगे ही, किन्तु जहाँ पर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान है वहाँ चारित्र भजनीय है अर्थात् हो भी सकता है और नहीं भी। जैसे किसी के पास दस हजार रुपये हैं उसके पास सौ रुपये, दस हजार रुपये है ही। किन्तु जिनके पास दस रुपये और सौ रुपये है उसके पास हजार रुपये हो सकते हैं, नहीं भी हो सकते है। इसलिए मोक्षमार्ग का धनी सम्यक्चारित्रवान् जीव है।

णो इंदिएसु विरदो णो जीवे थावरे तसे वापि।
जोसद्दहदिजिणुत्तंसम्माइट्ठी अविरदोसो।। (29) गो.सा.)

जो इन्द्रिय के विषयों से विरत नहीं है तथा त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा से भी विरत नहीं है केवल जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों के ऊपर श्रद्धान रखता है, इसलिये वह जीव अविरत सम्यग्दृष्टि है। अपि शब्द से संवेगादि गुण प्रगट होते हैं।

सम्माइट्ठी जीवों उवइट्ठ पवयणं तु सद्दहहि।
सद्दहहि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा।।(27)

सुत्तादो तं सम्मं दरसिज्जतं जदा ण सद्दहहि।
सो चेव हवइ मिच्छाइट्ठी जीवो तदो पहुदि।। (28)

जो जीव अरहन्त आदि के द्वारा उपदिष्ट प्रवचन अर्थात् आप्त, आगम और पदार्थ इनकी श्रद्धा रखता है, साथ ही उनके विषय में असद्भाव अर्थात् अतत्त्व भी स्वयं के विशेष ज्ञान से शून्य होने से, केवल गुरु के नियोग से जो गुरु ने कहा वही अर्हंत भगवान् की आज्ञा है ऐसा श्रद्धान करता है, वह भी सम्यग्दृष्टि ही है। अर्थात् अपने को विशेष ज्ञान न होने से और गुरु भी अल्पज्ञानी होने से वस्तु स्वरूप अन्यथा कहे और सम्यग्दृष्टि उसे ही जिनाज्ञा मानकर अतत्त्व का श्रद्धान कर ले तब भी सम्यग्दृष्टि ही है, क्योंकि उसने जिनाज्ञा का उल्लंघन नहीं किया।

उक्त प्रकार से असत् अर्थ का श्रद्धान करता हुआ सम्यग्दृष्टि जीव जब अन्य कुशल आचार्यों के द्वारा पूर्व में उसके द्वारा गृहीत असत्यार्थ से विपरीत तत्त्व गणधरादि द्वारा कथित सूत्रों को दिखाकर सम्यक् रूप से बतलाया जावे और फिर भी वह दुराग्रह वश उस सत्यार्थ का श्रद्धान न करे तो उस समय से वह जीव मिथ्यादृष्टि होता है, क्योंकि गणधरादि के द्वारा कथित सूत्र का श्रद्धान न करने से जिनाज्ञा का उल्लंघन सुप्रसिद्ध है। इसी कारण यह मिथ्यादृष्टि है। सम्यग्दर्शन सामान्य से एक प्रकार का है। सराग सम्यग्दर्शन व वीतराग सम्यग्दर्शन अपेक्षा दो प्रकार है। (1) उपशम (2) क्षयोपशम(3) क्षायिक की उपेक्षा तीन प्रकार का है।

(1) आज्ञा (2) मार्ग (3) उपदेश (4) सूत्र (5) बीज (6) संक्षेप (7) विस्तार (8) अर्थ (9) अवगाढ़ (10) परम अवगाढ़ भेद से सम्यक्त्व 10 प्रकार भी है। उसमें से प्रथम सम्यक्त्व आज्ञा सम्यग्दर्शन है। यथा-

आज्ञासम्यक्त्वमुक्तं यदुत विरुचितं वीतरागज्ञयैव।
त्यक्तग्रंथप्रपंच शिवामृतपथं श्रद्धाधन्मोहशान्तेः।। (आत्मानु)

दर्शनमोहनीय के उपशांत होने से ग्रंथ श्रवण के बिना केवल वीतराग भगवान् की आज्ञा से ही जो तत्त्व श्रद्धान उत्पन्न होता है उसको आज्ञा सम्यग्दर्शन कहते हैं क्योंकि उसका श्रद्धान होता है कि सर्वज्ञ हितोपदशी भगवान् कभी भी अन्यथा उपदेश नहीं करते हैं जो भी कथन करते हैं वह सत्य ही कथन करते हैं।

सूक्ष्म जिनोदितं तत्त्वं हेतुर्भिर्नैव हन्यते।
आज्ञासिद्धंतद्ग्राह्यंनान्यथावादिनोजिना।।(5)

वीतराग सर्वज्ञ हितोपदेश भगवान् के द्वारा प्रतिपादित तत्त्व त्रिकाल अबाधित परम सत्य एवं सूक्ष्म है, जो कि परोक्ष मति ज्ञान श्रुतज्ञान के अवयवभूत हेतु, तर्क उदाहरण से खंडित नहीं होता है। जिनेन्द्र भगवान् अन्यथावादी नहीं होते हैं। इसलिये उनकी आज्ञा ग्रहण करने योग्य है। यहाँ से ही सम्यग्दर्शन का प्रारंभ होता है। आज्ञा सम्यक्त्व तलहटी (आधारशीला) है। उसके ऊपर अन्य सम्यग्दर्शन रूपी महल अवस्थित है।

कुछ वर्ष पूर्व जैन धर्म के अनेकांतवाद, स्याद्वाद, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, कालद्रव्य, परमाणुवाद, वनस्पति एकेन्द्रिय हैं इत्यादि सिद्धांत अन्य कोई दर्शन एवं विज्ञान नहीं मानते थे, वर्तमान वैज्ञानिक शोध से उपरोक्त समस्त विषय को आज वैज्ञानिक जगत् एवं साधारण जन भी मानने लगे हैं। विज्ञान के नवीन शोध से जैन धर्म की प्रमाणिकता अधिक दुनिया के सन्मुख स्पष्ट होती जा रही है इससे सिद्ध होता है कि जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रणीत समस्त सिद्धांत सत्य पूर्ण और तथ्यपूर्ण है इसलिये जो जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा को नहीं मानता है वह मिथ्यादृष्टि है।

अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान में 24 स्थान

क्र.स.	नाम	भेद	अविरतसम्यक्त्व
1.	गुणस्थान	14	1 अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान
2.	जीवसमास	14	2 (संज्ञी पर्याप्त, संज्ञी निर्वृत्यपर्याप्त)
3.	पर्याप्ति	6	6 पर्याप्तियाँ, 6 अपर्याप्तियाँ
4.	प्राण	10	10 पर्याप्त के, 7 अपर्याप्त के
5.	संज्ञा	4	4
6.	गति	4	4
7.	इन्द्रिय	5	1 पंचेन्द्रिय
8.	काय	6	1 त्रस

9.	योग	15	13 आहारकद्विक बिना
10.	वेद	3	3
11.	कषाय	25	21 अनंतानुबंधी 4 बिना
12.	ज्ञान	8	3 (मति, श्रुत, अवधि)
13.	संयम	7	1 असंयम
14.	दर्शन	4	3 (चक्षु, अचक्षु , अवधि)
15.	लेश्या	6	6
16.	भव्य	2	1 भव्य
17.	सम्यक्त्व	6	3(उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक)
18.	संज्ञी	2	1 संज्ञी
19.	आहारक	2	2 (आहारक, अनाहारक)
20.	उपयोग	12	6 (3 ज्ञान + 3 दर्शन)
21.	ध्यान	16	12 (4 आर्त्तध्यान + 4 रौद्रध्यान + धर्मध्यान)
22.	आस्रव	57	46 (12 अविरति + 21 कषाय + 13 योग)
23.	जाति	84 लाख	26 लाख
24.	कुल	197 1/2 लाख कोटि	106 1/2 लाख कोटि

चारो गति के संज्ञी पंचेन्द्रिय, पर्याप्त-निर्वृत्यपर्याप्त भव्य जीवों में यह गुणस्थान होता है।

इस गुणस्थान की पर्याप्त-निर्वृत्यपर्याप्त अवस्था में पुरुषवेद और नपुसंकवेद घटित होता है। अविरत सम्यक्त्व की पर्याप्त अवस्था में ही स्त्रीवेद होता है। निर्वृत्यपर्याप्ति अवस्था में द्रव्य-भाव स्त्रीवेद नहीं होता है।

सामान्य से सम्यग्दृष्टि जीव मरकर-द्रव्य भाव स्त्रीवेद एवं नपुंसकवेद में उत्पन्न नहीं होते हैं, अतः निर्वृत्यपर्याप्त अवस्था में स्त्रीवेद और नपुसंकवेद नहीं होते हैं।

नारकी जीवों में मात्र नपुसंकवेद ही होता है, अतः नारकी जीवों की अपेक्षा ही सम्यग्दृष्टि जीव नपुंसकवेद में उत्पन्न हाते हैं। इस प्रकार नारकी जीवों की निवृत्यपर्याप्ति अवस्था में नपुसंकवेद घटित होता है। अन्य सभी स्थानों में सम्यग्दृष्टि जीव मरकर द्रव्य-भाव पुरुषवेद में ही उत्पन्न होते हैं।

सामान्य से चारों गति के अविरत सम्यग्दृष्टि जीवों के 3 लेश्या पाई जाती है। पर्याप्त देव-नारकी के इस गुणस्थान में क्रमशः 3 शुभ और 3 अशुभ लेश्या होती हैं। निर्वत्यपर्याप्त अवस्था में देवों (भवनत्रिक को छोड़कर) के इस गुणस्थान में 3 शुभ लेश्या होती है एवं नारकी देवों के मात्र कापोत लेश्या होती है।

पर्याप्त मनुष्य-तिर्यञ्च के इस गुणस्थान में 6 लेश्या होती हैं। निर्वत्यपर्याप्त मनुष्य के 6 लेश्या हाती है। भोगभूमिज मनुष्य की पर्याप्त अवस्था में 3 शुभ लेश्या होती हैं। भोगभूमिज मनुष्य की निर्वत्यपर्याप्त अवस्था में कापोत लेश्या होती है।

कर्मभूमिज तिर्यञ्च की निर्वृत्यपर्याप्ति अवस्था में यह गुणस्थान नहीं होता है। भोगभूमिज तिर्यंञ्च की निर्वृत्यपर्याप्ति अवस्था में इस गुणस्थान में मात्र कापोत लेश्या होता है। क्षायिक सम्यक्त्व या कृतकृत्यवेदक सम्यक्त्व सहित मनुष्य मरकर प्रथम नरक में ही उत्पन्न होते हैं। प्रथम नरक के आगे के नरकों में सम्यक्त्व सहित उत्पन्न नहीं होते हैं। प्रथम नरक में मात्र कापोत लेश्या ही है, अतः निर्वृत्यपर्याप्त अवस्था सहित इस गुणस्थान में मात्र कापोत लेश्या है।

क्षयोपशम या क्षायिक सम्यग्दृष्टि नारकी जीव मरकर जब कर्मभूमिज मनुष्य में उत्पन्न होते हैं, तब मनुष्य में ही निर्वत्यपर्याप्त अवस्था में अपनी-अपनी पूर्व की 3 अशुभ लेश्या अंतर्मुहूर्त पर्यंत पाई जाती है।

क्षयोपशम या क्षायिक सम्यग्दृष्टि देव मरकर जब कर्मभूमिज मनुष्य में उत्पन्न होते हैं, तब उन मनुष्यों की निर्वत्यपर्याप्त अवस्था में अपनी-अपनी पूर्व की 3 शुभ लेश्या अंतर्मुहूर्त पर्यंत पाई जाती हैं।

इस प्रकार अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान में निर्वत्यपर्याप्त अवस्थागत मनुष्य के 6 लेश्या पाई जाती है।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व सहित इस गुणस्थान में अनाहारक अवस्था नहीं होती है, क्योंकि इस सम्यक्त्व में मरण नहीं है।

द्वितीयोपशम सम्यक्त्व सहित इस गुणस्थान में अनाहारक अवस्था मात्र

देवगति की अपेक्षा घटित होती है; क्योंकि इस सम्यक्त्व सहित मरण को प्राप्त जीव नियम से देवगति में उत्पन्न होते हैं।

क्षयोपशम सम्यक्त्व सहित इस गुणस्थान में अनाहारक अवस्था देवगति और मनुष्य गति अपेक्षा घटित होती है, क्योंकि इस सम्यक्त्व सहित देव-नारकी नियम से मनुष्यगति में एवं मनुष्य-तिर्यंच नियम से देवगति में उत्पन्न होते हैं।

कृतकृत्यवेदक एवं क्षायिक सम्यक्त्व सहित इस गुणस्थान में अनाहारक अवस्था पूर्व में बध्यमान आयु अपेक्षा चारों गतियों में घटित होती है।

अविरत सम्यक्त्व आदि 4 गुणस्थानों में धर्मध्यान होता है (सवार्थसिद्धि)। सम्यक्त्व के प्रभाव से अविरत सम्यक्त्व आदि 4 गुणस्थानों में धर्मध्यान है।

तत्त्वानुशासन और भाव संग्रह के अनुसार चतुर्थ-पंचम षष्ठ गुणस्थान में उपचार से धर्मध्यान होता है। अप्रमत्त गुणस्थान में मुख्य रूप से धर्मध्यान होता है।

'गुणस्थान मार्गणा चर्चा' में पं. रतनचंदजी मुख्तार ने इस गुणस्थान में उपचार से 4 धर्मध्यान घटाये हैं। अविरतादि गुणस्थानों में कौन-कौनसे धर्मध्यान होते हैं, ऐसा आगम प्रमाण हमारी जानकारी में नहीं है, अतः अविरत सम्यक्त्वादि तीन गुणस्थानों में उपचार से 4 धर्मध्यान होते हैं, इसी को हमने यहां ग्रहण किया है। (गुणस्थान मार्गणा)

स्व-आत्मा की श्रद्धा-प्रज्ञा होने के व न होने के कारण

(बहिरात्मा चतुर्गति सम्बन्धी शरीर भेद से जीव भेद मानते)

नरदेहस्थमात्मानमविद्वान् मन्यते नरम्।
तिर्यञ्च तिर्यङ्गस्थं सुरागस्थं सुरं तथा।। (8)
नारकं नारकाङ्गस्थं न स्वयं तत्त्वतस्तथा।
अनंतानंतधीशक्तिः स्ववेद्योऽचलस्थितः।(9) सं. तं.

पद्य भावानुवाद - (चालः आत्मशक्ति...क्या मिलिए...)

बहिरात्मा जीव नहीं जानते हैं, जीव का यथार्थ स्वरूप।
मनुष्य शरीर में मनुष्य जीव माने, तिर्यञ्च में तिर्यञ्च रूप। (1)

देव शरीर में देवरूप माने, नारकी में नारकी रूप।

किन्तु जीव तो वास्तविक में, अनन्तानंत धी शक्ति रूप।(2)

समीक्षा- चैतन्यमय जीव होता है, जो अनन्तानन्त ज्ञान शक्ति युक्त।
स्वसंवेदन से जाना जाता है, जो स्वरूप में अविचलित।। (3)

किन्तु अनादि कर्म बन्ध से, हुआ है जीव अशुद्ध मूर्त।
जिससे चतुर्गति मय संसार में, पाता है विभिन्न रूप।। (4)

मनुष्यगति के कर्मोदय से, मिलता है मनुष्य देह।
तिर्यञ्च गति के कर्मोदय से, मिलता है तिर्यञ्च देह।। (5)

देवगति के कर्मोदय से मिलता है देव का देह।
नरकगति के कर्मोदय से, मिलता है नारकी देह।। (6)

कर्म तो पुद्गल अतएव कर्मोदय से जो मिले वे भी पुद्गल।
यथा मिट्टी से जो भी बने वे सभी ही होते हैं मिट्टी मय।। (7)

मिट्टी के बर्तन में रखा हुआ, घृत न होता है मिट्टीमय।
तथाहि शरीर में स्थित जीव, न होता है शरीरमय।। (8)

ये सभी ज्ञान न होता इन्द्रियों से, इन्द्रियाँ हैं पुद्गलमय।
स्व संवेदन से यह ज्ञात होता, क्योंकि स्व संवेदन जीवमय।। (9)

स्व-संवेदन ज्ञान बहिरात्मा को, नहीं होता है मोह के कारण।
संवेदन अन्तरात्मा को होता, मोह के क्षयोपशमादि के कारण।। (10)

मिथ्यात्व गुणस्थान को जाना तो ऐसा जाना...!?

(सत्य विश्वास-आत्मविश्वास से रहित जीव मिथ्यादृष्टि-अंधविश्वासी)

(चाल : एक लड़की को देखा...)

मिथ्यात्व (को) जाना तो ऐसा पाया...
आत्मश्रद्धान/(सत्यश्रद्धान) रहित जीवों को जाना...
निगोदिया/(सूक्ष्म-जीव) से ले स्थूल जीवों को पाया...

मनुष्य तिर्यञ्च नारकी देवों को पाया...मिथ्यात्व...(1)

सत्य श्रद्धान रहित जो जीव होते...
वे सभी जीव मिथ्यादृष्टि होते...
भले वे होते हो सूक्ष्म से स्थूल जीव...
मनुष्य से लेकर देव तक जीव...मिथ्यात्व...(2)...

वे सत्य-असत्य को नहीं जानते/(मानते)...
आत्मा-परमात्मा भी न पहचानते...
द्रव्य-तत्त्व-पदार्थों को नहीं मानते...
स्वयं को शरीरमय ही मानते...मिथ्यात्व...(3)

मैं हूँ जीव द्रव्य सच्चिदानन्दमय...
अनादि अनिधन स्वयंभू स्वयंपूर्ण...
अनादि कर्म से बना हूँ संसारी जीव/(शरीर युक्त)...
तथापि शुद्धनय से मैं हूँ शरीर मुक्त/(कर्म मुक्त)...मिथ्यात्व...(4)

ऐसा श्रद्धान सह जो न होते जीव...
उन्हें सर्वज्ञ देव ने कहा मिथ्यात्वी जीव...
मिथ्यादृष्टि न होते सही धर्मात्मा...
भले करते हो बाह्य धार्मिक क्रिया...मिथ्यात्व...(5)

मिथ्यादृष्टि की न होती आत्मशुद्धि...
समता-शांति व आत्म-उन्नति...
राग द्वेष मोह व ईर्ष्या-घृणा सहित...
सत्ता-संपत्ति-भोगोपभोग मोहित...मिथ्यात्व...(6)

चौदह (14) जीव समासो में मिथ्यादृष्टि संभव...
चार से दश प्राण तक इनमें संभव...
चार गति चार, संज्ञा पाँच इन्द्रिय संभव...
छहो काय तीनों वेद होना संभव...मिथ्यात्व...(7)

पच्चीस (25) कषाय व तीन कुज्ञान होते...
दो दर्शन सहित असंयमी ही होते...

छहो लेश्या युक्त भव्य-अभव्य होते...
संज्ञी-असंज्ञी आहारक-अनाहारक होते...मिथ्यात्व...(8)
पाँच उपयोग युक्त आठ ध्यान सहित...
पचपन(55) आस्रव युक्त आठ ध्यान सहित...
चौरासी (84) लाख जाति इनकी होती...
एक सौ निन्यानवे (199) लाख कुल कोटि होते...मिथ्यात्व...(9)
ऐसे जीवों को न मिलती आत्मिक शांति...
मिथ्यात्व सहित जीव न पाते परम मुक्ति...
भव्य मिथ्यात्वी जीव क्रमशः पाते हैं मुक्ति
'कनकनन्दी' का लक्ष्य है परम मुक्ति...मिथ्यात्व...(10)

सन्दर्भ-

मिथ्यात्व गुणस्थान

सत्य से विपरीत मान्यता श्रद्धा/प्रतीति विश्वास रूप परिणाम व भावों को मोह/मिथ्यात्व कहते हैं। सत्य का पूर्ण साक्षात्कार सर्वज्ञ वीतरागी देव करते हैं। सर्वज्ञ भगवान् ने दिव्य ध्वनि मूलक उस परम सत्य का प्रमाण, नय, निक्षेपों के द्वारा प्रतिपादन किया है, उनके द्वारा प्रतिपादित सत्य अर्थात् जो उनके द्वारा कहे हुए द्रव्य, तत्त्व पदार्थों में विश्वास नहीं करता, श्रद्धा नहीं करता वह मिथ्यादृष्टि है क्योंकि उसकी श्रद्धा विपरीत रूप होने के कारण वह पदार्थ को भी विपरीत रूप श्रद्धान करता है। सिद्धांत चक्रवर्ती नेमीचन्द्र आचार्य गोम्मट्टसार में कहते हैं -

मिच्छाइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं।। (18)

The wrong-believing soul does not believe in the noble doctrine preached (By the conquerons) and believes in the nature of things as it really is not whether it be preached or not by (the teaching or description of any one).

मिथ्यादृष्टि ''उपदिष्ट' अर्थात् अर्हंत आदि के द्वारा कहे गये, 'प्रवचन' अर्थात् आप्त आगम और पदार्थ ये तीन इनका श्रद्धान नहीं करता है। प्रवचन अर्थात् जिसका वचन प्रकृष्ट है ऐसा आप्त, प्रकृष्ट का वचन प्रवचन अर्थात्

परमागम। प्रकृष्ट रूप से जो कहा जाता है वह प्रवचन अर्थात् पदार्थ। इन निरूक्तियों से प्रवचन शब्द से आप्त, आगम और पदार्थ तीनों कहे जाते है तथा वह मिथ्यादृष्टि असद्भाव अर्थात् मिथ्यारूप प्रवचन यानी आप्त आगम पदार्थ का 'उपदिष्ट' अर्थात् आप्ताभासों के द्वारा कथित अथवा अकथित का भी श्रद्धान करता है।

पदमक्खरं च एक्कं पि जो ण रोचेदि सुत्त णिहिट्ठं।
सेसं रोचंतो वि हु मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वा।।(39) (भगवती)

श्रुत में कहा गया है कि एक पद का अर्थ अथवा एक अक्षर का भी अर्थ जो प्रमाणभूत मानकर श्रद्धा नहीं करता है वह बाकी के श्रुतार्थ को या श्रुतांश को प्रमाण जानता हुआ भी मिथ्यादृष्टि ही है। बड़े पात्र में रखे हुए बहुत दूध को भी छोटी सी विषकणिका बिगाड़ती है। इसी तरह अंधश्रद्धा का छोटा सा अंश भी आत्मा को मलिन करता है।

मिच्छत्तं वेदंतो जीवो विवरीय दंसणो होदि।
ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो।। (17)

उदय में आये मिथ्यात्व का वेदन अर्थात् अनुभवन करने वाला जीव विपरीत दर्शन अर्थात् अतत्त्व श्रद्धा से युक्त होता है। वह न केवल अतत्त्व की ही श्रद्धा करता है, अपितु अनेकात्मक, धर्म, वस्तु स्वभाव, मोक्ष के कारणभूत रत्नत्रयात्मक धर्म को भी पसन्द नहीं करता।

दृष्टांत-पित्त ज्वर से ग्रस्त व्यक्ति मीठे-दूध रसादि को पसंद नहीं करता, उसी तरह मिथ्यादृष्टि को धर्म नहीं रुचता है।

पूर्व संचित मिथ्यात्व कर्म के उदय से जो स्वयमेव विपरीत भाव होता है उसे निसर्ग व अगृहीत मिथ्यात्व कहते हैं, जो कुगुरु के उपदेश से विपरीत भाव होते है उसे अधिगमज व गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं। मिथ्यात्व के कारण जीव अवस्तु में वस्तु भाव, अधर्म में धर्मभाव, कुगुरु में गुरुभाव, कुशास्त्र में सुशास्त्र भाव को धारण करता है। बहिरात्मा केवल शरीर पोषण करता है, अतीन्द्रिय आत्मोत्थ सुख से बहिर्मुख होकर विषय सुख में ही लीन रहता है। बाह्य-भौतिक हानि वृद्धि में अपनी हानि-वृद्धि मानकर सुखी-दुःखी होता है। सामान्य से मिथ्यात्व एक प्रकार होते हुए भी विशेष अपेक्षा अर्थात् द्रव्य-भाव से दो प्रकार, एकांत, विपरीत, संशय, विनय अज्ञान की अपेक्षा पाँच प्रकार भी होता है। इसमें

सांख्य चार्वाक मत मिलाने से 7 प्रकार का मिथ्यात्व होता है। विशेष रूप से क्रियावादियों के 180, अक्रियावादियों के 84, अज्ञानवादी के 67 और वैयनिकवादियों के 32 इस प्रकार मिथ्यादृष्टियों के 363 भेद होते हैं।

कोई एकांत से काल, ईश्वर, आत्मा नियति और स्वभाव को स्वतंत्र-स्वतंत्र रूप से कर्त्ता मानते हैं।

कुछ मिथ्यावादियों का स्वरूप

एकांतकालवादी-काल ही सबको उत्पन्न करता है, काल ही सबका नाश करता है, सोते हुए प्राणियों को काल ही जागता है, सो ऐसे काल को ठगने में कौन समर्थ हो सकता है? इस प्रकार काल से ही सब कार्य मानना, कालवाद कहलाता है।

एकांत नियतिवादी-जो जिस समय जिससे जैसा जिसको नियम से होना है वह उस समय उससे वैसे उसके ही होता है ऐसा नियम से सभी वस्तु को मानना नियतिवाद कहलाता है।

किसी भी कार्य के लिए पाँच कारणों की आवश्यकता- इसी प्रकार कोई मिथ्यावादी एक-एक कारण से कार्य उत्पत्ति को मानते है परन्तु प्रत्येक कार्य सम्यक् अंतरंग-बहिरंग भावों से सद्भाव से एवं विरोधी कारणों के अभाव से होता है।

कालो सहा व णियइ पुव्वकयं पुरिस कारणेगंता।
मिच्छंतं ते चेव उ समासओ होंति सम्मत्त।। (53) (सन्मतिसूत्र)

प्रत्येक कार्य के लिए (1) काल (2) स्वभाव(3) नियति (4) पूर्वकृत (5) पुरुषार्थ। इन पाँचों कारणों का सम्यक् समन्वय चाहिए और प्रत्येक कार्य के लिए पाँचों को मानना सम्यक्त्व है। एक-एक को कार्योत्पति में कारण मानना मिथ्यात्व है। काल रूपी कारण केवल बाह्य उदानीस कारण है, उपादान अथवा प्रेरक कारण नहीं है।

यदि काल को ही संपूर्ण कार्यों का कर्त्ता मानेंगे तब काल को ही कर्मबंध होना चाहिए, काल को ही सुख-दुख होना चाहिए, काल को ही मोक्ष पद की प्राप्ति होनी चाहिए, परन्तु यह आगम, प्रत्यक्ष एवं अनुमान विरुद्ध है क्योंकि इस प्रकार उपलब्ध नहीं है।

इसी प्रकार नियति को ही यदि कार्य के लिए कारण मानेंगे तब काल, स्वभाव, पूर्वकृत, पुरुषार्थ रूप चार कारणों से लोप का प्रसंग प्राप्त होता है परन्तु विकल अर्थात् न्यून कारण से कार्य नहीं हो सकता है। द्रव्य में परिणमन के लिए

उदासीन रूप काल का अभाव होने पर द्रव्य में परिणमन नहीं होगा, स्वभाव के अभाव से द्रव्य का ही लोप होगा। पूर्वकृत के अभाव से एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक एवं मिथ्यात्व से चौदह गुणस्थान तक जीव की अवस्था विशेष का अभाव होने से संसार का अभाव हो जायेगा, जिससे प्रत्येक जीव शुद्ध-बुद्ध, नित्य निरंजन स्वरूप हो जायेंगे जो कि प्रत्यक्ष विरुद्ध है।

कर्म नहीं है तो कर्म नष्ट करने के लिए पुरुषार्थ की क्या आवश्यकता है ? संसार के अभाव से प्रतिपक्षभूत मोक्ष का भी अभाव हो जायेगा। संसार-मुक्त जीवों का अभाव होने से प्रतिपक्षभूत अजीव द्रव्य का अभाव हो जायेगा तब सर्व शून्यता का प्रसंग आयेगा जो कि अनुपलब्ध है।

यदि केवल नियति को ही कार्य में कारण मानेंगे तो पुरषार्थ के अभाव होने से लौकिक व अलौकिक कार्य के लिए जीव बुद्धिपूर्वक अथवा अबुद्धिपूर्वक क्रिया करता है उसका लोप होगा, पुरुषार्थ के अभाव से मोक्ष का भी अभाव हो जायेगा। परन्तु जो अनंत केवली हुए हैं वे सभी पुरषार्थपूर्वक, बुद्धिपूर्वक, गृहस्थ जीवन का त्यागकर, शरीर स्थित पोषाक निकालकर, केशलोंच कर, निर्ग्रंथ रूप धारण कर, कठोर अंतरंग-बहिरंग तपश्चरण कर मोक्ष पदवी प्राप्त किये है।

धुव सिद्धि तित्थयरो चउणाण जुदोवि करेइ तवयरणं
णाऊण धुव कुज्जा तवयरणं णाणजुत्तो वि।। (अष्टपाहुड)

तद्भव मोक्षगामी, चरमशरीरी, निश्चितरूप से तद्भव में मोक्ष जाने वाले, जन्म से ही क्षायिक सम्यग्दृष्टि, मति-श्रुत-अवधिज्ञान के धारक होते हैं और अंतरंग-बहिरंग कारण मिलने पर संपूर्ण परिग्रह का त्याग कर 'नमःसिद्धेभ्य' बोलकर केशलोच कर दीक्षा लेते है। तब अनेक ऋद्धि-सिद्धि सहित मनःपर्यय ज्ञान प्रगट होने पर चार ज्ञानीधारी होने के कारण उन्हें स्पष्ट अवगत है कि मैं निश्चित मोक्ष जाऊँगा तो भी तीर्थंकर भगवान् कठोर-कठोर अंतरंग-बहिरंग तपश्चरण करते हैं, मासोपवासी होकर पर्वत शिखर पर ग्रीष्म ऋतु में, जिस समय पाँव के नीचे पृथ्वी जलती है और सूर्य ऊपर अत्यन्त संताप देता है, चारों ओर उष्ण वायु शरीर का शोषण करती है, तब भी कर्म शत्रु को नष्ट करने के लिए अंतरंग-बहिरंग तपश्चरण करते हैं, अन्यथा कर्म नष्ट नहीं हो सकता है कर्म नष्ट हुए बिना शाश्वतिक आत्मोत्थ अतीन्द्रिय ज्ञानानंद सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

तीर्थेश्वरा जगज्ज्येष्ठा, यद्यपि मोक्षगामिना।
तथापि पालितं तैश्च चारित्रं मुक्ति हेतवे।।

जगत् में ज्येष्ठ तीर्थ के ईश्वर जो निश्चित मोक्षगामी है तो भी वे मुक्ति के हेतु चारित्र का पालन करते हैं।

जदि ण वि कुव्वदि छेदं ण मुच्चदे तेण बंधणवसो स।
कालेणदुबहगेणविणसोणरोपावदिविमोक्खं।। (289) (स. सार.)
जहं बंधे छेत्तूण य बंधण बद्धो दु पावदि विमोक्खं।
तह बंधे छेत्तुण य जीवो संपावदि विमोक्खं।। (292)

कोई एक पुरुष धातु निर्मित शृंखला से बंधनबद्ध होकर पड़ा है, वह उस शृंखला का वर्ण, स्वभाव, गुणधर्म के बारे में जानता है, और मनन चिंतवन भी करता है, तो भी तब तक उस बंधन से मुक्त नहीं हो सकता है जब तक कि वह बंधन को छेदन, भेदन, खण्डन नहीं करेगा। उसी प्रकार संसारी जीव कर्मरूपी बंधन में पड़ा है। वह विषय को जानता है, मानता है और बंधन से मुक्त होने के लिए चिंतन-मनन भी करता है, परन्तु जब तक कर्मबंधन को नष्ट करने के लिए दृढ़ पुरुषार्थ रूप क्रिया नहीं करेगा वह पुरुष बहुकाल तक मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता है। जैसे रज्जु (रस्सी), लोह, स्वर्ण, काष्ठ रूप बंधन को तोड़कर-फोड़कर, खोलकर, नष्ट कर अपने विज्ञान और पुरुषार्थ के बल से उस बंधन से मुक्त हो सकता है। उसी प्रकार मुमुक्षु वीर भी स्वविज्ञान, पुरुषार्थ रूपी वीतराग निर्विकल्प, स्वसंवेदन ज्ञान के बल से उस बंधन को छेदकर, भेदकर, तोड़कर, नष्ट कर विदारण कर अपने शुद्धात्मा को उपलंभ स्वरूप मोक्ष को प्राप्त करता है वही परम पुरुषार्थ है।

बिना पुरुषार्थ मोक्ष नहीं होता, केवल नियति का मानना, परम पुरुषार्थ का तिरस्कार करना, अवहेलना करना, नकार करना है। इसलिये एकांत नियतिवाद घोर मिथ्यात्व है, शिथिलाचार, भ्रष्टाचार का पोषक है। यदि नियति से सब कुछ होता है तो धन-संपत्ति के लिए व्यापार, पुत्र उत्पत्ति के लिए विवाह, रोग निवारण के लिए औषध सेवन, ज्ञानार्जन के लिए विद्यालय जाना, शास्त्र अध्ययन प्रवचन, शिविर आदि की क्या आवश्यकता है ?

इस प्रकार संपूर्ण मिथ्यात्व के कारण वस्तु स्वरूप का अयाथार्थ श्रद्धान एवं

आत्म स्वरूप का विपरीत श्रद्धान होने से मिथ्यात्व संसार का मूल कारण है, कर्मबंध का प्रधान कारण है, अधर्म का आधार है, आत्म पतन के लिए मूल हेतु है।

मिथ्यात्व में बंध

''मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाय योगः बंधहेतवः''

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग बंध के हेतु है क्योंकि इन कारण पूर्वक ही बंध होता है। ''त एते पञ्च बंध हेतवः, समस्ता व्यस्ताश्च भवन्ति तद्यथा मिथ्याउदृष्टिःपञ्चापि समुदिता बंध हेतवो भवन्ति'' ये पाँचों स्वतंत्र बंध के हेतु हैं और समुदाय से भी बंध के कारण हैं। जब तक मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्व प्रकृति उदय में रहती है तब तक मिथ्यात्वादि 16 प्रकृतियों का बंध होता है। उसके आगे बंध व्युच्छित्ति हो जाती है।

मिच्छत्त हुंड संढाऽसंपत्तेयक्ख थावरादावं।
सुहुमतियं वियलिंदिय णिरयदु णिरयाउगं मिच्छे।। (95) (कर्मकाण्ड)

मिथ्यात्व, हुण्डक संस्थान, नपुंसकवेद, असम्प्राप्तासपाटिका संहनन, एकेन्द्रियजाति, स्थावर, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, विकलत्रय, नरकगति, नरक गत्यानुपूर्वी और नरकायु इन 16 प्रकृतियों की बंध व्युच्छिति मिथ्यात्व गुणस्थान के अंत में होती है।

सामण्ण पच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो।
मिच्छत्तं अविरमणं कसायं जोगा य बोद्धव्वा।। (10)(समयसार)

सामान्य से मिथ्यात्व अविरति, कषाय और योग ये चार बंध के कर्त्ता है। अर्थात् जिस समय में मिथ्यात्व कर्म का उदय होता है उस समय उदयगत मिथ्यात्व कर्म के कारण जो भाव में होता है उसके माध्यम से पुनः नवीन कर्मबंध होता है। इसी प्रकार अविरति आदि से जानना चाहिए। यहाँ पर प्रमाद को आचार्यश्री ने नहीं गिनाया है तो क्या प्रमाद बंध के लिए कारण नहीं है ? अवश्य कारण है किन्तु प्रमाद को कषाय में अंतभूर्त कर दिया है क्योंकि कषाय के कारण प्रमाद होता है। द्रव्य संग्रह में ''जोगा पयडि पदेसा ट्ठिदि अणुभाग कसायदो होदि'' इसमें कषाय को ही स्थिति और अनुभाग का कारण बताया है। तो क्या मिथ्यात्व और अविरति बंध के कारण नहीं है ? अवश्य है, किन्तु संक्षेप से कषाय में मिथ्यात्वादि को अंतभूर्त कर दिया है। यहाँ पर कषाय प्रत्यय अंत-दीपक है, इसलिये उसके पहले-

पहले के सभी कारण उससे ग्रहण किये गये हैं।

सूत्र-

सव्वतिव्वाणुभागा मिच्छातस्स उक्कस्साणु भागुदीरणा।
अणंताणुबंधीणमण्णदा उक्कस्साणु भागुदीरणा तुल्ला अणंता गुण हीणा।

सबसे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा तीव्र अनुभाग वाली है। अर्थात् सबसे तीव्र शक्ति से संयुक्त है। इससे अनंतानुबंधियों की अन्यत्तर(कोई एक) उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा परस्पर समान होकर मिथ्यात्व की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा से अनंतगुणी हीन है।

शंका- मिथ्यात्व की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा सबसे तीव्र क्यों है ?

समाधान- ''सव्व दव्व विसय सद्दहण गुण पडि बंधित्तादो।''

अर्थ- सर्व द्रव्य, विषय श्रद्धान गुण का प्रतिबंधन मिथ्यात्व कर्म करता है।

मिच्छत्तपच्चयो खलु बन्धो अवसाम यस्स बोधव्वो।
उवसंते सासणे तेण परं होदि भयणिज्जो।। (धवलः)

मिथ्यात्व का उपशांत अवस्था में और सासादन गुणस्थान में मिथ्यात्व निमित्तक बंध नहीं होता है अन्य स्थान भी भजनीय है अर्थात् मिथ्यात्व को प्राप्त हुए जीव को मिथ्यात्व निमित्तक बंध होता है। अन्य गुणस्थान प्राप्त जीव को बंध नहीं होता। एक विचारणीय विषय है कि 40 कोड़ा-कोड़ी सागर स्थिति वाला चारित्र मोहनीय (अनंतानुबंधी आदि) 70 कोड़ा-कोड़ी सागर स्थिति प्रमाण दर्शन मोहनीय को कैसे बंध कर सकता है। यदि केवल कषाय को ही स्थिति बंध का कारण मानेंगे तो दर्शन मोहनीय का स्थिति बंध मात्र कषाय के द्वारा होने पर 70 कोड़ा-कोड़ी सागर का और मिथ्यात्व में 16 प्रकृतियों का जो बंध होता है वह नहीं हो सकता है। अनंतानुबंधी भी मिथ्यात्व के सहाय से ही अनन्त संसार का कारण हो सकती है अन्यथा नहीं।

अनंतानबंधी क्रोध, मान, माय, लोभ कषाय आत्मनः,सम्यक्त्व परिणाम कषन्ति अनंत संसार कारणत्वात् अनन्तं-मिथ्यात्वं, अनंतभव संस्कार कालं वा अनुबन्धन्ति सुघटयन्तीत्यनन्तानुबन्धित इति।। (गो.सार. टीका गाथा 283)

अनंतानुबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ कषाय आत्मा के सम्यक्त्व परिणामों को घातती है क्योंकि अनंत संसार का कारण होने से मिथ्यात्व कर्म को अनंत

कहते है। इस अनंतभव के संस्कार काल को बाँधती है इसलिये उसे अनंतानुबंधी कहते है। एक क्षण के लिए भी सम्यक्त्व हो जाता है तो संसार अनंत नहीं रहता है संसार परीत हो जाता है जो अर्ध पुद्गल परिवर्तन मात्र है। अतः-

न सम्यक्त्वं समं किञ्चित् त्रैकाल्ये तिजगत्यपि।
श्रयोऽश्रेयञ्च मिथ्यात्व समं नान्यत्तनुभृताम्।। (34) (रत्नकरण्ड)

In the three periods of time and three worlds there is nothing more auspicious than right Faith for the living beings, nor any thing more inpacious than a false conviction.

तीन जगत् में तीन काल में सम्यक्त्व के समान श्रेयस्कर जीवों के लिए अन्य कुछ नहीं है एवं मिथ्यात्व के समान अश्रेयस्कर अन्य कुछ नहीं है।

गुणस्थानों में 24 स्थान

मिथ्यात्व गुणस्थान में 24 स्थान

क्र.सं.	नाम	भेद	मिथ्यात्व
1.	गुणस्थान	14	1 मिथ्यात्व गुणस्थान
2.	जीवसमास	14	14
3.	पर्याप्ति	6	4/5/6 पर्याप्तियाँ, 4/5/6 अपर्याप्तियाँ
4.	प्राण	10	4/6/7/8/9/10 पर्याप्त
5.	संज्ञा	4	4
6.	गति	4	4
7.	इन्द्रिय	5	1,2,3,4,5
8.	काय	6	6
9.	योग	15	13 आहारकद्विक बिना
10.	वेद	3	3
11.	कषाय	25	25
12.	ज्ञान	8	3 कुज्ञान
13.	संयम	7	1 असंयम

14.	दर्शन	4	2 (चक्षु. अचक्षु)
15.	लेश्या	6	6
16.	भव्य	2	2 (भव्य, अभव्य)
17.	सम्यक्त्व	6	1 मिथ्यात्व
18.	संज्ञी	2	2 (संज्ञी, असंज्ञी)
19.	आहारक	2	2 (आहारक, अनाहारक)
20.	उपयोग	12	5 (3 कुज्ञान + 2 दर्शन)
21.	ध्यान	16	8 (4 आर्त्तध्यान + 4 रोद्रध्यान)
22.	आस्रव	57	55 (आहारकद्विक बिना)
23.	जाति	84 लाख	84 लाख
24.	कुल	197 1/2 लाख कोटि	197 1/2 लाख कोटि

एकेन्द्रिय से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय तक के पर्याप्त-अपर्याप्त जीव मिथ्यात्व गुणस्थान में पाये जाते हैं, अतः यहाँ 14 जीव समास होते हैं।

पर्याप्त एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के क्रमशः 4/5/ पर्याप्तियाँ होती हैं।

उपर्युक्त जीवों की निर्वृत्यपर्याप्त अवस्था एवं लब्धपर्याप्त अवस्था में क्रमशः 4/5/6 अपर्याप्तियाँ होती है। विग्रहगति में भी अपर्याप्त अवस्था के समान ही अपर्याप्तियाँ घटित होती हैं, क्योंकि विग्रहगतिस्थ जीवों को अपर्याप्त जीवों के अंतर्गत ही ग्रहण किया है। इस प्रकार विग्रहगति में क्रमशः 4/5/6 अपर्याप्तयाँ होती है।

पर्याप्त एकेन्द्रिय आदि जीवों की अपेक्षा क्रमशः 4/6/7/8/9/10 प्राण पाये जाते हैं।

निर्वृत्यपर्याप्त एवं लब्धपर्याप्त अवस्था में मनबल, वचनबल और श्वासोच्छास प्राण बिना क्रमशः 3/4/5/6/7/7 प्राण होते हैं। विग्रहगति में भी अपर्याप्त अवस्था के समान ही प्राण घटित होते हैं।

जीवों की 2 प्रकार की अवस्था होती है। विग्रहगतिस्थ जीवों की अपर्याप्त अवस्था से निकटता होने से उन जीवों में अपर्याप्त अवस्था के समान प्राण होते हैं।

5 इन्द्रिय प्राण, कायबल एवं आयु प्राण का पर्याप्तियों के साथ कार्य-कारण संबंध नहीं है, अतः विग्रहगति की अपर्याप्त अवस्था में 3/4/5/6/7/7 प्राण होते हैं।

आहारक शरीर के निमित्त से होने वाले उपर्युक्त दोनों योग प्रमत्तविरत गुणस्थानवर्ती मुनिराज के होते हैं, अतः यहाँ ये दोनों योग नहीं है।

नाना जीवों की अपेक्षा एक समय में इस गुणस्थान में 25 कषाय होती हैं।

पर्याप्त-निर्वृत्यपर्याप्त नारकी जीवों में 3 शुभ लेश्या नहीं होती हैं।

पर्याप्त तिर्यञ्च और मनुष्य के मिथ्यात्व गुणस्थान में 3 शुभ लेश्या होती हैं। अपर्याप्त तिर्यञ्च और मनुष्य के इस गुणस्थान में तीन शुभलेश्या नहीं होती है।

भवनात्रिक देवों की निर्वत्यपर्याप्त अवस्था के अतिरिक्त शेष देवों की पर्याप्त-निर्वत्यपर्याप्त दोनों अवस्थाओं में 3 शुभ लेश्या होती हैं।

अभव्य जीव मात्र मिथ्यात्व गुणस्थान में ही होते हैं।

भव्य जीव प्रथम गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक होते हैं, अतः यहाँ दोनों घटित होते हैं।

मिथ्यात्व गुणस्थान सहित जीवों का मरण एवं उत्पत्ति दोनों होते हैं, अतः विग्रहगति की अनाहारक अवस्था में यह गुणस्थान होता है। विग्रहगति के पश्चात् आहारक अवस्था में भी गुणस्थान होता है। इस प्रकार यहाँ दोनों अवस्थाएँ होती है। (गुणस्थान मार्गणा...) **आर्यिका प्रशांतमती**

उपशम भाव का कार्य (कर्मक्षय व संवर)

पुव्वट्ठियं खवइ कम्मं पविसुदु णोदेइ अहिणवं कम्मं।
इहपरलोयमहप्पं देइ तहा उवसमो भावो।। 56 रयण.

अन्वयार्थ :- (उवसमो भावो) औपशमिक भाव (पुव्वट्ठियं कम्मं) जो पूर्व कृत सत्ता में है उनको (खवइ) नाश करता है। (अहिणवं कम्मं) और नवीन कर्मों को (पविसुद्ध णो देइ) प्रवेश नहीं होने देता है। (तहा) तथा (इह पर लोय महप्पं) यह और परलोक महात्म्य को (देइ) देता है।

पद्यभावानुवाद -

पूर्व स्थित कर्म को क्षपण करता अभिनव कर्मों को न आने देता।
इह परलोक महात्म्य को देता ऐसा उपशम भाव होता।। ।

सन्दर्भ :

मैं हूँ समता सर्वधर्म की माता

-आचार्य कनकनन्दी

(चालः आत्मशक्ति...2. क्या मिलिए...)

मैं हूँ 'समता' सर्व धर्म की माता, सबसे अमूल्य मैं भी हूँ।
भौतिक मूल्य बिन मेरी उपलब्धि, अनन्त सुख दात्री मैं ही हूँ।।
परम साम्यमय मैं हूँ मोक्ष, मोक्ष में ही होता अनन्त सुख।
मुझसे ही मिलता अनन्त सुख,भौतिक सम्पत्ति से न मिले यह सुख।। (1)

इस हेतु ही चक्रवर्ती भी बनते श्रमण, समता की वृद्धि हेतु करते ध्यान।
समता विरोधी तत्त्वों को करते त्याग, क्रोध-मान-माया-लोभादि करते नाश
क्रोध से क्षोभ व अक्षमा उपजे, जिससे क्षमारूप मेरा होता नाश।
क्रोध अभाव से मेरा होता विकास, अतएव क्षमा भी मेरा ही अंश।। (2)

मान से विनय का होता विनाश, जिससे मेरा भी होता ह्रास/(नाश)।
विनय बिन न तप-त्याग व संयम, अतएव विनय भी मेरी उपज।।
माया से आर्जव होता है निर्जीव, माया शल्य से सम्यक्त्व होता नाश।
सम्यक्त्व मेरी है प्रथम सन्तान, अतएव आर्जव मेरा प्रमुख अंश।। (3)

लोभ से शुचिता का होता विनाश, शुचिता बिन मेरी शक्ति नाश।
शक्ति बिन मुझसे न शिव सुख प्राप्त, अतएव शुचिता मेरा परम अंश।।
तथाहि नो कषाय से मैं होती मलीन, संकल्प-विकल्प-संक्लेश दीन।
ख्याति-पूजा-लाभ-प्रसिद्धि व वर्चस्व,पर निन्दा अपमान से मैं बनू हीन।।(4)

आकर्षण-विकर्षण व विभाव द्वन्द्व, अशान्ति-विषमता परे मम स्वभाव।
सरल-सहज-निर्द्वन्द्व मेरा स्वभाव, निच्छल-निश्चल-निर्मल मम स्वभाव।।
मेरे हेतु ही समस्त तप व त्याग, ध्यान-अध्ययन व व्रत नियम।
उपसर्ग-परिषह सहन संयम दम, अंहिसा-अचौर्य ब्रह्मचर्य पालन।। (5)

मेरे बिना समस्त उक्त तप-त्याग, ईकाई बिन शून्य समान शून्य /(व्यर्थ)।
मैं हूँ धर्म के आदि-मध्य-अन्त सम, मेरे बिन समस्त धर्म कुधर्म शून्य।

मेरे हेतु न धन-मान चाहिए, भीड़-प्रदर्शन न ढोंग चाहिए।
इन सब के त्याग से मेरा जन्म, क्योंकि मैं आत्मा का निर्मल परिणाम।। (6)

मुझे न प्राप्त कर सकते राजा रंक, मुझे प्राप्त करते निर्मोही सन्त।
सरल-सहज, निस्पृह-ज्ञानवन्त, वीतरागी-वीतद्वेषी-निर्द्वन्द्व सन्त।।
सर्वज्ञ जानते मेरा पूर्ण रहस्य, मुझसे ही बनते वे भगवन्त।
उन्होंने ही मेरा वर्णन किया विशेष, ''कनक सूरी' मुझे ध्याये/(चाहे, पाए)सतत

समता परम धर्म

(समता हेतु मैं न करूँ, कुधर्मी-विधर्मी प्रति भी विषमता)

- आचार्य कनकनन्दी

(चाल : पायो जी मैंने...)

पायोजी मैंने समता 'महाधर्म'/(महासूत्र, महा मंत्र, महा सुख) पायोऽऽ
जिस मंत्र से अनन्त दुःख नशे, ऐसा महाधर्म पायो।। (ध्रुव)
इसे प्राप्त हेतु चक्रवर्ती भी, त्यागते है राज्य वैभव।
परम समता से ही कर्मक्षय करके, पाते अनन्त/(आत्म) वैभव।।(1) पायो...

परम समता हेतु मैं श्रमण बना, समता साधे सो श्रमण।
इस हेतु यम-नियम-तप-त्याग, ध्यान-स्वाध्याय-एकान्त मौन।। (2) पायो...

दश धर्म-द्वादश अनुप्रेक्षा दम मैत्री, प्रमोद - कारुण्य-माध्यस्थ भाव।
उपसर्ग तथाहि परिषह सहन, केशलोंच से ले पैदल गमन।। (3) पायो...

जन्म-मरण व लाभ-अलाभ में साम्य, शत्रु-मित्र-भाई-बन्धु में।
अपना-पराया व धनी-गरीब में साम्य, सद्धर्मी-कुधर्मी-विधर्मी में।।(4) पायो...

अनादि काल से अनन्त काल तक, रहेंगे कुधर्मी-विधर्मी भी।
एकेन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक, होते सभी (ही) कुधर्मी-विधर्मी।।(5)

ऐसा ही संसार का स्वरूप होता, ऐसा ही कहा सर्वज्ञों ने।
मैं ही रहा ऐसा अनन्त भवों में, अतः उनसे भी मैत्री-साम्य भाव।। (6)

''अहिंसा परमो धर्म'' इसे ही कहते, ''विश्व बन्धुत्व'' विश्व मैत्री'' भाव।

''जीओ और जीने दो'' सह अस्तित्व, ''परस्परोपग्रहो जीवानां'' महान् सूत्र।।(7)

विधर्मी-कुधर्मी-क्षुद्र जीव प्रति, ऐसा करूँ जब भाव-व्यवहार।
पंचेन्द्रिय पशु-पक्षी कुधर्मी प्रति, कैसा (मैं) करूँ विषम भाव-व्यवहार।।

ऐसी परिस्थिति में मानव कुधर्मी प्रति, कैसा करूँ विषम भाव-व्यवहार।
ऐसी परिस्थिति में मानव विधर्मी प्रति कैसा करूँ विषम भाव-व्यवहार।।

ऐसी परिस्थिति में मानव सद्धर्मी प्रति, कैसे करूँ मैं विषम भाव-व्यवहार।
ऐसी परिस्थिति में मानव स्वधर्मी प्रति, कैसा करूँ विषम भाव-व्यवहार।।
अतएव रहूँ समस्त जीव प्रति, योग्य मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थ।
किसी के कारण भी विषमता न करूँ, विषमता से नशे मेरा स्व/(सद्) धर्म।।
तीन काल-तीन लोक के मध्य में रहेंगे कुधर्मी-विधर्मी-विरोधी।
यह है संसार का विचित्र सत्य, सत्य को स्वीकारे सम्यग्दृष्टि।।(12)

अरिहंत-सिद्ध जानते विचित्र सत्य, तथापि न करते विषम भाव-व्यवहार।
मुझे भी बनना है अरिहंत-सिद्ध, अतः 'कनक' करे समता व्यवहार।।

निस्पृहता कारक अन्तरंग तप करूँ

(ख्याति-पूजा-लाभ-प्रसिद्धि सत्कार को दूर करने हेतु तप करूँ)

(चाल : 1. मन रे! तू काहे...2.सायोनारा ...) - आचार्य कनकनन्दी

'कनक' तू अन्तरंग तपस्वी बनऽऽऽ
अन्तरंग तप योग्य बाह्य तप करो...अन्तरंग तपस्या प्रमुख करोऽऽऽ(ध्रुव)
इच्छा निरोध होती है तपस्या...तृष्णा-कांक्षा या निदान त्यागऽऽऽ
निस्पृह-निराडम्बर व अपरिग्रही बनो...ख्याति-पूजा-लाभ-सत्कार त्यागोऽऽ
निर्लोभी-संतोषी-शुचि बनोऽऽऽ कनक(1)

उक्त गुण प्राप्ति हेतु होती तपस्या...उक्त गुण बिन न होती तपस्याऽऽऽ
बहिरंग तप तो निमित्त भूत...अन्तरंग तपस्या करने हेतुऽऽऽ
अन्तरंग शुद्धि होती उपादानऽऽऽ कनक (2)

तव शरीर प्रकृति उष्ण व पित्त...उपवास-रस त्याग से बढ़े रोगऽऽऽ

जिससे अन्तरंग तप में विघ्न...न होते (सही) ध्यान-अध्ययन-लेखनऽऽऽ
वैयावृत्ति से ले प्रवचनऽऽऽ कनक (3)

बाह्य तप से अधिक श्रेष्ठ अन्तरंग तप...क्योंकि असंख्यात गुणीत कर्म निर्जरा हेतुऽऽऽ
अन्तरंग तप बिन बाह्य तप से...न होती असंख्यात गुणीत कर्म निर्जराऽऽऽ
खाद्य सामग्री बिन अग्नि से न बने भोजनऽऽऽ(कनक) (4)

अन्तरंग तप है स्व-दोष संशोधन...जिसे कहते हैं प्रायश्चित तपऽऽऽ
स्व-दोषों को जानो स्व-दोषों को मानो...स्व-दोष दूर हेतु बनो प्रयत्नवानऽऽऽ
यहाँ से तपस्या शुभारंभ ऽऽऽ कनक(5)

देव-शास्त्र गुरु-गुण-गुणी विनय...होती है महती तपश्चर्याऽऽऽ
विनय होता मोक्ष का द्वार...संयम-नम्रता व ज्ञानार्जनऽऽऽ
निगर्व व श्रद्धा-सन्मानऽऽऽ कनक(6)

उक्त गुण युक्त वैयावृत्ति करोऽऽऽ ज्ञानदान से सेवा सन्मानऽऽऽ
इससे तीर्थंकर प्रकृति बन्धऽऽऽवैयावृत्य महान् तप कर्म ऽऽऽ
इससे तन-मन स्वस्थ्य सबल ऽऽऽ कनक(7)

स्व-आत्म अध्ययन करना स्वाध्याय...स्वाध्याय है महान्तम तपऽऽऽ
तन-मन-इन्द्रिय-संयम ...होती असंख्यात निर्जरा कर्मऽऽऽ
होता सातिशय पुण्य कर्म बन्धऽऽऽ कनक(8)

व्युत्सर्ग तप होता शरीर ममत्व त्याग...'मैं' नहीं शरीरमय जड़ द्रव्यऽऽऽ
'मैं' हूँ चैतन्य अमूर्त जीव द्रव्य...ऐसा चिन्तन व्युत्सर्ग तपऽऽऽ
वीतराग-विज्ञान चिन्तनऽऽऽ कनक(9)

उक्त तपस्याओं का फल है ध्यान... ध्यान हेतु ही सम्पूर्ण तप कर्मऽऽऽ
''एकाग्रचिन्तानिरोध'' होता ध्यान...इससे संवर-निर्जरा-निर्वाणऽऽऽ
इसे हेतु ही तपस्या करणीयऽऽऽ कनक(10)

अन्यथा तपस्या से होता पतन...जिससे होता है आत्मा मलीनऽऽऽ

श्री वीर वर्द्धमान स्वामी तीर्थंकर परमदेव के समवशरण में श्रेणिक महाराज ने प्रश्न किया कि ''हे भगवान्! श्री भरत चक्रवर्ती ने जिनदीक्षा को ग्रहण करने के पीछे कितने काल में केवलज्ञान उत्पन्न किया ? इस पर गौतमस्वामी गणधर देव ने उत्तर दिया कि हे श्रेणिक राजन्! बंध के कारणभूत जो केश (बाल) हैं उनको पाँच मुष्ठियों से उखाड़ते ही अर्थात् पंच मुष्टि लोंच करने के अनन्तर श्री भरत चक्रवर्ती केवलज्ञान को प्राप्त हुए।'' (वृहद द्रव्यं संग्रह)

तत्राप्यद्य परित्याज्यं शैषो न स्तः स्वतःस्वयम्।
शुभं च शुद्धे त्यक्त्वान्ते प्राप्नोति परमं पदम्।। 240।। (आत्मा.)

"Then, again the first (good-activity) also is to be given up. The remaining (Two sets) Cease to exist by themselves. By giving up the good (activity), and attainnng the summit of furity one gts the supreme status (liberatin).

पूर्व लोक में जिन तीन को शुभ, पुण्य और सुख को हितकारक बतलाया है उनमें भी प्रथम का (शुभ का) परित्याग करना चाहिए। ऐसा करने से शेष रहे पुण्य और सुख ये दोनों स्वयं ही नहीं रहेंगे। इस प्रकार शुभ को छोड़कर और शुद्ध स्वभाव में स्थित होकर जीव अन्त में उत्कृत पद (मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है।

सुखं दुखं वा स्यादिह विहित कर्मोदयवशात्।
कुतः प्रीतिस्तापः कुल इत विकल्पाद्यति भवेत्।
उदासीनस्तस्य प्रगलति पुराणं न हि नवं,
समास्कन्दत्येष स्फुरति सुविदग्धो मणिरिव।। 263।। (आत्मा.)

"in this world pleasures and pain arise out of the fuition of past Karmas. If one becomes unattchad to Considerations as to whom he shoul love and whom he should, hate then his past Karmas fall off, and a new on does not bind him. He, learned (assetic) shines forth like a jewel."

संसार में पूर्वकृत कर्म के उदय से जो भी सुख अथवा दुःख होता है उससे प्रीति भी क्यों, इस प्रकार के विचार से यदि जीव उदासीन होता है-राग और द्वेष से रहित होता है तो उसका पुराना कर्म तो निजीर्ण होता है और नवीन कर्म निश्चय से

बन्ध को प्राप्त नहीं होता है। ऐसी अवस्था में यह संवर और निर्जरा से सहित जीव अतिशय निर्मल मणि के सामन प्रकाशमान होता है स्व और पर को प्रकाशित करने वाले केवलज्ञान से सुशोभित होता है।

यस्य पुण्यं च पापं च निष्फल गलति स्वयम्।
स योगी तस्य निर्वाणं न तस्य पुनरास्रवः।। 246।।

"He whose merit and demerit (Karmas) exhaust themeselves withut baring fruit is a (true) asectic. He will never have the Karmic inflow, and will attain liberation."

जिस वीतराग के पुण्य और पाप दोनों फलदान के बिना स्वयं अविपाक निर्जरा स्वरूप से निर्जीण होते हैं, वह योगी कहा जाता है और उनके कर्मों का मोक्ष होता है. किन्तु आश्रव नहीं है।

शुद्धरूप से शुद्ध द्रव्यार्थिक दृष्टिकोण से भगवान् आत्मा निरास्रव निर्बंध तथा संवर, निर्जरा, मोक्ष विकल्प से रहित होने पर भी अनादिकाल से कर्म के आस्रव एवं बंध के कारण संसार अवस्था में परतन्त्र होकर अनन्त दुःख अनुभव कर रहा है। जब तक यह जीव सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं करता है, तब तक मोक्ष की बात तो दूरी ही है परन्तु मोक्ष के कारणभूत संवर एवं निर्जरा को भी नहीं कर पाता है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से आंशिक संवर एवं निर्जरा प्रारम्भ हो जाती है। उत्तरोत्तर आध्यात्मिक सोपान का आरोहण करता जाता है, तब उत्तरोत्तर संवर एवं निर्जरा होती जाती है।

यह संवर, निर्जरा विशेषतः पाप कर्मों की होती है परन्तु पुण्य कर्मों की नहीं होती है क्योंकि भाव विशुद्धि से प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग घात नहीं होता है। सिद्धान्त शास्त्र कषायपाहुड़ के चूर्णिसूत्र में यतिवृषभाचार्य स्पष्ट प्रतिपादन करते हैं-

''सुभागं कम्माणमणुभागघादोणत्थि''

शुभ कर्मों का अनुभागघात नहीं होता।

(जय धवला पुस्तक 13 गाथा 115 की चूर्णिका 26)

भाव विशुद्धि के माध्यम से पुण्यकर्म के अनुभाग घात तो नहीं होता है परन्तु वृद्धि होती है उस समय में पाप कर्मों का अनुभाग क्षीण हो जाता है।

''अणुभाग खंड़यमप्पसत्थ कम्मंसाणमणंताभागा।''

(कषाय पाहुड़ पुस्तक 12 गाथा 94 चूर्णि सूत्र 129)

अणुभाग कंडयमप्पसत्थाणं चेव कम्माणं होइ पसत्थ कम्माणं विसोहीए अणुभागबड्ढि मोत्तुण तग्घादाणुववत्तीदो।।

अनुभाग काण्डक अप्रशस्त कर्मों का ही होता है, क्योंकि विशुद्धि के कारण प्रशस्त कर्मों की अनुभाग वृद्धि को छोड़कर उसका घात नहीं बन सकता।

''**णवरि विसोहीए अणंतगुणाए वड्ढदि, सुहाणं कम्मंसाणमणंत गुणवड्ढिबन्धो, असुहाणं कम्माणमणंतगुणहाणि बंधो, बंधे पुण्णे पलिदोवमस्स संखेज्जदि भागेण हायदि।।**'' (कषायपाहुड़ पुस्तक 13 गाथा 114 चूर्णि 28)

इतनी विशेषता है कि वह प्रति समय अनंतगुणी विशुद्धि से वृद्धि को प्राप्त होता रहता है। शुभ कर्मांशों का (अनुभाग की अपेक्षा) अनंतगुणवृद्धि के लिए बन्ध होता है तथा अन्तर्मुहूर्त काल तक होने वाले एक स्थिति बन्ध के पूर्ण(समाप्त) होने पर पल्योपम के संख्यातवें भाग कम स्थिति बंध करता है।

''पडिसमयमणंत गुणाए विसोहीए वड्ढमाणो अधापवत्तकरणो सुभाणं कम्माणं सादादीणमणंतगुण वड्ढीए अणुभागबन्धं कुणइ। असुभाणं पंचकम्माणं पंचणाणावरणादीणमणंतगुण हाणीए अणुभागबंधमोवड्ढदि। अण्णं च ठिदिबंधे अंतोमुहत्तकाल-पड़िबद्धे पुण्णं अण्णं टिदिबंधमाढवेमाणो पलिदोवमस्स संखे ज्जदि भागेण हाइदूण बंधइ विसोहि परिणामस्सठिदिबंधवुड्ढि विरुद्ध सहावतादो त्ति'' (कषायपाहुड पुस्तक 13 गाथा 114 चूर्णि 29)

प्रति समय अनंतगुणी विशुद्धि से वृद्धि को प्राप्त होता हुआ अधःप्रवृत्तकरण में स्थित जीव सातावेदनीय आदि शुभ कर्मों का अनंतगुणी वृद्धि के लिए हुए अनुभाग बन्ध करता है। पाँच ज्ञानावरणादि अशुभ कर्मों का अनंतगुणी हानिरूप से अनुभाग बन्ध का अपर्वतन करता है तथा अन्य अन्तःमुहूर्त काल सम्बन्धी स्थिति बन्ध के पूर्ण होने पर अन्य स्थिति बन्ध का आरम्भ करता हुआ पल्योपम के संख्यातवें भाग प्रमाण स्थिति को घटाकर बाँधता है, क्योंकि विशुद्धि रूप परिणाम स्थिति बन्ध की वृद्धि के विरुद्ध स्वभाव वाला होता है।

असुहाणं पयडीणं अणंतभागा रसस्स खंडाणि।
सुहपयडीणं णियमाणत्थि त्ति रसस्स खण्डाणि।। 80

अप्रशस्त प्रकृतियों के अनन्त बहुभाग का घात होता है। प्रशस्त प्रकृतियों के अनुभाग का घात नियम से नहीं होता है।

मिथ्यात्व गुणस्थान में जीव अनन्तकाल रहते हुए भी जीव पुण्यानुबंधीपुण्य का सम्पादन कभी भी नहीं कर पाता है। चतुर्थ गुणस्थान से पुण्यानुबंधी पुण्य का सम्पादन प्रारम्भ होता है, साथ-साथ मिथ्यात्व गुणस्थान से असंख्यातगुणि पापकर्मों की निर्जरा भी होती है। पंचमगुणस्थान से असंख्यातगुणित पापकर्मों की निर्जरा भी होती है। पंचमगुणस्थान में प्रशस्तप्रकृतियों का अनुभाग चतुर्थगुणस्थान से अधिक होता है एवं चतुर्थ गुणस्थान से पंचम गुणस्थान में पाप कर्मों की निर्जरा असंख्यात गुणित अधिक होती है। छठे गुणस्थान में पंचम गुणस्थानों से अधिक पाप कर्मों की निर्जरा अधिक से अधिक होती है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर गुणस्थानों का यही क्रम चलता रहता है। उत्तरोत्तर गुणस्थानों में अधिक से अधिक पाप कर्मों का क्षय होता जाता है तथा विशिष्ट पुण्य कर्मों का विशेषतः क्षय नहीं होता है। तेरहवें गुणस्थान प्राप्त करते-करते सम्पूर्ण घातिकर्म रूपी पापकर्मों का क्षय हो जाता है। वहाँ पर विशिष्ट पुण्यकर्म अमृत के समान अनन्त अनुभाग को उदय में लिये हुए आते हैं।

अनेक पुण्यकर्म का तीव्र उदय 13वें गुणस्थान में होते हुए भी आत्मा के अनंतज्ञान, दर्शन, सुख-वीर्य रूपी अनुजीवी गुणों का घात नहीं होता है, इससे सिद्ध होता है कि विशिष्ट पुण्यकर्म आत्मा के घातक नहीं है। भले पुण्यकर्म रहते हुए सम्पूर्ण मोक्ष नहीं मिलता है तो भी जीवन मुक्त होने के लिए अनन्त चतुष्टय का अनुभव करने के लिये कोई बाधक नहीं है। यदि बाधक होता है तो जीवनमुक्त तेरहवें गुणस्थान में अनन्त चतुष्टय का अनुभव जीव नहीं कर सकता था। इस अपेक्षा जैन धर्म में पुण्य को साक्षात् बंध एवं संसार का कारण कहा है क्योंकि पुण्य की सत्ता चौदहवें गुणस्थान तक है और चौदहवें गुणस्थन तक संसार अवस्था बंध अवस्था है।

आध्यात्मिक दृष्टि से भी पुण्य पर पदार्थ होने से और पर पदार्थ का संयोग अशुद्ध अवस्था एवं वैभाविक अवस्था को उत्पन्न करने के कारण पुण्य बंध हेय एवं संसार का कारण है। यदि एकान्तः सातिशय पुण्यंबंध संसार का कारण होता तब मिथ्यादृष्टि से अविरतसम्यग्दृष्टि अधिक संसारी होता, उससे पंचम गुणस्थानवर्ती अधिक से अधिक संसारी होते क्योंकि उत्तरोत्तर गुणस्थानों में अधिक से अधिक पुण्य बंध होता है, परन्तु आगम सिद्ध सिद्धान्त यह है कि उत्तरोत्तर गुणस्थानों में पुण्य का अनुभाग अधिक होने पर उत्तरोत्तर गुणस्थानवर्ती जीव पूर्व-पूर्व गुणस्थानवर्ती जीवों से परीत से परीत संसारी है।

बंदी आभा को करें मुक्त

सत्य छिपा है हमारे भीतर; यह बाहरी वस्तुओ से नहीं होता उदय, आप भले ही जो भी सोचें। हम सबके भीतर है, एक गुप्त केंद्र , जहाँ पूर्ण सत्य का है वास हमें इस बंदी आभा को मुक्त करने की बजाए ध्यान देना है कि प्रकाश को भीतर आने के लिए एक मार्ग दिया जा सके...! भावार्थ, रॉबर्ट ब्राउनिंग

हार्वर्ड के विलियम जेम्स लिखते हैं, ''मेरी पीढ़ी की सबसे महान् क्रांति यही है कि लोग, अपने-अपने मन की आंतरिक प्रवृत्तियों में बदलाव ला कर, अपने जीवन के बाहरी पक्षों को बदल सकते हैं।''

आप और अपका मन असाधारण हैं। आपके पास सौ बिलियन मस्तिष्क कोशिकाएँ है, जिनमें से प्रत्येक नाड़ी और स्नायु से अन्य बीस हजार मिलियन कोशिकाओं से जुड़ी है। इस तरह आपके द्वारा सोचे जाने वाले विचारों की संख्या 100 बिलियन की 20,000 वीं पावर के बराबर होगी।

इसका अर्थ होगा कि मस्तिष्क विशेषज्ञ टोनी बुज़ान के अनुसार, आप जिन विचारों को पैदा कर सकते हैं, उनकी संख्या 1 की साथ, जीरों के आठ पन्नों के बराबर होगी, संभावित विचारों की यह संख्या ज्ञात ब्रह्माण्ड के सभी अणुओं से कहीं अधिक है। (ब्रायन ट्रेसी)

समय का उपयोग

सम्माइट्ठी कालं बोलई वेरग्गणाण भावेण।
मिच्छा इट्ठी वांछा खवई दुब्भावालस्स कलेहें हि।। 57 रयण.

अन्वयार्थ :- (सम्माइट्ठी) सम्यग्दृष्टि(वेरग्ग) वैराग्य (णाण भावेन) ज्ञान भाव से (कालं) समय को (बोलइ) बिताता है और(मिच्छाइट्ठी) मिथ्यादृष्टि (वांछा) आकांक्षा (दुब्भावालस्य) दुर्भाव व आलस (कलहेंहि) कलह के द्वारा (खवइ) समय बिताता है।

पद्यभावानुवाद -

सम्यग्दृष्टि जीव काल व्यतीत करता है ज्ञान और वैराग्य में।
मिथ्यादृष्टि जीव काल व्यतीत करता है वांछा, दुर्भाव, आलस कलह में।।

भरत क्षेत्र में अवसर्पिणीकाल

अज्जवसप्पिणि भरहे पउरा रूद्दट्ठ झाणया दिट्ठा।
णट्ठा दुट्ठा कट्ठा पाविट्ठा किण्हानील काउदा।। 58 रयण.

अन्वयार्थ :- (अज्जवसप्पिणि भरहे) आज इस अवसर्पिणी काल में और भरत क्षेत्र में (पउरा) बहुत(रुद्दट्ठझाणयादिट्ठा) आर्त्त ध्यानी रौद्र ध्यानी(णट्ठा) नष्ट बुद्धि (दुट्ठा) दुष्ट (कट्ठा) कष्टी(पाविट्ठा) पापीष्ठ(किण्हणीलकाउदा) कृष्णनील कापोत लेश्या के धारक (दिट्ठा) देखे जाते हैं।

पद्यभावानुवाद-

अवसर्पिणी वर्तमान में भरत क्षेत्र में प्रचुर हैं अति रौद्र ध्यानी।
नष्ट, दुष्ट, कुष्टी, पापिष्ठ कृष्ण-नील-कापोत लेश्या वाले।।

सम्यग्दृष्टि जीवों की दुर्लभता

अज्जवसप्पिणि भरहे पंचमकाले मिच्छ पुव्वया सुलया।
सम्मत्तपुव्व सायारणयारा दुल्लहा होंति।। 59 रयण.

अन्वयार्थ :- (अज्जवसप्पिणी) आज के अवसर्पिणी(भरहे) भरत क्षेत्र में (पंचमकाले) पंचम काल में (मिच्छ पुव्वया सुलहा) मिथ्यादृष्टि तो बहुत सुलभता से मिलेंगे (सम्मत्तपुव्व) सम्यक्त्व सहित(सायारणयार) गृहस्थ श्रावक और निर्ग्रन्थ मुनि अनगार (दुल्लहा) दुर्लभता से(होंति) प्राप्त होते हैं।

पद्यभावानुवाद

अभी अवसर्पिणी भरत क्षेत्र में मिथ्यादृष्टि जीव सुलभ।
सम्यक्त्वपूर्वक श्रावक व श्रमण होते हैं दुर्लभ।।

अवसर्पिणी काल में भी धर्मध्यान होता है

अज्जवसप्पिणि भरहे धम्मज्झाणं पमाद रहियमिदि।
जिणुद्दिट्ठं णहुमण्णइ मिच्छादिट्ठी हवे सोहु।। 60 रयण.

अन्वयार्थ :- (अज्जवसप्पिणि) आज भरत क्षेत्र में अवसर्पिणि दुस्सह पंचम काल में (धम्मज्झाणं) धर्मध्यान (पमाद रहियं) प्रमाद रहित होता है (इदि) ऐसा (जिणुद्दिट्ठं) जिनेन्द्र देव ने कहा है। (यत्) इसे जो (णहुमण्णइ) नहीं मानता है (सो) वह (मिच्छादिट्ठी) मिथ्यादृष्टि (हवे हु) निश्चय से है।

पद्य- आज भरत क्षेत्र में अवसर्पिणी में होता धर्म ध्यान अप्रमत्त में।
जिनेन्द्र देव कहा हुआ जो न मानता वह होता है मिथ्यादृष्टि।।
समीक्षा- अभी भरत क्षेत्र में होते हैं मुनि छट्ठे-सप्तम गुणस्थान में।
वे करते हैं धर्मध्यान ऐसी जिनवाणी को जो न माने सो मिथ्यात्वी।।

सन्दर्भ :-

कलिकाल की महिमा

सर्वत्र भौतिकवादी चार्वाक मतानुयायी व्याप्त

(राग : कसमें वादे प्यारे वफा सब...)

घोर कलिकाल पञ्चम काल-हुण्डावसर्पिणी भौतिक काल।
कलयुग व टेन्शन(युग) काल-प्रदूषण युत रोगों (का) काल।। टेक।।
कलिकाल की महिमा देखो...चार्वाक सर्वत्र देखोऽऽऽ
चार्वाक मत के प्रचार बिना...चार्वाक मत को सभी ने मानाऽऽऽ।। कलयुग।।
दिखावा में कोई ईश्वरवादी...अन्य कोई अकर्त्तावादी।
एकेश्वर को मानता कोई...बहुदेववादी मानता कोई...ऽऽऽ।। कलयुग।। (2)

किन्तु व्यवहार भाव में भिन्न...भौतिक दृष्टि से सभी अभिन्न।
प्राच्य पाश्चात्य में नहीं भिन्नता...धर्मी-अधर्मी में धन की चिन्ता...।। (3)
ज्ञान-विज्ञान कला वाणिज्य...शिक्षा राजनीति धर्म व न्याय।
कुटुम्ब समाज गुरु सम्बन्ध...सबमें भौतिक लाभ सम्बन्ध।। कलयुग।। (4)

भौतिकता का मोह का जोश...शिक्षा व धर्म में हुआ प्रवेश।
दोनों क्षेत्र तो आत्मिक क्षेत्र...दोनों से होता गुण विकास।। कलयुग।। (5)

धन के द्वारा धन निमित्त...धन के ही हुए दोनों भी क्षेत्र।
धन के बिना न दोनों सम्भव...धन से खरीदें दोनों ही क्षेत्र।। कलयुग।।(6)

धनहीन जो भिक्षु भिक्षुक...उनसे दूर दोनों ही क्षेत्र
इसीलिए भिक्षु धन लोलुपी...भिक्षुक करता धन की चोरी।। कलयुग।। (7)

पूर्व में ज्ञान का दान होता था...चक्री त्यागी/(साधु) भिक्षु होता था।

दोनों के हेतु त्यागी होते...विद्यार्थी व साधु वेश लेते।। कलयुग।। (8)

विश्वगुरु हुआ था इसी से देश...अभी हुआ है भ्रष्टों का देश।
भ्रष्टाचार मुक्त देश निमित्त...भौतिकवाद से बनो है मुक्त।। कलयुग।। (9)

कोरा उपदेश नारों को छोड़...भौतिकता से मोह को तोड़।
कथनी-करनी एकता कर...धर्म के मार्ग में सतत चल।। कलयुग।। (10)

धर्म ग्रन्थ व अनुभव में...जो कुछ पाया लिखा पद्य में।
'कनकनन्दी' तो भावना भाये...विश्व में सर्वत्र मंगल छाये।। कलयुग।।(11)

कलियुग की अच्छाइयाँ एवं बुराइयाँ

(वर्तमान काल की उपलब्धियां एवं समसयाएँ)

(राग : रघुपति राघव...2. जय हनुमान ज्ञान गुणसार...)

कलिकाल है पंचमकाल...कल कारखाना युक्त काल।
उत्थान-पतन कलह-सुलह...विचित्रता युत यह काल।। (स्थायी)
भौतिक शोध-बोध प्रगति...तीव्र संचार युत काल।
लोकतन्त्रमय शासन प्रणाली...वैश्विक कुटुम्ब वाला काल।
विद्युत चलित यंत्रों के कारण...काम होते अतिशीघ्रता से।
कृत्रिम प्रकाश यात्रा के साधन...चिकित्सा भी होती शीघ्रता से।।...(1)

आक्रमण तथा प्रति आक्रमण...दिग्विजय के युद्ध न होते।
अभी न होते पूर्वकाल सम... दासों के क्रय व युद्ध न होते।
दास प्रथा अभी कानून से बन्द...सर्वमानव अधिकार सम।
पशु क्रूरता भी निवारण...सर्वधर्म का अधिकार सम।।...(2)

इत्यादि अच्छाइयाँ इसी काल में...कुछ समस्याएँ वृद्धि भी हुई।
नाना प्रदूषणों की हुई वृद्धि...मानसिक रोगों की हुई वृद्धि।
जिससे बढ़े है शारीरिक रोग...मोटापा मधुमेह ब्लड प्रेशर।
हृदय आघात व कैंसर रोग...जिससे जीवन बना है दूभर।।...(3)

पृथ्वी बन रही संयुक्त परिवार...परिवार में नहीं प्रेम-आदर।

मानव की भीड़ बहु बढ़ गई मानव की दूरियाँ बहुत बढ़ गई।
भौतिक लालसा बहुत बढ़ गई...पढ़ाई-लिखाई की बाढ़ आ गई।
नैतिक आध्यात्मिक दुर्लभ हो रहा...जिससे सच्चा सुख दूर हो रहा।।...(4)
प्रदूषणों से ग्लोबल वार्मिंग वृद्धि...जिससे बाढ़ व सूखा बढ़ रहा।
जल खाद्याभाव अधिक बढ़ रहा...भौतिकता का कुफल मिल रहा।
इसमें भी मानव दोषी है अधिक...जिससे कुफल भी मिले अधिक।
अभी तो मानव दोष निवारो...सुख प्राप्ति के उपाय करो।।...(5)
कनकनन्दी का आह्वान सुनो...भौतिक छोड़कर नैतिक बनो।
नैतिकता से तू आत्मिक बनो...परम सुख के भोगी भी बनो।।...(6)

आध्यात्मिक साधनारत संत ही कलिकाल के आदर्श

(चाल : बड़ा नटखट है रे!...)

धन्य! धन्य! है! आध्यात्मिक संतऽऽऽ
पञ्चम(कलि) काल में भी साधनारतऽऽऽ होऽऽऽ
ख्याति पूजा लाभ राग-द्वेष रिक्तऽऽऽ आत्म साधना में(सतत) अनुरक्तऽऽऽ
हुण्डा अवसर्पिणी का यह पञ्चम कालऽऽऽ तीर्थंकर गणधर ऋद्धि से रहितकाल
उत्तम संहनन रिक्त प्रदूषित काल, पौष्टिक भोजन-उत्तमजन रिक्त काल(1)
श्रद्धा-प्रज्ञा से हीन होते हैं जनऽऽऽ सत्ता-संपत्ति-प्रसिद्धि चाहते जनऽऽऽ
फैशन-व्यसन-भोग-उपभोग में रतऽऽऽ दान दया सेवा में कम अनुरक्तऽऽऽ
धन्य! धन्य! है...(2)

ईर्ष्या-घृणा-तृष्णा छिद्रानुवेषण रक्तऽऽऽ शील-संयम-अनुशासन में न अनुरक्त
निस्पृह पवित्र भाव से न करे धर्मऽऽऽ दिखावा स्वार्थ से पाले रूढ़ि से धर्म (3)
विपरीत स्थिति में भी (आप) साधनारतऽऽऽ अपेक्ष-अपेक्षा-प्रतीक्षा रहित चित्त
समता-शांति-निस्पृह से साधनारतऽऽऽ आपका आदर्श विश्व के लिए श्रेष्ठऽऽऽ
धन्य! धन्य! हे!..(4)

आपके एक वर्ष की साधना का फलऽऽऽ चतुर्थ काल के सहस्र वर्ष साधना समऽऽऽ
'वर्तमान में आप ही जीवन्त धर्मऽऽऽ 'कनक' माने भाव से आपको आदर्श(5)

स्व-शुद्धात्म श्रद्धान से होता है धर्म का शुभारंभ

(नैतिकता से परे भी है आध्यात्मिकता)

(नैतिकता बिना धर्म नहीं व केवल नैतिकता ही धर्म नहीं)

(चाल : शत-शत वंदन...,आत्मशक्ति...)

भोगभूमि के तिर्यंच मनुष्य भी, नहीं भोगते हैं सप्त-व्यसन।
क्रोध-मान-माया-लोभ भी होता (है) मंद, बाह्य पंच पाप भी न करते सेवन।।

भले वे होते हैं सम्यग्दृष्टि अथवा, मिथ्यादृष्टि या अभव्य।
सभी ही मानव पशु-पक्षी भी, पालन करते हैं उक्त कर्त्तव्य।। (2)

मिथ्यादृष्टि जीव जो होते यथायोग्य, उपरोक्त गुणों से सहित भी होते ।
देव दर्शन भी करते वे देव, तथापि वे न होते सच्चे धार्मिक।। (3)

इसी से यह सिद्ध होता (है) उक्त सभी, कर्त्तव्य होते है नैतिक गुण।
व्यक्ति से लेकर विश्व मानवों को, पालनीय उपरोक्त कर्त्तव्य गण।। (4)

तन-मन-इन्द्रिय स्वास्थ्य के लिए, तथाहि सामाजिक सुव्यवस्था हेतु।
हर मानवों को प्राकृतिक रूप से, सेवनीय उक्त गुण सभ्यता हेतु।। (5)

यथा मछली तैरती (है) पानी में अंतरिक्ष में उड़ते (हैं) विहंगम।
तथाहि सभ्य नैतिक मानवों को, पालनीय उक्त कर्त्तव्य गण।। (6)

निरतिशय होता पुण्य बंध किन्तु,न होता सातिशय पुण्य बंध।
सांसारिक तुच्छ भोग मिले किन्तु, नहीं मिलता है मोक्ष सुख।। (7)

इसी से आगे धर्म होता प्रारंभ, जो होता है आध्यात्ममय।
आत्मविश्वास व आत्मज्ञान सहित, आत्म परिणाम विशुद्धमय।। (8)

आत्मविश्वास में होता है श्रद्धान, मैं हूँ सच्चिदानंद अमूर्तमय
तन-मन-अक्ष राग द्वेषादि रहित, मैं शुद्ध-बुद्ध व आनंदमय।।(9)
तन-मनादि मेरे नहीं शुद्ध रूप, ये सभी तो विकारी कर्मज रूप।
इसी से परे होने के लिए होता है, लक्ष्य-आचरण भी होता तदनुरूप।।(10)

ऐसा श्रद्धान सहित जब पालन करता, उपरोक्त सभी नैतिक कर्त्तव्य।
तब ही बनते उक्त सभी कर्त्तव्य,धार्मिकमय आध्यात्मिक कर्त्तव्य।। (11)

उत्तरोत्तर आध्यात्मिक विशुद्धि होने से, संसार शरीर से होता विरक्त।
ध्यान-अध्ययन व आत्म विशुद्धि से, अंत में पाता है कर्मों से मुक्त।।(12)

आगम में इसे कहते गुणस्थान आरोहण, चतुर्थ गुणस्थान से धर्म प्रारंभ।
स्व-शुद्धआत्मा की श्रद्धा व प्रज्ञा से, चतुर्थ गुणस्थान का होता प्रारंभ।। (13)

इससे अनेक शिक्षाएँ मिलती, जो सेवन करते सप्त व्यसन आदि।
वे सामान्य भद्र नैतिक भी न होते, कहाँ से होंगे वे धार्मिक आदि।। (14)

आत्म विशुद्धि बिन उक्त नैतिक गुणों से भी, कोई न होता है सच्चा धार्मिक।
धार्मिक होने हेतु आत्म विशुद्धि युक्त, सेवनीय उक्त नैतिक कर्त्तव्य।। (15)

नैतिक से भी श्रेष्ठ है आध्यात्मिक धर्म, जो नैतिक आत्म विशुद्धि संयुक्त।
नैतिक विहिन न होता है धर्म, नैतिकता न होती संपूर्ण धर्म।। (16)
नैतिक गुण बिन कोई न होता सभ्य/(सही) मानव, आत्म विशुद्धि बिना न होता धार्मिक।
दोनों से युक्त हो सभी मानव इसी हेतु, 'कनक' ने बनाया (यह) (पावन) शोध काव्य।। (17)

देव-शास्त्र-गुरु के माध्यम से स्व-शुद्धात्मा का श्रद्धान है : सम्यग्दर्शन

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का जो, श्रद्धान करते हैं भव्य प्राणी।
वे होते है सम्यग्दृष्टि, कहती है श्री जिनवाणी।।
देव की वर्तमान पर्याय ही, मेरी है भावी पर्याय।
मेरी पर्याय अभी तो अशुद्ध, देव की शुद्ध पर्याय।।
तप त्याग ध्यान अध्ययन से, मुझे भी बनना है देव/(शुद्ध)।
ऐसी जब होती है श्रद्धा/(आत्मविश्वास), तब होता है सम्यक्त्व।।(1)

स्वयं के द्रव्य गुण-पर्यायों को, जानता है जिनवाणी से।
मैं हूँ जीव द्रव्य मुझमें चैतन्य गुण अशुद्ध हूँ (पर्याय) मैं अनादि से।।

जिनवाणी से जानता है द्रव्य, तत्त्व व नव पदार्थों को।
स्वयं में भी उन द्रव्यादि को, घटित करता है स्वयं को।। (2)

स्वयं में भी होते हैं आस्रव बंध, संवर निर्जरा व मोक्ष।
पुण्य-पाप भी स्वयं में होते, ऐसी श्रद्धा से होता सम्यक्त्व।।
देव स्वरूप होता है मोक्ष, शास्त्र है मोक्ष कथक।
गुरु होते हैं मोक्ष पथिक, तीनों के श्रद्धान से सम्यक्त्व।। (3)

मोक्ष पथिक है चारित्रमय, जो है रत्नत्रय आराधक।
मोक्षमार्ग के जीवन्त रूप, गुरु तरण-तारण जहाज।।
पंचमकाल में तो सच्चा गुरु ही, तीनों रत्न के हैं प्रतिनिधि।
देव को बताने वाले गुरु होते, पढ़ाते हैं वे श्री जिनवाणी/(श्रुतनिधि)।।(4)

इसी हेतु ही(सच्चे) देवशास्त्र गुरु का, श्रद्धान होता है सम्यग्दर्शन।
तीनों के माध्यम से स्व-श्रद्धान से होता है सम्यग्दर्शन।।
देवशास्त्र गुरु रूपी निमित्त से, स्व का जब होता है श्रद्धान।
तब होता है सम्यग्दर्शन, दर्पण से यथा स्व-बिम्ब दर्शन।।(5)

अंधा यथा दर्पण से भी न देख पाता है स्व-प्रतिबिंब।
तथाहि अभव्य व घोर मिथ्यादृष्टि को, नहीं होता है सम्यक्त्व।।
भद्र मिथ्यादृष्टि भी यदि करता है भक्ति तीनों की।
वह भी सांसारिक सुख भोगे, (ऐसी) शक्ति निरतिशय पुण्य की।। (6)

सम्यग्दृष्टि तो सातिशय पुण्य से, भोगता है सांसारिक सुख।
साधु बनकर पाये मोक्ष सुख, 'कनक' का लक्ष्य आत्म सुख।।
यथा दीपक के सम्पर्क से बुझा हुआ दीपक होता प्रज्ज्वलित।
तथाहि देवशास्त्र गुरु से, सम्यक्त्व होता प्रगट ।। (7)

चुम्बक के घर्षण से यथा, लोहा बनता है चुम्बक।
तथाहि देवशास्त्र गुरु की भक्ति/(श्रद्धा) से भव्य को होता सम्यक्त्व।।
अग्नि से(यथा) ईंधन अग्नि बनती, तथाहि निकट भव्य।
देवशास्त्र गुरु की श्रद्धा से, स्वयं में प्रगट करता सम्यक्त्व।। (8)

देवशास्त्र गुरु के माध्यम से, स्वगुण में ही हुआ सम्यक्त्व।
स्व-श्रद्धा प्रज्ञा के कारण, मिथ्या श्रद्धा हो गई सम्यक्त्व।।
अतएव हे! भव्य जीव, स्व-विभाव को करो परिवर्तन।
देवशास्त्र गुरु निमित्त से, पाओ तुम सम्यग्दर्शन।। (9)

देवशास्त्र गुरु रूपी निमित्त से, न करो हे! राग द्वेष मोह।
राग द्वेष मोह क्षय करके, पाओ हे! आध्यात्मिक सुख।।
छः द्रव्य सप्त तत्त्व नव पदार्थ व देवशास्त्र गुरु श्रद्धान।
होता है व्यवहार सम्यग्दर्शन, स्व-शुद्धात्म रूचि निश्चय श्रद्धान।। (10)
(व्यवहार व निश्चय सम्यक्त्व का समन्वय प्रायः शिष्य वर्ग नहीं कर पाते हैं उनको समझाने के लिए यह कविता बनी।)

आत्मोपलब्धि हेतु...

- आचार्य कनकनन्दी

(चाल : श्री राधा संग रे ...श्री हरी रंग रे..., होली खेले सुवाले2...(उड़िया...)

श्रद्धा की शक्ति से...प्रज्ञा की ज्योति से...आत्मा की खोज करो...2
इन्द्रिय-यंत्रों से...भौतिक-साक्ष्यों से...आत्मा की लब्धि परे...(ध्रुव)...
आत्मा है अमूर्त... चैतन्य गुणवन्त...आत्म-अनुभव से ज्ञात...2...
यथा आकाश भी ...इन्द्रिय यंत्रो से...नहीं हो पाता है ज्ञात...(1)

सत्ता-संपत्ति व ...प्रसिद्धि डिग्री से...आत्म-उपलब्धि न होती...2...
इससे आसक्त जीव को...आत्म-गुणों से...होती है विरक्ति...(2)

इससे अनासक्त...ज्ञान-वैराग्य युक्त...जीवों को होती आत्मोपलब्धि...2...
राग-द्वेष-मोह-काम-क्रोध रिक्त...जीव को होती आत्मोपलब्धि...(3)

आत्मोपलब्धि ही...परम उपलब्धि...अनंत ज्ञान दर्श सुख वीर्यमय...2...
इसी हेतु ही 'कनकनन्दी'...सतत करे है...ध्यान व अध्ययन...(4)

पशु-पक्षी-देव-नारकी-नर-नारी भी होते है जैन(सम्यग्दृष्टि आदि)

(चाल : आत्मशक्ति..., तुम दिल की धड़कन...)

कितना पावन कितना उदार है कितना व्यापक जैन धर्म प्यारा।
परम सर्वोदय परम अन्त्योदय आध्यात्मिक वैश्विक धर्म न्यारा।।
जैन धर्म को पाल सकते है पशु-पक्षी देव-नारकी नर-नारी।।
जो मिथ्यात्व अनंतानुबंधी के उपशमादि से बनते सुदृष्टि प्राणी।।(1)

समवशरण की बारह सभा में जो होते हैं वे सभी होते सुदृष्टि।
द्वादश कोठे में तो केवल तिर्यंच ही होते सिंह व्याघ्र सर्प नेवला आदि।।
चारण ऋद्धिधारी मुनि के उपदेश से सिंह भी बन गया था सुदृष्टि।
वही सिंह आध्यात्मिक विकास द्वारा बना है तीर्थंकर सन्मति।। (2)

तीर्थंकर पारसनाथ भी पूर्व भव में थे सम्यग्दृष्टि हाथी।
जटायु पक्षी भी था सम्यग्दृष्टि क्षायिक सम्यग्दृष्टि श्रेणिक अभी (भी) नारकी।।
असंख्य देव होते हैं सम्यग्दृष्टि कुछ तो होते क्षायिक सम्यग्दृष्टि।
ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शुद्र नर-नारी भी होते यथायोग्य(तीनों प्रकार) सुदृष्टि।।

चारो गति में होते सुदृष्टि जिसे कहते प्राथमिक जैन धर्मी।
नारकी देवों में होते प्राथमिक जैन तिर्यंच में होते व्रती/(श्रावक) भी।।
ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य तो हो सकते हैं पाँचों-परमेष्ठी भी।
शुद्र भी होते हैं प्राथमिक जैन से लेकर व्रती श्रावक भी।। (4)

नारी भी हो सकती है प्राथमिक जैन से लेकर आर्यिका तक भी।
सुद्रव्य क्षेत्रकाल भावानुसार आत्मविशुद्धि से बनते जैन धर्मी।।
जैन धर्म तो आत्म स्वभाव है इसे न भौतिकता से प्राप्त करना संभव।
जैन धर्म है आत्म विजयी धर्म जो विजय करे राग द्वेष मोहादि पर।।(5)

आध्यात्मिक क्रम विकास द्वारा भव्य जीव ही बनते भगवान्।
भगवान् बनने हेतु 'कनकनन्दी' बना है आध्यात्मिक श्रमण।। (6)

संकीर्ण व विपरीत ज्ञानी

(चालः तुम दिल की..., भातुकली...)

संकीर्ण या विपरीत ज्ञानी, होते हैं अधिकांश जन।
सूक्ष्म व व्यापक परम सत्य को, नहीं जानते हैं मूढ़ जन। (ध्रुव)
यथा आकाश को नीला जानते, देखते है गोलगुम्बजाकार।।
तन-मन-इन्द्रियों को 'मैं' मानते, इसमें करते ममकार।।
सुनना को ही ज्ञान मानते, देख हुआ को ही मानते सत्य।
पढ़ना/(वाचना) को ही स्वाध्याय मानते, लोकाचार को ही मानते सत्य।।

भौतिक लाभ को ही लाभ मानते, प्रसिद्धि को ही मानते श्रेष्ठ/(श्रेय)।
आयु पदवी या डिग्री अथवा, सत्ता संपत्ति को ही मानते श्रेष्ठ।
रूढि परम्परा दिखावा धर्म को ही, जानते/(मानते) व करते आचरण।
आत्म स्वभावमय-समता शांति, पवित्रता को न जानते/(मानते) धर्म।।

लौकिक स्वार्थ के सहयोगी को ही, मानते हैं स्व-उपकारी।
नैतिक आध्यत्मिक उपकारी को, नहीं मानते परम उपकारी।।
इन्द्रिय जनित सुख को ही जानते, मानते व भोगते उसे।
आध्यात्मिक सुख को नहीं जानते, मानते नहीं भोगते भी उसे।। (3)

तथाहि हित-अहित व पुण्य, पाप को भी नहीं जानते।
सभ्यता-संस्कृति नीति-नियम, हेय-उपादेय नहीं जानते।।
भक्ष्य-अभक्ष्य व करणीय, अकरणीय को भी नहीं जानते।
कषाय-लेश्या व संज्ञा से, प्रेरित हो कार्य करते।। (4)

आहार निद्रा व भय मैथुन, परिग्रह व स्वार्थवश।
जानते-मानते व करते हैं, शरीर इन्द्रिय व मन के वश।।
आत्मविश्वास व ज्ञान चारित्र, युक्त होते हैं अत्यल्प जन।
वे ही होते हैं महान् जन 'कनक' को मान्य ऐसे ही जन।। (5)

झूठे धार्मिक व सच्चे धार्मिक के लक्षण

(चालः आत्मशक्ति..., तुम दिल की धड़कन...)

अज्ञानी मोही अधर्मी के, सही स्वरूप को जानो।
इनसे विपरीत ज्ञानी, धार्मिक को भी पहचानो।। (ध्रुव)
अर्थ हेतु धर्म करते वे, न करते परमार्थ हेतु।
पुण्य तो भोग हेतु करते, न चाहिए मोक्ष हेतु।।
ख्याति पूजा लाभ हेतु, करते हैं तप-त्याग।
समता शांति व आत्म विशुद्धि, नहीं होता है वैराग्य।। (1)

आडम्बर व दिखावा, करते है अहंकार व प्रदर्शन।
उच्च विचार व सादा जीवन, नहीं करते आत्म दर्शन।।
उपदेश करते है बनाने, हेतु अन्य को धार्मिक।
भाव व्यवहार से रहते है, वे अधार्मिक जन।।(2)

ईर्ष्या द्वेष व घृणा तृष्णा, आदि को न त्यागते।
दिखावा रूपी धर्म से, स्वयं को धर्मी मानते।।
देखा देखी तो करते हैं, न जानते हैं सत्य-असत्य।
रूढ़ि परम्परा को तो ढोते, न जानते है हित-अहित।। (3)

पर्व व धर्म तीर्थ-क्षेत्र में करते है धार्मिक क्रिया।
दया दान व शुचि सेवा को, नहीं जानते/(मानते) है धर्म क्रिया।।
धर्म तो आत्मा का स्वभाव, जो होता है पावनमय।
पावन बनने हेतु करे, 'कनक' धर्म का पालन।। (4)

(यथार्थ ज्ञानी व अज्ञानी के भाव-परिणति-परिणाम में अनंत अंतर)

मोक्ष प्राप्ति-अत्यंत सरल व अत्यंत कठिन

(चाल : आत्मशक्ति..., तुम दिल की धड़कन...)

अभेद रत्नत्रयधारी ज्ञानी मुनि, कर्मक्षय करते उश्वास मात्र में।
उस कर्म को अज्ञानी जन नहीं, क्षय कर पाते है लक्ष-कोटि भवों में।।

ज्ञानी होते है वे महामुनि जो, अभेद रत्नत्रय में रमते है।
इनसे विपरीत वे सभी अज्ञानी जो आत्म स्वभाव में न रमते है।। (2)

तीन गुप्तिधारी महामुनि जब, होते हैं निर्विकल्प अवस्था में।
तब वे होते अभेद रत्नत्रयधारी, श्रेणी आरोहण की अवस्था में।। (3)

उसी अवस्था में होते हैं वे स्व-आत्मा में ही लवलीन।
स्वयं का ही ध्यान, स्वयं में ही रमण, स्वयं का ही करते अनुभवन।। (4)

इसी से ही आत्मविशुद्धि बढ़ती, जिससे बढ़ती है आत्मशक्ति।
जिससे कर्मों का क्षय होता, अंत में मिलती है पूर्ण मुक्ति।। (5)

इसी से मिलती अनेक शिक्षाएँ, आत्मविशुद्धि से ही मिलती मुक्ति।
आत्मविशुद्धि ही है धर्म स्वरूप, जिससे संवर-निर्जरा होती।। (6)

ऐसे महामुनि ही होते हैं ज्ञानी, यह है आध्यात्मिक विधा।
आत्मरमण बिन अन्य ज्ञानी को, कम महत्व देती आध्यात्मिक विधा।।

अतएव आध्यात्मिक ही है, परमार्थ-ज्ञान-परम श्रेय।
इसलिए ही 'कनकनन्दी' को, आध्यात्मिक ही लगता (है) परम प्रिय।

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसय सहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तों खवेदि उस्सासमेत्तेण।। (238) प्र. सार

गाथार्थ - अज्ञानी जिस कर्म को एक लाख करोड़ भवों में नाश करता है, उस कर्म को आत्मज्ञानी मन-वचन-काय तीनों की गुप्ति सहित होकर एक उच्छ्वास मात्र में क्षय कर देता है।

जीव का परम विकासवाद

(जीव की जिनेन्द्र व शुद्ध सिद्ध बनने की यात्रा)

(चाल : छोटी-छोटी गैया..., सायोनारा...भातुकली...)

वृक्ष बनता है तथाहि बीज, जिनेन्द्र बनते है तथाहि जीव।
भव्य ही बनता है भगवान्, यही परम विकास का पैमाना।। (ध्रुव)
अनादि काल से प्रत्येक जीव, निगोदिया रूप से करता निवास।

एक श्वास में लेता जन्म-मरण, अठारह-अठारह छत्तीस प्रमाण।
अनंतकाल रहते निगोदिया में, अनंत जन्म-मरण करते है वे।
छह महीने व आठ समय में, छह सौ आठ जीव त्रस में जन्मते।। (1)

द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय, संज्ञी-असंज्ञी-पंचेन्द्रिय होते।
पशु-पक्षी मानव-नारकी होते, देवगति में भी वे जन्म लेते।
पाँचों-लब्धियों को पाकर कोई, सम्यग्दृष्टि होते दुर्लभ सो ही।
परम सत्य(व) स्वशुद्धात्मा का, करता विश्वास वह ज्ञान सहित।। (2)

श्रद्धा-प्रज्ञा से स्वयं को मानता, मैं हूँ सच्चिदानंद स्वरूप।
अनादि अनिधन स्वयं पूर्ण हूँ, अनंत ज्ञान दर्शन सुखवीर्य हूँ।
श्रद्धा व प्रज्ञा से युक्त होकर, आत्मोपलब्धि हेतु त्यागे संसार।
राग द्वेष मोह काम त्यागकर, ध्यान अध्ययन में होता तत्पर।। (3)

समता-शांति आत्म विशुद्धि से, आध्यात्मिक विकास करते निरंतर।
घाति नाश से बनते सर्वज्ञ, दिव्य ध्वनि से(देते) विश्व को उपदेश।
परम सत्य का वे देते उपदेश, परम आत्म विकास का संदेश।
पाप ताप संताप दूर होते, विश्व शांति कल्याण हेतु।। (4)

अंत में अघाती कर्म नाशकर, बनते हैं शुद्ध-बुद्ध परमेश्वर।
जन्म-जरा-मरण रहित होकर, बनते जिनेन्द्र सिद्ध परमेश्वर
यही जीव का परम विकासवाद, चौरासी लक्ष्य योनि परे विकास।
परम विकास से रिक्त अनंत जीव, चौरासी लक्ष्य योनि में (करते) निवास।।

उनका होता है उत्थान-पतन, चतुर्गति में होता जन्म-मरण।
मनुष्य मरकर जन्मे चारों गति में, पशु मरकर भी जन्मे चारों गति में।
छह महीने आठ समय के मध्य, छह सौ आठ(608) जीव जाते मोक्ष में।
परम विकास ही जीवों का हो लक्ष्य/(स्वभाव), 'कनकनन्दी' का भी परम लक्ष्य/(शुद्ध स्वभाव)।।(6)

आध्यात्मिक में/(से) ही परम विकास

-आचार्य कनकनन्दी

(राग : छोटी-छोटी गैया...)

अध्यात्मिक में(से) ही परम विकास, अन्य किसी से भी न होना संभव।
व्यापार-राजनीति-विज्ञान-उद्योग, लौकिक कार्यादि से न होना संभव।। (1)

आत्मा में ही है अनंत शक्ति अतः, आध्यात्मिक से ही परम होता विकास।
अन्य व्यापारादि में नहीं अनंत शक्ति, अतः परम न होता विकास।। (2)

दास से लेकर मालिक तक, प्रजा से लेकर चक्रवर्ती तक।
छात्र से लेकर वैज्ञानिक तक, सभी की सीमा है संसार तक।।(3)

सांसारिक विकास तो भौतिकमय, तथाहि सीमित व नाशवान्।
सत्ता-संपत्ति व प्रसिद्धि तक, भोगोपभोग व दुःख सम्पन्न।। (4)

संसार में सभी के विकास विषम, जिससे होता है ईर्ष्या व द्वेष।
शोषण-शोषित मालिक-मजदूर, छोटा-बड़ा व भक्ष-भक्षक।। (5)

सांसारिक हर विकास में होता, अवश्य न्यूनता व दोष।
तन-मन-इन्द्रिय या आत्म संबंधी होती है न्यूनता व दोष।। (6)

जिससे होता है अवश्य दुःख, रोग चिन्ता अपमान मरण।
भोजन पानी निवास सुरक्षा, आकर्षण-विकर्षण आदि के कारण।। (7)

आध्यात्मिक तो इसी से परे, आत्मा में ही है सब कुछ स्थित।
तन-मन-इन्द्रिय व सत्ता-संपत्ति, रहित सच्चिदानंदमय रूप।। (8)

यह ही है परम विकास, जिसे कहते है परिनिर्वाण।
अनंत ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य, स्वरूप यही है परम विकास।। (9)

इसी हेतु ही चक्रवर्ती भी, त्याग करते है राज वैभव।
इसी अवस्था को प्राप्त न कर पाते, स्वर्ग के भी इन्द्र तक।। (10)

इस परम अवस्था हेतु अहमिन्द्र भी, रहते है सदा इच्छुक।
इस परम अवस्था हेतु ध्यान-अध्ययन में रत 'कनक'।। (11)

स्वानुभव से ही शुद्धात्मा का यथार्थ कथन संभव

(शुद्धात्मा का यथार्थ कथन स्वानुभव बिना अन्य उपायों से सम्यक् नहीं/प्रामाणिक नहीं!)

(चाल : छोटी-छोट गैया...तुम दिल की...)

सर्वज्ञ कथित...आगम लिखित...स्व-शुद्ध आत्मा का होता अनुभव ज्ञान...
अनुभव ज्ञान ही...आत्म प्रत्यक्ष होता...वह ज्ञान होता है. भावश्रुत ज्ञान...(ध्रुव)...
अनुभव बिना केवल आगम से...नहीं होता है भावश्रुत ज्ञान...
भावश्रुत बिना आगम ज्ञान भी...होता है निश्चय से द्रव्य श्रुतज्ञान...
द्रव्य श्रुतज्ञान होता है पौद्गलिक...शब्द अक्षरमय भौतिक ज्ञान...
अथवा केवल होता है मतिज्ञान...केवल मतिज्ञान से न होता आत्मज्ञान...(1)

मिश्री का अनुभव न होता मिश्री शब्द से...पढ़ो-सुनो या गुणगान करो...
आत्म-अनुभव न होता 'आत्मा' शब्द से...पढ़ो-सुनो या गुणगान करो...
मिश्री चखने से होता है मीठा ज्ञान...आत्मज्ञान होता है अनुभव से...
अनुभव बिना आत्मा का वर्णन...सही न होता है शब्द ज्ञान से...(2)

तोता के समान या टेप के समान...आत्मा का वर्णन होता यांत्रिक सम...
ऐसा वर्णन न होता पूर्णतः सत्य...न अनुभवगम्य-आत्म प्रत्यक्ष...
गणधर से लेकर आचार्य तक भी...आगम व अनुभव से करते कथन...
स्व-अनुभव से कथन करने पर ही...प्रामाणिक सह होता है कथन...(3)

स्वानुभव रहित जो कथन होता...शुद्धात्म स्वरूप का न आत्म प्रमाण...
आत्म प्रमाण बिना शुद्धात्मा कथन...नहीं है यथार्थ से प्रत्यक्ष प्रमाण...
आत्मानुभव बिना आत्म का ज्ञान...नहीं होता है इन्द्रिय ज्ञान से...
इन्द्रियाँ केवल स्थूल जड़ जानती...अमूर्त आत्मा को नहीं जानती...(4)

अतएव शुद्धात्मा के कथन समय में...आत्मानुभव भी होता है प्रमुख...
अतः स्व-अनुभव का भी कथन...करते हैं आत्मानुभवी श्रमण...
यह कथन नहीं है अभिमानपूर्ण...यह तो 'सोऽहं' 'अहं' पूर्ण स्वाभिमान...
शुद्धात्मा कथन या ध्यान कथन में...ऐसा कथनही है प्रामाणिक कथन...(5)

अन्यथा तो शुद्धात्मा कथन सभी...होंगे व्यापार या राजनीति सम...
लौकिक व्यवहार या सामाजिक सम...इतिहास पुराण या कानून सम...
अज्ञानी मोही व राग द्वेषी कामीजन...नहीं जानते हैं आत्मानुभव ज्ञान...
अहंकार-ममकार में लिप्त जन...नहीं जानते 'सोऽहं' व 'अहं' ज्ञान...(6)

आत्मानुभव न होता है भौतिक वस्तु...न बाहर से प्राप्त होने की वस्तु...
आत्मानुभव होता है स्वयं का गुण...स्वयं में स्वयं द्वारा प्राप्त ये गुण...
आत्मानुभव होता है अमूर्तिक ज्ञान...सच्चिदानंदमय स्वयं/(मैं) का ज्ञान...
रत्नत्रय व समता से युक्त ज्ञान...'कनकनन्दी' का स्व-शुद्धात्मा ज्ञान...(7)...

आत्मानुभव ही है सम्यक् ज्ञान...समता-शांति का यह निधान...
इसी से बढ़ता है आत्मानुशासन...इन्द्रिय-कषायों का होता नियंत्रण...
संसार शरीर/(भोग) से होता वैराग्य...ख्याति पूजा लाभ से विरक्त भाव...
ध्यान-अध्ययन-मनन-चिंतन में/(से)...होता है आध्यात्मिक ज्ञान अपूर्व...(8)

जो रूचे सो करो

असुहादो णिरयादो सुहभावो दु सग्गसुहमाओ।
दुह सुह भावं जाणइ जं ते रूच्चेइ तं कुण हो।। 61.रयण.

अन्वयार्थ :- (असुहादो णिरयादो) अशुभ भावों से नरक आयु का बंध होता है(सुहभावादो) शुभ भावों से (सग्गसुहमाओदु) स्वर्ग सुख देव आयु का बंध होता है। (दुह सुहभावं) दुःख और सुख भावों को (जाणदु) जानो(जंते) इसमें से जो तुम्हे (रूच्चेइ तं कुणहो) अच्छे लगे वह करें।

पद्य- अशुभ से नरकायु बन्धे व शुभ भाव से बन्धे देव आयु।
ऐसे दुःख-सुख भाव जानकर जो तुम्हें रूचे सो तुम करो।।

समीक्षा- यथा भाव तथा भावी अतएव सुख हेतु शुभ करणीय।
ऐसा है आचार्य का अभिप्राय किन्तु कर्त्ता-भोक्ता स्वयं जीव।।
इससे शिक्षा मिले धर्म होता है विश्वास से न कि विवशता से।
आत्मविश्वास से होता है धर्म विवशता से काम करे गुलाम।।

संदर्भ :-

लौकिक से विपरीत श्रेष्ठ-ज्येष्ठ-पावन है आध्यात्मिक

(शब्द से लेकर लक्ष्य-भाव-व्यवहार कथन आदि)

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : 1.आत्मशक्ति...2. क्या मिलिए...)

लौकिक में जो होता है सत्य, आध्यात्मिक में होता विपरीत।
लौकिक होता कर्म परतंत्रता, आध्यात्मिक होता कर्म स्वतंत्रता।
यथा लिंग-योनि-भोगोपभोग, निकम्मा-वीर्य-कर्त्ता-भोक्ता।
द्रव्य-अर्थ-पदार्थ-विज्ञान-सत्य, असत्य व तेरा-मेरा।। (1)

विपरीतता होती भाषा से ले, भाव-व्यवहार-लक्ष्य-प्राप्ति में।
अतः आध्यात्मिक को मानते विपरीत, जो कुज्ञानी-मोही-स्वार्थी-कामी।।
यथा लौकिक में लिंग शब्द प्रयोग होता, स्त्रीपुंनपुसंक-वेद-भोग में।
आध्यात्मिक में लिंग है चैतन्य, वस्तु स्वरूप में स्व-विशेष गुण में।। (2)

सहज शुद्ध चैतन्य विलास जीव का लिंग, पुद्गल का लिंग है जड़त्वमय।
धर्मद्रव्य का लिंग गमन हेतुत्वमय, अधर्म का लिंग है स्थितिसहाय।
आकाश का लिंग अवकाश देने रूप, काल का लिंग परिणमन रूप।
इन सब लिंग से वे पहचाने जाते, अन्यद्रव्यों से पृथक हेतुभूत लक्षण।। (3)

लौकिक में स्त्री के प्रजनन अंग योनि, किन्तु चौरासी लक्ष्य योनि जीवों की।
इन्द्रिय भोगोपभोग संसारी जीवों के मुक्त के स्व-आध्यात्मिक वैभव के।
लौकिक में निकम्मे होते आलसी, आध्यात्मिक में होते सिद्ध परमेष्ठी।
लौकिक में वीर्य होता शरीर की धातु, आध्यात्मिक में आत्मा की होती शक्ति।

लौकिक कर्त्ता-भोक्ता होते अशुद्ध जीव, आध्यात्मिक में होते विशुद्ध जीव।
लौकिक कर्त्ता-भोक्ता भोगते हैं दुःख, आध्यात्मिक में भोगते अनन्त सुख।।
लौकिक में जड़वस्तु होती है द्रव्य, वस्तु स्वरूप में होते षट्द्रव्य।
लौकिक में अर्थ रूपये या मतलब, वस्तु स्वरूप या प्रयोजन आध्यात्मिक।।

लौकिक में पदार्थ होते जड़ द्रव्य, वस्तु स्वरूप में होते नवपदार्थ।

लौकिक में विज्ञान है भौतिकमय, आध्यात्मिक में विज्ञान चैतन्यमय।।
लौकिक में सत्य होता व्यवहार सत्य, निश्चय से सत्य है षट्द्रव्य।
आध्यात्मिक सत्य है शुद्धात्मामय, स्व-परम सत्य स्व-शुद्धात्मामय।। (6)

लौकिक मेरा-तेरा होता है व्यवहार, जो राग-द्वेष-मोह से सहित है।
आध्यात्मिक मेरा-तेरा होता निश्चय, जो भेद-विज्ञान या वीतराग विज्ञान।
ऐसा ही सर्वत्र ही जानने योग्य, भिन्नषट्कारक से अभिन्नषट्कारक।
कानून, राजनीति, सामाजिक नीति, व्यापार-विनिमय से विवाद तक।।(7)

परम सत्य की उपलब्धि हेत भूत, जो जितने योग्य हैं ग्रहणीय।
प्रमाण-नय-निक्षेप-अनेकान्त से, स्व-परम सत्य ही 'कनक' का ध्येय।।(8)

अशुभ भाव रूप परिणाम

हिंसाइसु कोहाइसु मिच्छाणाणेसु पक्खवाएसु।
मच्छरिएसु मएसु दुरिहिणिवेसेसु असुहलेसेसु।। 62 रयण.
विकहाइसु रुद्दट्टज्झाणेसु असुयगेसु दंडेसु।
सल्लेसु गारवेसु खाइसु जो वट्टाए असुह भावो।। 63 रयण.

अन्वयार्थ :- (हिंसाइसु) हिंसा आदि में, (कोहाइसु) क्रोध आदि में (मिच्छा णाणेसु) मिथ्याज्ञान आदि में (पक्खवाएसु) पक्षपातों में (मच्छरिएसु) मात्सर्यः भावों में (मएसु) ज्ञान आदि भेदों में (दुरहिणिवेसेसु) दुराभिनिवेश अनध्यवसाय परिणामों में (असुहलेस्सेसु) अशुभ लेश्याओं में (विकहाइसु) विकथाओं में (रुद्दट्टज्झाणेसु) रौद्रध्यान आर्त परिणामों में (असुहयोगेसु) अशुभ योगों में(दण्डेसु) दण्डों में(सल्लेसु) शल्यों में (गारवेसु) गारवों में (खाइसु) ख्याति आदि में (वट्टए असुहभावो) सभी भाव अशुभ ही रहते हैं।

पद्य- हिंसादि क्रोधादि में मिथ्याज्ञान में व पक्षपात में।
मात्सर्य में, व मद में दुराभिनिवेश में अशुभ लेश्या में।। 62.
विकथा में आर्त्त-रौद्र ध्यान में अशुभयोग में दण्डों में।
शल्य में गारवों में ख्याति आदि में जो वर्तन वह अशुभयोग।। 63

समीक्षा- हिंसादि परिणाम है अशुभ योग जिससे बन्धे घोर पाप।
इससे मिले इह परलोक में दुःख अतःत्यजनीय अशुभ योग।

अशुभयोग सहित जो होते हैं धार्मिक भी काम।
उससे भी होता पाप क्योंकि अशुभ परिणाम ही मुख्य पाप।।

सन्दर्भ :-

मोह का साम्राज्य

(अशान्तिप्रद मोही जीवों की विपरीत प्रवृत्ति)

(मोही जीव विपरीत भाव-व्यवहार करके स्वयं को श्रेष्ठ-ज्येष्ठ मानता है)

(राग : दिल है छोटा-सा...)

देखो! देखो! देखो! मोह को देखो!...संसारी जीवों के काम को देखो।
संकीर्ण स्वार्थ भाव को देखो!...अन्याय अत्याचारों को देखो!(ध्रु.)
अनावश्यक काम को देखो!...फैशन-व्यसन-अहं/(दम्भ, मद) को देखो!
आलस्य प्रमाद भय को देखो!...वाद-विवाद व कलह देखो!(1)

क्रोध-मान-काम-लोभ को देखो!..ढोंग पाखण्ड व मिथ्यात्व देखो!
ठगी मायाचारी शोषण देखो!...मिलावट भ्रष्टाचार को देखो! (2)

राजा-महाराज चक्री को देखो!...आक्रमण युद्ध हत्या को देखो!
चोरी लूटपाट विनाश देखो!..बलात्कार अत्याचार को देखो!(3)

अन्य को दास बनाना देखो!...दास/(गुलाम) प्रजा का शोषण देखो!
ठाट-बाट भोग विलास देखो!...मनमाना श्रेष्ठपना को देखो!(4)

मन्त्री सेनापति सेना को देखो!..राजा के पाप के भागी को देखो!
कृषक अन्नदाता को देखो!..श्रमिक प्रजा का शोषण देखो!(5)

ढोंगी पाखण्डी धार्मिक देखो!..मिथ्या आडम्बर काम को देखो!
बलि सतीदाह भेदभाव/(विद्वेष) देखो!...अन्य धर्मी से घृणा को देखो।(6)

धर्मप्रचार का माध्यम देखो!...आक्रमण युद्ध हत्या को देखों!
अत्याचार भ्रष्टाचार को देखो!...आतंकवाद राज्य-विस्तार देखो। (7)

अभी के मन्त्री सांसद देखो!...राष्टपति कर्मचारी को देख!
भ्रष्टाचारी तानाशाही को देखो!...मन्यमाना लोक सेवक देखो!(8)

सेठ साहुकार व्यापारी देखो!... मालिक उद्योगपति को देखो!
मिलावटी ठगी शोषण देखो! पापी धनी के अहं को देखो!(9)

हीरो हीरोइन नटों को देखो!...अश्लील कामुक कार्य को देखो!
मनमाना महानायक देखो! इसके पुजारी मानव देखो!(10)

भौतिकता हेतु पाप को देखो!...धर्म के विरूद्ध कर्म को देखो।
अनर्थकारी कार्य को देखो!...उसी के निमित्त पाप को देखो!(11)

गप्पबाजी निन्दा चुगली देखो!...ईर्ष्या-द्वेष घृणा भाव को देखो!
बड़प्पन का दिखावा/(नकल) देखो!...अकल बिन नकल देखो!(12)

शान्ति के नाशक कामों को देखो!...अज्ञानी मोही जीवों को देखो!
आत्मपतन के कार्यों को देखो!...उसी में आसक्त जीवों को देखो!(13)

इनसे भिन्न भावो को देखो!..शान्ति/(मोक्ष) प्राप्ति के कार्यों को देखो!
ज्ञान वैराग्य समता देखो!...'कनक' निस्पृह भाव को देखो!(14)

विकृति को त्यागकर संस्कृति को पाले धार्मिक जन

(जैन धर्मावलम्बियों के लिए आह्वान)

(तर्ज : छोटी-छोटी गैया...)

आज धार्मिक जनों को क्या हो गया, धर्म से विपरीत जीवन हो गया।
कभी दीपक नीचे तम होता था, आज बल्ब के ऊपर अन्धेरा हो गया।।1।।

वीतरागी धर्मी वित्तरागी हो गये, अनेकान्त धर्मी संकीर्ण हो गये।
आत्मकल्याण मार्ग से च्युत हो गये, परमार्थ स्थान में स्वार्थी हो गये।।2।।

भेद-विज्ञानी न हो भेद-भावी हो गये, अपरिग्रह छोड़कर संग्रही हो गये।
स्याद्वाद छोड़कर मिथ्यावादी हो गये, जिनवाणी(को) त्यागकर जनवादी हो गये।। 3।।

सिद्धान्त रहित शंकाशील हो गये, गुणग्राही न होकर गुणद्वेषी हो गये।
क्षमाभाव रहित क्षमावाणी हो गई, आत्मदृष्टि बदले दोषदृष्टि हो गई।।4।।

मोक्षलक्ष्मी बदले धनलक्ष्मी पूजते, द्रव्य अहिंसा हेतु भावहिंसा करते।
दूरदर्शन में रूचि आत्मदर्शन बिना, पढ़ाई में रुचि धर्मज्ञान के बिना।।5।।

धर्म भी करते आज धन निमित्त, धर्म के पहले करते धन अर्जित।
धन से धर्म का आज करते मूल्य, धन बिना सच्चा धर्म होता अमूल्य।।6।।
आत्मशान्ति विरहित धर्म हो गया, दिखावा के लिए सब धर्म हो गया।
धनजनमान हेतु करते धर्म, ज्ञान वैराग्य विरहित करते धर्म।।7।।

'न धर्मो धार्मिकः' बिना यह स्वभाव/(सिद्धान्त),इसलिये जैनियों का नहीं प्रभाव।
वैश्विक धर्म आज क्षीण हो रहा, इसलिये 'कनक' को दुःख हो रहा।।8।।

दोष निवारण हेतु यह रचना हुई, धर्म प्रभावना हेतु कविता हुई।
द्वेष-घृणा दृष्टि मेरी नहीं है, संस्कृति को पाले सब भाव यही है।। 9।।

विज्ञान-धर्म गान

विज्ञान से महान् धर्म की उपयोगिता क्यों कम हो रही है ?

(राग:हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम...)

विज्ञान से है भौतिक ज्ञान-धर्म से भौतिक आत्मिक ज्ञान।
विज्ञान से है भौतिक सुख-धर्म से भौतिक आत्मिक सुख।
विज्ञान से है ऐहिक सुख-धर्म से ऐहिक परलोक सुख।
विज्ञान से है सीमित ज्ञान-धर्म से अनन्त अक्षय ज्ञान।
विज्ञान से है मूर्तिक ज्ञान-धर्म से मूर्तिक अमूर्तिक ज्ञान।
विज्ञान है मानवकृत भौतिक रूप, धर्म है प्राकृतिक वस्तु स्वरूप।
विज्ञान होता है सादि व सान्त, धर्म होता है अनादि अनन्त।
विज्ञान से होता भौतिक विकास-धर्म से होता सर्व विकास।
विज्ञान ग्राह्य तो बन रहा है धर्म का प्रभाव घट रहा है।
इसी में कारण अनेक होते-अंतरंग तथा बाह्य भी होते।
भाव उद्देश्य कर्म संस्कार-अंतरंग कारण होते प्रवर।
बाह्य में साधन सुख सुविधा उपयोगिता व प्रयोगधर्मिता
भौतिकवादी मानव अधिक हो गया उसके लिए विज्ञान साधन बन गया।

विज्ञान की उपयोगिता बढ़ गई-प्रयोगधर्मिता विज्ञान की बढ़ गई।
धर्म में आडम्बर दिखावा बढ़ गया पवित्र भाव तो गायब हो गया।
आध्यात्म तो धर्म में न रहा-धन जन मान का प्रभाव बढ़ गया।
भेद भाव कलह प्रवेश कर गया-कट्टर संकीर्ण स्वार्थ आ गया।
धर्म की उपयोगिता खतम हो गई-आपाधापी का जीवन हो गया अभी।
समीक्षा-समन्वय धर्म में नहीं रहा...मनोरञ्जन का साधन बन गया।
भौतिक क्रिया-काण्ड धर्म हो गया...आत्म परिमार्जन गौण हो गया।
उपदेश का व्यापार चल रहा-धन जन मान का क्रय भी हो रहा।।
धर्म में राजनीति-व्यापार पैठ गया-निस्पृह साधक का मूल्य भी घट गया।
भौतिक सुख का साधन बन गया-आत्मिक सुख का लक्ष्य भी न रहा।
धर्म का प्रभाव इसी से घट-रहा-धर्मी के बिना प्रभाव कहाँ रहा?
दीपक जले बिना प्रकाश नहीं देता-धर्मी के बिना धर्म का भी तथा होता।
धर्म तो धारण करने योग्य होता-ढोंग व पाखण्ड से धर्म का नहीं नाता।
धर्म की धारणा में 'कनक' सदा रत-विश्व में धर्म फैले इसी के लिए रत।

उपेक्षित जिनवाणी का अमृत सन्देश

आचार्य कनकनन्दी

(तर्ज : 1. होठों पे सच्चाई रहती है...2 हाँ तुम बिलकुल)

मैं जिनवाणी सर्वज्ञवाणी सबसे उपेक्षित मैं दिव्यवाणी।
सर्वज्ञसुता मैं सरस्वती मेरे (हैं) पुत्र गुणधर ज्ञानी।।(टेक)
मेरी सन्तति आचार्य यति पाठक साधुसन्त आर्यिका सती।
मेरी कोख से जन्म लेते हैं ज्ञान-विज्ञान भाषा संस्कृति।।
तथापि मुझे कोई न जाने न माने हैं वे मन्दमती।
जो भव्य जाने जो भव्य माने सो ही बने मोक्षपति।।(1)

पढ़ाई-बढ़ाई चमड़ी-दमड़ी में लगे रहते हैं मूढ अज्ञानी।
सत्ता-सम्पत्ति प्रसिद्धि डिग्री को ही सब कुछ मानते अज्ञानी।।
कोई मुझे पढे पर गुने नहीं अतः हैं वे पंथ मतगामी।
स्वार्थ में मेरा करे उपयोग स्व-पर घातक अन्धश्रद्धानी।।(2)

अनेकान्त को एकान्तवाद रूप में वीतराग को वित्तराग में माने।
परमार्थ को स्वार्थरूप में आत्मसिद्धि को प्रसिद्धि रूप माने।।
मैं जो बताऊँ ज्ञान-विज्ञान आत्मिक ज्ञान में नहीं है रूचि।
किंतु अढ़ाई वर्ष आयु से पढ़ने-पढ़ाने में होती है रूचि।।(3)

मेरा ज्ञान तो अनंतज्ञान लौकिक अलौकिक अध्यात्मज्ञान।
लौकिकज्ञान भौतिकज्ञान तथापि मेरा न लेता ज्ञान।।
ऊँट को यथा नीम सुहाए मोही को लौकिकज्ञान ही भाये।
इसलिए मैं होती उपेक्षित उल्लू को यथा सूर्य न भाए।। (4)

'कनकनन्दी' का सुनो आह्वान स्वाध्याय से तुम नाश करो अज्ञान।
अमृत समान मेरा है ज्ञान समस्त दुःखों के नाशक ज्ञान।
मैं जिनवाणी सर्वज्ञवाणी सबसे उपेक्षित मैं दिव्यवाणी।
सर्वज्ञसुता में सरस्वती मेरे हैं पुत्र गणधर ज्ञानी।। (5)

(ज्ञान-सुख-लाभ शक्ति आदि न बढ़ने के व बढ़ने के कारण)

अज्ञानी-मोही बिना प्रयोजन करते अधिक पाप

(ज्ञानदर्शनावरणीय मोहनीय अन्तराय कर्म बन्ध व क्षय के कारण)

चाल : आत्मशक्ति...)

बिना प्रयोजन अधिक पाप करते हैं अज्ञानी-मोही।
ज्ञानदर्शनावरणीय मोहनीय अन्तराय बान्धते हैं अज्ञानी-मोही।।
सर्वज्ञ कथित गणधर ग्रन्थित आचार्य द्वारा जो प्रतिपादित।
उनके अनुसार कुछ वर्णन कर रहा हूँ मैं निम्नलिखित।।(1)

जो ज्ञान व दर्शन सम्बन्धी करते है निम्नोक्तदोष।
वे ज्ञानावरणीय व दर्शनावरणीय कर्म बान्धते हैं विशेष।।
ज्ञानी-ज्ञानी की प्रशंसा सुनकर जो न होते हैं प्रसन्न।
किन्तु ईर्ष्या से चुप रहते हैं उन्हें लगता है प्रदोष भाव।। (2)

स्वज्ञान या ग्रन्थों को पात्रों को जो न देते हैं वञ्चना से।
वे करते ते हैं निह्नव दोष(क्योंकि) वे ज्ञान को छिपाते अन्य से।।

ज्ञानदाता गुरु का नाम छिपाना तथा पठित ग्रंथों को भी।
उनका गुण न वर्णन करना यह दोष निह्नव भी।। (3)

देय ज्ञान को भी जो योग्य पात्र में नहीं देते वे करते मात्सर्य दोष।
ज्ञानार्जन में व्यवधान करना वे करते हैं अन्तराय कर्म।।
अन्य के द्वारा प्रकाशित ज्ञान को जो नहीं करते प्रशंसा विनय।
तन व वचन से ये न करते व करते आसादना दोष।। (4)

स्वदूषित भाव के कारण जो प्रशस्त ज्ञान में करते दोषारोपण।
वे करते हैं उपधान दोष को व बान्धते ज्ञान दर्शनावरणीय।।
आचार्य-उपाध्याय के प्रतिकूल चलना या उनका अपमान करना।
सूत्र विरूद्ध कथन करना स्वहठाग्रह दुराग्रह को नहीं छोड़ना।। (5)

मिथ्योपदेश करना व स्वज्ञान का गर्व भी करना।
ज्ञान व शास्त्र बेचना शास्त्राभ्यास में आलस्य करना।।
अनादर से शास्त्र सुनना व अयोग्य व्यक्ति से ज्ञानलेना।
अकाल व अशुद्धि में स्वाध्याय करना व अपमान करना।। (6)

सम्यग्दृष्टि से घृणा करना व मुनिगणों से ग्लानि करना।
नास्तिक होना व आलस्य आदि करना दर्शनावरणीय बान्धना।।
केवली श्रुत संघ धर्म व दोषों का जो अवर्णवाद करते हैं।
वे दर्शन मोहनीय कर्मबान्धते संसार में भ्रमण करते।। (7)

कषाय उदय से तीव्रपरिणाम से चारित्र मोहनीय बान्धते।
धर्म कार्य में जो विघ्न डालते वे अन्तराय कर्म बान्धते।।
उक्त दोषों में भाव प्रदूषण होता है प्रमुख कारण।
अज्ञान-मोह-अहंकार-ईर्ष्या-द्वेष-घृणादि मुख्य कारण।। (8)

उक्त कर्म ही है घोरातिघोर पाप कर्म जो संसार के कारण।
उक्त चारों घाती कर्म क्षय से साधु बनते हैं अरिहंत महान्।
अरिहंत बनते अवश्य सिद्ध, अज्ञानी मोही पाते दुःख अनन्त।
ऐसे घोर पाप त्याग करने हेतु 'सूरी कनक' करे सदा प्रयत्न।। (9)

सत्तर कोटा-कोटि सागर बन्धे मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति।
ज्ञानादर्शनावरणीय अन्तराय तीस कोटा कोटि सागर स्थिति।।
इस अवधि में वे पापी जीव नरक-निगोद में जन्मते अनन्त बार।
घोरातिघोर दुःख सहते ऐसा ही घातीकर्म चार प्रकार।। (10)

ऐसे पाप को दूर करने हेतु सच्चे गुरु से लेना चाहिए प्रायश्चित।
ज्ञान-ज्ञानी प्रशंसा व ज्ञानदान करना चाहिए यथायोग्य।
उक्त पापों को दूर करने हेतु करणीय है उक्तदोष दूर।
देवशास्त्र गुरु गुण-गुणी की श्रद्धा-प्रशंसा अनिवार्य।। (11)

इस हेतु ही होते हैं देवशास्त्र गुरु के पंचप्रकार विनय।
पूजा-प्रार्थना-आरती-वन्दना-तीर्थयात्रा-पंचकल्याण।।
पूर्ण घातीकर्म नाश हेतु श्रमण बनना है अनिवार्य।
ध्यान-अध्ययन-समता-शुचि से क्षपक श्रेणी आरोहण।। (12)

सन्दर्भ :

ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रव

तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः।(10)त.सू.

1. प्रदोष Depreciation of the learned sciptures
2. निह्नव Concealment of knowldege.
3. मात्सर्य Envy-Jealousy Refusal to import knowledge of every.
4. अन्तराय obstruction, Hindering the progress of knowledge
5. आसादना Denying the truth proclaimed by another by body and speech.
6. उपघात Refuting the truth, although it is known to be such.

ज्ञान और दर्शन के विषय में प्रदोष, निह्नव मात्सर्य, अन्तराय, आसादना और उपघात ये ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रव हैं।

1. प्रदोष किसी के ज्ञानकीर्तन (महिमा सुनने) के अनन्तर मुख से कुछ न कहकर अंतरंग में पिशुनभाव होना, ताप होना प्रदोष है। मोक्ष की प्राप्ति के साधनभूत मति, श्रुत आदि पाँच ज्ञानों की वा ज्ञान के धारी की प्रशंसा करने पर वा

उसकी प्रशंसा सुनने पर मुख से कुछ नहीं कहकर के मानसिक परिणामों से पैशून्य होता है वा अतःकरण में उसके प्रति जो ईर्ष्या का भाव होता है, वह प्रदोष कहलाता है।

2. निह्नव - दूसरे के अभिसन्धान से ज्ञान का व्यपलाप करना निह्नव है। यत्किञ्चित् परनिमित्त को लेकर किसी बहाने से किसी बात को जानने पर भी मैं इस बात को नहीं जानता हूँ, पुस्तक आदि के होने पर भी 'मेरे पास पुस्तक आदि नहीं है' इस प्रकार ज्ञान को छिपाना ज्ञान का व्यपलाप करना, ज्ञान के विषय में वञ्चन करना निह्नव है।

3. मात्सर्य-देय ज्ञान को भी योग्य पात्र के लिए नहीं देना मात्सर्य है। किसी कारण से आत्मा के द्वारा भावित, देने योग्य ज्ञान को भी योग्य पात्र के लिए नहीं देना मात्सर्य है।

4.**अन्तराय**-ज्ञान का व्यवच्छेद करना अन्तराय है। कलुषता के कारण ज्ञान का व्यवच्छेद करना, कलुषित भावों के वशीभूत होकर ज्ञान के साथ पुस्तक आदि का व्यवच्छेद करना, नाश करना, किसी के ज्ञान में विघ्न डालना अन्तराय है।

5. आसादना - वचन और काय से वर्जन करना आसादना है। दूसरों के द्वारा प्रकाशित ज्ञान का काय एवं वचन से वर्जन(गुण-कीर्तन, विनय आदि नहीं करना) आसादना है।

6. उपघात - प्रशस्त ज्ञान में दूषण लगाना उपघात है। स्वकीय बुद्धि और हृदय की कलुषता के कारण-प्रशस्त ज्ञान भी अप्रशस्त युक्त भी अयुक्त प्रतीत होता है अतः समीचीन ज्ञान में भी दोषों का उद्भावन करना झूठा दोषापरण करना उपघात कहलाता है, उसको उपघात जानना चाहिये।

आसादना और उपघात में एकत्व नहीं है क्योंकि आसादना में विद्यमान ज्ञान का विनय प्रकाशन-गुणकीर्तन आदि न करके अनादर किया जाता है और उपघात में ज्ञान को अज्ञान कहकर ज्ञान का ही नाश किया जाता है अन्यथा ज्ञान के नाश करने का अभिप्राय रहता है; अतः आसादना और उपघात में भेद स्पष्ट है।

'तत्' शब्द से ज्ञान-दर्शन ग्रहण किये जाते हैं। 'तत्' शब्द से ज्ञान-दर्शन के प्रति निर्देश किया गया है। अर्थात् ज्ञान और दर्शन के प्रति प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादना और उपघात, ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म के आस्रव के कारण है।

प्रदोषादि के विषयभेद से भेद सिद्ध होने से ज्ञानावरण और दर्शनवारण के आस्रव पृथक्-पृथक् है। ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रव भिन्न-भिन्न समझने चाहिये, क्योंकि विषय-भेद से प्रदोषादि भिन्न हो जाते हैं। ज्ञान विषयक प्रदोषादि ज्ञानावरण के और दर्शन विषयक प्रदोषादि दर्शनावरण के आस्रव के कारण होते हैं। आचार्य और उपाध्याय के प्रतिकूल चलना, अकाल में अध्ययन करना, अश्रद्धा, शास्त्राभ्यास में आलस्य करना, अनादर से अर्थ का श्रवण, तीर्थोपरोध(दिव्य ध्वनि) के काल में स्वयं व्याख्यान करने लगना, स्वकीय बहुश्रुत का गर्व करना, मिथ्योपदेश देना, बहुश्रुतवान् का अपमान वा अनादर करना, अपने पक्ष का दुराग्रह, स्वपक्ष के दुराग्रह के कारण असंबद्ध प्रलाप करना, सूत्र विरुद्ध बोलना, असिद्ध से ज्ञानाधिगम(असिद्ध से ज्ञान प्राप्ति) शास्त्र विक्रय और हिंसादि कार्य ज्ञानावरण कर्म के आस्रव के कारण हैं। दर्शन मात्सर्य, दर्शनान्तराय, आँखे फोड़ना-इन्द्रिय के विपरीत प्रवृत्ति, अपनी दृष्टि का गर्व, बहुत देर तक सोये रहना, दिन में सोना, आलस्य, नास्तिक्य, सम्यग्दृष्टियों में दूषण लगाना, कुतीर्थ प्रशंसा, जीव हिंसा और मुनिगणों के प्रति ग्लानि के भाव आदि भी दर्शनावरण कर्म के आस्रव के कारण है।

शुभ भाव रूप परिणाम

दव्वत्थकायछप्पण तच्चपयत्थेसु सत्तणवएसु।
बंधणमोक्खे तक्कारणरूवे वारसाणुवेक्खे।। 64 रयण.
रयणत्तयस्सरूवे अज्जाकम्मे दयाइसद्धम्मे।
इच्चेवमाइगो जो वट्टई सो होइ सुहभावो।। 65 रयण.

अनवयार्थ :- (दव्वत्थिकाय छप्पण) जीवादि छह द्रव्य, पंच अस्तिकाय(तच्चपयत्थेसु सत्तणवएसु) सात तत्व नव पदार्थों में (बंधणमुक्के तक्कारणरूवे) बंध के कारण और मोक्ष के कारण में (वारसाणुवेक्खे) बारह अनुप्रेक्षा में (रयणत्तयस्सरूवे) रत्नत्रय स्वरूप में (अज्जाकम्मे) देवपूजा दान आदि आर्य कार्यों में (दयाइसद्धम्मे) दया आदि सुद्धर्म में रुचि (इच्चेवमाइगो)(जो) ऊपर कहे गये सभी कारणों में प्रवृत्ति करता है (वट्टइ) वर्तता है (सो) वह (सुहभावो) शुभभाव (होइ) होता है।

पद्य- षट द्रव्य, पंचास्तिकाय, सप्त तत्त्व व नव पदार्थों में।
बन्ध मोक्ष व उसके कारण में बारह अनुप्रेक्षाओं में।।

पद्य- रत्नत्रय स्वरूप में दानादि आर्य कर्मो दयादि सद्धर्म में।
इत्यादि उक्त भावों में जो वर्तता है वह शुभ भाव है।।
समीक्षा-जितने अंशो में अशुभ होता दूर उतने अंशों में शुभ भाव।
जितने अंशों में शुभ भाव होता उतने अंशो में नहीं अशुभ भाव
सभी अशुभभाव होते नकारात्मक भाव सभी शुभ भाव सकारात्मक।
अशुभ त्याग से शुभ भाव होते जिससे होता आत्मविकास।।

सन्दर्भ :-

पापसम पुण्य व मोक्षप्रद पुण्य

(पापानुबन्धी पुण्य से परे मैं आत्मोपलब्धि हेतुक पुण्य करूँ।)
(धन-नाम-मानादि हेतु किया गया पुण्य संसार भ्रमण के कारण
अतः यह पुण्य पाप के सम त्यजनीय है)

(चाल :- मन रे! तू काहे...सायोनारा...) - आचार्य कनकनन्दी

जिया रे! तू सातिशय पुण्य करो!
पापानुबन्धी पुण्य से परे...पुण्यानुबन्धी-पुण्य करोऽऽऽ (ध्रुव)
सम्यग्दृष्टिः पुण्यं न भवति संसारकारणं नियमात्।
मोक्षस्य भवति हेतुः यदि च निदानं न स करोति।। (भावसंग्रह 404)
अकृत निदान, सम्यग्दृष्टि पुण्यं कृत्वा ज्ञानचरणस्यः।
उत्पद्यतै दिविलोके शुभपरिणामः सुलेश्योऽपि।। (405)
निदान रहित व श्रद्धा-प्रज्ञा युक्त...करो तू शुभपरिणामऽऽऽ
शुभलेश्यायुक्त आर्त्त-रौद्र मुक्त...करो तू ध्यान व अध्ययनऽऽऽ
ख्याति-पूजा-लाभ से शून्य ऽऽऽ (जिया(1)
अन्यथा तेरे सभी धार्मिक कार्य...तप त्याग व ध्यान अध्ययनऽऽऽ
धर्म प्रभावना से होंगे पापानुबन्धी पुण्य...जो होते हैं संसार कारणऽऽऽ
भले मिले कुदेवादि में जन्मऽऽऽ(जिया)(2)
धन के हेतु या प्रसिद्धि हेतु...अथवा भोगोपभोग निमित्त ऽऽऽ
इहलोक/(या) परलोक हेतु निदान...सभी से होता आत्मपतनऽऽऽ
न मिले उत्तम देव में भी जन्मऽऽऽ(जिया) (3)

जिस कार्य में ऐसा होता निदान...उस से भी रहो तू माध्यस्थ ऽऽऽ
अन्यथा पाप बंध तुझे भी होगा...नवकोटि से होता पाप बन्धऽऽऽ
अनावश्यक न करो पापबन्धऽऽऽ(जिया) (4)
पंचम/(कलि) काल में प्रायः धार्मिक काम...पूजा-आराधना विधान प्रतिष्ठा
तीर्थयात्रा से ले प्रवचन-वर्षायोग...सभी में होती धन-नाम की कामनाऽऽ
ये तो साक्षात् निदान की भावनाऽऽऽ (जिया)(5)
तूझे न चाहिए धन-नाम-निर्माण...ढोंग-पाखण्ड व आडम्बर ऽऽऽ
माईक मंच व पत्रिका होर्डिंग...गाजे बाजे व भीड़-प्रदर्शनऽऽऽ
तुझे चाहिए समता-शान्ति-ध्यानऽऽऽ(जिया)(6)
अन्धानुकरण(पर) प्रतिस्पर्द्धा त्यज...अन्य से न करो स्व-मूल्यांकन ऽऽऽ
तेरा मूल्यांकन स्व-आत्मवैभव से करो...तुझ में अनन्त ज्ञान-सुख-वीर्य ऽऽऽ
'कनक' तू स्व-वैभव हेतु करो पुण्यऽऽऽ(जिया)(7)

सन्दर्भ :-

शुभःशुभानुबन्धीति बन्धच्छेदाय जायते।
पारंपर्येण यो बन्धः स प्रबन्धाद्विधीयते।। 54।।(धर्मरत्नकर)

अर्थ : शुभ भाव से शुभानुबन्धी होता है और शुभानबन्धी परंपरा के बन्ध छेद के लिये कारण हो जाता है। इसलिए शुभानुबन्धी कर्म को प्रचुर रूप से करना चाहिये।

विशेषार्थ : शरीर में काँटा घुसने के बाद उस काँटे को निकालने के लिये एक सुदृढ़ काँटा चाहिये, शरीर स्थित काँटे को जब तक नहीं निकालते तब तक इस सुदृढ़ काँटे की परम आवश्यकता है। शरीर स्थित काँटा निकालने के बाद उस सुदृढ काँटे की आवश्यकता स्वयमेव नहीं रहती, उसी प्रकार कर्म देह स्थित सुदृढ़ पुण्यरूपी काँटा चाहिये, पापरूपी काँटा निकालने के बाद पुण्यरूपी काँटे की आवश्यकता स्वंयमेव हट जाती है। जैसे मलिन वस्तु के सम्पर्क से वस्त्र अस्वच्छ हो जाता है। उस अस्वच्छता को हटाने के लिए पानी, साबुन, टिनोपॉल चाहिये। पानी और साबुन के प्रयोग से जब वस्त्र स्वच्छ हो जाता है तब उस वस्त्र पर लगे हुए साबुन को स्वच्छ पानी से धोकर निकाल देते हैं। वस्त्र स्वच्छ होने के बाद उसको टीनोपॉल में डालकर चमकाते हैं। वस्त्र से साबुन और पानी अलग वस्तु है (परद्रव्य है)। तो भी बिना पानी और साबुन के मलिन वस्त्र स्वच्छ नहीं होता है।

परन्तु स्वच्छ होने के बाद साबुन और पानी की आवश्यकता नहीं रहती है। मलिन अवस्था में टीनोपॉल वस्त्र को लगाने पर उसमें चमक नहीं आ सकती है। इस प्रकार आत्मा को स्वच्छ करने के लिए शुभभावरूपी पानी और पुण्यरूपी साबुन चाहिये। इसके माध्यम से मलिन पापात्मा का पवित्र पुण्यात्मा होने के बाद शुक्लध्यानरूपी टीनोपॉल से उसको केवलज्ञान रूपी प्रकाश से चमकाना चाहिये। जब तक आत्मा को शुभ भाव और पुण्य से स्वच्छ नहीं करते तब तक शुक्लध्यान रूपी टीनोपॉल का किसी प्रकार परिणाम नहीं हो सकता है। वस्त्र स्वच्छ होने के बाद उस वस्त्र में स्थित पानी को भी निकाल देते हैं। इसी प्रकार अयोग केवली 14वें गुणस्थान की अवस्था में व्युपरत क्रियानिवृत्तिरूपी परम शुक्ल ध्यान से पुण्यरूपी कण को भी सुखाकर पृथक करना चाहिये तब जाकर आत्मा निरंजन निष्कलंक होता है।

अहो पुण्यवन्ता पुंसां कष्टं चापि सुखायते
तस्माद्भव्वैः प्रयत्नेन कार्य पुण्यं जिनोदितः।।

अर्थ : अहो आश्चर्य की बात है पुण्यवान के लिये कष्ट भी सुखकर हो जाता है, इसलिए हे भव्य! जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रतिपादित पुण्य को तुम प्रयत्नपूर्वक करो।

यस्य पुण्यं च पापं च निष्फलं गलति स्वयम्।
स योगी तस्य निर्वाणं तस्य पुनरास्रवः।। 246

अर्थ : जिनका कर्म उदय में आकर भी बिना फल दिये खिर जाता है वह योगी है। वह परम वीतरागी होता है। परम वीतराग मुनि उग्र तप के माध्यम से भविष्य में उदय आने योग्य कर्म को जला देता है। उसी प्रकार मुनीश्वरों को नवीन आस्रव या बन्ध नहीं होता है। उस परम वीतरागी मुनीश्वरों का पाप एवं पुण्य स्वयमेव निष्फल होकर खिर जाते हैं और उनको नवीन कर्मास्रव बन्ध नहीं होता है। उन्हीं को परम निर्वाण की प्राप्ति होती है।

असुहाणं पयडीण अणंत भागा रसस्स खंडाणि।
सुहपयडीणं णियमा णत्थि त्ति रसस्स खण्डाणि।। 80

अर्थ : अप्रशस्त अर्थात् पाप प्रकृतियों के अनंत बहुभाग का घात नियम से होता है क्योंकि विशुद्धि के कारण प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग उत्तरोत्तर वृद्धि

को प्राप्त होता है परन्तु घात नहीं होता है। तथा विशुद्धि के कारण पाप प्रकृतियों का अनुभाग उत्तरोत्तर ह्रास को प्राप्त होता है परन्तु वृद्धि को प्राप्त नहीं होता है।

पढमापुव्वरसादो चरिमे समये पसत्थइदराणं।
रससतमणंत गुण अणंतगुण हीणयं होदि।। 82

अर्थ : अपूर्वकरण में प्रतिसमय अनंतगुणी विशुद्धि होने के कारण प्रशस्त प्रकृतियों का अनंतगुणा बढ़ता अनुभाग सत्व है। तथा विशुद्धि के कारण अनुभाग काण्डक घात के महत्व से अप्रशस्त प्रकृतियों का अन्ततवाँ भाग सत्व चरम समय में होता है। इस प्रकार अंधःकरण के प्रथम समय संबंधी प्रशस्त प्रकृतियों का जो अनुभाग सत्व है उससे अधःकरण के चरम समय में प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग सत्व अपूर्वकरण के प्रथम समय में जितना है उससे अनंतगुणा हीन अपूर्वकरण के चरम समय में है।

इससे सिद्ध होता है कि आत्म विशुद्धि से पुण्य कर्म चौदहवाँ गुणस्थान के नीचे नाश नहीं होते हैं परंतु वृद्धि को प्राप्त होते हैं। तथा पाप कर्म आत्म विशुद्धि से नाश होता है किन्तु वृद्धि को प्राप्त नहीं होता है। (लब्धि सार)

विशेषार्थ : चतुर्थ गुणस्थान से आगे उत्तरोत्तर पापकर्म का संवर और निर्जरा की वृद्धि हो जाती है और पुण्य कर्म का आस्रव और बन्ध उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता है। इस प्रकार क्रिया सकषाया गुणस्थान तक (10 वें गुणस्थान तक) चलती रहती है। क्षीणकषाय आदि गुणस्थान में पुण्यास्रव होता है फिर भी बन्ध नहीं होता है परन्तु पुण्य कर्म तेरहवें गुणस्थान तक नष्ट नहीं होता है किन्तु बढ़ता ही रहता है। परन्तु परम योगी शैलेश अवस्था को प्राप्त अयोगी केवली गुणस्थान के चरम समय और द्विचरम समय में संपूर्ण पुण्य और पाप कर्मों का समूल विनाश हो जाता है। पाप प्रकृति की यथायोग्य द्वितीयादि गुणस्थान में संवर एवं निर्जरा होती है। परन्तु विशिष्ट पुण्य कर्मों का संवर निर्जरा 14वें गुणस्थान के नीचे होती नहीं है। परंतु उत्तरोत्तर गुणस्थान में अनुभाग शक्ति बढती जाती है। परन्तु परिनिर्वाण के पूर्ववर्ती समय में संपूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं।

किनके पुण्य हेय ?

पुण्णेण होइ विहवो विहवेण होइ मइ-मोहो।
मइ मोहेण य पाव ता पुण्णं अम्ह मा होउ।। 60।।

अर्थ : पुण्य से घर में धन होता है और धन से अभिमान, मान से बुद्धि भ्रम होता है। बुद्धि में भ्रम होने से (अविवेक से) पाप होता है। इसलिये ऐसा पुण्य हमारा न हो।

''सत्यं वाचि मतौ श्रुतं हदि दया शौर्य भुजे विक्रमे।
लक्ष्मीर्दानमनूनर्थिनिचये मार्गे गतिनिर्वृतेः।।

प्राग्जनीहं तेऽपि निरहंकाराःश्रुतेर्गोचराश्चित्रं संप्रति।
लेशतोऽपि न गुणास्तेषां तथाप्युद्धताः।। 60

भेदाभेद रत्नत्रय की आराधना से रहित देखें, सुने अनुभवे भोगों की वांछारूप निदान बन्ध के परिणामों से सहित जो मिथ्यादृष्टि संसारी अज्ञानी जीव है। उससे पहले उपार्जन किये भोगों की वांछारूप पुण्य उसके फल से प्राप्त हुई घर में सम्पदा होने से अभिमान(घमंड) होता है, अभिमान से बुद्धि भ्रष्ट होती है, बुद्धि भ्रष्टकर पाप कमाता है और पाप से भव-भव में अनंत दुःख पाता है। इसलिये मिथ्यादृष्टियों का पुण्य, पाप का ही कारण है। जो सम्यक्त्वादिगुणसहित भरत, राम, पाण्डवादिक विवेकी जीव है उनको पुण्य बन्ध अभिमान उत्पन्न नहीं करता, परंपरा से मोक्ष का कारण है। जैसे-अज्ञानियों को पुण्य का फल विभूति गर्व का कारण है; वैसे सम्यग्दृष्टि के नहीं है। सम्यग्दृष्टि पुण्य के पात्र हुये चक्रवर्ती आदि की विभूति पाकर मद अहंकार आदि विकल्पों को छोड़कर मोक्ष को गये अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव चक्रवर्ती बलभद्र पद में भी निरहंकार रहे। ऐसा ही कथन आत्मानुशासन ग्रंथ में भी गुणभद्राचार्य ने किया है कि पहले समय में ऐसे सत्पुरुष हो गये हैं जिनके वचन में सत्य बुद्धि में शास्त्र मन में दया, पराक्रम रूप भुजाओं में शूरवीरता याचकों को पूर्ण लक्ष्मी का दान और मोक्षमार्ग में गमन है। वे निराभिमानी हुये जिनको किसी गुण का अहंकार नहीं हुआ। उनके नाम शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं। परन्तु अब बड़ा अचम्भा है कि इस पंचमकाल में लेश मात्र भी गुण नहीं है तो भी उद्धतपना है, यानि गुण तो रंच मात्र भी नहीं और अभिमान में बुद्धि रहती है। (परमात्मा प्रकाश)

पाप भी उपादेय है।

वर जिय पावइँ सुन्दरइँ णावई ताई भणंति।
जीवहँ दुक्खइँ जाणिवि लहु सिवमई जाई कुणति।।56

अर्थ : आगे जिस पाप के फल से यह जीव नरकादि में दुःख पाकर उस दुःख को दूर करने के लिये सन्मुख होता है, वह पाप का फल भी श्रेष्ठ(प्रशंसा योग्य) है। ऐसा दिखलाते हैं।

हे जीव! जो पाप के उदय से जीव को दुःख देकर शीघ्र ही मोक्ष के जाने योग्य उपायों में बुद्धिकर दें तो वे पाप भी बहुत अच्छे हैं, ज्ञानी ऐसा कहते हैं।

कोई जीव पाप करके नरक में गया वहाँ पर महान् दुःख भोग उससे कोई समय किसी भी जीव के सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है क्योंकि उस जगह सम्यक्त्व की प्राप्ति के तीन कारण है। पहला तो यह है तीसरे नरक तक देवता उसे संबोधने को (चेतावने को) जाते हैं। कभी कोई जीव को धर्म सुनने से सम्यक्त्व उत्पन्न हो जावे, दूसरा कारण पूर्व भव का स्मरण और तीसरा नरक की पीड़कारी दुःख से दुःखी होना, नरक को महान् दुःख का स्थान जानकर नरक के कारण जो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह और आरंभादिक हैं उनको खराब जान के पाप से उदास होना।

दुराभिमान, स्वाभिमान, आत्मानुभव

(अशुभ शुभ शुद्ध अहंभाव)

राग : 1. हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम...2. यमुना किनारे श्याम...

अशुभ शुभ तथा शुद्ध प्रकार, अहंभाव है जानो तीन प्रकार,
(अशुभ अहंकार, शुभ स्वाभिमान)
आत्मानुभव मानो सोऽहंभाव अनात्म द्रव्य में होता अहंकार
अनात्म द्रव्य में होता अहंकार अशुभ त्याग में होता स्वाभिमान...(टेक)...
आत्मिक गुण-स्मरण आत्मरमण, शुद्धात्मभावना अध्यात्म ध्यान,
यह सब सोऽहंभाव शुद्धात्म भाव, अन्य द्रव्य निरपेक्ष शुद्ध स्वभाव
इसी निमित्त से होता अशुभ त्याग, शुद्ध माध्यम से प्राप्त शुद्ध स्वभाव।। (1)
अनन्तानुबन्धी मान कषाय युक्त, मिथ्यात्व से युक्त अनात्म स्वरूप।
कर्म उदय से प्राप्त विभाव भाव, शरीर आश्रित जो भी स्वभाव।
जाति कुल-बल आदि अष्ट जो मद, सो है अशुभभाव मोह के मद।। (2)
जिससे अष्टमद नहीं होते हैं, पंच पाप, सप्तभय नहीं होते हैं।
अन्याय, कुकृत्य व्यसन त्याग होते शुद्धभाव प्राप्ति हेतु जो भाव होते

वही स्वाभिमान जानो शुभ संकल्प(विकल्प), सनम्र सत्यग्राहीता दृढ़ संकल्प।।

यह भाव करणीय विकास हेतु, शुद्धि प्राप्ति के निमित्त यथा है सेतु।
नदी पार निमित्त जो सेतु है हेतु, नदी पार अनन्तर नहीं है हेतु।
तथावत् स्वाभिमान उभय हेतु, अहंकार त्याग तथा सोऽहं के हेतु।। (4)
अहंकार तजकर स्वाभिमान (को) धर, सोऽहं भाव का सतत लक्ष्य भी धर।
सनम्र सत्यग्राही दृढ़ संकल्पी बनो, अहं भाव हठग्राही भाव को हनो।
'कनकनन्दी' तो सदा प्रयत्नरत है, विश्वमानव भी करें ऐसा प्रयत्न है। (5)

पाप के विभिन्न रूप समझा करो

तर्ज : (यमुना किनारे...)

पाप के विभिन्न रूप समझा करो, एक को छोड़कर अन्य न करो।
एक को छोड़कर अन्य किया जब, पाप का बन्धन भी हुआ तब।।
एक छेद बन्द कर अन्य किया है, जहाज में पानी भी तब आया है।
कोई हिंसा छोड़कर क्रोध करे है, पाप का बन्धन हुआ करे है।।
कोई चोरी छोड़कर लोभ करे है, लोभ के कारण नरक वरे है।
कोई कुशील त्यागकर चुगली करे है, चुगल से पाप बन्ध करे हैं।
पंचपाप से कर्म बन्ध होता है, वह कर्म कषायों से बन्ध होता है।
बाह्य पंच पाप त्यागी जो होता है, कषायों से वही पापी होता है।।
आत्म हनन रूप से पाप फल सम है, उसके अनुरुप से कर्म बन्ध सम है।।
कोई धर्म क्रिया काण्ड रूढि से करे, परिणाम शुद्धि बिना पाप भी करे।
परिणाम ऊपर ही पुण्य पाप निर्भर, परिणाम ऊपर ही बन्ध मोक्ष निर्भर।।
परिणाम शुद्धि हेतु क्रियाकाण्ड करो हे,तप, त्याग,ज्ञान,ध्यान,दान सेवा करो है
बाह्य व्रत तप, ज्ञान, अग्नि, पानी सम हैं, अंतरंग परिणाम तंदुल के सम है।
भात रूप परिणाम इनसे होता है, चावल के बिना क्या भात होता है ?
उपादान कारण तो अन्तरंग होता है, प्रमुख ही कार्य रूप परिणत होता है।।
बाह्य धर्म-कर्म करे बहु जन रे, अन्तरंग शुद्धता में अधिकांश रे।
शुद्धता के बिना वे सुफल चाहे हैं, चावल के बिना वे भात चाहे हैं।
''कनकनन्दी'' उन्हें दया से बताये, पवित्र भाव को हृदय में धारो रे।।

तब ये पापी मन पावन होगा!

(चाल : झिलमिल सितारों का आँगन...)

तब (ही) ये पापी मन पावन होगा...जब राग-द्वेष मोह त्यागेगा...
सनम्र सत्यग्राही पावन होगा...उदार-सहिष्णु-सरल होगा...
तब(ही) ये...(स्थायी)
ईर्ष्या तृष्णा घृणा को भी त्याग करेगा...अपेक्षा-उपेक्षा-प्रतीक्षा-त्यागेगा...
वैर विरोध व द्वन्द्व त्यागेगा...समता शान्ति प्राप्त करेगा...
परनिन्दा अपमान चिन्ता छोड़ेगा...आत्म विशेषण से स्व को शुद्ध करेगा...
महान् लक्ष्य उच्च भाव धरेगा...स्व-पर-विश्व कल्याण सोचेगा...(1)
पर शोषण पर अहित त्यागेगा...दान दया व परोपकार करेगा...
फैशन-व्यसन-आडंबर त्यागेगा...ख्याति पूजा लाभ प्रसिद्धि छोड़ेगा...
आत्मविश्वासी विवेकी सदाचारी होगा...स्व आत्म वैभव
/(प्राप्ति) का लक्ष्य धरेगा
मैत्री प्रमोद कारुण्य माध्यस्थ(भाव) धरेगा...संकल्प-विकल्प-संक्लेश
त्यागेगा...(2)
अन्यथा ये पापी मन पावन न होगा...भौतिक-सत्ता-संपत्ति से भी न होगा...
पढ़ाई-प्रसिद्धि व धार्मिक ढोंग से...पावन न होगा मन अन्य काम से...
सर्वज्ञ देव द्वारा ज्ञात(ये) परम सत्य...अनुभवगम्य मेरा यथार्थ सत्य...
मनोवैज्ञानिक द्वारा प्रयोग सत्य...'कनक' को मान्य ये परम सत्य...(3)

मेरा लक्ष्य निर्बन्ध व सीमातीत

(चाल : तेरे प्यार का आसरा...) - आचार्य कनकनन्दी

बंधन रहित मैं होना चाहता हूँ सीमा से अतीत मैं होना चाहता हूँ।
मेरी इयत्ता है अक्षय अनन्त, शुद्ध-बुद्ध निर्बन्ध व ज्ञानानन्द।।
तन-मन-इन्द्रिय बन्ध व सीमा से परे होना चाहता हूँ राग द्वेष मोह से।
ईर्ष्या तृष्णा घृणा व द्रव्य-भाव कर्म से, परे होना चाहता हूँ तेरा मेरा भाव से।।
राष्ट्र भाषा जाति पंथ-मत सीमा से, परे होना चाहता हूँ मानव सीमा से।
कानून-संविधान-राजनीति सीमा से, परे होना चाहता हूँ सामाजिक बंधन से।।
संकल्प-विकल्प व संक्लेश परे, अपेक्षा-उपेक्षा व प्रतीक्षा परे।

ख्याति पूजा लाभ व प्रसिद्धि परे, लन्द-फन्द द्वन्द्व व विवाद परे।।
संकीर्ण कट्टर रूढ़ि परम्परा परे, तर्क-वितर्क व कल्पना से परे।
निराबाध निर्मल व निष्कलंकमय, होना चाहता हूँ मैं चिदानन्दमय!
आकाश से भी अनन्त अणु से भी सूक्ष्म, बहिरंग शक्तियों से भी अपराभूत।
स्वयंभू स्वयंपूर्ण सत्य-शिव सुन्दर 'कनक' का लक्ष्य चैतन्यचमत्कार।।

निर्णय स्वयं का

सम्मत्तगुणाइ सुग्गइ मिच्छादो होइ दुग्गइ णियमा।
इदि जाण किमिह बहुणा जं ते रुच्चइ तं कुण हो।। 66. रयण.

अन्वयार्थ :- (सम्मत्तगुणाइ सुग्गइ) सम्यक्त्व गुण से शुभ गति (मिच्छादो दुग्गइ णियमा) मिथ्यात्व से दुर्गति निश्चयकर (होइ) होती है (इदि) इस प्रकार (जाण) जानकर (किमिह बहुणा) कहने से क्या प्रयोजन ? (जंते रुच्चइ) जो तुम्हें अच्छा लगे(तं कुण हो) वह करो।

पद्य - सम्यक्त्व गुण से सुगति मिथ्यात्व से नियम से दुर्गति।
ऐसा जानकर जो तुम्हें रूचे सो करो क्या अधिक कहने से।।

समीक्षा - दीपक सम होते आध्यात्मिक गुरु जो स्व-पर प्रकाशी है।
किन्तु होते हैं समताधारी किसी को भी न करते विवश है।।

विवशता से न होता है धर्म, धर्म होता आत्मविश्वास से।
पर को विवश करने से समता-शान्ति रूपी धर्म नशता है।।

सन्दर्भः-

स्वयं को मनाऊँ बडे चाव से अन्य को न मनाऊँ क्लेश भाव से

- आचार्य कनकनन्दी

(चालः छोटी छोटी गैया ...2. यमुना किनारे ...)

स्वयं को मनाऊँ मैं बड़े चाव/(भाव) से,
अन्य को न मनाऊँ मैं क्लेश भाव से।
स्वयं को जानना-मानना व पाने से,
अनन्त सुखी बनूँगा न अन्य किसी से।। (1)
तीर्थंकर-केवली-गणधर-महात्मा,

स्वयं को मनाने से बन गये परमात्मा।
अभव्य घोर मिथ्यात्वी को कोई न समझा पाते,
अनन्त बहुभाग ऐसे जीव ही होते।। (2)
आदिनाथ को भी मारिची न समझ पाया,
समवशरण से निकलकर मिथ्या मत चलाया!
सुकरात से ले मीरा को विष पिलाया गया,
तीर्थंकर से बुद्ध तक का अपमान भी हुआ।। (3)
मैं भी स्वयं को अनन्त काल से नहीं समझा,
अतएव अभी तक संसार में दुःखों को सहा।
स्वयं को मैं अभी समझा रहा हूँ सतत,
अतएव अन्य को मनाने का नहीं है वक्त।। (4)
स्वप्रकाशी से अन्य भी होते स्वयं प्रकाशी,
तथाहि मैं बन रहा हूँ स्व-पर प्रकाशी।
अभी तक स्वयं पूर्ण प्रकाशी न बन पाया,
अतएव स्वप्रकाशी हेतु मैं सन्नद्ध हुआ।। (5)
स्वयं को समझाना यदि इतना कठिन,
अन्य को समझाना क्या होगा सरल।
स्वयं को समझाना तो होता स्वावलम्बन,
अन्य को समझाना तो परावलम्बन।। (6)
पवित्र भाव से पर हेतु बनूँ धर्म द्रव्य सम,
समझने वाले हेतु बनूँ निमित्त उदासीन।
अन्य का न कर्त्ता-धर्त्ता विधाता बनूँ,
'कनक' स्व कर्त्ता-धर्त्ता-विधाता बनूँ।। (7)

बाह्य विकल्प त्याग से अन्तरंग विकल्प त्याग

(निर्विकल्प)

यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं यत्परान् प्रतिपादये।
उन्मत्तचेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः ।। (19) स.तं.

पद्यभावानुवाद : (चाल : आत्मशक्ति...)

निर्विकल्प मेरा स्वरूप है, सुनना-सुनाना अतः दोनों से परे।
सुनना व सुनाना दोनों उन्मत्त चेष्टित है मैं तो इन दोनों से परे।

समीक्षा :

अन्तरात्मा विचार करता है, मैं तो शुद्ध-बुद्ध अमूर्तिक हूँ।
अतएव वार्तालाप मेरा नहीं है स्वभाव, क्योंकि मैं निर्विकल्प हूँ।। (2)
वार्तालाप में होता है विकल्प, विकल्प से होता है चित्त चंचल।
जिससे होता है कर्मबन्ध जिससे, मेरा स्वरूप न होता निर्मल(3)
शुद्ध रूप से मैं हूँ निर्विकल्प, राजा-प्रजा, छोटा-बड़ा से परे।
अपना-पराया-गुरु-शिष्य परे, समस्त विभाव भाव-व्यवहार परे।।(4)
ऐसा लक्ष्यनिष्ठ होता अन्तरात्मा, जिससे उनमें आती समता।
जिससे वे ख्याति-पूजा-लाभ-प्रसिद्धि परे, बनना चाहते हैं परमात्मा।। (5)
माइक-मंच व पाण्डाल होर्डिंग, विज्ञापन से ले T.V. प्रयोग।
धन-जन-मान-भीड़ प्रदर्शन, बोली आदि सभी का कैसे काम।।(6)

मोही जीव के भवतीर नहीं

मोह ण च्छिज्जइ अप्पा दारुण कम्मं करेइ बहुवारं।
णहु पावइ भवतीरं किं बहु दुक्खं वहेइ मूढमइ।। (67. रयण.)

अन्वयार्थ :- (अप्पा) आत्मा(मोहं) मोह को (णच्छिज्जइ) नहीं क्षय करता है (दारुण कम्मं बहुवारं) अत्यन्त दारुण कर्मों को व्रत उपवास तूं अनेक बार (करेइ) करता है (हु) निश्चय से वह (भवतीरं) संसार समुद्र का किनारा (ण पावदि) नहीं पाता; फिर (मूढमइ) यह मूढमति अज्ञानी (किं बहुदुक्खं) क्यों बहुत दुक्ख को (वहेइ) उठाता है ?

पद्य- **हे मूढात्मा! मोह त्यागे बिन बहुत किया तू दारूण भाव।**
किन्तु न पाया तू संसार पार क्यों सह रहा है बहु दुःख।।

समीक्षा- **मोह त्याग बिन दारुण तप-त्याग से भी नहीं मिलता है मोक्ष।**
किन्तु कठोर तप-त्याग से केवल मिलते इह-पर-लोक में दुःख।।
अतएव आत्मश्रद्धा प्रज्ञा सहित यथा शक्ति तप-त्याग श्रेष्ठ।
अन्यथा आत्मश्रद्धा प्रज्ञा रहित कठोर तप-त्याग से मिले दुःख।।

सन्दर्भ :

बंधके हेतु मिथ्यादर्शन आदि

स्युर्मिथ्यादर्शन ज्ञान-चारित्राणि समासतः।
बन्धस्य हेतवोऽन्यस्तु त्रयाणामेव विस्तरः।। (8) तत्वानु.

मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये तीनों संक्षेपरूपसे बंधके कारण हैं। बंधके कारणरूप में अन्य जो कुछ कथन(कहीं उपलब्ध होता) है वह सब इन तीनों का विस्तारूप है।

व्याख्या - यहा बंधके हेतु रूप में जिन मिथ्यादर्शनादिकका निर्देश किया गया है वे वे ही हैं जिनको स्वामी समन्तभद्र ने अपने समीचीन धर्मशास्त्र (रत्नकंरड) के सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि नामक तृतीय पद्य में प्रयुक्त यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः इस वाक्य के द्वारा बंध के कार्यरूप संसारका हेतु(मार्ग) बतलाया है। बंधका हेतु कहो चाहे संसारका हेतु कहो, दोनों का आशय एक ही है। प्रस्तुत पद्य में अन्यस्तु त्रयाणामेव विस्तरः यह वाक्य खास तौरसे ध्यान में लेने योग्य है। इसके द्वारा यह सूचित किया गया है कि समयसार, तत्त्वार्थ सूत्रादि ग्रंथों में बंधहेतुविषयक जो कथन कुछ भिन्न तथा विस्तृत रूप में पाया जाता है वह सब इन तीनों हेतुओं के अन्तर्गत इनमें समाविष्ट-अथवा इन्हीं मूल हेतुओं के विस्तारको लिये हुए हैं। जैसे समयसार में एक स्थान पर मिथ्यात्व, अविरमण (अविरत), कषाय योग इन चारको बंधका कारण बतलाया है; दूसरे स्थान पर चारों का उल्लेख करते हुए इनमें से प्रत्येक के संज्ञ-असंज्ञ (चेतन-अचेतन) ऐसे दो दो भेद करते हुए बहुविहभेया पद के द्वारा बहुत भेदों की भी सूचना की है; तीसरे स्थान पर राग, द्वेष तथा मोह को आस्रव रूप बन्ध का कारण निर्दिष्ट किया गया है और चौथे स्थान पर मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरत भाव और योगरूप अध्यवसानों को बंध के कारण ठहराया है। तत्त्वार्थ सूत्र में मिथ्यादर्शन, अवरति, प्रमाद, कषाय और योग इन पाँच को बंध के हेतु लिखा है। गोम्मटसार (कर्मकांड) में मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग नाम के वे ही चार बंध के कारण दिये हैं जिनका उल्लेख समयसार की 109 वीं गाथा में पाया जाता है। अंतर केवल इतना ही है कि समयसार में जिन्हें बंधकर्त्तार लिखा है उन्हीं को गोम्मटसार में आस्रवरूप निर्दिष्ट किया है। यह कोई वास्तविक अंतर नही है; क्योंकि मिथ्यात्वादि चारों प्रत्ययों में

बंधत्व और आस्रवत्व की दोनों शक्तियाँ उसी प्रकार विद्यमान हैं जिस प्रकार अग्नि में दाहकत्व और पाचकत्व की दोनों शक्तियाँ पाई जाती हैं। मिथ्यात्वादि प्रत्यय प्रथम समय में ही आस्रव के हेतु हैं, द्वितीय समय में उन्हीं से बंध होता है और फिर आस्रव-बंध परंपरा कथंचित् चलती रहती है जैसा कि अध्यात्मकमलमार्तंड के निम्न वाक्यों से स्पष्ट है-

चत्वारःप्रत्ययास्ते ननु कथमिति भावास्रवो भावबन्ध-
श्चैकत्वाद्वस्तुतस्तो बल मतिरिति चेतन्न शक्तिद्वयात्स्यात्।
एकस्यापीह वह्नेर्दहन-पचन-भावात्म-शक्तिद्वयाद्वै
वह्निः स्याद्दाहकश्च स्वगुणगणबलात्पाचकश्चेति सिद्धेः।।
मिथ्यात्वाद्वद्यात्मभावाः प्रथमसमय एवास्रवे हेतवःस्युः
पश्चात्तत्कर्मबन्धं प्रतिसमसमये तौ भवेतां कथंचित्।
नव्यानां कर्मणागमनमिति तदात्वे हि नाम्नास्रवः स्यात्
आयत्यां स्यात्स बन्धः स्थितिमिति लयपर्यन्तमेषोऽनयोर्भित्।।

(परिच्छेद 4)

मिथ्यादर्शन का लक्षण

अन्याऽवस्थितेष्वर्थेष्वन्यथैव रुचिर्नृणाम्।
दृष्टिमोहोदयान्मोहो मिथ्यादर्शनमुच्यते।। 9

मनुष्यों अथवा जीवों के दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से अन्यरूप से अवस्थित (यथावस्थित) पदार्थों में जो तद्विपरीत रूप से रुचि प्रतीत होती है वह मोह है और उसी को मिथ्यादर्शन कहा जाता है।

व्याख्या - यहाँ **'दृष्टिमोहोदयात्'** पद अपनी खास विशेषता रखता है और इस बात को सूचित करता है कि यदि दर्शन मोहनीय कर्म का उदय न हो तो अन्यथावस्थित पदार्थों में अन्यथा रूचि-प्रतीति के होने पर भी मिथ्यादर्शन नहीं होता। जैसे की श्रेणिक राजा को क्षायिक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने से उसके दर्शन मोहनीय कर्म का उदय नहीं बनता, फिर भी अपने पुत्र कुणिक(अजातशत्रु) के भाव को उसने अन्यथारूप में समझकर अन्यथा प्रवृत्ति कर डाली। इतने मात्र से वह मिथ्यादृष्टि अथवा मिथ्यादर्शन को प्राप्त नहीं कहा जाता; क्योंकि दर्शन मोहनीय कर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाले सम्यग्दर्शन का कभी अभाव नहीं होता।

मिथ्यादर्शन का लक्षण और भेद

ज्ञानावृत्युदयादर्थेष्वन्यथाऽधिगमो भ्रमः।
अज्ञानं संशयश्चेति मिथ्याज्ञानमिदं त्रिधा।। 10

(दर्शन मोहनीय कर्म के उदयपूर्वक अथवा संस्कारवश) ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से (यथावस्थित) पदार्थों में जो उनके यथावस्थित स्वरूप से भिन्न अन्यथा ज्ञान हाता है, उसका नाम मिथ्याज्ञान है और यह मिथ्याज्ञान संशय, भ्रम (विपर्यय) तथा अज्ञान (अनध्यवसाय) ऐसे तीन प्रकार का होता है।

व्याख्या - ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से अज्ञानभाव होता है और यहाँ अन्यथाज्ञान की बात कही गयी है, वह इस बात को सूचित करती है कि ज्ञानावरणीय कर्म के उदय के साथ दर्शन मोहनीय कर्म का उदय भी लगा हुआ है अथवा उसके संस्कारों को साथ में लिये हुए हैं। मिथ्याज्ञान दर्शन मोहरूप चक्रवर्ती राजा का आश्रित मंत्री है, यह बात आगे 12 वें पद्य में स्पष्ट की गयी है और इसलिए उसे मोहके संस्कारों से विहीन ग्रहण नहीं किया जा सकता और यही कारण है कि उसके भ्रम तथा संशय को साथ लेकर तीन भेद किये गये हैं, अन्यथा वह भेद अज्ञानरूप ही रहता। परस्पर विरुद्ध नाना कोटियों का स्पर्श करने वाले ज्ञान को संशय, विपरीत एक कोटि का निश्चय करने वाले ज्ञान को भ्रम(विपर्यय) और क्या है इस आलोचन मात्र ज्ञान को अज्ञान (अनध्यवसाय) कहते हैं। यथार्थ ज्ञान में ये तीनों दोष नहीं होते।

मिथ्याचारित्र का लक्षण

वृत्तमोहोदयाज्जन्तोः कषाय-वश-वर्तिनः।
योगप्रवृत्तिरशुभा[3] मिथ्याचारित्रमूचिरे[4] ।।11

(दर्शन मोहनीय कर्म के उदय पूर्वक अथवा संस्कारवश) **चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से कषायवशवर्ती हुए जीव की जो अशुभयोग प्रवृत्ति होती है-** काय, वचन तथा मन की क्रिया किसी अच्छे भले शुभकार्य में प्रवृत्त न होकर पापबंध के हेतुभूत बुरे एवं निंद्य कार्यों में प्रवृत्त होती है **उसको मिथ्याचारित्र कहा गया है।**

व्याख्या - मोह के मुख्य दो भेद हैं- एक दर्शनमोहनीय और दूसरा चारित्रमोह। दर्शन मोह के उदय से जिस प्रकार मिथ्यादर्शन की उत्पत्ति होती है उसी

प्रकार चारित्र मोह के उदय से मिथ्याचारित्र की सृष्टि बनती है। उस मिथ्याचारित्र का स्वरूप यहाँ मन-वचन-काय में किसी योग अथवा योगों की अशुभ प्रवृत्ति को बतलाया है और उसका स्वामी उस जीव को निर्दिष्ट किया है जो चारित्रमोह के उदयवश उस समय किसी भी कषाय अथवा नोकषाय के वशवर्ती होता है। काय, वचन तथा मन की क्रिया रूप जो योग यहाँ विवक्षित है उसके दो भेद हैं- एक शुभयोग और दूसरा अशुभोपयोग। शुभपरिणामों के निमित्त से होने वाला योग शुभ और अशुभ परिणामों के निमित्त से होने वाला योग अशुभ कहलाता है। अशुभ योग की प्रवृत्ति अशुभ होती है और उसी अशुभ प्रवृत्ति को यहाँ मिथ्याचारित्र कहा गया है। हिंसा, चोरी और मैथुनादि में प्रवृत्त हुआ शरीर अशुभ काययोग है। असत्य, कटुक तथा असभ्य भाषणादि के रूप में प्रवत्त हुआ वचन अशुभ वाग्योग है। हिंसादिक की चिंता तथा ईर्ष्या-असूयादि के रूप में प्रवृत्त हुआ मन अशुभ-मनोयोग है। इसी प्रकार योगों की यह अशुभ प्रवृत्ति, जो कृत-कारित-अनुमोदन के रूप में होती है, पापास्रव की हेतुभूत और इसीसे मिथ्याचारित्र कहलाती है। दूसरे शब्दों में मन से, वचन, काय से, करने-कराने तथा अनुमोदना के द्वारा जो हिंसादिक पापक्रियाओं का आचरण अथवा अनुष्ठान है वह मिथ्याचारित्र है, जो सम्यग्चारित्र के उस लक्षण के विपरीत है। यह सर्व कथन व्यवहारनय की दृष्टि से है। निश्चयनय की दृष्टि से तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान से रहित और चारित्र मोह से अभिभूत योगों की शुभ प्रवृत्ति भी शुभ कर्मबंध के हेतु मिथ्याचारित्र में परिगणित हैं; क्योंकि सम्यक्चारित्र कर्मादान निमित्त-क्रिया के त्याग रूप होता है।

बंध हेतुओं में चक्री और मंत्री

बन्धहेतुषु सर्वेषु मोहश्चक्रीति कीर्तितः।
मिथ्याज्ञानं तु तस्यैव सचिवत्वमशिश्रियत्।। 12

बंध के संपूर्ण हेतुओं में मोह चक्रवर्ती (राजा) **कहा गया है और मिथ्याज्ञान इसी के मंत्रित्व को आश्रय किये हुए है**-मोहराजा का आश्रित मंत्री है।

व्याख्या - यहाँ मिथ्यादर्शन रूप मोह को चक्रवर्ती बतलाकर बंध के हेतुओं में उसकी सर्वोपरि प्रधानता का निर्देश किया गया है और वह ठीक ही है; क्योंकि दर्शनमोह दृष्टिविकार को उत्पन्न करता है और यह दृष्टिविकार ही ज्ञान को मिथ्याज्ञान

और चारित्र को मिथ्याचारित्र बनाता है। मोहाश्रित होने से स्वतंत्रतापूर्वक मंत्री पद का कोई काम करने अथवा मोहराजा को उसकी कुप्रवत्तियों के विरुद्ध प्रतिकूल अच्छी भली सलाह देने में समर्थ नहीं होता। सदा उसके अनुकूल ही बना रहता है और इसी से मिथ्याज्ञान नाम पाता है। मिथ्याज्ञान मोह चक्रीका ही मंत्री है- अन्यका नहीं, यह बात तस्य पद के साथ एव शब्द के प्रयोग द्वारा सूचित की गयी है।

मोहचक्री के सेनापति : ममकार-अहंकार

ममाऽहङ्कारमानामानौ सेनान्यौ तौ च तत्सुतौ।
यदायत्तः सुदुर्भेदः मोह-व्यूहः प्रवर्तते।। 13

'उस मोह के जो दो पुत्र ममकार और अहंकार नाम के हैं वे दोनों उस मोह के सेनानायक हैं, जिनके अधीन मोहव्यूह-मोहचक्रीका सैन्यसंनिवेश-बहुत ही दुर्भेद बना हुआ है।'

व्याख्या - मोह के गढ़ को यदि जीतना है तो ममकार और अहंकार को पहले जीतना परमावश्यक है। इनके कारण ही मोहशत्रु दुर्जेय बना हुआ है और वह संसारी प्राणियों को अपने चक्कर में फँसाता, बाँधता और दुःख देता रहता है।

ममकार और अहंकार दोनों भाई एक एक दूसरे के पोषक है। इनका स्वरूप अगले पद्यों में बतलाया गया है और साथ ही यह भी दर्शाया गया है कि कैसे इनके चक्रव्यूह में फँसकर यह जीव संसार-परिभ्रमण करता रहता है।

ममकार का लक्षण

शश्वदनात्मीयेषु स्वतनु-प्रमुखेषु कर्मजनितेषु।
आत्मीयाऽभिनिवेशो ममकारो मम यथा देहः।। (14)

सदा अनात्मीय - आत्मा रूप से बहिर्भूत - **ऐसे कर्मजनित स्वशरीरादिक में जो आत्मीय अभिनिवेश है** उन्हें अपने आत्मजन्य समझने रूप जो अज्ञानभाव है **उसका नाम ममकार है; जैसे मेरा शरीर।**

व्याख्या - जो कभी आत्मीय नहीं, आत्मद्रव्य से जिनकी उत्पत्ति नहीं और न आत्मा के साथ जिनका अविनाभाव-जैसे कोई गाढ़ संबंध है; प्रत्युत इसके जो कर्मनिमित्त हैं, आत्मा से भिन्न स्वभाव रखने वाले पुद्गल परमाणुओं द्वारा रचे गये हैं; ऐसे पर पदार्थों को जो अपना मान लेना है उसका नाम ममकार है; जैसे मेरा यह शरीर, यह मेरा घर है, यह मेरा पुत्र, यह मेरी स्त्री और यह मेरा धन

इत्यादि। क्योंकि ये सब वस्तुएँ वस्तुतः आत्मीय नहीं हैं, आत्माधीन नहीं हैं, अपने अपने कारण-कलाप के अधीन हैं, अपने आत्मद्रव्य से भिन्न हैं और स्पष्ट भिन्न होती हुई दिखाई पड़ती हैं। शरीर आदि के भिन्न होते समय आत्मा का उन पर कोई वश नहीं चलता; जबकि वस्तुतः आत्मीय होने पर उन्हें आत्माधीन होना और सदा आत्मा के साथ रहना चाहिए था।

यह सब कथन अगले पद्य में प्रयुक्त हुए **'परमार्थनयेन'** पद की अपेक्षा रखता हुआ निश्चयनय की दृष्टि से है। व्यवहारनय की दृष्टि से मेरा शरीरादि कहने में अवश्य आता है, परंतु जो व्यवहार निश्चयनय के ज्ञान से बहिर्भूत है, निश्चय की अपेक्षा न रखता हुआ कोरा व्यवहार है अथवा व्यवहार को ही निश्चय समझ लेने के रूप में है वह भारी भूल भरा तथा वस्तुतत्त्व के विपर्यासको लिये हुए है। प्रायः ऐसा ही हो रहा है और इसीलिए निश्चयनय की दृष्टि को स्पष्ट करने की जरूरत होती है। इस व्यावहारिक ममतारूपी घोर अंधकार के वश जिसके ज्ञान की स्थिति अस्तव्यस्त हो रही है ऐसा प्राणी सच्चे सुखस्वरूप अपने हित-साधन से दूर भागता रहता है; जैसे कि श्री अमितगति आचार्य ने अपने निम्न वाक्य में व्यक्त किया है-

माता में मम गेहिनी मम गृहं मे बान्धवा मेऽङ्गजाः
तातो मे मम सम्पदो मम सुखं में सज्जना में जनाः।
इत्थं घोरममत्व-तामस-वश-व्यस्ताऽस्तबोधस्थितिः
शर्माधानविधानतः स्वहिततः प्राणी सनीस्रस्यते।। तत्त्वभावना (24)

अहंकार का लक्षण

ये कर्मकृता भावाः परमार्थनयेन चात्मनो भिन्नाः।
तत्राऽऽत्माभिनिवेशोऽहंकारोऽहं यथा नृपतिः।। 15

'कर्मो के द्वारा निर्मित जो पर्यायें हैं और निश्चयनय से आत्मा से भिन्न हैं उनमें भी आत्मा का जो मिथ्या आरोप है -उन्हें आत्मा समझने रूप अज्ञानभाव है- **उसका नाम अहंकार है; जैसे मैं राजा हूँ।''**

व्याख्या - यहाँ परमार्थनयका अर्थ निश्चय नय से है, जिसे द्रव्यार्थिकनय भी कहा गया है, उसकी दृष्टि से जितनी भी कर्मकृत पर्यायें हैं वे सब आत्मा से भिन्न हैं- आत्मरूप नहीं हैं -उन्हें आत्मरूप समझ लेना ही अहंकार है; जैसे मैं राजा, मैं रंक, मैं गोरा, मैं काला, मैं पुरुष, मैं स्त्री, मैं उच्च, मैं नीच, मैं सुरूप, मैं

कुरूप, मैं पंडित, मैं मूर्ख, मैं रोगी, मैं निरोगी, मैं सुखी, मैं दुःखी, मैं मनुष्य, मैं पशु, मैं निर्बल, मैं सबल, मैं बालक, मैं युवा, मैं वृद्ध इत्यादि। ये सब निश्चयनय से आत्मा के रूप नहीं , इन्हें दृष्टिविकार के वश आत्मरूप मान लेना अहंकार है। यह कर्मकृत पर्याय को आत्मा मान लेने रूप अहंकार की एक व्यापक परिभाषा है। इसमें किसी पर्याय विशेष को लेकर गर्व अथवा मदरूप जो अहंभाव है वह सब शामिल है। निश्चय-सापेक्ष्य व्यवहारनय की दृष्टि से अपने को राजादिक कहा जा सकता है; परंतु व्यवहार निरपेक्ष निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा को राजादिक मानना अहंकार है। इसी तरह देह को आत्मा मान लेना भी अहंकार है।

ममकार और अहंकार में मोह-व्यूह का सृष्टिक्रम

मिथ्याज्ञानान्वितान्मोहान्ममाहङ्कारसम्भवः।
इमकाभ्यां तु जीवस्य रागो द्वेषस्तु जायते।। 16

'मिथ्याज्ञानयुक्त मोह से जीव के ममकार और अहंकार का जन्म होता है और इन दोनों से(ममकार-अहंकार से) राग तथा द्वेष उत्पन्न होता है।'

व्याख्या - यहाँ ममकार और अहंकार को राग-द्वेष का जनक बतलाया है उसका यह आशय नहीं कि दोनों मिलकर राग-द्वेष उत्पन्न करते हैं या एक राग को तथा दूसरा द्वेष को उत्पन्न करता है; बल्कि यह आशय है कि दोनों अलग-अलग राग-द्वेष के उत्पादक हैं - ममकार से जिस प्रकार राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार अहंकार से भी होती है।

ताभ्यां पुनः कषायाः स्यूर्नोकषायाश्च तन्मयाः।
तेभ्यो योगा प्रवर्तन्ते ततः प्राणिवधादयः।। 17

'फिर उन (राग-द्वेष) दोनों से कषायें-क्रोध, मान, माया, लोभ और नोषकायों हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, तथा कामवासनाएँ **उत्पन्न होती हैं, जो कि राग-द्वेषरूप हैं। उन कषायों तथा नोकषायों से योग प्रवत्त होते हैं-** मन, वचन, तथा कायकी क्रियाएँ बनती हैं **और उन योगों के प्रवर्तन से प्राणिवधादिरूप हिंसादिक कार्य होते हैं।'**

व्याख्या - माया, लोभ, हास्य, रति और स्त्री-पुरुषादि वेदरूप कामवासनाएँ ये पाँच (दो कषायें तथा तीन नोकषाएँ) राग-द्वेषरूप हैं। क्रोध, मान, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा(ग्लानि) ये छह (दो कषायें तथा चार नोकषायें) द्वेषरूप हैं। मन-वचन-काय

की क्रियारूप योगों की प्रवृत्ति शुभ और अशुभ ऐसे दो प्रकार की होती है। शुभ योगप्रवृत्ति के द्वारा अच्छे-पुण्यकार्य और अशुभ योग प्रवृत्ति के द्वारा बुरे-पापकार्य होते हैं और इसलिए प्राणिवधादयः पद में प्रयुक्त हुआ बहुवचनांत आदि शब्द यहाँ झूठ, चोरी, मैथुन-कुशील और परिग्रह जैसे पापकार्यों का वाचक है, वहाँ अहिंसा-दया, सत्य, अचौर्य,ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह जैसे पुण्यकार्य का भी वाचक है।

तेभ्यः कर्माणि बध्यन्ते ततः सुगति-दुर्गति।
तत्र कायाः प्रजायन्ते सहजानीन्द्रियाणि च।। 18

उन प्राणिवधादिक कार्यों से कर्म बँधते हैं - जिनके शुभ तथा अशुभ ऐसे दो भेद हैं। **कर्मों के बंधन से सुगति तथा दुर्गति की प्राप्ति होती है,** अच्छे शुभ कर्मों के बंधन से (देव तथा मनुष्य भव की प्राप्ति रूप) सुगति और बुरे अशुभ कर्मों के बंधन से (नरक तथा तिर्यंच योनिरूप) दुर्गति मिलती है। **कर्मों के वश उस सुगति या दुर्गति में जहाँ भी जीव को जाना होता है वहाँ शरीर उत्पन्न होते हैं और शरीरों के साथ सहज ही इंद्रियाँ भी उत्पन्न होती हैं** - चाहे उनकी संख्या शरीर में कम से कम एक ही क्यों न हो।

व्याख्या - यहाँ जिन कर्मों के बंधन का उल्लेख है, उनकी ज्ञानावरणादिरूप मूलप्रकृतियाँ आठ, मतिज्ञानावरणादिरूप उत्तरप्रकृतियाँ एक सौ अड़तालीस और फिर मतिज्ञानावरणादि के भेद-प्रभेद होकर उत्तरोत्तर प्रकृतियाँ असंख्य हैं। इन सब कर्म प्रकृतियों में कुछ शुभरूप हैं, जिन्हें पुण्य प्रकृतियाँ कहते हैं और शेष अशुभरूप हैं, जिन्हे पापप्रकृतियाँ कहते हैं। इन सब कर्मों का, कर्मों से होने वाली चार प्रकार की गतियों का, गतियों में प्राप्त होने वाले औदारिक वैक्रियिकादि पाँच प्रकार के शरीरों का और शरीरों के साथ संबद्ध स्पर्शन-रसनादि पाँच प्रकार की इंद्रियों का स्वरूपादिविषयक विस्तृत वर्णन तत्त्वार्थसूत्र, उसके टीकाग्रंथ, षट्खंडागम कर्मप्रकृति, पंचसंग्रह और गोम्मटसारादि सिद्धांत ग्रंथों से जानना चाहिए।

मात्रा भेष/लिंग से कल्याण नहीं

धरियउ बाहिरलिंगं परिहरियउ बाहिरक्खसोक्ख हि।
करियउ किरियाकम्म मरिउ जमिउ बहिरप्पुजिउ।। (68) रयण.

अन्वयार्थ :- (बहिरप्पुजिउ) बहिरात्मा जीव(धरियउ बाहिरलिंगं) बाह्य लिंग को धारण कर (वाहिरक्खसोक्खं हि) बाह्य में इन्द्रिय जनित सुख को ही

(परिहरियऊ) त्याग करके (किरियाकम्मं) क्रिया कर्मों को (करियउ) करता हआ (मरिउ) मरता है (जमिउ) जन्म लेता है।

पद्य - **बहिरात्मा (जीव) केवल बाह्य लिंग धारण कर, बाह्य इन्द्रिय सुख ही त्यागे**
बाह्य क्रिया कर्म ही करके जन्म-मरण को ही भोगते।।

समीक्षा- **आत्मा श्रद्धान व समता-शान्ति बिन जो करते हैं बाह्य त्याग**
उनके बाह्य क्रियाकर्म केवल बनते जन्म-मृत्यु के कारक।।
इससे शिक्षा मिले भले शक्ति अनुसार हो बाह्य त्याग।
किन्तु आत्म श्रद्धान-प्रज्ञा सहित-शान्ति से होता आत्मकल्याण

सन्दर्भ :-

न लोकाः पारमार्थिक

(लौकिक से परे आध्यात्मिक)

(चाल : दुनिया में रहना है तो..., साथोनारा... तुम दिल की...)

लोकानुगतिक से चलते लोग...नहीं चलते पारमार्थिक...
भेड़-भेड़िया चाल चलते लोग...नहीं चलते गौ-हंस के सम... (ध्रुव)...
गर्व तो करते, न गौरव करते...गौरव योग्य भाव न काम करते...
दिखावा करते...दर्शन नहीं करते...आत्मदर्शन न सत्यदर्शन करते...
पर दोष देखते निन्दा करते...स्व-पर दोषों से शिक्षा न गहते...
प्रशंसा चाहते प्रशंसा न करते...प्रशंसनीय भाव-काम न करते...(1)

ख्याति-पूजा-लाभ सदा चाहते...समता शांति संतुष्टि नहीं सेवते...
सत्ता-संपत्ति-प्रसिद्धि चाहते...दया-दान सेवादि नहीं करते...
अहंकार-ममकार सदा करते...स्वाभिमान-सोऽहं भाव नहीं जानते...
उदार-सहिष्णु न पावन होते...अष्ट मद से स्वयं को श्रेष्ठ बताते...(2)

दिखावा-आडम्बर का धर्म करते...संकीर्ण-कट्टर व स्वार्थी होते...
सत्य निष्ठा-शुचिता रहित होते...श्रेष्ठ-ज्येष्ठ-धार्मिक स्वयं को जताते...
परस्पर भेद-भाव वैरत्व करते...विश्व शांति का नारा लगाते...
गोमुख व्याघ्र सम काम करते...बगुला भगत सम भाव रखते...(3)

आधुनिक भाव व्यवहार न करते...आधुनिक ज्ञान-विज्ञान रहित होते...
फैशन-व्यसनों में भेड़चाल चलते...विदूषक समान स्वांग रचते...
संस्कार-सदाचार रहित होते...साक्षर-राक्षस सम चाल चलते...
सदाचारी शालीन सौम्य न होते...नीली लोमड़ी सम व्यवहार करते...(4)...

मृगमरीचिका व गपोडशंख सम...दूर से ही लगे अविचारित रम्य...
इससे परे बने पारमार्थिक लोग...इसी हेतु काव्य बनाये 'कनक'...(5)

जीवों के लिए दोष करना व पर दोष जानना सरल क्यों?

(चाल : छोटी-छोटी गैया...)

अनादि काल से अनंत भवों में, दोष करते हैं जीव अनंत।
इसलिए दोष करना सरल है, अन्य के दोष भी जानना सरल।।
चोर ठग व हत्यारा बलात्कारी, जानते हैं स्वप्रकृति व प्रवृत्ति।
ऐसी प्रकृति व प्रवृति वालों को, जानते सरलता से जो है स्व-अनुभूति।।
एक समान रोगी स्व-अनुभव से, अनुमान से जानता है अन्य रोगी को।
प्रसव पीड़ा को एक माता जानती है, अन्य माता की भी प्रसव पीड़ा को।।
शिकारी जानता है शिकार की कमजोरी, जिससे शिकार का करता शिकार।
चोर जानता है चोरी के उपायों को, जिससे बनता है वह सफल चोर।
मन जाने पाप व माँ जाने बाप, यह यथार्थ से मनोवैज्ञानिक सत्य।
स्व-प्रजाति को जानते स्व-प्रजाति जीव, समगुण गुणी जानते वैसे जो जीव।।
प्यासा जाने है प्यासे की पीड़ा, भूखा जाने है भूखे की पीड़ा।।
संतोषी जाने संतोषी का सुख, वीतरागी जाने वीतरागी का सुख।।
सर्वज्ञ जानते हैं सर्वज्ञ का ज्ञान, अल्पज्ञ न जान पाते हैं सर्वज्ञ को।
स्व पर दोष से दोष दूर करना, 'कनकनन्दी' की गुणग्राही भावना।।

धम्मेण होइ लिंग, णि लिंगमत्तेण धम्मसंपत्ति।
जाणेहि भावधम्मं किं ते लिंगेण कायव्वो।। 2 लिंगपा.

धर्म से लिंग होता है, लिंगमात्र धारण करने से धर्म की प्राप्ति नहीं होती। इसलिए भावको धर्म जानो, भावरहित लिंग से तुझे क्या कार्य है ?

भावार्थ - लिंग अर्थात् शरीर का वेष धर्म से होता है। जिसने भाव के

बिना मात्र शरीर का वेष धारण किया है उसके धर्म की प्राप्ति नहीं होती, इसलिए भाव ही धर्म है। भाव के बिना मात्र वेष कार्यकारी नहीं है।

जो पावमोहिदमदी, लिंग घेत्तूण जिणवरिंदाणं।
उवहसइ लिंगि भावं, लिंगं णासेदि लिंगीणं।।3

जिसकी बुद्धि पाप से मोहित हो रही है ऐसा जो पुरुष जिनेन्द्र देव के लिंग को नग्न दिगंबर वेष को ग्रहण कर लिंगी के यथार्थ भावकी हँसी करता है वह सच्चे वेषधारियों के वेष को नष्ट करता है अर्थात् लजाता है।

णच्चदि गायदि तावं, वायं वाएदि लिंगरूवेण।
सो पावमोहिदमदी, तिरिक्खजोणी ण सो समणो।।4

जो मुनि लिंग धारण कर नाचता है, गाता है अथवा बाजा बजाता है वह पाप से मोहितबुद्धि पशु है मुनि नहीं।

सम्मुहदि रक्खेदि य, अट्ठं झाएदि बहुपयत्तेण।
सो पावमोहिदमदी, तिरिक्खजोणी ण सो समणो।।5

जो बहुत प्रकार के प्रयत्नों से परिग्रह को इकट्ठा करता है, उसकी रक्षा करता है तथा आर्तध्यान करता है वह पाप से मोहितबुद्धि पशु है, मुनि नहीं।

कलंह वादं जूवां णिच्चं बहुमाणगव्विओ लिंगी।
वच्चदि णरयं पावो, करमाणो लिंगिरूवेण।। 6

जो पुरुष मुनिलिंग का धारक होकर भी निरंतर अत्यधिक गर्व से युक्त होता हुआ कलह करता है, वादविवाद करता है अथवा जुवा खेलता है वह चूँकि मुनिलिंग से ऐसे कुकृत्य करता है अतः पापी है और नरक जाता है।।

पावोपहदिभावो, सेवदि य अबंभु लिंगिरूवेण।
सो पावमोहिदमदी, हिंडदि संसारकांतारे।।7

पाप से जिसका यथार्थभाव नष्ट हो गया है ऐसा जो साधु मुनिलिंग धारण कर अब्रह्मका सेवन करता है वह पाप से मोहितबुद्धि होता हुआ संसार रूप अटवी में भ्रमण रहता है।।

दंसणणाणचरित्ते, उवहाणे जइ ण लिंगरूवेण।
अट्ठं झायदि झाणं, अणंतसंसारिओ होदि।।8

जो मुनिलिंग धारण कर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को

उपधान अर्थात् आश्रय नहीं बनाता है तथा आर्तध्यान करता है वह अनंतसंसारी होता है।

जो जोडदि विव्वाहं, किसिकम्मवणिज्जजीवघादं च।
वच्चदि णरयं पावो, करमाणो लिंगिरूवेण।। 9

जो मुनिका लिंग रखकर भी दूसरों के विवाहसंबंध जोड़ता है तथा खेती और व्यापार के द्वारा जीवों का घात करता है वह चूँकि मुनिलिंग के द्वारा इस कुकृत्य को करता है अतः पापी है और नरक जाता है।

चोराण मिच्छवाण य, जुद्ध विवादं च तिव्वकम्मेहिं।
जंतेण दिव्वमाणो, गच्छदि लिंगी णरयवासं।।10

जो लिंगी चोरों तथा झूठ बोलने वालों से युद्ध और विवाद कराता है तथा तीव्रकर्म खरकर्म अर्थात् हिंसावाले कार्यों से यंत्र अर्थात् चौपड़ आदि से क्रीड़ा करता है वह नरकवास को प्राप्त होता है।

दंसणणाणचरित्ते, तवसंजमणियमणिच्चकम्मम्मि।
पीडयदि वट्टमाणो, पावदि लिंगी णरयवासं।। 11

जो मुनिवेषी दर्शन, ज्ञान, चारित्र तप तथा संयम नियम और नित्य कार्यों में प्रवृत्त होता हुआ दूसरे जीवों को पीड़ा पहुँचाता है वह नरकवास को प्राप्त होता है।।

गिण्हदि अदत्तदाणं, परणिंदा वि य परोक्खदूसेहिं।
जिणलिंगं धारंतो, चोरेण व होइ सो समणो।। 14

जो मनुष्य जिनलिंग को धारण करता हुआ भी बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण करता है तथा परोक्ष में दुषण लगा-लगाकर दूसरे की निंदा करता है वह चोर के समान है, साधु नहीं है।

बंधे णिरओ संतो, सस्सं खंडेदि तह य वसुहं पि।
छिंददि तरुगण बहुसो, तिरिक्खजोणी ण सो समणो।। 16

जो किसी के बंध में लीन होकर अर्थात् उसका आज्ञाकारी बनकर धान कूटता है, पृथिवी खोदता है और वृक्षों के समूह को छेदता है वह पशु है,मुनि नहीं।।

भावार्थ - यह कथन साधुओं की अपेक्षा है। जो साधु वन में रहकर स्वयं

धान तोड़ते हैं, उसे कुटते हैं, अपने आश्रम में वृक्ष लगाने आदि के उद्देश्य से पृथिवी खोदते हैं तथा वृक्ष लता आदि को छेदते है ये पशुके तुल्य है, उन्हें हिंसा पाप की चिंता नहीं, ऐसा मनुष्य साधु नहीं कहला सकता।।

रागो(रागं) करेदि णिच्चं, महिलावग्गं परं च दूसेदि।
दंसणणाणविहीणो, तिरिक्खजोणी ण सो समणो।। 17

जो स्त्रियों के समूह के प्रति निरंतर राग करता है, दूसरे निर्दोष प्राणियों को दोष लगाता है तथा स्वयं दर्शन-ज्ञान से रहित है वह पशु है, साधु नहीं।।

पव्वज्झीणगहिणं णेहं सीसम्मि वट्टदे बहुसो।
आयारविणयहीणो, तिरिक्खजोणी ण सो सवणो।। 18

जो दीक्षा से रहित गृहस्थ शिष्य पर अधिक स्नेह रखता है तथा आचार और विनय से रहित है वह तिर्यंच है साधु नहीं।।

भावार्थ - जो कोई साधु अपने गृहस्थ शिष्य पर अधिक स्नेह रखते हैं, अपने पद का ध्यान न कर उसके घर जाते हैं, सुख-दुःख में आत्मीयता दिखाते है तथा स्वयं मुनि के योग्य आचार तथा पूज्य पुरुषों के विनय से रहित होते हैं। आचार्य कहते हैं कि वे मुनि नहीं है, किंतु पशु हैं।

एवं सहिओ मुणिवर, संजदमज्झम्मि वट्टदे णिच्चं।
बहुलं पि जाणमाणो, भावविणट्ठो ण सो समणो।।

हे मुनिवर! ऐसी खोटी प्रवृत्तियों से सहित मुनि यद्यपि संयमी जनों के बीच में रहता है और बहुत ज्ञानवान् भी है तो वह भाव से विनष्ट अर्थात् भावलिंग से रहित है-यथार्थ मुनि नहीं है।

मिथ्यात्व के नाश बिना मोक्ष नहीं

मोक्खणिमित्तं दुक्खं वहेइ परलोयदिट्ठितणुदिट्ठि।
मिच्छाभाव ण च्छिज्जइ किं पावइ मोक्खसोक्खं हि।। 69 रयण.

अन्वयार्थ :- (मिच्छाभावं ण छिज्जइ) मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व भाव को नहीं छेदन करता है। (परलोयदिट्ठी) परलोक-स्वर्गलोक की दृष्टि लगी रहती है(तणुदिट्ठी) शरीर के प्रति दृष्टि रहती है, (मोक्खेणिमित्तं) मोक्ष के निमित्त(दुक्खं) दुःख को (वहेइ) सहन करता है, (मोक्ख सोक्खं) मोक्ष सुख को(हि) निश्चय करके (किं पावइ) क्या पा सकता है? अर्थात् प्राप्त नहीं कर सकता

पद्य- मोक्ष निमित्त दुःख सहन करे परलोक(स्वर्ग) व शरीर में दृष्टि।
किन्तु मिथ्याभाव नहीं त्यागे क्या पायेगा मोक्ष शान्ति(सुख)।।
समीक्षा- मिथ्याभाव त्यागे बिना मोक्ष न मिले दुःख सहने से।
नारकी सम केवल कष्ट सहन मात्र से ही नहीं मिले स्वर्ग-मोक्ष।

बामी को पीटने से क्या लाभ ?

ण हु दंडइ कोहाइं देहं दंडेइ कहं खवइ कम्मं।
सप्पो किं मुवइ तहा वम्मिउ मारिउ लोए।। 70 रयण.

अन्वयार्थ :- (ण हु दंडेइ कोहाइं) क्योंकि क्रोधादि कषायों को दंड अर्थात् शमन नहीं किया (देहं दंडेइ) शरीर को ही तप के द्वारा दण्ड दिया (कहं खवइ कम्मं) किस प्रकार कर्मों का क्षय होगा ?(तहा) जिस प्रकार (वाम्मिउ मारिउ लोए) लोक में सर्प के बामी को मात्र कूटने से (सप्पो किं मारिउ) क्या सर्प मरेगा? नहीं।

पद्य - क्रोधादि को दंडित किये बिना देह दण्ड से न कर्म क्षय।
बामी को मारने मात्र से सर्प क्या मरेगा लोक में।।
समीक्षा- कर्म क्षय होता है समता शान्ति न आत्मविशुद्धि से।
इसके अतिरिक्त केवल देह दण्ड से न होता कर्मक्षय कभी।।
इससे शिक्षा मिले भाव विशुद्धि ही मोक्ष के कारण।
इस हेतु ही धर्म करणीय केवल देह दण्ड न करणीय।।
सन्दर्भ :

दंसणमूलो धम्मो, उपइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं।
तं सोऊण सकण्णे, दंसणहीणो ण वंदिव्वो।। 2

श्री जिनेंद भगवान् ने शिष्यों के लिए दर्शनमूल धर्म का उपदेश दिया है इसलिए इसे अपने कानो से सुनो। जो सम्यग्दर्शन रहित है वह वंदना करने योग्य नहीं है।।

दंसणभट्ठा भट्ठा, दंसणभट्ठस्य णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्ठा, दंसणभट्ठा ण सिज्झंति।। 3

जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं वे ही वास्तव में भ्रष्ट है, क्योंकि सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट मनुष्य को मोक्ष प्राप्त नहीं होता। जो सम्यक्चारित्र से भ्रष्ट हैं वे सिद्ध हो जाते

हैं परंतु जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है वे सिद्ध नहीं हो सकते।

सम्मत्तरयणभट्ठा, जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं।
आराहणाविरहिया, भमंति तत्थेव तत्थेव।। 4

जो सम्यक्त्वरूपी रत्न से भ्रष्ट हैं वे बहुत प्रकार के शास्त्रों को जानते हुए भी आराधनाओं से रहित होने के कारण उसी संसार में भ्रमण करते रहते हैं।।

सम्मत्तविरहियाणं, सुट्ठु वि उग्गं तवं चरंताणं।
ण लहंति बोहिलाहं, अवि वाससहस्सकोडीहिं।। 5

जो मनुष्य सम्यग्दर्शन रहित हैं वे भले ही करोड़ों वर्षों तक उत्तमतापूर्वक कठिन तपश्चरण करें तो भी उन्हें रत्नत्रय प्राप्त नहीं होता है।

सम्मत्तणाणदंसणबलवीरियवड्ढमाण जे सव्वे।
कलिकलुसपावरहिया, वरणाणी होंति अइरेण।। 6

जो पुरुष सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, बल और वीर्य से वृद्धि को प्राप्त हैं तथा कलिकाल संबंधी मलिन पाप से रहित हैं वे सब शीघ्र ही उत्कृष्ट ज्ञानी हो जाते हैं।

सम्मत्तसलिलपवहे, णिच्चं हियए पवट्टए जस्स।
कम्मं वालुयवरणं, बंधुच्चिय णासए तस्स।।7

जिस मनुष्य के हृदय में सम्यक्त्वरूपी जलका प्रवाह निरंतर प्रवाहित होता है उसका पूर्वबंध से संचित कर्मरूपी बालूका आवरण नष्ट हो जाता है।

जे दंसणेसु भट्ठा, णाणे भट्ठा चरित्तभट्ठा य।
ऐदे भट्ठविभट्ठा, सेसं पि जणं विणासंति।। 8

जो मनुष्य दर्शन से भ्रष्ट हैं, ज्ञान से भ्रष्ट हैं और चारित्र से भ्रष्ट हैं वे भ्रष्टों में भ्रष्ट हैं अत्यंत भ्रष्ट हैं तथा अन्य जनों को भी भ्रष्ट करते हैं।

जो कोवि धम्मसीलो, संजमतवणियमजोयगुणधारी।
तस्स य दोस कहंता, भग्गा भग्गत्तणं दिंति।। 9

जो कोई धर्मात्मा संयम, तप, नियम और योग आदि गुणों का धारक है उसके दोषों को कहते हुए क्षुद्र मनुष्य स्वयं भ्रष्ट है तथा दूसरों को भी भ्रष्टता प्रदान करते हैं।

जह मूलम्मि विणट्ठे, दुमस्स परिवार णत्थि परवड्ढी।
तह जिणदंसणभट्ठा, मूलविणट्ठा ण सिज्झंति।। 10

जैसे जड़के नष्ट हो जाने पर वृक्ष के परिवार की वृद्धि नहीं होती वैसे ही जो पुरुष जिनदर्शन से भ्रष्ट हैं वे मूल से विनष्ट हैं उनका मूल धर्म नष्ट हो चुका है, अतः ऐसे जीव सिद्ध अवस्था को प्राप्त नहीं हो पाते हैं।

जह मूलाओ खंधो, साहापरिवार बहुगुणो होई।
तह जिणदंसणमूलो, णिद्दिट्ठो मोक्खमग्गस्स।।11

जिस प्रकार वृक्ष की जड़ से शाखा आदि परिवार से युक्त कई गुणा स्कंध उत्पन्न होता है उसी प्रकार मोक्षमार्ग की जड़ जिनदर्शन-जिनधर्म का श्रद्धान है ऐसा कहा गया है।।

आत्मविशुद्धि बिन बाह्य तप त्याग संयम से मोक्ष नहीं

आचार्य कनकनन्दी

(चाल : आत्मशक्ति से...)

केवल बाह्य तप त्याग संयम से नहीं होता आत्मकल्याण।
जब तक न होती आत्मविशुद्धि आत्म श्रद्धान युक्त आत्म ज्ञान।।1
राग द्वेष मोह क्रोध व ईर्ष्या तृष्णा घृणादि रहित भाव।
होती है आत्म विशुद्धि ख्याति पूजा लाभ वर्चस्व रहित भाव।। 2

आत्मश्रद्धान होता जब होता है श्रद्धान स्व शुद्धात्मा (का)
मैं हूँ निश्चय से शुद्ध-बुद्ध आनन्द स्वरूप परमात्मा।।3

किन्तु अनादि कर्म के कारण बना हूँ अशुद्ध संसारी आत्मा।
अभी मैं स्व-आत्म साधना से लक्ष्य बनाया हूँ बनना परमात्मा।। 4

इस हेतु होता है देवशास्त्र गुरु व द्रव्य-तत्त्व का भी सही श्रद्धान।
तदनुकूल होता है सम्यग्ज्ञान, निश्चय-व्यवहार नय प्रमाण।।5

दोनों से सहित होता है श्रावक या श्रमण धर्म पालन।
शक्ति हो तो श्रमण धर्म अन्यथा पालन होता श्रावक धर्म।।6

आत्म श्रद्धान ज्ञान चारित्र बिना बाह्य तप त्याग संयम से न होता मोक्ष।
यथा बीज के बिन केवल मृदाजल वायु सूर्य किरण से न होता वृक्ष। 7

आत्मविशुद्धि से ही होते हैं कर्म संवर-निर्जरा व मोक्ष।
अतएव आत्म विशुद्धि ही मोक्ष प्राप्ति हेतु प्रमुख कारण।।8

आत्म विशुद्धि बिन होता है 'बाह्यतप' या मिथ्या साधना।
यह है सर्वज्ञ द्वारा कथित सत्य 'कनक' करे आत्म साधना।।9

स्व-आत्मश्रद्धान ज्ञानाचरण करूँ अन्यथा संयम-तप-श्रुत युक्त भी व्यर्थ

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : मन रे! तू काहे ...सोयानारा ...)

आत्मन्! तू स्व-श्रद्धान/(ज्ञान) कर ऽऽऽ
स्व श्रद्धान व ज्ञानानुसार...चारित्र भी पालन कर ऽऽऽ (ध्रुव)
इस हेतु कर श्रद्धान ज्ञान...देव शास्त्र-गुरु का भी ऽऽऽ
द्रव्य-तत्त्व पदार्थ सहित...निश्चय व्यवहारनय से भी ऽऽऽ
स्व-आत्म कल्याण प्रधान ही ऽऽऽ आत्मन्। (1)

यथा बीज बिना न सम्भव है...अंकुर से वृक्ष-फूल-फल ऽऽऽ
अणु बिना यथा न सम्भव है...स्कन्ध से ले ग्रह-नक्षत्र ऽऽऽ
जल-वायु-मृदा से ले शरीर ऽऽऽ आत्मन् (2)

तथाहि तुझे स्व-आत्म श्रद्धान बिन-न होगा स्व-आत्म ज्ञान ऽऽऽ
दोनों के बिना न होगा आत्मानुचरण...जिससे न होगा आत्मानुभव ऽऽऽ
इसके बिन न मिलेगा परिनिर्वाण ऽऽऽ आत्मन् (3)

आत्म श्रद्धान बिन न होगा श्रद्धान...देव शास्त्र-गुरु का भी यथार्थ ऽऽऽ
यथा भव्यसेन मुनि या अभव्य जीव...न कर पाते आत्मश्रद्धान ऽऽऽ
जिससे उन्हें न मिलेगा कभी निर्वाण ऽऽऽ आत्मन्।। (4)

इस हेतु त्यागो राग-द्वेष-मोह...ईर्ष्या-तृष्णा-काम-मद ऽऽऽ
समता-शुचिता-सहिष्णुता भज-निस्पृह-निराडम्बर-विराग ऽऽऽ
आत्मानुभव-आत्मानुचिन्तन कर ऽऽऽ आत्मन्। (5)

आत्मश्रद्धान बिन तप-त्याग भी...न बनते निर्वाण कारण ऽऽऽ
मिथ्यादृष्टि नारकी सहन करते...भूख-प्यास-सर्दी-गर्मी-रोग ऽऽऽ
तथापि उन्हें न मिलता निर्वाण ऽऽऽ । (6)

तथाहि-पशु-पक्षी-कीट-पतंग...वृक्ष-लतादि सहते नाना कष्ट ऽऽऽ
गुलाम-दोषी-बन्दी अभाव जीव...सहन करते हैं विविध दुःख ऽऽऽ
आत्मश्रद्धान बिन बन्धे पाप कर्म ऽऽऽ आत्मन्।। (7)

आत्मश्रद्धान बिन करोड़ों भव में भी...मुनि बनने से भी न मिले मोक्ष।
करोड़ों भवों में अज्ञानी जो कर्म-नाशे...ज्ञानी मुनि क्षणमात्र में करे विनाशऽऽऽ
आत्मज्ञान-ध्यान में हो लवलीन ऽऽऽ आत्मन्।। (8)

शक्ति अनुसार बाह्य तप-त्याग कर...ख्याति-पूजा-लाभ-वर्चस्व मुक्त ऽऽऽ
आरम्भ-परिग्रह याचना रहित...भौतिक निर्माण-रक्षण रहित ऽऽऽ
पर निंदा पर प्रपंचों से रहित ऽऽऽ आत्मन्।। (9)

आत्मविशुद्धि हेतु चक्रवर्ती भी...साधु बनकर करते आत्मध्यान ऽऽऽ
ऋद्धिधारी व तीर्थंकर मुनि भी...आत्मसाधना हेतु न करते बाह्य काम।
यथा शक्ति आत्मा का कर अनुकरण ऽऽऽ आत्मन्।। (10)

अन्यथा तेरे सभी तप-त्याग-ज्ञान...होंगे केवल बाह्य आडम्बर ऽऽऽ
इससे होगा आत्मपतन व धर्म विराधना...व्यापार व राजनीति सम कामऽऽऽ
'कनक' करो तू आत्मसाधना ऽऽऽ
(न करो आत्मा/(धर्म) की विराधना ऽऽऽ आत्मन्।। (11)

सन्दर्भ :

भावार्थ - यद्यपि बाहुबली स्वामी शरीरादि से विरक्त होकर आतापन योग से विराजमान थे परन्तु मैं भरत की भूमि में खड़ा हूँ, इस प्रकार सूक्ष्म मान विद्यमान रहने से केवलज्ञान प्राप्त नहीं कर सके थे। जब उनके हृदय से उक्त प्रकार का मान दूर हो गया था तभी उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ था। इससे यह सिद्ध होता है कि अंतरंग की उज्ज्वलता के बिना केवल बाह्य त्याग से कुछ नहीं होता।।

महुपिंगो णाय मुणी देहाहारदिचत्तवावारो।
सवणत्तणं ण पत्तो, णियाणमित्तेण भवियणुव।। 45 (अष्टपाहुड़)

हे भव्य जीवों के द्वारा नमस्कृत मुनि! शरीर तथा आहार का त्याग करने वाले मधुपिंग नामक मुनि निदानमात्र से श्रमणपने को प्राप्त नहीं हुए थे।

अण्णं च वसिट्ठमुणी, पत्तो दुक्खं णियाणदोसेण।
सो णत्थि वासठाणो, जत्थ ण ढुरुढुल्लिओ जीवो।। 46

और भी एक वशिष्ठ मुनि निदानमात्र से दुःख को प्राप्त हुए थे। लोक में वह निवासस्थान नहीं है जहाँ इस जीव ने भ्रमण न किया हो।

सो णत्थि तं पएसो, चउरासीलक्खजोणिवासम्मि।
भावविरओ वि सवणो, जत्थ ण ढुरुढुल्लिओ जीवो।। 47

हे जीव! चौरासी लाख योनि के निवास में वह एक भी प्रदेश नहीं है जहाँ अन्य की बात जाने दो, भावरहित साधु ने भ्रमण न किया हो।

भावेण होइ लिंगी, ण हु लिंगी होइ दव्वमित्तेण।
तम्हा कुणिज्ज भावं, किं कीरइ दव्वलिंगेण।। 48

मुनि भाव से ही जिनलिंगी होता है, द्रव्यमात्र से जिनलिंगी नहीं होता। इसलिए भावलिंग ही धारण करो, द्रव्यलिंग से क्या काम सिद्ध होता है ?

दंडअणयरं सयलं, डहिओ अब्भंतरेण दोसेण।
जिणलिंगेण वि बाहू, पडिओ सा रउरवे णरये।। 49

बाहु मुनि जिनलिंग से सहित होने पर भी अंतरंग के दोष से दंडक नामक समस्त नगर को जलाकर रौरव नामक नरक में उत्पन्न हुआ था।।

अवरो वि दव्वसवणो, दंसणवरणाणचरणपब्भट्ठो।
दीवायणुत्ति णामो, अणंतसंसारिओ जाओ।।50

और भी एक द्वैपायन नामक द्रव्यलिंगी श्रमण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र से भ्रष्ट होकर अनंतसंसारी हुआ।

भावसमणो य धीरो, जुवईजणवेड्डिओ विसुद्धमई।
णामेण सिवकुमारो, परीत्तसंसारिओ जादो।। 51

भावलिंग का धारक धीर वीर शिवकुमार नाम का मुनि युवतिजनों से परिवृत होकर भी विशुद्धहृदय बना रहा और इसीलिए संसार समुद्र से पार हुआ।

अंगाइं दस य दुण्णि य, चउदसपुव्वाइं सयलसुयणाणं।
पढिओ अ भव्वसेणो, ण भावसवणत्तणं पत्तो।। 52

भव्यसेन नामक मुनि ने बारह अंग और चौदह पूर्वरूप समस्त श्रुतज्ञान को पढ़ लिया तो भी वह भावश्रमणपने को प्राप्त नहीं हुआ।

तुसमासं घोसंतो, भावविसुद्धो महाणुभावो य।
णामेण य सिवभूई, केवलणाणी फुडं जाओ।। 53

यह बात सर्वप्रसिद्ध है कि विशुद्ध भावों के धारक और अत्यन्त प्रभाव से युक्त शिवभूति मुनि 'तुषमाष' पद को घोकते हुए याद करते हुए केवलज्ञानी हो गये।

भावेण होइ णग्गो, बाहिरलिंगेण किं च णग्गेण।
कम्मपयडीयणियरं, णासइ भावेण दव्वेण।। 54

भाव से ही निर्ग्रंथ रूप सार्थक होता है, केवल बाह्यलिंगरूप नग्न मुद्रा से क्या प्रयोजन है ? कर्म प्रकृतियों का समुदाय भावसहित द्रव्य से ही नष्ट होता है।

णग्गत्तणं अकज्जं, भावणरहिय जीणेहि पण्णत्तं।
इय णाऊण य णिच्चं, भाविज्जहि अप्पयं धीर।। 55

जिनेन्द्र भगवान् ने भावरहित नग्नता को व्यर्थ कहा है ऐसा जानकर हे धीर! सदा आत्मा की भावना कर।

देहादिसंगरहिओ, माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो।
अप्पा अप्पम्मि रओ, स भावलिंगी हवे साहू।। 56

जो शरीरादि परिग्रह से रहित है, मान कषाय से सब प्रकार मुक्त है और जिसका आत्मा आत्मा में रत रहता है वह साधु भावलिंगी है।

ममत्तिं परिवज्जामि, निम्ममत्तिमुवट्ठिदो।
आलंबणं च मे आदा, अवसेसाइं वोसरे।। 57

भावलिंगी मुनि विचार करता है कि मैं निर्ममत्व भाव को प्राप्त होकर ममता बुद्धि को छोड़ता हूँ और आत्मा ही मेरा आलंबन है, इसलिए अन्य समस्त पदार्थों को छोड़ता हूँ।

आदा खु मज्झ णाणे, आदा में संवरे जोगे।
आदा पच्चक्खाणे, आदा में संवरे जोगे।। 58

निश्चय से मेरे ज्ञान में आत्मा है, दर्शन और चारित्र है, प्रत्याख्यान में आत्मा

है, संवर और योग में आत्मा है।

एगो में सम्मदो अप्पा, णाणदंसणलक्खणो।
सेसा में बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा।। 59

नित्य तथा ज्ञान दर्शन लक्षणवाला एक आत्मा ही मेरा है, उसके सिवाय परद्रव्य के संयोग से होने वाले समस्त भाव बाह्य हैं...मुझसे पृथक् हैं।

भावेह भावसुद्धं, अप्पा सुविसुद्धणिम्मलं चेव।
लहु चउगइ चइऊणं, जइ इच्छसि सासयं सुक्खं।। 60

हे भव्य जीवो! यदि तुम शीघ्र ही चतुर्गति को छोड़कर अविनाशी सुख की इच्छा करते हो तो शुद्ध भावों के द्वारा अत्यन्त पवित्र और निर्मल आत्मा की भावना करो।

जो जीवो भावंतो, जीवसहावं सुझावसंजुत्तो।
जो जरमरणविणासं, कुडइ फुडं लहइ णिव्वाणं।। 61

जो जीव अच्छे भावों से सहित होकर आत्मा के स्वभावका चिंतन करता है वह जरामरण का विनाश करता है और निश्चय ही निर्वाण को प्राप्त करता है।

जीवो जिणपण्णत्तो, णाणसहाओ य चेयणासहिओ।
सो जीवो णायव्वो, कम्मक्खयकारणणिमित्तो।। 62

जीव ज्ञान स्वभाव वाला तथा चेतनासहित है ऐसा जिनेंद्र भगवान् ने कहा है। वह जीव ही कर्मक्षय का कारण जानना चाहिए।

जेसिं जीवसहावो, णत्थि अभावो य सव्वहा तत्थ।
ते होंदि भिण्णदेहा, सिद्धा वचिगोयरमतीदा।। 63

जिसके मन में जीव का सद्भाव है उसका सर्वथा अभाव नहीं है। वे शरीर से भिन्न तथा वचन के विजय से परे होते है।

अरसमरूवमगंधं, अव्वत्तं चेयणागुणसद्दं।
जाणमलिंगग्गहणं, जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।। 64

जो रसरहित है, रूपरहित है, गंधरहित है, अव्यक्त है, चेतना गुण से युक्त है, शब्दरहित है, इंद्रियों के द्वारा अग्राह्य है और आकाररहित है उसे जीव जान।

भावहि पंचपयारं, णाणं अण्णाणणासणं सिग्घं।
भावणभावियसहिओ, दिवसिवसहुभायणो होइ।। 65

हे जीव! तू अज्ञान का नाश करने वाले पाँच प्रकार के ज्ञान की शीघ्र ही भावना कर। क्योंकि ज्ञानभावना से सहित जीव स्वर्ग और मोक्ष के सुख का पात्र होता है।

पढिएणवि किं कीरइ, किंवा सुणिएण भावरहिएण।
भावो कारणभूदो, सायारणयारभूदाणं।। 66

भावरहित पढ़ने अथवा भावरहित सुनने से क्या होता है ? यथार्थ में भाव ही गृहस्थपने और मुनिपने का कारण है।

दव्वेण सयलणग्गा, सारयतिरिया य सयलसधाया।
परिणामेण असुद्धा, ण भावसवणत्तणं पत्ता।। 67

द्रव्य सभी रूप से नग्न रहते हैं। नारकी और तिर्यंचों का समुदाय भी नग्न रहता है, परंतु परिणामों से अशुद्ध रहने के कारण भाव मुनिपने को प्राप्त नहीं होते।

णग्गो पावइ दुक्खं, णग्गो संसारसायरे भमई।
णग्गो ण लहइ बोहिं, जिणभावणवज्जियं सुइरं।। 68

जो नग्न जिनभावना की भावना से रहित है वह दीर्घकाल तक दुःख पाता है, संसार सागर में भ्रमण करता है और रत्नत्रय को नहीं प्राप्त करता है।

अयसाण भायणेण य, किंते णग्गेण पावमलिंगेण।
पेसुण्णहासमच्छरमायाबहुलेण सवणेण।।69।।

हे जीव! तुझे उस नग्न मुनिपने से क्या प्रयोजन ? जो कि अपयशका पात्र है, पाप से मलिन है, पैशुन्य, हास्य, मात्सर्य और माया से परिपूर्ण है।

पयडहिं जिणरलिंगं, अब्भिंतरभावदोसपरिसुद्धो।
भावमलेण य जीवो बाहिरसंगम्मि मयलियई।। 70

हे जीव! तू अंतरंग भाव के दोषों से शुद्ध होकर जिनमुद्रा को प्रकट कर धारण कर। क्योंकि भावदोष से दूषित जीव बाह्य परिग्रह के संग में अपने आपको मलिन कर लेता है।

धम्ममि णिप्पवासो, दोसावासो य इच्छुफुल्लसमो।
णिप्फलणिग्गुणयारो, णउसवणो णग्गरूवेण।। 71

जो धर्म से प्रवास करता है धर्म से दूर रहता है, जिसमें दोषों का आवास रहता है और जो ईख के फूल के समान निष्फल तथा निर्गुण रहता है वह नग्न

रूप में रहने वाल नट श्रमण है साधु नहीं नट है।

जे रायसंगजुत्ता, जिणभावणरहियदव्वणिग्गंथा।
ण लहंति ते समाहिं, बोहिं जिणसासणे विमले।। 72

जो मुनि रागरूप परिग्रह से युक्त हैं और जिनभावना से रहित केवल बाह्य रूप में निर्ग्रंथ हैं नग्न हैं वे पवित्र जिनशासन में समाधि और बोधि रत्नत्रय को नहीं पाते हैं।

भावेण होइ णग्गो, मिच्छताईं य दोस चउऊणं।
पच्छा दव्वेण मुणी, पयडदि लिंगं जिणाणए।। 73

मुनि पहले मिथ्यात्व आदि दोषों को छोड़कर भाव से अंतरंग से नग्न होता है और पीछे जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा से बाह्यलिंग-बाह्य वेष को प्रकट करता है।

भावो हि दिव्वसिवसुक्खभायणो भाववज्जिओ सवणो।
कम्ममलमलिणचित्तो, तिरियालयभायणो पावो।। 74

भाव ही इस जीव को स्वर्ग और मोक्ष के पात्र बनाता है। जो मुनि भाव से रहित है वह कर्मरूपी मैल से मलिन चित्त तथा तिर्यंच गति का पात्र तथा पापी है।

खयरामरमणुयकरंजलिमालाहिं च संथुया विउला।
चक्कहररायलच्छी, लब्भइ बोही सुभावेण।। 75

उत्तम भाव के द्वारा विद्याधर, देव और मनुष्यों के हाथों के अंजुलि से स्तुत बहुत बड़ी चक्रवर्ती राजा की लक्ष्मी और रत्नत्रय संपत्ति प्राप्त होती है।

भावं तिविहपयार, सुहासुहं सुद्धमेव णायव्वं।
असुहं च अट्टरुद्दं, सुहधम्मं जिणवरिंदेहिं।। 76

भाव तीन प्रकार के जानना चाहिए- शुभ,अशुभ और शुद्ध। इनमें आर्त और रौद्र को अशुभ तथा धर्मध्यान को शुभ जानना चाहिए। ऐसा जिनेंद्र देव ने कहा है।

सुद्धं, सुद्धसहावं, अप्पा अप्पम्मि तं च णायव्वं।
इदि जिणवरेहिं भणियं, जं सेयं तं समायरह।।77

शुद्ध स्वभाव वाला आत्मा शुद्ध भाव है, वह आत्मा में ही लीन रहता है ऐसा जिन भगवान् ने कहा है। इन तीना भावों में जो श्रेष्ठ हो उसका आचरण कर।

पयलियमाणकसाओ, पयलियमिच्छत्तमोहसमचित्तो।
पावइ तिहुयणसारं, बोही जिणसासणे जीवो।। 78

जिसका मानकषाय पूर्ण रूप से नष्ट हो गया है तथा मिथ्यात्व और चारित्र मोह के नष्ट होने से जिनका चित्त इष्ट अनिष्ट विषयों में समरूप रहता है ऐसा जीव जिनशासन में त्रिलोक श्रेष्ठ रत्नत्रय को प्राप्त करता है।

विसयविरत्तो सवणो, छद्दसवरकारणाइं भाऊण
तित्थयरणामकम्मं, बंधइ, अइरेण कालेण।। 79

विषयों से विरक्त रहने वाला साधु सोलहकारण भावनाओं का चिंतवन कर थोड़े ही समय में तीर्थंकर प्रकृति बंध करता है।

पूयादिसु वयसहियं, पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं।
मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो धम्मो।। 83

पूजा आदि शुभ क्रियाओं में व्रत सहित जो प्रवृत्ति है तथा मोह और क्षोभ से रहित आत्मा का जो भाव है वह धर्म है ऐसा जिनशासन में जिनेंद्र भगवान् ने कहा है।

सद्दहदि य पत्तेदि य, रोचेदि य तह पुणो वि फासेदि।
पुण्णं भोयणिमित्तं ण हु सो कम्मक्खयणिमित्तं।। 84

जो मुनि पुण्य का श्रद्धान करता है, प्रतीति करता है, उसे अच्छा समझता है और बार-बार उसे धारण करता है उसका यह सब कार्य भोग का ही कारण है, कर्मों के क्षय का कारण नहीं है।

अप्पा अप्पम्मि रओ, रायादिसु सयलदोसपरिचत्तो।
संसारतरणहेदु, धम्मोत्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं।। 85

रागादि समस्त दोषों से रहित होकर जो आत्मा आत्मस्वरूप में लीन होता है वह संसार समुद्र से पार होने का कारण धर्म है ऐसा श्री जिनेंद्र देव ने कहा है।

अह पुण अप्पा णिच्छदि, पुण्णाइं करेदि णिरवसेसाइं।
तह वि ण पावदि सिद्धिं, संसारत्थो पुणो भणिदो।। 86

जो मनुष्य आत्मा की इच्छा नहीं करता-आत्मस्वरूप की प्रतीति नहीं करता वह भले ही समस्त पुण्यक्रियाओं को करता है तो भी सिद्धि को प्राप्त नहीं होता है। वह संसारी ही कहा गया है।

एएण कारणेण य, तं अप्पा सद्दहेहि तिविहेण।
जेण य लभेइ मोक्खं, तं जाणिज्जह पयत्तेण।। 87

इस कारण तुम मन वचन काय से उस आत्मा का श्रद्धान करो और यत्नपूर्वक उसे जानो जिससे कि मोक्ष प्राप्त कर सको।

मच्छो वि सालिसिक्थो, असुद्धभावो गओ महाणरयं।
इय णाउं अप्पाणं, भावह जिणभावणं णिच्चं।। 88

अशुद्ध भावों का धारक शालिसिक्थ नाम का मच्छ सातवें नरक गया ऐसा जानकर हे मुनि! तू निरंतर आत्मा में जिनदेव की भावना कर।

बाहिरसंगच्चाओ, गिरिसरिदरिकंदराइं आवासो।
सयलो णाणज्झयणो, णिरत्थओ भावरहियाणं।। 89

भावरहित मुनियों का बाह्य परिग्रह का त्याग, पर्वत, नदी, गुफा, खोह आदि में निवास और ज्ञान के लिए शास्त्रों का अध्ययन यह सब व्यर्थ है।

भंजसु इंदियसेणं, भंजसु मणोमक्कडं पयत्तेण।
सा जणरंजणकरणं बाहिरवयवेस तं कुणसु।। 90

तू इंद्रियरूपी सेना को भंग कर और मनरूपी बंदर को प्रयत्नपूर्वक वश कर। हे बाह्यव्रत के वेष को धारण करनेवाले! तू लोगों को प्रसन्न करने वाले कार्य मत कर।

सव्वविरओ वि भावहि, णव य पयत्थाईं सत्त तच्चाइं
जीवसमासाइं मुणी, चउदसगुणठाणणामाइं।। 97

हे मुनि! यद्यपि तू सर्वविरत है तो भी नौ पदार्थ, सात तत्त्व चौदह जीवसमास और चौदह गुणस्थानों का चिंतन कर।

विणयं पंचपयारं, पालहि मणवयणकायजोएण।
अविणयणरा सुविहियं, तत्तो मुत्तिं ण पावंति।। 104

हे मुनि! तू मन, वचन, कायरूप योग से पाँच प्रकार के विनय का पालन कर क्योंकि अविनयी मनुष्य तीर्थंकर पद तथा मुक्ति को नहीं पाते हैं।

जं किंचि कयं दोसं, मणवयकाएहिं असुहभावेण।
तं गरहि गुरुसयासे, गारव मायं च मोत्तूण।। 106

हे मुनि! शुभ अशुभ भाव से मन, वचन, काय के द्वारा जो कुछ भी दोष तूने किया हो, गर्व और माया छोड़कर गुरु के समीप उसकी निंदा कर।

दुज्जणवयणचउक्कं णिट्ठुरकडुयं सहंति सप्पुरिसा।

कम्ममलणासणट्ठं, भावेण य णिम्मया सवणा।। 107

सज्जन तथा ममता से रहित मुनीश्वर कर्मरूपी मल का नाश करने के लिए अत्यंत कठोर और कटुक दुर्जन मनुष्यों के वचन रूपी चपेटा को अच्छे भावों से सहन करते हैं।

पावं खवइ असेसं, खमाय परिमंडिओ य मुणिपवरो।
खेयरअमरणराणं, पंससणीओ धुवं होई ।। 108

क्षमा गुण से सुशोभित श्रेष्ठ मुनि समस्त पापों को नष्ट करता है तथा विद्याधर, देव और मनुष्यों के द्वारा निरंतर प्रशंसनीय रहता है।

इय णाऊण खमागुण, खमेहि तिविहेण सयलजीवाणं।
चिरसंचियकोहसिहिं, वरखमसलिलेण सिंचेह।। 109

हे क्षमागुण के धारक मुनि! ऐसा जानकर मन वचन काय से समस्त जीवों को क्षमा कर और चिरकाल से संचित क्रोधरूपी अग्नि को उत्कृष्ट क्षमा रूपी जल से सींच।

श्रमणाभास का स्वरूप

ण हवदि समणो त्ति मदो संजमतवसुत्तसंपजुत्तोवि।
जदि सद्दहदि ण अत्थे आदापधाणे जिणक्खादे।। (264) प्र.सा.

It is Opined that one does not become a Sharmana, though endouled with moral discipline, austerities and sciptural study, if he has no faith in the realities, the foremost of which is the soul, as preached by jinas.

आगे श्रमणाभास कैसा होता है इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य कहते हैं :

(संजमतवसुत्तसंप्पजुत्तोवि) संयम, तप तथा शास्त्रज्ञान सहित होने पर भी (जदि) जो कोई (जिणक्खादे) जिनेन्द्र द्वारा कहे गये। (आदपधाणे अत्थे) आत्मा को मुख्य करके पदार्थों को (ण सद्दहदि) नहीं श्रद्धान करता है (समणोत्तिणहवदि मदो) वह साधु नहीं हो सकता है, ऐसा माना गया है। यदि साधु, संयम भी पालता हो, तप भी करता हो, शास्त्रज्ञान सहित भी हो परन्तु तीन मूढ़ता आदि सम्यक्त्व के पच्चीस दोषों से रहित होकर वीतराग सर्वज्ञ द्वारा प्रकाशित तथा दिव्य ध्वनि अनुसार गणधर द्वारा ग्रंथों में गुम्फित निर्दोष परमात्मा आदि पदार्थ समूह का श्रद्धान नहीं करता, रुचि नहीं रखता, मान्यता नहीं देता, वह श्रमण नहीं है अर्थात् मिथ्यादृष्टि है।

समीक्षा : श्रमणभास का अर्थ है श्रमण + आभास = श्रमणाभास अर्थात् जो श्रमण के जैसे दिखायी देता है परन्तु यथार्थ से श्रमण नहीं है जैसे मृगमरीचिका दूर से जल जैसी दिखाई देती है परन्तु जल नहीं है जलाभास है। जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र से युक्त ऐसे छट्ठे गुणस्थानवर्ती से लेकर आगे के जीव श्रमण है। छट्ठे गुणस्थान से नीचे अर्थात् पंचम गुणस्थान से लेकर प्रथम गुणस्थान तक बाह्य वेष को धारण करने वाला जीव श्रमणाभास है परन्तु यहाँ पर आचार्य श्री ने जिस श्रमणाभास को कहा है वह प्रथम गुणस्थानवर्ती श्रमणाभास के लिये कहा और वही सबसे निकृष्ट श्रमणाभास है क्योंकि वहाँ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र तीनों का अभाव है ऐसे जीव भले बाह्य में निर्ग्रन्थ हो या संयम, तप से युक्त हो तथापि वह श्रमणाभास ही है।

कुन्दकुन्द देव ने समयसार में कहा भी है-

परमट्ठम्मि य अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारयदि।
तं सव्वं बालतवं बालवदं विंति सव्वण्हू।(159) समयसार

जो कोई ज्ञानस्वरूप आत्मा में स्थित नहीं हो रहा है और तप करता है तथा व्रतों को धारण करता है तो उसके व्रत और तप को सर्वज्ञ देव 'अज्ञानतप' और अज्ञान व्रत कहते हैं।

वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता।
परमट्ठबाहिरा जेण तेण होंति अण्णाणी।। (160)

यद्यपि जो व्रत और नियमों को धारण करते हैं, तथा तप भी करते हैं परन्तु परमात्म स्वरूप के ज्ञान से रहित है इसलिए वे सब अज्ञानी हैं।

वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता जिसमें तीन गुप्तियों का पालन हुआ करता है ऐसी परम-समाधि ही है लक्षण जिसका उस भेद ज्ञान से जो दूरवर्ती है, वे व्रत और नियमों को धारण करते हुए और तपश्चरण करते हुए भी मुक्ति को प्राप्त नहीं होते है। क्योंकि **परमट्ठ बाहिरा जेण तेण ते होंति अण्णाणी** पूर्वोक्त भेदज्ञान के न होने से वे परमार्थ से दूर रहने वाले होते है इसलिए अज्ञानी होते हैं। फलतः अज्ञानियों को मोक्ष कैसे हो सकता है ? हाँ, जो परमसमाधि स्वरूप भेदज्ञान से युक्त हैं, वे व्रत नियम और शीलों को बिना धारण किये भी बाह्य-द्रव्य रूप तपश्चरण को न करते हुए भी मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं

क्योंकि वे पूर्वोक्त भेदज्ञान रूप परमार्थ से युक्त होते हैं, इसलिए वे ही ज्ञानी भी होते हैं और जब ज्ञानी होते हैं तो ज्ञानियों को मोक्ष होना ही चाहिए।

संयमी कौन ?

उपसम तव भाव जुदो णाणी सो भाव संजुदो होइ।
णाणी कषायवसगो असंजदो होइ सो ताव।। 71 रयण.

अन्वयार्थ :- (उपसम तव भाव जुदो) उपशम तप भाव युक्त (सो) वह (णाणी) ज्ञानी (भाव संजुदो होइ) संयम भाव संयुक्त होता है (णाणी) ज्ञानी (कसाय वसगो) कषाय वश होकर रहता है (तावत्) तब तक (सो) वह (असंजदो) असंयमी (होइ) होता है।

पद्य - उपशम तप भाव युक्त ज्ञानी होता है भाव संयम युक्त।
ज्ञानी जो कषायवश होता है असंयम तब तक।।

समीक्षा- भाव संयमी मुनि वे होते जो उपशम तप भाव युक्त।
ज्ञानी भी जब होते असंयमी जब तक होते कषाय युक्त।।
इससे महान् शिक्षा मिलती भाव संयमी हेतु बनना उपशमी।
ज्ञान के साथ कषाय रहित होने से बनेंगे श्रेष्ठ संयमी।।

सन्दर्भ :

मोहात्मक प्रेम त्याग से व शुभ प्रेम से आध्यात्म प्रेम की प्राप्ति

(चाल : आत्मशक्ति..., तुम दिल की...)

भोगोपभोग व काम भोग में, आसक्त होना ही नहीं सच्चा-प्रेम।
हर जीव प्रति मैत्री भावना, होता है सच्चा-आदर्श-प्रेम।। (स्थायी)
भोगोपभोग व काम भोग में, आसक्त होना है मोह-कर्म।
इसी से तो अनेक अनर्थ होते, तथाहि बंधता है पाप कर्म।।
आसक्ति पूर्वक प्रेम के कारण, होते है फैशन-व्यसन।
इसी हेतु परिग्रह भी होता, होते है रोगी तन व मन।। (1)

इसी से परे निःस्वार्थ भाव से, होता है जो आदर्श-प्रेम।
वह ही विश्व मैत्री विश्व कल्याण की, भावना होता है शुभ प्रेम।।
दान-दया-सेवा व परोपकार, ये सब ही है आदर्श प्रेम/(शुभ प्रेम/धर्म प्रेम)।
तीर्थंकर नामकर्म का भी बंधन, होता ऐसा यह विश्व प्रेम।। (2)

आत्मविशुद्धि व आत्म कल्याण, आत्मसुधार ही है आध्यात्म-प्रेम।
इसी से ही आत्मविकास होता, जिससे मिलता है परिनिर्वाण।।
आदर्श-प्रेम से मोह-प्रेम त्यागो, पाओ है! आध्यात्मिक प्रेम।
इसी हेतु ही 'कनकनन्दी' त्याग किया है मोहात्मक प्रेम।। (3)

सन्दर्भ :

अशुभाच्छुभमायातः शुद्धः स्यादयमागमात्।
खेरप्राप्तसंध्यस्य तमसो न समुद्गमः।। (122) आत्मानु.

भव्य जीव आगम ज्ञान के प्रभाव से अशुभ स्वरूप असंयम अवस्था से शुभ रूप संयम अवस्था को प्राप्त हुआ समस्त कर्ममल से रहित होकर शुद्ध हो जाता है। ठीक है सूर्य जब तक संध्या (प्रभात काल) को नहीं प्राप्त होता है तब तक वह अंधकार को नाश नहीं करता है।

विधूततमसो रागस्तपः श्रुतनिबन्धनः।
सध्यारागः इवार्कस्य जन्तोरभ्युदयाय सः।। (123)

अज्ञान रूप अंधकार को नष्ट कर देने वाले प्राणी के जो तप और शास्त्र विषयक अनुराग होता है वह सूर्य की प्रभात की लालिमा के समान उसके अभ्युदय (अभिवृद्धि) के लिए होता है।

विहाय व्याप्तमालोक पुरस्कृस्य पुनस्तमः।
रविवद्रागमागच्छन्पातालतलमृच्छति।। (124)

जिस प्रकार सूर्य फैले हुए प्रकाश को छोड़कर और अंधकार को आगे करके जब राग (लालिमा) को प्राप्त होता है तब वह पाताल को जाता है/अस्त हो जाता है, उसी प्रकार जो प्राप्त वस्तु स्वरूप को प्रकाशित करने वाले ज्ञान रूप प्रकाश को छोड़कर अज्ञान को स्वीकार करता हुआ राग (विषयवांछा) को प्राप्त होता है वह पाताल तल को अर्थात् नरकादि दुर्गति को प्राप्त होता है।

भाव विशुद्धि ही परमोधर्म

(चाल : तुम दिल की धड़कन...)

भाव विशुद्धि है (ही) परम धरम, भाव विशुद्धि हेतु (ही) धरम पालन।
भाव विशुद्धि बिन धार्मिक कर्म, बीज बिना खेती समान कर्म।। (धृ.)
वस्तु स्वभावमय होता धरम, वस्तु विभावमय होता अधर्म।
शुद्ध-बुद्धमय ज्ञान-आनन्द, समता-शांति ही जीव का धर्म।।
आनंदमय होता जीव स्वभावतः अतएव हर जीव चाहे आनंद।
स्वभाव होने से जीव का धर्म आनंद, शुद्ध बुद्धमय व ज्ञानानंद।। (1)

यह अवस्था ही है मोक्ष-अवस्था, जीव की परम उच्च शुद्ध अवस्था।
जन्म-जरा-मृत्यु रिक्त अवस्था, सच्चिदानंदमय ध्रुव-अवस्था।।
इसे प्राप्ति हेतु जो होते कर्म, उसे भी कहते (है) व्यवहार धर्म।
दान दया सेवा व परोपकार, सादा जीवन व उच्च विचार।। (2)

पूजा-प्रार्थना व तीर्थ वंदना, तप-त्याग तथा मौन साधना।
ध्यान-अध्ययन व संयम शौच, यह सब भी (है) धर्म की साधना।।
अज्ञानी मोही जीव यह नहीं जानते, संकीर्ण कट्टरता से धर्म करते।। (3)

जिससे धर्म में/(से) होते अनेक कुकर्म, भेदभाव पूर्ण अयोग्य कर्म।
भाव विशुद्धि से यह न संभव, 'कनक' चाहे आत्म विशुद्धि धर्म।। (4)

अल्प पाप बंध कारक शुभकाम भी करणीय

(शुभ बिना अशुभ(पाप) ही संभव न कि शुद्ध (मोक्ष) संभव)

(तर्ज : एकान्त मौन में मैं...)

पावन भाव से जो धर्म करता, ख्याति पूजा लाभ परे कार्य करता।
सिंधु के समान वह पुण्य बांधता, बिन्दु के समान वह पाप बांधता।। (धृ.)
सेवा दान व जो परोपकार करता, आहार औषधि से जो वैयावृत्ति करता।
मंदिर मूर्ति का (जो) पंचकल्याण करता, पाप से अधिक वह पुण्य बांधता।।
पाप निर्जरा भी उसकी अधिक होती, आत्मविशुद्धि भी अधिक होती।
आत्मिक उन्नति भी इसी से होती, परंपरा से उसे मुक्ति मिलती।। (1)

असि मसि कृषि वाणिज्य, सेवा से, पुण्य बंध न होता शिल्प काम से।
ये सब होते है आरंभ(के) काम, जीविका निर्वाह हेतु भौतिक/(सांसारिक) काम।।
पाप बंध इसी से होता प्रचुर, द्रव्य भाव हिंसा होती प्रचुर।
अविपाक निर्जरा न होती इसी से, मोक्ष उपलब्धि न होती इसी से।। (2)

भोगोपभोग व फैशन-व्यसनों से हिंसा झूठ चोरी कुशील संग्रह से।
ईर्ष्या द्वेष घृणा व तृष्णा मोह से, पाप ही बंध होता सांसारिक काम से।।
मोक्ष हेतु शुभकाम सदा करणीय/(विधेय),अन्यथा अशुभ काम होगा निश्चय।
अशुभ कार्य से जो पाप संचय होता, शुभकार्य से उसे क्षय विधेय।। (3)

शुभ से ही शुद्ध होता है परन्तु, अशुभ से शुद्ध न होता प्राप्त।
शुभ बिना अशुभ होगा अवश्य, अशुभ से पाप होगा अवश्य।।
सुलभ होते है अशुभ के काम, सुलभ न होते है शुभ के काम।
अशुभ से परे शुद्ध ही ग्राह्य, 'कनकनन्दी' को अध्यात्म प्रिय।। (4)

रागी द्वेषी मोही के भाव व्यवहार तथा इनसे विपरीत आध्यात्मिक जन

(चाल : छोटी-छोटी गैया..., तुम दिल की धड़कन...)

रागी द्वेषी मोही कामी क्रोधी, नहीं जानते हैं सत्यासत्य।
ईर्ष्या तृष्णा व घृणा सहित, करते भाव व्यवहार अयुक्त।।
यथाहि मद्यपि नशा सहित, नहीं जानता है हित-अहित।
भाव व्यवहार करता अहितकर, तथाहि रागी द्वेषी के भाव व्यवहार।।(1)

मद्य से भी अधिक होता नशा, राग द्वेष मोह काम क्रोध में।
कुछ समय (तक) मद्य का नशा रहता, राग द्वेषादि का तो भव-भव में।।
रागी द्वेषी मोही न स्वयं को जाने, तथाहि न जानता हैं पर स्वरूप।
स्वयं को जानता है शरीरमय, राग-द्वेष मोहादि को स्व-स्वभाव।। (2)

शरीर संबधिओं को माने स्व-कुटुम्ब, सत्ता-संपत्ति को माने स्व-वैभव।
जन्म जरा मरण को (माने) स्व-अवस्था, सांसारिक सुख-दुख को आत्मदशा।।

इन्द्रिय विषयों को ही मानता सत्य, इन्द्रिय सुख को ही मानता सुख।
तन-मन-इन्द्रियमय (ही) माने स्वयं को,सच्चिदानंदमय न माने स्वयं को।।(3)

उक्त विषयों में ही रूचि रखता, उसके लिए ही वह ज्ञान करता।
उसका संवर्द्धन संरक्षण करता, अहंकार व प्रशंसा भी करता।।
आध्यात्मिक जन इससे भिन्न होता, स्वयं को सच्चिदानन्द मानता।
स्वरूप का श्रद्धान व ज्ञान करता,स्व-स्वरूप प्राप्ति हेतु यत्न करता।। (4)

स्व-स्वरूप चिंतन व ध्यान करता, स्व-स्वरूप की चर्चा प्रशंसा करता।
तप त्याग द्वारा मोक्ष प्राप्त करता 'कनक' को स्वरूप ही श्रेय लगता।।
दोनों के भाव व्यवहार भिन्न होते, परस्पर विरोधी भाव-व्यवहार होते।
मोही आध्यात्मिकजन को दोषी मानता,आध्यात्मिकजन साम्यभाव रखता।।

अज्ञानी-मोही के विपरीत भाव व व्यवहार

(चाल : भातुकली..., छोटी-छोटी गैया...)

राग-द्वेष-मोह-काम-क्रोध से, ईर्ष्या-तृष्णा-घृणा व अहंकार से।
जीव न जानते सत्य-तथ्य, हिताहित विवेक से होते रिक्त।।
सत्य को असत्य माने जाने जीव, हित को अहित माने वे जीव।
मद्यपि से भी होते अधिक मोहित, अंधे से भी अधिक विवेक सहित।।
सत्ता-संपत्ति को अपना मानते, भोगोपभोगों में होते आसक्त।
फैशन-व्यसनों में होते मस्त, पर अहित में लगाते चित्त।।
गुण व गुणी की न प्रशंसा करते, अन्य की प्रशंसा से घृणा करते।
अन्य की निन्दा से प्रसन्न वे होते, अन्य के दुःख से खुश वे होते।।
अन्य की प्रगति से जलते रहते, अन्य को छोटा कर बड़ा बनते।
अन्य की निन्दा से महान् बनते, अन्य के नाश से स्व-विकास मानते।।
विघ्नसंतोषी व छिद्रान्वेषी होते, परसुखकातर व कृतघ्नी होते।
स्व-दोष व कमी को नहीं जानते/(मानते), स्व-दोष कमी को सही मानते।।
संकीर्ण कट्टर जो धार्मिक होते, धन-जन-मान से संयुक्त होते।
ख्याति-पूजा-लाभ में (जो) आसक्त होते, बुद्धिजीवी में उक्त कुगुण होते।।
सरल-सहज भोला-भाला जो होते, श्रद्धा-प्रज्ञा से जो संयुक्त होते।

स्व-परहितकारी (जो) गुणज्ञ होते, उक्त कुगुण से वे बचते रहते।।
स्व-पर सुख हेतु सुगुण ग्राह्य, स्व-पर दुःख हेतु कुगुण त्याज्य।
सुगुणों से ही मिलता है मोक्ष 'कनक' अतएव सुगुणों में आसक्त।।

अभव्य-पापी जीवों को आत्मज्ञान नहीं मिलता

(चाल : छिप गया कोई रे...)

आत्मज्ञान महान् है अभव्य न पाते/(करते),मोक्ष पाने वाले ही आत्मज्ञानकरते।
सत्ता-संपत्ति/(डिग्री) हेतु तो मोही ज्ञान करते, आत्म विकास हेतु ज्ञान न करते।। (स्थायी)
आत्मज्ञान बिना कोई न सुज्ञानी होते, राजा-महाराजा चक्री-देव क्यों न होते।
दार्शनिक कवि विज्ञानी लेखक क्यों न होते, आत्मज्ञान बिना वे सभी कुज्ञानी होते।। (1)

आत्मज्ञान से ही जीव सुज्ञानी होते, सुज्ञानी जीव ही आत्मविश्वासी/(श्रद्धानी) होते।
जिससे उनका लक्ष्य महान् होता, समता-शांतिमय अध्यात्म होता।। (2)

अतः अन्याय अत्याचार वे न करते, फैशन व्यसन व दंभ न करते।
शालीन सदाचारी सभ्य वे होते, दया दान सेवा व परोपकार करते।। (3)

मैत्री प्रमोद कारूण्य माध्यस्थ होते, वैर विरोध ईर्ष्या घृणा न करते।
सरल-सहज व संतोषी अनिंदक होते, हिंसा झूठ चोरी कुशील से निवृत्त होते।। (4)
परम आत्मज्ञान हेतु सर्वस्व त्यागते, विद्वान चक्रवर्ती भी साधु हो जाते।
आत्म विशुद्धि से पूर्ण आत्मज्ञ होते, अनंत ज्ञान दर्श सुख वीर्य को पाते।।(5)

यही है जीवों का परम-विकास, शुद्ध-बुद्ध-आनंद व ध्रुव स्वभाव।
इंद्र चक्रवर्ती से भी अनंत वैभव, जन्म-जरा-मरण रहित अमृत भाव।।(6)

(ऐसे) परम आत्मज्ञान को मोही न जानते/(मानते), सांसारिक कुज्ञान में ही आसक्त होते।
लौकिक पढ़ाई हेतु (तो) आसक्त होते, स्व-आत्मज्ञान से विमुख होते।।(7)

मद्य व्यसनी यथा मद्य को चाहते, मोहासक्त जीव तथा कुज्ञान चाहते। जिससे संसार में परिभ्रमण करते, अनंत दुःखों को वे सहन करते।।(8)

स्व-शुद्धात्म ज्ञान ही है परम ज्ञान, जिससे जीवों को मिलता परिनिर्वाण। अमृतमय यह है आध्यात्म ज्ञान, 'कनकनन्दी' का यह स्व-आत्मज्ञान।।(9)
परमार्थ-1

'मैं'(स्व) की उपलब्धि ही जैन धर्म रहस्य का सार
स्व-उपलब्धि ही मोक्ष, अन्यथा है संसार
(मोक्ष के प्रमुख कारण व संसार भ्रमण के प्रमुख कारण)

(चाल : मन रे तू काहे न धीर धरे...) - आचार्य कनकनन्दी

जिया रे! तू स्व उपलब्धि करो ऽऽऽ
स्व-उपलब्धि ही परम उपलब्धि ऽऽऽ अन्य सब अनित्य संसार ऽऽऽ...(ध्रुव)...
स्व-विश्वास चाहिए...स्व-उपलब्धि हेतु ऽऽऽ ''मैं हूँ सच्चिदानंदमयऽऽऽ
स्व-ज्ञान चाहिए...आत्मविश्वास युक्त ऽऽऽ 'मैं' हूँ अनंत ज्ञान दर्शमयऽऽऽ
स्व-शुद्धात्म अनुभव करो ऽऽऽ...(1)...

इसी हेतु ही ध्यान-अध्ययन करो ऽऽऽ करो तप-त्याग संयमऽऽऽ
व्रत-नियम-अध्यापन-प्रवचन करोऽऽऽ करो धर्म प्रभावना व लेखनऽऽऽ
आत्म प्रभावना हेतु करोऽऽऽ...(2)

स्व-उपलब्धि लक्ष्य के अतिरिक्त ऽऽऽ सभी धार्मिक क्रिया व्यर्थ ऽऽऽ
व्रत-नियम-अध्ययन-अध्यापनऽऽऽ प्रवचन लेखन भी है व्यर्थऽऽऽ
आत्मोपलब्धि ही परमार्थऽऽऽ...(3)...

भव्यसेन मुनि आत्म सम्वेदन बिनऽऽऽ आगमज्ञान से न पाया मोक्षऽऽऽ
शिवभूति मुनि आत्म सम्वेदन सेऽऽऽ 'मा तुस मा रुस' से पाये मोक्षऽऽऽ
अतः रोष-तोष को त्यजऽऽऽ...(4)...

रोष-तोष कारक भाव-व्यवहारऽऽऽ करो हे! त्याग नवकोटि सेऽऽऽ
समता-शांति-निस्पृह भाव सेऽऽऽ स्व-आत्मा का शोध-बोध करोऽऽऽ
संकल्प-विकल्प/(संक्लेश) परिहारोऽऽऽ...(5)...

ख्याति पूजा लाभ प्रसिद्धि त्यागकरऽऽऽ स्व (मैं) का ही करो ध्यान-अध्ययनऽऽऽ
एकांत मौन व निराडम्बर बनकरऽऽऽ स्वयं में ही स्वयं हो लीनऽऽऽ
सच्चिदानंद पूर्ण बनऽऽऽ...(6)...

इसके अतिरिक्त सभी उपलब्धियाँऽऽऽ पाया है अनंतानंत बारऽऽऽ
उससे अनंतानंत दुःखों को भोगाऽऽऽ अतः रहो इनसे अति दूरऽऽऽ
'कनक' शुद्धात्मा तव संसारऽऽऽ/(स्वात्मोपलब्धि ही आध्यात्म सार(7)...
परमार्थ-।।

स्व-शुद्धात्मा अध्ययन से मोक्ष
(मोक्ष के प्रमुख कारण व संसार भ्रमण के प्रमुख कारण)

(चाल : मन रे! तू काहे न धीर धीरे...) - आचार्य कनकनन्दी

जिया रे! तू स्व-अध्ययन करोऽऽऽ
स्व-अध्ययन ही है स्वाध्यायऽऽऽ अन्यथा तोता रटन्तऽऽऽ...(ध्रुव)
स्व-स्वरूप...परिज्ञान हेतुऽऽऽ पर-स्वरूप...तू जानऽऽऽ
द्रव्य-तत्त्व-पदार्थों को जानऽऽऽ जिससे करो भेद-विज्ञानऽऽऽ
इससे होता आत्मज्ञानऽऽऽ...(1)

आत्मविश्वास ज्ञान-चारित्र द्वाराऽऽऽ आत्मा करो अनुभवऽऽऽ
अनुभव ही यथार्थ स्वाध्यायऽऽऽ स्वाध्याय ही परम तपऽऽऽ
स्व-सम्वेदन ही परम तपऽऽऽ...(2)...

स्व-सम्वेदन से होता परिज्ञानऽऽऽ 'मैं' हूं सच्चिदानंदमयऽऽऽ
स्वयंभू स्वयपूर्ण अनंत गुणधामऽऽऽ ज्ञान दर्शन सुख वीर्य पूर्णऽऽऽ
स्वाध्याय रूप यह पूर्णऽऽऽ...(3)

स्व-अनुभव बिन आगम अध्ययन भीऽऽऽ नहीं होता यथार्थ स्वाध्यायऽऽऽ
(यथा) स्व-अनुभव बिन कंप्यूटर कामऽऽऽ नहीं होता यथार्थ स्वाध्यायऽऽऽ
अभव्य के आगम ज्ञान समऽऽऽ...(4)

अभव्य सेन मुनि का आगम अध्ययनऽऽऽ नहीं था यथार्थ स्वाध्यायऽऽऽ

/(नहीं बना मोक्ष हेतु कारणऽऽऽ)
शिवभूति मुनि का आत्मानुभव ज्ञानऽऽऽ बना था मोक्ष हेतु कारणऽऽऽ
शुद्धात्मा को मिले परिनिर्वाणऽऽऽ...(5)

शब्द से लेकर भौतिक ग्रंथ तोऽऽऽ होते हैं जड़ स्वभावमयऽऽऽ
ग्रंथ पढ़ना व याद रखना तोऽऽऽ होता है क्षयोपशम मयऽऽऽ
शुद्धातमा को मिले है मोक्षऽऽऽ/(अतः शुद्धात्मा करो वरणऽऽऽ)...(6)

शुद्धात्मा से भिन्न विभाव त्यागोऽऽऽ संकल्प-विकल्प-संक्लेशऽऽऽ
ख्याति पूजा लाभ अहंकार-ममकारऽऽऽत्यागकर बनो आकिञ्चन्यऽऽऽ
'कनक' स्वयं/(मैं) में करो रमणऽऽऽ...(7)

परमार्थ-III

सामाजिक से लेकर मानसिक सत्य परे हूँ 'मैं' शुद्धात्मा

(चाल : जय हनुमान ....) - आचार्य कनकनन्दी

सत्य के विभिन्न स्वरूप को जानो, लौकिक से लेकर आध्यात्मिक मानो।
उत्तरोत्तर श्रेष्ठ सत्य ये जानो- स्व-शुद्धात्मा ही स्व-परम सत्य मानो।।
सामाजिक-नैतिक-पारिवारिक सत्य, संगठन व राष्ट्रीय मान्य भी सत्य।
अंतर्राष्ट्रीय व मानसिक भी सत्य, स्व-शुद्धात्मा ही स्व-परम सत्य।।
उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होते ये सत्य, द्रव्य-क्षेत्र-काल सापेक्ष है सत्य।
स्व-शुद्धात्मा ही है स्व-परम-सत्य, इसी की प्राप्ति हेतु करूँ प्रयत्न।। (1)

स्व-शुद्धात्मा से भिन्न सभी ही सत्य, स्वयं के लिए नहीं है परम सत्य।
सामाजिक से लेकर अंतर्राष्ट्रीय सत्य, साधारण मानव द्वारा मान्य सत्य।
मानसिक सत्य भी नहीं परम होता, मन से परे शुद्धात्मा स्वरूप होता।
मानसिक सत्य होता है क्षायोपशमिक, शुद्धात्म स्वरूप होता है क्षायिक।।(2)

सच्चिदानंद है शुद्धात्मा स्वरूप, अजर-अमरमय शाश्वत रूप।
अनंत ज्ञान दर्शन सुख वीर्य रूप, स्वतंत्र स्वयंपूर्ण अखण्ड रूप।।
स्व-शुद्धात्मा प्राप्ति ही मेरा परम लक्ष्य, इसी हेतु ही करूँ सदा प्रयत्न।
लौकिक व्यवहार से भले करूँ 'मैं' मान्य, श्रद्धा व प्रज्ञा से न करूँ मान्य।।(3)

बादल से भले आकाश दिखे विभिन्न, तथापि आकाश न होता बादलमय।

लौकिक व्यवहार से मेरे रूप विभिन्न, तथापि शुद्ध रूप मम होता चैतन्य।।
अतएव कहा गया है आगम में, ''अलौकिक वृत्ति भवति मुनिनाम्''।
यथायोग्य 'मैं' करूँ ऐसी प्रवृत्ति, 'कनकनन्दी' चाहे आत्मोपलब्धि।। (4)

संदर्भ-

अयथार्थ ग्रहण ही संसार तत्त्व

जे अजधागहिदत्था एदे तच्च त्ति णिच्छिदा समये।
अच्चंतफलसमिद्धं भमंति ते तो परं कालं।। (271) प्र.सा.

Those, who have wrongly grasped the nature of realities and are sure (in their mistaken way) that the reality, according to the creed, is such wonder long(till infinity) in mundane existence which is full with the fuits of misery.

अब संसार का स्वरूप प्रगट करते हैं -(जे) जो कोई (अजधागहिदत्था) अन्य प्रकार से असत्य पदार्थों के स्वभाव को जानते हुए (एदे तच्च त्ति समये) ये ही आगम में तत्त्व कहे है ऐसा (णिच्छिदा) निश्चय कर लेते है (ते तो) वे साधु इस मिथ्या श्रद्धान व ज्ञान के कारण भाविकाल में (अच्चंतफलसमिद्धं) अनंत दुःख रूप फल से भरे हुए संसार में (परं कालं) अनंत काल तक (भंमति) भ्रमण करते है। (जो कोई साधु या अन्य आत्मा सात तत्त्व नव पदार्थों का स्वरूप स्याद्वाद नय के द्वारा यथार्थ न जानकर और का और श्रद्धान कर लेते है और यहीं निर्णय कर लेते है कि आगम में तो यही तत्त्व कहे हैं) वे मिथ्या श्रद्धानी या मिथ्याज्ञानी जीव द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव स्वरूप पाँच प्रकार संसार के भ्रमण से सहित शुद्ध आत्मा की भावना से हटे हुए इस वर्तमान काल से आगे भविष्य में भी नरकादि दुःखों से अत्यंत कटुक फलों से भरे हुए संसार में अनंत काल तक भ्रमण करते रहते है। इसलिये इस तरह संसार भ्रमण में परिणमन करने वाले पुरुष ही अभेदनय से संसार स्वरूप जानने योग्य है।

जो स्वयं अविवेक से पदार्थों को अन्यथा ही समझ करके ऐसा ही तत्त्व है ऐसा निश्चय करते हुए, निरंतर एकत्र किये जाने वाले महा मोहमल से मलिन मन वाले होने से नित्य अज्ञानी है, वे समय में आगम में स्थित होने पर भी परमार्थ श्रामण्य को प्राप्त न होने से वास्तव में श्रमणाभास वर्तते हुए, अनंत कर्मफल की उपभोग राशि से भयंकर ऐसे अनंत काल तक अनंत भवान्तर रूप परावर्तनों से

संसार में अनवस्थित वृत्ति वाले रहने से उनको संसार तत्त्व ही जानना अर्थात् वे संसार में परिभ्रमण करते हैं।

समीक्षा - जिस प्रकार दृष्टि दोष से वस्तु जैसी है वैसी दिखाई नहीं देती अन्य रूप दिखाई देती है उसी प्रकार जिसकी श्रद्धा में दोष है वह भी वस्तु स्वरूप को आगम में पढ़ते हुए भी अन्यथा ही ग्रहण करता है। पीलिया रोगी सफेद वस्तु को भी पीले रूप में देखता है और जिसने काला चश्मा पहन लिया है उसको हर वस्तु काली दिखाई देती है। उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव आगम में वर्णित यथार्थ वस्तु को भी जैसी नहीं है वैसी समझता है। इस अयथार्थ ग्रहण रूप मिथ्यात्व के कारण जीव अनादि काल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है। परन्तु आगे भी जब तक मिथ्यात्व का त्याग नहीं करेगा तब तक अनंत संसार में परिभ्रमण करता रहेगा। इससे सिद्ध होता है कि केवल मिथ्या शास्त्र के अध्ययन से ही मिथ्या ज्ञान नहीं होता है परन्तु सच्चे जैनागम के अध्ययन से भी मिथ्यात्व के उदय में भी मिथ्याज्ञान हो जाता है।

ज्ञान मात्र से कर्म का क्षय नहीं हो सकता

णाणी खवेइ कम्मं णाणवलेणेदि सुबोलए अण्णाणी।
विज्जी भेसज्जमहं जाणे इदि णस्सदे वाही।। 72 रयण.

अन्वयार्थ :- (णाणी) सम्यग्ज्ञानी जीव (णाणबलेण) ज्ञान के बल से (कम्मं) कर्म को (खवेइ) खपाता है, नाश करता है (इदि अण्णाणी) इस प्रकार अज्ञानी मनुष्य केवल मात्र बोलता है (भेसज्जमहं)जैसे औषधि को मैं (जाणे) जानता हूँ (इदि वेज्जो णस्सदे वाही) इस प्रकार कहने से वैद्य क्या रोग को नष्ट करता है।

पद्य - ज्ञान से ही कर्मक्षय होता ऐसा जो बोलता सो अज्ञानी।
औषध ज्ञान मैं जानूँ ऐसे मात्र सो वैद्य से न नशे व्याधी।।
समीक्षा- सुज्ञान से युक्त चारित्र बल से होता है कर्मों का क्षय।
बिना चारित्र केवल सुज्ञान से न होता है कर्मों का क्षय।।

मोक्ष पथ का पथ्य

पुव्वं सेवइ मिच्छामल सोहणहेउ सम्मभेसज्जं।
पच्छा सेवइ कम्मामय णासण चरिय सम्म भेसज्ज।। 73 रयण.

अन्वयार्थ :- (पुव्वं) प्रथम (मिच्छामल सोहण हेउ) मिथ्यामल के शोधन

करने हेतु (सम्मभेसज्जं) सम्यक्त्वरूपी औषध का (सेवइ) सेवन करे (पच्छा) बाद में (कम्मामय णासण) मिथ्यारूप कर्म मल को नाश करने के लिए चरिय भेसज्जं) सम्यक् चारित्ररूपी औषधि का सेवन करना चाहिए।

पद्य- मिथ्यामल शोधन हेतु प्रथम सेवनीय सम्यक्त्व औषध।
पुनः कर्ममल नाशने हेतु सम्यक्त्व चारित्र रूपी औषधि।।

ज्ञानी और अज्ञानी

अण्णाणी विसय विरत्तादो होइ सयसहस्सगुणो।
णाणी कसायविरदो विसयासत्तो जिणुद्दिट्ठं।। 74 रयण.

अन्वयार्थ :- (अण्णाणी विसयविरत्तादो) अज्ञानी मोही बहिरात्मा बाह्य पंचेन्द्रिय सम्बन्धी विषयों से विरक्त (होइ) होता है (णाणी कसाय विरदो) सम्यग्ज्ञानी पुरुषकषाय भाव से विरक्त होता है(विसयासत्तो) पंचेन्द्रिय विषयों का सेवन करता है (सयसहस्स गुणो) मिथ्यादृष्टि अज्ञानी की अपेक्षा ज्ञानी लाखों गुणा श्रेष्ठ है। (जिणुद्दिट्ठं) ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

पद्य - अज्ञानी मोही के विषय विरक्त से भी लाख गुणा श्रेष्ठ ज्ञानी।
जो ज्ञानी होता कषाय विरक्त विषयासक्त ऐसी कहे जिनवाणी।।
समीक्षा-आत्मश्रद्धान रिक्त विषय विरक्त से न होती है आत्मशुद्धि
जिससे कर्म की निर्जरा न होती ज्ञानी की कषाय विरक्त से आत्मशुद्धि।।
आत्म शुद्धि के कारण अज्ञानी विषय विरक्त से भी लक्षगुणाकर्म निर्जरा ऐसा श्री जिनेन्द्र देव ने कहा केवल नहीं है आचार्य कथित।।

संदर्भ :-

मुझे चाहिए लोकोत्तर ज्ञान-भाव-व्यवहार

(लोक प्रसिद्ध ज्ञान-भाव व्यवहार से परे मुझे चाहिए
परम सत्य व आत्म तत्त्व)

(चाल : छोटी-छोटी गैया...)

कषाय (व) लेश्या से आवेशित है, सामान्य जनों के भाव-व्यवहार।
परम सत्य आध्यात्मिक तथ्य से, नहीं होता उसका कोई सरोकार।। (1)

क्रोध मान माया लोभ से प्रेरित आहार, भय मैथुन परिग्रह से संचालित।

जन्म जरा मृत्यु रोग-शोक पीड़ित, होते भाव-व्यवहार जो मोह मोहित।।(2)

यथा तीव्र निद्रा से पीड़ित जीव, घोर नींद में करते हैं शयन।
तथाहि कषाय आदि में आवेशित, जीव करते हैं भाव व काम।। (3)

क्षुधा से पीड़ित आहार करते, उसके लिए करते बहु विध काम।
भय निवारण हेतु अस्त्र-शस्त्र चाहिए, युद्ध व हत्या आदि काम।। (4)

काम से पीड़ित मैथुन करते, उसी हेतु करते हैं विभिन्न काम।
विवाह या बलात्कार वेश्यागमन, कुटुम्ब पालन व धनार्जन।। (5)

ऐसी प्रवृत्ति तो कीट-पतंग में भी, होती नहीं यह उच्च प्रवृत्ति।
उच्च आध्यात्मिक प्रवृत्ति हेतु, त्यजनीय है नीच प्रवृत्ति।। (6)

इनके भाव-व्यवहार कथन से, नहीं होता है आत्म उत्थान।
ऐसी प्रवृत्तिओं से तो होता है आत्म पतन।। (7)

यह सब काम कर्मफल चेतना या, कर्म चेतना से होता है।
ज्ञान चेतना इससे परे होती, जिसमें होती आत्म विशुद्धि।। (8)

आत्म विशुद्धि बिन सभी के ज्ञान, आध्यात्मिक विकास हेतु हेय हैं।
आत्म विकास हेतु संपूर्ण ज्ञान, मेरे लिए बहुत (ही) उपादेय है।। (9)

भले सभी से मैं शिक्षा लेता हूँ, सुगुणी व दुर्गुणी सभी से।
ईर्ष्या-द्वेष-घृणा पक्षपात आदि, नहीं करूँ मैं कभी भी किसी से।। (10)

तथापि मुझे लौकिक जनों से भी, परे चाहिए परम सत्य।
भौतिक वैज्ञानिक व दार्शनिक परे, मुझे चाहिए स्व-आत्म तत्त्व।। (11)

इसी हेतु ही तीन ज्ञानधारी, तीर्थंकर भी बनते है श्रमण।
'कनकनन्दी' भी आत्मोपलब्धि, हेतु बना है मुमुक्षु श्रमण।। (12)

सन्दर्भ :-

ज्ञान, कर्म एवं कर्मफल चेतना

परिणमदि चेदणाए आदा पुण चेदणा तिधाभिमदा।

सा पुण णाणे कम्मे फलम्मि वा कम्मणो भणिदा।। (123) प्र.सा.

The soul develops into (ot with) sentiency which, in turn, is said to be of three kinds, say with regard to knowledge karma and the fruit of karma.

आगे कहते हैं कि जिस परिणाम से आत्मा परिणमन करता है, वह परिणाम क्या है (आदा) आत्मा (चेदणाए) चेतना के स्वभाव रूप से (परिणमदि) परिणमन करता है (पुण) तथा (चेदणा तिधा अभिमदा) वह चेतना तीन प्रकार मानी गई है। (पुण) अर्थात् (सा) वह चेतना (णाणे) ज्ञान के संबंध में (कम्मे) कर्म या कार्य के संबंध में (वा कम्मणो फलम्मि) तथा कर्मों के फल में (भणिदा) कही गई है। हर एक आत्मा चेतना से परिणमन करता रहता है अर्थात् जो कोई भी आत्मा का शुद्ध या अशुद्ध परिणाम है वह सर्व ही परिणाम चेतना को नहीं छोड़ता है वह चेतना जब ज्ञान को विषय करती है अर्थात् ज्ञान की परिणति में वर्त्तन करती है तब उसको चेतना ज्ञान कहते है। जब वह चेतना किसी कर्म के करने में उपयुक्त है तब उसे कर्म चेतना और जब वह कर्मों के फल की तरह परिणमन कर रही है तब उसको कर्मफल चेतना कहते हैं। इस तरह चेतना तीन प्रकार की होती हैं।

समीक्षा - इस गाथा से आचार्यश्री जीव का जो असाधारण भाव चेतना है उसका विशेष रूप से भेद पुरस्सर वर्णन कर रहे हैं। इसके पहले भी जीव की सिद्धि तथा उसके स्वरूप का वर्णन विभिन्न दृष्टिकोण से किया है। यहाँ से पुनः चेतना गुण को विशेष गुण इसलिये कह रहे हैं कि चेतना ही जीव का आसाधारण भाव है। इसके कारण ही यह अन्य द्रव्यों से पृथक होता है इस गुण के कारण ही जीव संसार अवस्था में सुख-दुःख का वेदन करता है और मोक्ष अवस्था में सुख का वेदन करता है। इस गुण के कारण ही जीव अन्य समस्त द्रव्यों से श्रेष्ठ है, पूजनीय है। इसलिये इसका विशेष कथन यहाँ से प्रारंभ कर रहे है। पंचाध्यायी में भी कहा है-

जीवसिद्धिःसती साध्या सिद्धा साधीयसी पुरा।
तत्सिद्धलक्षणं वक्ष्ये साक्षात्तल्लब्धिसिद्धये।। (191)

पहले जीव की सिद्धि कह चुके हैं, इसलिये प्रसिद्ध है उसी को पुनः साध्य बनाते हैं अर्थात् सिद्ध करते हैं। जीव के ठीक-ठीक स्वरूप की प्राप्ति हो जाय,

इसलिये उसका सिद्ध (प्रसिद्ध) लक्षण कहते हैं।

स्वरूप चेतना जन्तोः सामान्यात्सदेकधा।
सद्विशेषादपि द्वेधा क्रमात्सा नाऽक्रमादिह।। (192)

जीव का स्वरूप चेतना है, वह चेतना सामान्य रीति से एक प्रकार है क्योंकि सामान्य रीति से सत्ता एक ही प्रकार है तथा सत् विशेष की अपेक्षा से वह चेतना दो प्रकार है। परंतु उसके दोनों भेद क्रम से होते हैं एक साथ नहीं होते हैं।

एका स्याच्चेतना शुद्धा स्यादशुद्धा परा ततः।
शुद्धा स्यादात्मनस्तत्त्वमस्त्यशुद्धाऽऽत्मकर्मजा।। (193)

एक शुद्ध चेतना और दूसरी अशुद्ध चेतना है। शुद्ध चेतना आत्मा का निज रूप है और अशुद्ध चेतना आत्मा और कर्म के निमित्त से होती है।

एकधा चेतना शुद्धा शुद्धस्यैकविधत्त्वतः।
शुद्धाशुद्धोपलब्धित्त्वाज्ज्ञान त्त्वाज्ज्ञानचेतना।। (194)

शुद्ध चेतना एक प्रकार है क्योंकि शुद्ध एक प्रकार ही है। शुद्ध चेतना में शुद्धता की उपलब्धि होती है इसलिये वह शुद्ध है और वह शुद्धोपलब्धि ज्ञान रूप है इसलिये उसे ज्ञान चेतना कहते हैं।

अशुद्धा चेतना द्वेधा तद्यथा कर्मचेतना।
चेतनत्वात्फलस्यास्य स्यात्कर्मफलचेतना।। (195)

अशुद्ध चेतना दो प्रकार है। एक कर्म चेतना, दूसरी कर्मफल चेतना। कर्मफल चेतना में फल भोगने की मुख्यता है।

सामान्यतः जीव की जो अनुभूति, अनुभव, उपलब्धि, वेदना की शक्ति है उसे चेतना कहते हैं। यह चेतना कर्म से युक्त एवं कर्म से रहित होने के कारण विभिन्न रूप परिणमन कर लेती है। जिस प्रकार आकाश एक होते भी लोकाकाश, अलोकाकाश, घटाकाश, पटाकाश आदि रूप में बाह्य निमित्त के कारण भेद पड़ जाता है उसी प्रकार चेतना भी अनेक रूप में परिणमन करती है। परंतु यहाँ मुख्यतः चेतना के 3 भेद किये गये हैं (1) ज्ञान चेतना, (2) कर्म चेतना, (3) कर्म फल चेतना । मुख्य रूप से सिद्ध भगवान् शुद्ध ज्ञान चेतना का अनुभव करते हैं। संपूर्ण स्थावर जीव अर्थात् पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीव कर्मफल चेतना का अनुभव करते हैं। द्वीन्द्रियादि त्रस

जीव कर्म चेतना तथा कर्मफल चेतना का अनुभव करते हैं। कुंदकुंद देव ने पंचास्तिकाय में कहा भी है-

कम्माणं फलमेक्को एक्को कज्जं तु णाणमध एक्को।
चेदयदि जीवरासी चेदगभावेण तिविहेण।। (38)

कोई चेतयिता अर्थात् आत्मा तो, जो अति प्रकृष्ट मोह से मलिन है और जिसका प्रभाव (शक्ति) अति प्रकृष्ट ज्ञानावरण से मुंद गया है ऐसे चेतन स्वभाव द्वारा सुख-दुःख रूप 'कर्मफल' को ही प्रधानता से चेतते है, क्योंकि उनका अति प्रकृष्ट वीर्यांतराय से कार्य करने का (कर्म चेतना रूप परिणमित होने का) सामर्थ्य नष्ट हो गया है।

अन्य चेतयिता अर्थात् आत्मा, जो अति प्रकृष्ट मोह से मलिन है और जिसका प्रभाव प्रकृष्ट ज्ञानावरण से मुंद गया है ऐसे चेतन स्वभाव द्वारा भले ही सुख-दुःख रूप कर्मफल के अनुभव से मिश्रित रूप से भी 'कार्य' (कर्म चेतना) को ही प्रधानताः चेतते हैं, क्योंकि उन्होंने अल्प वीर्यांतराय के क्षयोपशम से कार्य करने का सामर्थ्य प्राप्त किया है।

अन्य चेतयिता अर्थात् आत्मा जो समस्त वीर्यांतराय के क्षय से अनंत वीर्य को प्राप्त है, सकल मोह कलंक धुल जाने तथा समस्त ज्ञानावरण के विनाश के कारण समस्त प्रभाव अत्यंत विकसित हो जाने से चेतक स्वभाव द्वारा, कर्मफल निर्जरित हो जाने के और अत्यंत कृतकृत्यपना हो जाने के कारण अपने से अभिन्न स्वाभाविक सुख रूप ज्ञान को ही चेतते (अनुभव करते) हैं।

निर्मल शुद्ध आत्मा की अनुभूति को न पाकर अशुद्ध भावों से बाँधा जो गाढ़ मोहनीय कर्म उसके उदय से प्राप्त जो अत्यंत मलीन चेतना उसी से जिनके आत्मा की शक्ति ढक रही है ऐसा एक जीव समुदाय कर्मों के फलों को ही अनुभव करता है। दूसरी एक जीवराशि उसी ही मलीन चेतना से कुछ शक्ति को पाकर इच्छापूर्वक इष्ट या अनिष्ट के भेदरूप कर्म या कार्य का अनुभव करती है तथा एक जीव समुदाय विशुद्ध शुद्धात्मा की अनुभूति रूप भावना से कर्म कलंक को नाश करते हुए अपने शुद्ध चेतना के भाव से केवलज्ञान को अनुभव करता है। इस तरह यह चेतना तीन प्रकार की है (1) कर्मफल चेतना(2) कर्म चेतना (3) ज्ञान चेतना।

सव्वे खलु कम्मफलं थावरकाया तसा हि कज्जजुदं।
पाणित्तमदिक्कंतां णाणं विन्दन्ति ते जीवा।। (39)

(सर्वे स्थावरकायाः) सर्व स्थावर जीव समूह (खलु) वास्तव में (कर्मफल) कर्मफल को वेदते है, (तसा) त्रस (ही) वास्तव में (कार्ययुत्तम) कार्य (कर्मचेतना) सहित कर्मफल को वेदते हैं और (प्राणित्वमतिक्रान्ता) जो प्राणित्व का (प्राण का) अतिक्रम कर गये हैं (ते जीवा) वे जीव ज्ञान को (विदन्ति) वेदते हैं।

चेतता हैं, अनुभव करता है, उपलब्ध करता है और वेदता है ये एकार्थ हैं क्योंकि चेतना, अनुभूति, उपलब्धि और वेदना का एक अर्थ है। वहाँ स्थावर कर्मफल को चेतते हैं त्रस कार्य (कर्म चेतना) को चेतते हैं, केवलज्ञानी ज्ञान को चेतते हैं।

सर्व ही प्रसिद्ध पृथ्वीकायिक, अपकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक स्थावर एकेन्द्रिय जीव अप्रगट सुख-दुःख का अनुभव रूप शुभ या अशुभ कर्म के फल को अनुभव करते हैं और द्वीन्द्रियादि त्रस जीव निर्विकार पर आनंदमयी एक स्वभावधारी आत्मा के सुख को नहीं अनुभव करते हुए उस कर्मफल को ही अनुभव करते हैं साथ में विशेष राग-द्वेष रूप कार्य की चेतना भी रखते हैं तथा जो जीव विशेष शुद्धात्मानुभव की भावना से उत्पन्न जो परमानंदमयी एक सुखामृत रूप समरसी भाव उसके बल से इन्द्रिय, बल, आयु श्वासोच्छवास इन दश प्राणों का उल्लंघन कर गये हैं ऐसे सिद्ध परमात्मा सो मात्र केवलज्ञान को अनुभव करते हैं।

स्थावरकाय जीव की चेतना शक्ति अल्प विकसित होने के कारण, वीर्यांतराय कर्म का क्षयोपशम कम होने के कारण शक्ति की कमी होने से, ज्ञानावरणीय कर्म का तीव्रोदय होने के कारण ज्ञान कम होने से तथा केवल स्पर्श इन्द्रिय होने से वे पूर्वोपार्जित कर्म को केवल विवश होकर भोगने के लिए बाध्य होते हैं। इसलिए स्थावर जीव बाह्य सुख-दुःख से, प्रतिकूल वातावरण से स्वयं को बचाने के लिए अधिक सक्रिय नहीं हो पाता है। इसलिए इनमें केवल पूर्वोपार्जित कर्म को भोगने रूप प्रधानतः (मुख्यतः) कर्मफल चेतना है। अमृतचन्द्र सूरी ने पंचास्तिकाय की 38 नंबर गाथा की टीका में जो स्थावर जीवों के लिए "**सुख-दुःख रूपं कर्मफलमेव प्राध्यान्येनं चेतयंते**" यह विशेषण दिया है वह विचारणीय है। भले

स्थावर जीव शक्ति की कमी से सुख-दुःख को विवश होकर भोगता है तथापि कुछ प्रतिक्रिया भी करता है। जैसे-जिधर पानी होता है उधर वृक्ष की जड़ फैलती है, जिधर प्रकाश होता है उधर वृक्ष की शाखाएँ बढ़ती हैं। लाजवन्ती को छूने पर लाजवन्ती मुरझा जाती है। योग्य जलवायु से वृक्ष पल्लवित होता है और विपरीत वातावरण से वृक्ष मुरझा जाता है। मौलश्री वृक्ष सुंदर स्त्री को देखकर काम चेतना से युक्त हो जाता है। अभी वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है कि यदि कोई वृक्ष को मारने के लिए जाता है तो वह भयभीत हो जाता है, पत्ते कांति रहित हो मुरझाने लगते हैं और कोई पानी देने जाता है तो वृक्ष प्रसन्न हो जाते हैं। संगीत सुनने से वृक्ष अधिक पुष्प-फलादि देते हैं और प्रदूषित वातावरण में वृक्ष कम विकसित होते हैं। इसी प्रकार अन्य स्थावर जीवों में भी कुछ प्रतिक्रियाएँ होती हैं। इसलिए स्थावर जीव में मुख्यतः कर्मफल चेतना होते हुए भी गौणरूप से कर्म चेतना भी है।

त्रस जीवों के वीर्यांतराय कर्म के कुछ क्षयोपशम से स्थावर जीव की अपेक्षा कुछ शक्ति अधिक होने से इनके कर्मफल चेतना के साथ-साथ कर्म चेतना भी पायी जाती हैं। इसलिए त्रस जीव में स्थावर जीव की अपेक्षा कुछ सक्रियता अधिक है। त्रस नामकर्म के उदय से तथा ज्ञानावरणी के कुछ क्षयोपशम से स्थावर जीवों से इनमें कुछ अधिक ज्ञान रहता है। आत्म रक्षा के लिए इधर-उधर भाग सकते हैं इसलिए ये कर्मफल चेतना (अनुभव) के साथ-साथ कर्म चेतना से भी युक्त होते हैं।

जिन्होंने समस्त वीर्यांतराय कर्म के क्षय से अनंत वीर्य को प्राप्त कर लिया है तथा समस्त ज्ञानावरणी आदि घाति कर्म एवं अघाति के क्षय से सिद्ध परमात्मा बन गये हैं ऐसे जीव ज्ञान चेतना का वेदन करते हैं।

पंचास्तिकाय की 39 नं. गाथा में जो '**पाणित्तमदिक्कंता पाणं विदंति ते जीवा**" का अर्थ करते हुए आचार्य जयसेन स्वामी ने कहा है -"**दशविध प्राणत्वमतिक्रांताः सिद्ध जीवास्ते केवलज्ञान विदंति**" अर्थात् जो पाँच इन्द्रिय, तीन बल, आयु और श्वासोच्छास प्राण को अतिक्रांत (उल्लंघन) कर गये हैं ऐसे सिद्ध परमात्मा केवलज्ञान चेतना का अनुभव करते हैं।

उपयोगविवक्षायां हेतुरस्यासित तद्यथा।
अस्ति पंचेन्द्रिय कर्म कर्मस्यान्मानसं तथा।। (294)

जितना-जितना आवरण हटता है उतना-उतना ज्ञान प्रकट होता है यह ऊपर कह चुके हैं, परंतु इतना होने पर भी वस्तु का ज्ञान नहीं होता, आत्मा के परिणाम जिस तरफ उन्मुख ऋजु होते हैं उसी का ज्ञान होता है इसी का नाम उपयोग है। इसी उपयोग की विवक्षा में पंचेन्द्रिय नाम कर्म और मानस कर्म ये दोनों हेतु हैं।

ज्ञान चेतना सिद्ध अवस्था में है परन्तु सम्यग्दर्शन होने के बाद ज्ञान चेतना प्रारंभ हो जाती है और यह चेतना उत्तरोत्तर विशुद्ध से विशुद्धतर होते-होते सिद्ध अवस्था में परम विशुद्ध हो जाती है। जिस प्रकार सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सिद्ध अवस्था तक है, सिद्ध अवस्था में केवली के सम्यग्दर्शन परम विशुद्ध है जिसको परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन कहते हैं परन्तु यह सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान से उपशम, क्षय या क्षयोपशम रूप से प्रारंभ हो जाता है। यह विषय अगली 124 नं. गाथा से भी कुछ स्पष्ट हो जाता है। यथा 'णाणं अट्ठवियप्पं'' मत्यादि भेदेनाष्टविकल्पं भवति'' ज्ञान मति आदि के भेद से आठ प्रकार का है इसको पाठान्तर में कहा गया कि पदार्थों को जानने में जो विकल्प है वह ज्ञान-ज्ञान-चेतना है। स्वयं आचार्यश्री उपर्युक्त विषय आगे स्पष्ट करने वाले हैं। इसलिए यहाँ विशेष वर्णन नहीं कर रहे।

तीनो चेतना का लक्षण एवं फल

णाणं अट्ठवियप्पो कम्मं जीवेण समारद्धं।
तमणेगविदं भणिदं फलं त्ति सोक्खं व दुक्खं वा।।(124)

Knowledge is the comprehension of the objectivity(exactly as it is) : whatever is done by the soul is karma, which is of many kinds; the fruit of karmas is either happiness of misery.

(णाणं अट्ठवियप्पं) ज्ञान मति आदि के भेद से आठ प्रकार का है अथवा (अट्ठवियप्पो) पदार्थों के जानने में समर्थ जो विकल्प है (णाणं) वह ज्ञान या ज्ञान चेतना है। (जीवेण जं समारद्धं कम्मं) जीव के द्वारा जो प्रारंभ किया हुआ कर्म है (तमणेगविधं भणिदं) वह अनेक प्रकार का कहा गया है - इस कर्म की चेतना सो कर्म चेतना है (वा सुक्खं व दुक्खं फलत्ति) तथा सुख या दुःख रूप फल में चेतना सो कर्मफल चेतना है।

ज्ञान को अर्थ का विकल्प कहते हैं- जिसका प्रयोजन यह है कि ज्ञान अपने और पर के आकार को झलकाने वाला दर्पण के समान स्व-पर पदार्थों को जानने में समर्थ है। वह ज्ञान इस तरह जानता है कि अनंतज्ञान सुखादि रूप मैं परमात्मा पदार्थ हूँ तथा रागादि आस्रव को आदि लेकर सर्व पुद्गलादि द्रव्य मुझसे भिन्न हैं।

इसी अर्थ विकल्प को ज्ञान चेतना कहते हैं। इस जीव ने अपनी बुद्धिपूर्वक मन वचन काय के व्यापार रूप से जो कुछ करना प्रारंभ किया हो उसको कर्म कहते हैं। यही कर्म चेतना है। सो कर्म चेतना, शुभोपयोग, अशुभोपयोग और शुद्धोपयोग के भेद से तीन प्रकार की कही गई है। सुख तथा दुःख को कर्म का फल कहते हैं इसको अनुभव करना सो कर्मफल चेतना है। विषयानुराग रूप जो अशुभोपयोग लक्षण कर्म है उसका फल अति आकुलता को पैदा करने वाला नरक आदि का दुःख है। धर्मानुराग रूप जो शुभोपयोग लक्षण कर्म है इसका फल चक्रवर्ती आदि के पंचेन्द्रियों के भोगों को भोगना है। यद्यपि इसको अशुद्ध निश्चयनय से सुख कहते हैं तथापि यह आकुलता को उत्पन्न करने वाला होने से शुद्ध निश्चयनय से दुःख ही है और जो रागादि रहित शुद्धोपयोग में परिणमन रूप कर्म है उसका फल अनाकुलता को पैदा करने वाला परमानंदमई एक रूप सुखामृत का स्वाद है। इस तरह ज्ञान चेतना कर्म चेतना और कर्मफल चेतना का स्वरूप जानना चाहिए।

समीक्षा - इस गाथा में आचार्यश्री ने तीनों चेतना की परिभाषा दी है। पूर्व गाथा में सामान्य रूप से चेतना का वर्णन किया था। मति ज्ञानादि आठ प्रकार के ज्ञान या पदार्थ को जानने में जो विकल्प रूप ज्ञान है उसको ज्ञान चेतना कहते हैं। अतः आध्यात्मिक दृष्टि से भेद-विज्ञान को ज्ञान चेतना कहते हैं। बुद्धिपूर्वक मन, वचन, काय से जो जीव करता है उसे कर्म या कर्म चेतना कहते हैं। यह कर्म चेतना अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग के भेद से तीन प्रकार की है। अशुभ भाव सहित जो उपयोग है उसको अशुभोपयोग कहते हैं। शुभ भाव से युक्त शुभोपयोग है और शुद्ध भाव से युक्त शुद्धोपयोग है। पूर्वोपार्जित पुण्य या पाप के कारण जो सुख तथा दुःख प्राप्त होता है उसका अनुभव करना कर्मफल चेतना है। अशुभोपयोग से केवल दुःख ही दुःख मिलता है और शुभोपयोग इन्द्रिय जनित

सुख-दुःख स्वरूप हैं क्योंकि यह इन्द्रिय जनित सुख कर्मोदय से प्राप्त होने के कारण, भोग करते वक्त आसक्ति व अतृप्ति के कारण, नवीन कर्मबंध के कारण होने से इन्द्रिय जनित सुख-दुःख रूप ही है।

तीनों चेतना आत्म स्वरूप है

अप्पा परिणामप्पा परिणामो णाणकम्मफलभावी।
तम्हा णाणं कम्मं फलं च आदा मुणेदव्वो।। (25)

The nature of the soul is development : this development is with reference to knowledge, karma and the fruit, therefore, it should be understood that knowlege, karma and the fruit constitute the soul.

(अप्पा परिणामप्पा) आत्मा परिणाम स्वभावी है। (परिणामों णाणकम्मफल भावी) परिणाम ज्ञानरूप कर्मरूप व कम्मफल रूप हो जाता है (तम्हा)आत्मा (णाणं कम्मं च फलं) ज्ञानरूप कर्मरूप व कर्मफलरूप (मुणेदव्वो) जानना चाहिए।

आत्मा परिणमन स्वभाव है, यह बात तो पहले ही ''**परिणामो सवमादा**'' इस गाथा में कही जा चुकी है। उसी परिणमन स्वभाव में यह शक्ति है कि आत्मा का भाव ज्ञान चेतना रूप, कर्म चेतना रूप व कर्मफल चेतना रूप हो जावे। इसलिये ज्ञान, कर्म, कर्मफल चेतना इन तीन प्रकार चेतना रूप अभेद नय से आत्मा को ही जानना चाहिए। इस कथन से यह अभिप्राय प्रगट किया गया है कि यह आत्मा तीन प्रकार चेतना के परिणामों से परिणमन करता हुआ निश्चय रत्नत्रयमयी शुद्ध परिणमन से मोक्ष का साधना करता है तथा शुभ और अशुभ परिणामों से बंध को साधता है।

समीक्षा - जिस प्रकार इक्षु रस ही परिणमन करता हुआ गुड़ शक्कर, मिश्री आदि में परिणमन करता है। उसी प्रकार आत्मा में जो परिणमन शक्ति है उससे ज्ञान चेतना, कर्म चेतना और कर्मफल रूप में परिणमन कर लेता है। यदि आत्मा स्वयं शक्ति के कारण तीनों चेतना रूप परिणमन नहीं करता तो बाह्य निमित्तादि के कारण भी यह तीन प्रकार की चेतना नहीं होती। क्योंकि चेतनमय आत्मा को छोड़कर अन्य किसी द्रव्य में चेतयिता गुण नहीं है। भले कर्म चेतना, कर्मफल चेतना के लिए कर्मोदय की आवश्यकता है तथापि चेतना के बिना कर्म चेतना और कर्मफल चेतना नहीं हो सकती थी। जिस प्रकार अग्नि, हथौड़ी, कुम्हारादि बाह्य निमित्त के द्वारा लोहा कील, शब्बल, रेल की पटरी परिणमन करती है उसी प्रकार आत्मा ही

तीनों चेतना रूप में परिणमन करता है। पंचाध्यायी में कहा भी है -

अद्वैतेपि त्रिधा प्रोक्ता चेतना चैवमागमात्।
यथोपलक्षितो जीवः सार्थनामास्ति नान्यथा।। (942)

यद्यपि चेतना एक ही तथापि आगम के अनुसार उस चेतना के तीन भेद हैं उस चेतना से विशिष्ट जीव ही यथार्थ नाम धारी कहलाता है अन्यथा नहीं।

प्रकारान्तर से इष्टोपदेश में पूज्यपाद स्वामी ने कहा है कि प्रत्येक जीव में बहिरात्मा, अंतरात्मा परमात्मा है अर्थात् आत्मा ही तीनों रूप में परिणमन करता है। बहिरात्मा एकांततः हेय एवं त्यजनीय है। परमात्मा एकांततः उपादेय एवं ग्रहणीय है। अंतरात्मा प्राथमिक अवस्था में ग्रहणीय है, क्योंकि अंतरात्मा के माध्यम से बहिरात्मा को त्यागकर परमात्मा को प्राप्त किया जाता है, परंतु जब परम अवस्था प्राप्त हो जाती है तब अंतरात्मपना स्वयं छूट जाता है इसलिये यह प्राथमिक अवस्था में ग्रहणीय होते हुए भी सर्वथा ग्रहणीय नहीं है। यथा-

बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।
उपयात्तत्र परमं मध्योपायाद्बहिस्त्यजेत्।। (4) समाधितंत्र

समस्त शरीरधारी जीवों में पृथक-पृथक रूप से चेतन आत्मा बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा इस तरह तीन प्रकार का है उनमें से अंतरात्मा के द्वारा परमात्मा को प्राप्त करना चाहिए और बहिरात्मा का त्याग कर देना चाहिए।

बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरान्तरः।
चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः परमात्मातिनिर्मलः।। (5)

शरीर, पुत्र, स्त्री, धन, पशु, मकान आदि अन्य पदार्थों में जिसे अपने आत्मा का या अपनेपन का भ्रम होता है वह बहिरात्मा जीव है। जिसका चित्त, राग-द्वेष आदि दोषों तथा आत्मा के विषय में भ्रम नहीं रहा यानि जो उन्हें पृथक्-पृथक् ठीक तरह जानता है, वह अंतरात्मा है। जो मिथ्यात्व अज्ञान और राग आदि दोषों में सर्वथा छूटकर अत्यंत निर्मल हो गया है, वह परमात्मा है।

भेद विज्ञान की भावना का फल शुद्धात्मोपलब्धि

कत्ता करणं कम्म फलं च अप्पत्ति णिच्छिदो समणो।
परिणमदि णेव अण्णं जदि अप्पाणं लहदि सुद्धं।। (126)

When the Shramana is convinced that the soul itself is the

agent, means, action, and the fruit, and if he does not develop anything (else as passions etc.) he realizes the pure self

(कत्ता, करण, कम्मफलं, च अप्प त्ति) कर्त्ता, करण, कर्म तथा फल आत्मा ही है, ऐसा (णिच्छिदो) निश्चय करने वाला (समणो) श्रमण या मुनि (जदि) यदि (अण्णं) अन्य रूप (णेव परिणमदि) नहीं परिणमन करता है तो (सुद्धं अप्पाणं लहदि) शुद्ध आत्मिक स्वरूप को पाता है।

वैराग्य के बिना भाव

विणओ भत्तिविहीणो महिलाणं रोयणं विणा णेहं।
चागो वेरग्ग विणा एदेदो वारिया भणिया।। 75 रयण.

अन्वयार्थ :- (भत्तिविहीणो विणओ) भक्ति रहित विनय (महिलाणं) स्त्रियों का (रोयणं विणणेहं) स्नेह बिना रोदन (वेरग्ग विणा चागो) अंतरंग वैराग्य बिना त्याग (एदेदो वारिया भणिया) ये सभी निरर्थक कहा है।

पद्य- भक्ति विहीन विनय, महिलाओं के स्नेह बिना रोदन।
वैराग्य बिना त्याग ये सभी निरर्थक ऐसा है जिनेन्द्र कथन।

सन्दर्भ :-

आत्मविशुद्धि नाशक तप-त्याग न करूँ...

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : मन रे! तू काहे न..., सायोनारा...)

आत्मन्! तू आत्मविशुद्धि करऽऽऽ
शांति-समता व आत्म उन्नतिऽऽऽ इस हेतु ही साधना करऽऽऽ...(ध्रुव)
इस हेतु कर राग-द्वेष त्यागऽऽऽ क्रोध मान माया लोभऽऽऽ
ईर्ष्या तृष्णा घृणा व मोहमदऽऽऽ ख्याति पूजा वर्चस्व लाभऽऽऽ
परनिंदा अपमान विरोधऽऽऽआत्मन...(1)

ध्यान अध्ययन भी इस हेतु करऽऽऽ अध्यापन-लेखन धर्म प्रचारऽऽऽ
मौन एकांत व निस्पृह रहोऽऽऽ सरल-सहज व विनम्रऽऽऽ
त्यागो संकल्प-विकल्प-संक्लेशऽऽऽ आत्मन...(2)

इस योग्य करो बाह्य तप-त्यागऽऽऽ शक्तितःत्याग-तपस्याऽऽऽ

दिखावा-ढोंग व ख्याति पूजा हेतुऽऽऽ न करो बाह्य तप व त्यागऽऽऽ
संक्लेश कारक न करो तप-त्यागऽऽऽ संकीर्ण-कदुर भाव-कामयुक्तऽऽऽ

अंतरंग तप हेतु बाह्य तप-त्यागऽऽऽ भावविशुद्धि (है) अंतरंग तप-त्यागऽऽऽ
भावविशुद्धि बिन तप त्याग व्यर्थऽऽऽ संक्लेश कारक व रोग जनकऽऽऽ
ऐसे तप/(त्याग) तो पतन कारकऽऽऽ आत्मन्...(4)

यथा द्वीपायन मुनि की तपस्याऽऽऽ द्वारिका जलाने में निमित्तऽऽऽ
विषधर सर्प यथा विष न त्यागताऽऽऽ त्याग करता केंचुली मात्रऽऽऽ
जिससे बने अधिक घातकऽऽऽ ऐसे तप-त्याग न करो 'कनक' आत्मन्...(5)

ऐसे तपस्वी से अग्रभावी रहोऽऽऽ उन्हें न मानो श्रेष्ठ-ज्येष्ठऽऽऽ
स्व-अंतरंग विशुद्धि ही बढ़ाओऽऽऽ इससे ही लक्ष्य होगा प्राप्तऽऽऽ
आत्मविशुद्धि से करो मूल्यांकन बाह्य तप-त्याग से न करो मूल्यांकन ...(6)

आत्मविशुद्धि ही अभिन्न रत्नत्रयऽऽऽ मोक्षमार्ग व मोक्षदायकऽऽऽ
साक्षात् मोक्ष या स्व-शुद्धात्म स्वरूपऽऽऽ शुद्ध-बुद्ध-आनंद स्वरूपऽऽऽ
यही परम धर्म स्वरूपऽऽऽ आत्मन्...(7)

आत्मविशुद्धि बिन बाह्य तप-त्यागऽऽऽ पाषाण सम होते भारीऽऽऽ
आत्मविशुद्धि मय रत्नत्रय अमूल्यऽऽऽ पाषाण सम (बाह्य) तप दुःखकारीऽऽऽ
'कनक' का लक्ष्य आत्मविशुद्धि आत्मविशुद्धि नाशक अग्राह्यकारी (8)

भाव शून्य क्रिया से अलाभ

सुहडो सूरत्त विणा महिला सोहग्गरहिय परिसोहा।
वेरग्ग णाण संजमहीणा खवणा ण किं वि लब्भंते।। 76 रयण.

अन्वयार्थ :- (सूरत विणा सुहडो) शूरत्व के बिना सुभट (महिला सोहग्ग रहिय परिसोहा) सौभाग्य के (पति के बिना) बिना महिला की शोभा (वेरग्ग णाण संजमहीणा) वैराग्य ज्ञान और संयम से रहित (खवणा ण किं वि) साधु कुछ भी नहीं (लब्भंते) प्राप्त कर सकते।

पद्य- शुरत्व बिना सुभट, सौभाग्य बिना महिला की शोभा।
वैराग्य-ज्ञान-संयम हीन श्रमण कुछ भी नहीं पाता।।

अज्ञानी और विषयासक्त जीवों की दशा

वत्थुसमग्गो मूढो लोहिय लब्भइ फलं जहा पच्छा।
अण्णाणी जो विसयासत्तो लहइ तहा चेव।। 77 रयण.

अन्वयार्थ :- (जहा) जैसे (मूढो) अज्ञानी (लोहीय) लोभी (वत्थुसमग्गो) वस्तु सामग्री संग्रह करने की (लहिए) इच्छा करता है (पच्छा) पश्चात् (फलं) उसके फल की इच्छा करता है (तहा) उसी प्रकार (जो) जो (अणाणी) अज्ञानी(विसयासत्तो) वह विषयों में आसक्त (चेव लहइ) पश्चात् फल को पाता है।

पद्य :- मूढ लोभी (यथा) वस्तु संग्रह से बिना उपयोग से करे पुनः तृष्णा
अज्ञानी विषयासक्त नहीं प्राप्त करता तथा आत्म सुख।।

फल को कौन प्राप्त करता है ?

वत्थुसमग्गो णाणी सुपत्तदाणी फलं जहा लहइ।
णाणसमग्गो विसयपरिचत्तो लहइ तहो चेव।। 78 रयण.

अन्वयार्थ :- (जहा) जैसे (णाणी) ज्ञानी (समग्गो) समग्र प्रकार की (वत्थु) वस्तु-पदार्थ (सुपत्तदाणी) सुपात्र में दान देने वाला दानी (फलं) सुफल को (लहइ) प्राप्त होता है। (तहा) उसी प्रकार (एव) निश्चल से (विसयपरिचत्तो) विषय भोगों का त्याग करने वाला (समग्गो) सम्पूर्ण(णाण) ज्ञान को (लहइ) प्राप्त होता है।

पद्य- **वस्तु संग्रह करके ज्ञानी सुपात्र दानसे यथा पाता सुफल।**
सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर विषय विरक्त से ज्ञानी पाता सुफल।।

समीक्षा- **सुपात्र दान से यथा धन का होता है सदुपयोग।**
जिससे इह पर लोक सुख मिले यह दान (धन) का सुफल।।
तथाहि ज्ञान प्राप्त कर जो बनता है विषय विरक्त।
उससे उनका आत्म विकास होता यह है ज्ञान का सुफल।।

सन्दर्भ :

श्रुतेन लिंगेन यथात्मशक्ति, समाहितान्तः करणेन सम्यक्।
समीक्ष्य कैवल्यसुखस्पृहाणां, विविक्तमात्मानमथाभिधास्ये।।(3) सं.तं.

परमात्मा को नमस्कार करके अनन्तर मैं पूज्यपाद आचार्य कर्ममल रहित

आत्मा के शुद्ध स्वरूप को शास्त्र के द्वारा, अनुमान व हेतु द्वारा एकाग्र मन के द्वारा अच्छी तरह अनुभव करके कैवल्य पद-विषयक अथवा निर्मल अतीन्द्रिय सुख की इच्छा रखने वालों के लिए अपनी शक्ति के अनुसार कहूँगा।

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे।। (1) समयसार
प्रगटे निज अनुभव करै, सत्ता चेतनरूप।
सब ज्ञाता लखिके नमौ, समयसार सब भूप।।
जो हि सुदेणहिगच्छदि अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं।
तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा।।(9)
तं सुदणाण सव्व जाणदि सुदकेवलिं तमाहु जिणा।
णाण अप्पा सव्वं जम्हा सुदकेवलि तम्हा।। (10) समयसार

जो जीव निश्चय से श्रुतज्ञान के द्वारा इन अनुभवगोचर केवल एक शुद्ध आत्मा को सम्मुख होकर जानता है, उसे लोक को प्रगट जानने वाले ऋषीश्वर श्रुतकेवली कहते है; जो जीव सर्व श्रुतज्ञान को जानता है, उसे जिनदेव श्रुतकेवली कहते हैं, क्योंकि ज्ञान सब आत्मा ही है, इसलिये (वह जीव) श्रुतकेवली है।

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं,
क्वचिदपि च विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मि-
न्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव।। (9) अमृतकलश

आचार्य शुद्धनय का अनुभव करके कहते हैं कि इन समस्त भेदों को गौण करने वाला जो शुद्धनय का विषयभूत चैतन्य-चमत्कार मात्र तेजपुञ्ज आत्मा है, उसका अनुभव होने पर नयों की लक्ष्मी उदित नहीं होती, प्रमाण अस्त हो जाता है और निक्षेपों का समूह कहाँ चला जाता है, सो हम नहीं जानते। इससे अधिक क्या कहे ? द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होता।

आत्मानुभूतिरति शुद्धनयात्मिका या
ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्धवा।
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकम्प
मेकोऽस्ति नित्यमवबोधधनः समन्तात्।। (13) अमृतकलश

इस प्रकार जो पूर्व कथित शुद्धनय स्वरूप आत्मा की अनुभूति है, वही यथार्थ में ज्ञान की अनुभूति है, यह जानकर तथा आत्मा में आत्मा को निश्चल स्थापित करके ''सदा सर्व ओर एक ज्ञानधन आत्मा है'', इस प्रकार देखना चाहिये।

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेस संतमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं।। (15) समयसार

जो पुरुष आत्मा को अबद्ध स्पष्ट, अनन्य, अविशेष (तथा उपलक्षण से नियत व असंयुक्त) देखता है वह सर्व जिनशासन को देखता है जो जिनशासन बाह्य द्रव्यश्रुत तथा अभ्यन्तर ज्ञानरूप भावश्रुत वाला है।

परामनोवैज्ञानिक व आध्यात्मिक शोधपूर्ण कविता

सकारात्मक-वर्णन-धर्मग्रंथों में सर्वाधिक

(भारतीय धर्मग्रंथों में वर्णित परम-सकारात्मकता)

(चाल : तुम दिल की ..., सायोनारा...)

धर्म में तो सकारात्मक वर्णन...ग्रंथो में सर्वाधिक पाया जाता है...
भले उसका सही परिज्ञान...सभी लोग नहीं कर पाते है...(स्थायी)...
आधुनिक विज्ञान से लेकर जो...मोटिवेशन/(मैनेजमेंट) में वर्णन है...
उससे भी अधिक वर्णन तो...धर्मग्रंथों में पाया जाता है...
धर्मग्रंथों में वर्णित है...सच्चिदानंदमय हर जीव है...
सत्य शिव सुंदर अनंत गुणमय...स्वयंभू स्वयंपूर्ण हर जीव है...(1)

जो जीव स्वयं को ऐसा मानता...उसको होता है आत्मविश्वास...
उसका ज्ञान होता है सम्यग्ज्ञान...विचार होता है सकारात्मक
ऐसा जीव नकारात्मक विचारों को...मानता है अनात्म रूप...
जिससे वह नकारात्मक...विचारों को त्यागने का करे यत्न...(2)

क्रोध मान माया लोभ ईर्ष्या...द्वेष घृणा वैरत्व अपमान...
अंधश्रद्धा व अंधानुकरण...चिन्ता निन्दा अभिमान...
हिंसा झूठ चोरी कुशील परिग्रह...शोषण मिलावट भ्रष्टाचार...
वाद-विवाद व कलह-झगड़ा...अवसाद व दुर्विचार...(3)

आलस्य प्रमाद किंकर्तव्यमूढ़ता...लक्ष्यहीन व निरुद्देश्य...
फैशन-व्यसन-विलासिता आदि को...त्यागो नकारात्मक मानकर...
इन सब नकारात्मक भावों को...मानता है पाप स्वरूप...
जो आत्मा का पतन करे...वह है पाप स्वरूप...(4)

जिससे आत्मा का होता विकास...उसे मानता है धर्म स्वरूप...
स्वर्ग से लेकर मोक्ष के...उपाय को मानता है धर्ममय...
आत्म विकास से विश्व कल्याण...तक मानता है धर्ममय...
आत्म शांति से विश्व शांति तक मानता है धर्ममय...(5)

मोक्ष से ही जीव बनता है...पूर्ण सच्चिदानंद स्वरूप...
अनंत ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमय...शुद्ध बुद्ध शाश्वत रूप...
केवल भौतिक उपलब्धि हेतुक...नहीं है सकारात्मकता...
आत्मोपलब्धि के कारणभूत...विचार है परम सकरात्मकता...(6)

ऐसे परम विचार सहित ही...होते हैं सच्चे धार्मिक...
ऐसे ही परम विचार/(लक्ष्य) के कारण...'कनक' बना है धार्मिक...(7)

आगम ज्ञान व शुद्धात्मा भावना बिना मुक्ति नहीं

(शुद्धात्मा भावना बिना केवल बाह्य तप-त्याग पूजादि से मुक्ति नहीं)

(चाल : छोटी छोटी गैया..., सायोनारा...)

शुद्धात्मा भावना बिना व्रत तपादि, दान दया सेवा पूजा तीर्थ वंदना आदि।
न बनते मोक्ष हेतु न होता सम्यक्त्व, भले इससे मिले स्वर्ग मनुष्य सुख।। (स्थायी)
शुद्धात्मा भावना से ही मिलता सम्यक्त्व, होता है भेद विज्ञान नशे मिथ्यात्व।
अनंतानुबंधी क्रोध मान मायादि नशे, ज्ञान व चारित्र भी होते सम्यक्।।
व्रत नियम तप-त्यागादि होते सम्यक् संवर व निर्जरा भी होते सम्यक्।
सातिशय बंध होता (है) पुण्य विशेष, सांसारिक सुख (व) मिले मोक्ष-सुख।।
शुद्धात्मा भावना बिना न होता सम्यक्त्व, सम्यक्त्व बिना तप-त्याग न होते सम्यक्।
दान दया सेवा पूजा तीर्थ वंदना आदि, पापानुबंधी पुण्य बंधे न मिले मुक्ति।।
घोर तप-त्याग उपसर्ग सहन आदि, मासोपवास सहित मुनिव्रत आदि।

सम्यक्त्व बिना न बनते मोक्ष (के) कारण, सम्यक्त्व बिना न होता भेद विज्ञान।।

सम्यक्त्व हेतु परमागम ज्ञान चाहिए, आध्यात्म अनुभवी श्रमण गुरु चाहिए।
पंचलब्धियों का सम्यक् संयोग चाहिए,राग द्वेष मोह का उपशम आदि चाहिए।।
इसी से (होता है) आत्मा का सही श्रद्धान, जिससे होते सम्यक् व्रत नियम।
स्वशुद्ध आत्मा का भी होता अनुभव ज्ञान,जिससे निश्चय से मैं हूँ परमात्म समान।।

शुद्धात्मा भावना से /(में) स्व का होता ज्ञान-ध्यान, मैं हूँ शुद्ध-बुद्ध स्वभावी आनंदघन।
राग द्वेष मोह रहित (हूँ) सच्चिदानंद,तन-मन अक्ष रहित (हूँ) ज्ञानानंद।।
इसी से आत्म विशुद्धि समता बढ़ती, राग द्वेष मोह की भी शक्ति घटती।
ईर्ष्या तृष्णा घृणा की शक्ति नशती,ख्याति पूजा लाभ की इच्छा न होती।।(4)

इसी से ही आत्मा की प्रगति होती, संवर निर्जरा सहित मुक्ति मिलती।
जिससे मिलता आत्मिक अनंत सुख, 'कनकनंदी' का लक्ष्य आत्मिक सुख।।

धर्म व अध्यात्म में समानता व अंतर

(चाल : तुम दिल की धड़कन...)

धर्म है वस्तु स्वभावमय जो, हर द्रव्य में स्थित होता है।
जीव-अजीव व मूर्तिक-अमूर्तिक, हर द्रव्य धर्ममय होता है।।
आध्यात्मिक है जीव का शुद्ध स्वरूप, जो चैतन्य स्वरूप होता है।
ज्ञान दर्शन सुख-वीर्यमय व, सच्चिदानंद स्वरूप होता है।
हर द्रव्य में स्थित गुणों को 'स्वभाव' 'शक्ति' या 'धर्म' कहते हैं।
'लक्षण' या 'विशेष' रूप में भी, धर्म का कथन भी करते हैं ।। (1)

हर द्रव्य में होते सामान्य गुण, 'अस्तित्व' 'वस्तुत्व' व 'द्रव्यत्व'।
'प्रमेयत्व' अगुरुलघुत्व' 'प्रदेशत्व' सहित होते हर द्रव्य।
किन्तु जीवों में होते विशेष गुण, अनंत ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमय।।
अहिंसा सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह समता शांति क्षमामय।। (2)

आत्मविश्वास अनुभवज्ञान, सदाचरण सहिष्णुता उदारमय।

भेद-विज्ञान युक्त विवेकज्ञान, ध्यान-अध्ययन व तप-त्याग।
शुद्ध-बुद्ध व परमात्म अवस्था, होती है परम आध्यात्मिकमय।
इसे प्राप्त हेतु जो होती है प्रक्रिया, उसे भी कहते हैं धर्ममय।। (3)

यथा पूजा-पाठ जप आराधना, तीर्थयात्रा वंदना प्रार्थना स्तवन।
दान दया सेवा व परोपकार, वैयावृत्ति सहयोग-उपवास-मौन
किन्तु आध्यात्मिक बिना उक्त धर्मकाम से, नहीं मिलती है परम मुक्ति।
भले इसी से मिले सांसारिक सुख, भोगोपभोग-ख्याति-पूजा-प्रसिद्धि।। (4)

इसी से संसार में ही परिभ्रमण होता, चौरासी लाख योनि व चतुर्गति में।
जन्म-जरा-मरण-रोग-शोक मिलते, परम सुख न मिले संसार में।
मोक्ष प्राप्ति हेतु(अतः) जीवों को आध्यात्मिक चाहिए जीवों का शुद्ध स्वरूप।
अतएव 'कनकनन्दी' आध्यात्मिक, सेवन करे पाने को शुद्ध स्वरूप।। (5)

सन्दर्भ :

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो य फासेदि।
धम्म भोग-णिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्त।। (275) समयसार

अभव्य जीव नित्य कर्मफल चेतना रूप वस्तु की श्रद्धा करता है किन्तु नित्य ज्ञान चेतना मात्र वस्तु की श्रद्धा नहीं करता क्योंकि वह सदा (स्व-पर के) भेद-विज्ञान के अयोग्य है । इसलिये वह कर्मों से छूटने के निमित्त रूप, ज्ञानमात्र, भूतार्थ(सत्यार्थ) धर्म की श्रद्धा नहीं करता, भोग के निमित्त रूप, शुभ कर्म मात्र, अभूतार्थ धर्म की ही श्रद्धा करता है; इसलिये वह अभूतार्थ धर्म की श्रद्धा, प्रतीति, रूचि और स्पर्शन से ऊपर के ग्रैवेयक तक के भोग मात्र को प्राप्त होता है किन्तु कभी भी कर्मों से मुक्त नहीं होता। इसलिये उसे भूतार्थ धर्म के श्रद्धान का अभाव होने से (यथार्थ) श्रद्धान भी नहीं है।

(जीव एवं कर्म सिद्धांत संबंधी शोधपूर्ण कविता)

विश्व के सभी जीवों की अवस्थाएँ व मोक्ष अवस्था

(चाल : आत्मशक्ति)

जीवों के शुभाशुभ परिणामों से (कर्म) परमाणु परिणमते कर्म रूप से।
जीवों के असंख्यात (लोक प्रमाण) परिणामों से,कर्म बनते असंख्य रूप से।।

कर्म परमाणु तो जड़ रूप है, उनमें नहीं है चैतन्य गुण।
राग-द्वेष-काम-क्रोध-मद-मोह, नहीं होते हैं ज्ञान सुखादि गुण।।
शुद्ध चैतन्य गुण होते हैं शुद्ध, ज्ञान दर्शन सुख वीर्य गुण।
राग-द्वेषादि होते है जीव व, कर्म परमाणु मिश्रित गुण।। (1)

अतः राग-द्वेषादि की नहीं स्वतंत्र, शुद्ध रूप से मौलिक सत्ता।
ये तो अशुद्ध व मिश्र अवस्था, जिसके अस्तित्व से सांसारिक सत्ता।।
जीवों में भी है अनंत शक्ति (तथाहि) अनंत शक्ति कर्म परमाणु में।
परस्पर की बंध अवस्था में प्रगट, न होती दोनों की अनंत शक्ति।। (2)

दोनों ही दोनों की शक्ति खण्डित करते, जिससे दोनों होते दुर्बल।
दोनों के अशुद्ध परिणमन से,सूक्ष्म जीवों से बनते मानव तक।।
चौरासी लाख योनि मध्य में, इस चतुर्गति रूप-संसार में।
अनादि अनंत काल से जीव, भ्रमण करते पंच परिवर्तन में।। (3)

जीव है अनंत, काल है अनंत, कर्म (परमाणु) है अनंतानंत संसार में
भाव-कर्म अनुसार जीव जन्मते, मरते विभिन्न प्रजाति में।।
सूक्ष्म जीव भी मरकर बनते हैं, विशाल जीव अन्य प्रजाति में।
विशाल जीव भी मरकर बनते हैं,सूक्ष्म जीव अन्य प्रजाति में।। (4)

शरीर इन्द्रिय मन का भी होता, क्रम विकास व ह्रास भी।
ऐसा परिणमन अनंतबार भी संभव, मोक्ष प्राप्ति के पूर्व ही।।
जो मानव आध्यात्मिक विकास करते, वे प्राप्त करते मोक्ष ही।
मोक्ष ही जीवों का परम विकास, यह सच्चिदानंद स्वरूप ही।। (5)

परम अवस्था प्राप्ति के अनंतर, संसार में न होता पुनरागमन।
जन्म-जरा-मृत्यु-रोग-शोक रहित, तथाहि राग-द्वेष-मोह से (पूर्ण) शून्य।।
इन सब विषयों को भौतिक विज्ञानी, दार्शनिक तक नहीं जानते।
इन कारणों से उनके मत सार्वभौम (व) परम सत्य भी नहीं होते।(6)

यह सब ज्ञानगम्य सर्वज्ञ द्वारा, पूर्वाचार्यों द्वारा भी ग्रंथ लिखित।
उनके अध्ययन मनन द्वारा, 'कनकनन्दी' द्वारा यह काव्य लिखित।। (7)

वैयावृत्ति से तीन काल के सभी तीर्थंकर आदि पूजित होते

(चालः छुप गया कोई रे...)

वैयावृत्ति महान् है तीर्थंकर(भी)बताते,उत्कृष्ट वैयावृत्ति करे वे तीर्थंकर बनते।
अठारह गुणों से वे पंडित भी होते,सातिशय पुण्य से वे तीर्थंकर बनते।। (स्थायी)
आहार-औषधि-ज्ञान-अभयदान देते, वसतिका व उपकरण दान देते।
शरीर मर्दन व उपसर्ग दूर करते, मलमूत्र विर्सजन से वैयावृत्ति करते।।(1)

उससे तीन काल के सभी तीर्थेश होते पूजित, सिद्ध-साधु धर्म भी होते पूजित।
तीर्थेशों की आज्ञा पालन से ये सभी होते, नवकोटि से जो वैयावृत्ति करते।।(2)

वैयावृत्ति करते वे पात्र-लाभ करते, दुर्गुण नाशकर वे (भी) सुगुण होते।
दान व पात्र दोनों (भी) उपकृत होते, दान-धर्म पुण्य को भी परस्पर पाले।।(3)

आहार दान में ही पंचाश्चर्य(भी)होते,पंचकल्याणक में (भी) पंचाश्चर्य न होते।
इसी से सिद्ध होती वैयावृत्ति की महिमा, धर्मतीर्थ-दानतीर्थ दोनों की गरिमा।।

वैयावृति अंतरंग तप साधु भी करते, ज्ञानदान सेवादि से साधु की करते।
स्वाध्याय से भी महान् तप वैयावृत्ति बताया, वात्सल्य विनय आदि गुण सह बताया।। (5)

वैयावृत्ति न करे वे धर्म बाह्य होते, तीर्थंकर आज्ञा भंग धर्मनाश करते।
आचार लोप आत्मा व साधु त्याग करते,प्रवचन लोप कर वे मिथ्यादृष्टि होते।

अतः वैयावृत्ति महान् जीवन्त धर्म, इसके बिना न प्रवर्ते मोक्ष का मार्ग।
निश्चय-व्यवहारमय होता मोक्षमार्ग,'कनक' सेवन करता दोनों ही मार्ग।।

कर्त्ता व भोक्ता स्वयं जीव

(अच्छे बुरे या धर्म सब कुछ जीव स्वयं के लिए करते)

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : छोटी-छोटी गैया...)

जो कुछ भी जीव करते हैं व सोचते, स्वयं के लिए ही वे करते हैं।
अच्छे बुरे या धार्मिक सभी के, फल स्वयं को ही तो मिलते हैं।। (1)

मन-वचन-काय कृत कारित से, करते भी जीव जो अनुमत से।
पुण्य-पाप या धर्म-अधर्म सभी, करते हैं जीव स्वयं के ही लिए।। (2)

क्रोध-मान-माया-लोभ-काम-मोह, हिंसा-झूठ-चोरी-कुशील-परिग्रह।
दान-दया-सेवा-त्याग-परोपकार,ध्यान-अध्ययन-तप स्वयं के लिए।। (3)

ईर्ष्या-तृष्णा घृणा-परनिंदा-अपमान, मिलावट-शोषण आदि कुकाम।
समता-शांति व क्षमा-सहिष्णुता-स्वयं के फल को जीव स्वयं ही पाते।।(4)

सुकृत-दुष्कृत व आध्यात्मिक के फल, पाते हैं जीव स्व-भाव-व्यवहार से।
बीजानुसार ही यथा फल-फूल आते, भोजन अनुसार यथा परिणाम पाते।।(5)

नवकोटि से जीव जो कर्म बांधते, तदनुकूल जीव फल को पाते।
पुण्य से अभ्युदय तो पाप से पतन, इह-परलोक में फल ये पाते।। (6)

ध्यान-अध्ययन व तप-त्याग से, समता-शांति व सहिष्णुता से।
आत्मविशुद्धि से पुण्य-पाप-नष्ट कर, शुद्ध-बुद्ध व ज्ञानानंद को पाते।।(7)

अतःहर जीव को स्वयं के सुख हेतु, पाप त्यागकर करना चाहिए पुण्य।
शाश्वतिक सुख हेतु कर्म नाशकर, बनना श्रेय है सच्चिदानंदमय।। (8)

कर्म सिद्धांत का रहस्य भी यह है, मनोवैज्ञानिक व आध्यात्मिक रहस्य।
इह-परलोक आध्यात्मिक सुख के उपाय, आध्यात्मिक सुख ही 'कनक' का अंतिम लक्ष्य।। (9)

सन्दर्भ :

एवं कत्ता भोक्ता होज्जं अप्पा सगेहि कम्मेहि।
हिंडदि पारमपारं संसारं मोहसंच्छण्णो।। (69)

इस प्रकार अपने कर्मों का कर्त्ता-भोक्ता होता हुआ आत्मा मोहाच्छादित वर्तता हुआ अनंत संसार में परिभ्रमण करता है।

गोस्वामी तुलसीदास ने भी कहा है-

कर्म प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करहि फलहि तस चाखा।।

अमितगति आचार्य ने कहा भी है-

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थक तदा।। (30)

पहले जो जीव पुण्य एवं पाप कर्म करता है उसका ही फल शुभ एवं अशुभ रूप से प्राप्त करता है। यदि कोई दूसरे के द्वारा दिये गये शुभ या अशुभ फल को प्राप्त होने लगे तो स्वयं किया हुआ कर्म निरर्थक हो जायेगा।

निजार्जित कर्म विहाय देहिनो, न कोऽपि कस्याऽपि ददाति किंचन।
विचार यत्नेवमनन्य मानसः, परो ददातीति विमुञ्च शेमुषीम्।। (31)
(सामायिक पाठ)

अपने उपार्जित कर्म छोड़कर कोई भी प्राणी किसी भी प्राणी को कुछ भी सुख या दुःख नहीं देता है ऐसा विचार करते हुए हे आत्मन्! तू एकाग्रचित्त हो और दूसरा देता है इस बुद्धि को छोड़।

यथार्थ ज्ञान=अज्ञान-निवृत्ति, हित-प्राप्ति, अहित परिहार

(चाल : छोटी-छोटी गैया..., तुम दिल की...सायोनारा...)

हित की प्राप्ति अहित -परिहर, जिससे होता वह यथार्थ/(सम्यक्) ज्ञान।
अन्य सभी तो जानकारी मात्र है, लौकिक हो या धार्मिक/(आध्यात्मिक) ज्ञान।। (ध्रु.)
यथा प्रकाश से अंधेरा दूर होता, नवीन अंधेरा भी न होता प्रवेश।
दृश्यमान पदार्थ भी दिखायी देता, ग्राह्य प्राप्त, अग्राह्य होता परिहार।।
तथाहि-अहित का होता परिज्ञान, हित गाह्य होता अहित परिहार।।
यथार्थ ज्ञान होता आत्मश्रद्धा से, यथार्थ स्वरूपमय आत्मविश्वास से।
सच्चिदानंदमय होता आत्मा, इससे भिन्न सभी होते अनात्मा।।
राग द्वेष मोह काम क्रोधादि सभी, सत्ता-संपत्ति व प्रसिद्धि डिग्री।
शत्रु-मित्र अपना पराया आदि, तन-मन-इन्द्रिय विकार बुद्धि।।
ये सब अनात्मा (अतः) होते अहित, इसके परिहार से होता आत्महित।
सच्चिदानंदमय आत्महित, इसके ग्रहण में होता आत्महित।।
यह परम आध्यात्मिक ज्ञान स्वरूप, व्यवहार-गोण से होता प्रवृत्त।
हिंसा-झूठ-कुशील चोरी परिग्रह, फैशन-व्यसनों से होता निवृत्त।।

अन्याय-अत्याचार-शोषण-मिलावट, दूर होता भ्रष्टाचार आतंकवाद।
निन्दा-चुगली-अपमान-वैरत्व, त्याग होता ईर्ष्या घृणा तृष्णा विवाद।।
न्याय (नीति) सदाचारादि होता ग्रहण, सादा जीवन उच्च विचार उदारमन।
समता शांति का होता ग्रहण, ये सब (होते) यथार्थ से सम्यग्ज्ञान।।
अन्यथा ज्ञान न होता यथार्थ ज्ञान, जानकारी मात्र या दिखावा ज्ञान।
ज्ञान का फल होता सदाचरण, 'कनक' का लक्ष्य पूर्ण आत्म-विज्ञान।।

सन्दर्भ :-

हिताहित प्राप्ति परिहार समर्थ हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्।। 'परीक्षामुख'(2)

जिससे हित की प्राप्ति अहित का परिहार होता है वह प्रमाण है जो कि सम्यग्ज्ञान स्वरूप है।

अज्ञान निवृत्तिहानोपादानोपेक्षाश्च फलम्। (प. मुख सूत्र 1 अध्याय 5)

अज्ञान की निवृत्ति अहित का त्याग, हित की प्राप्ति, वीतराग स्वरूप निरपेक्षरूप समता भाव यह सम्यग्ज्ञान का फल है।

समकित-ज्ञान वैराग्य औषधि

भू महिला कणयाइ लोहाहि विसहरं कहं पि हवे।
सम्मत्तणाण वेरग्गोसहमंतेण जिणुद्दिट्ठं।। 79. (रयणसार)

अन्वयार्थ :- (भू) पृथ्वी (महिला) राजमहल स्त्री (कणयाइ) स्वर्ण-चाँदी आदि (लोहादि विसहरं) लोभरूपी सर्प विषधारी सर्प को (कहं अपि हवे) वह सर्प कैसे भी हो (सम्मत्त णाण वेरग्गोसहमंतेण) सम्यक्त्व, ज्ञान, वैराग्य रूपी औषध तथा मन्त्र के द्वारा वश में किया जा सकता है (जिणु दिट्ठं) ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने उपदेश दिया है।

पद्य-

भूमि महिला स्वर्णादि लोभरूपी विषधर सर्प कैसा भी हो।
सम्यक्त्व ज्ञान वैराग्य औषध मंत्र से होते वश यह जिनोक्त।।
समीक्षा- विषधर सर्प से अधिक घातक है लोभ रूपी सर्प।
इसे केवल वश कर सकते हैं सम्यक्त्व ज्ञान वैराग्य औषध।।
अन्यथा गृहस्थ हो श्रमण ख्याति पूजा लाभ प्रसिद्धि में होते मूर्च्छित।
जिससे वे न कर सकते हैं आत्म विकास रूपी भाव विशुद्धि।।

मुनि दीक्षा से पूर्व 10 का मुण्डन आवश्यक

पुव्वं जो पंचिंदिय तणु मणु वचि हत्थपाय मुंडाउ।
पच्छा सिरमुंडाउ सिवगइ पहणायगो होइ।। 80 रयण.

अन्वयार्थ :- (जो) जो साधु(पुव्वं) प्रथम में (पंचिंदय) पाँच इन्द्रियों की वासना का (तणु मणु वचि) शरीर मन वचन (हत्थपाय) हाथ पैरों का (मुंडाओ) मुंडन करता है(पच्छा) उसके पश्चात् (सिरमुंडाउ) शिर मुंडन करता है, केश लोंचन करता है (शिवगइ पहणायगो) वह मोक्षमार्ग का नायक-पथिक मार्गस्थ होता है।

पद्य- **पहले जो करते मुण्डन पंचेन्द्रिय-तन-मन-वच-हस्त-पाद।**
पश्चात करते शिरमुण्डन वे साधु शिवगति के पथिक।।

समीक्षा- केवल शिरमुण्डन से नहीं होता है कोई मोक्षमार्गी।
केशलोंचन के पूर्व कषाय-लोंचनादि अनिवार्य।।

सन्दर्भ :

सर्वोदय क्रांति के उपाय

(शान्तिमय क्रांति के उपाय)

(चाल : दुनिया में रहना है तो...)

क्रांति करो भाई क्रांति करो...शांति से सदा क्रांति करो...
अयोग्य काम भी कभी न करो...अयोग्य जनों के साथ न चलो...(ध्रुव)
सनम्र सत्यग्राही गुणग्राही बनो...अन्यायी अत्याचारी कभी न बनो...
जो अन्यायी-अत्याचारी होते...उन्हें नवकोटि से असहयोग करो...(1)

तीर्थंकर बुद्ध व ध्रुव प्रहलाद...नचिकेता विभीषण विदुर सुकरात...
नाइटेंगल मीराबाई जोहन्स ऑर्क...गाँधी सुभाष मण्डेला व लिंकन...(2)

सभी महापुरुष भी ऐसे ही होते...हीनाधिक उक्त गुणों सह होते...
आध्यात्मिक युक्त तो कोई व्यावहारिक...कोई राजनैतिक तो कोई सामाजिक...(3)

संकीर्णता-स्वार्थपरता-संकोच छोड़ो...क्रूरता-कठोरता-संक्लेश छोड़ो...
शोषण भेद-भाव भय भी छोड़ो...नकारात्मकता व निराशा छोड़ो...(4)

अंधानुकरण आडम्बर दिखावा छोड़ो...कौन क्या करता विचार छोड़ो...
कौन क्या कहे-सोचे-चिंता छोड़ो...आत्मविश्वास-अनुभव सह बढ़ो...(5)

अन्यथा विकास कभी न होगा...कोल्हू के बैल सम घूमा करेगा...
कृपमण्डूक सम टरटराते रहेगा...भेड़-भेड़िया चाल चलता रहेगा...(6)

समता-शांति व सत्य सहित...विकास करो आत्मशुद्धि सहित...
जिससे होगी सर्वोदय क्रांति...आध्यात्मिक क्रांति चाहे 'कनकनन्दी'...(7)

समस्त पूजा-प्रार्थना के फल स्वयं को शुद्ध-बुद्ध बनाने हेतु

(चाल : तुम दिल की...,छोटी-छोटी गैया...)

अरिहंतों को मेरा नमन हो...जो घातिकर्म से रहित हैं।
अनंत चतुष्टय सहित जो...वंदन गुणों की प्राप्ति हेतु।।
सिद्धों को मेरा नमन हो...जो अष्ट कर्म से रहित हैं।
अनंत गुणगण सहित जो...वंदन शुद्ध-बुद्ध बनने हेतु।। (1)

आचार्यों को मेरा नमन हो जो...छत्तीस मूलगुण धारक है।
शिक्षा-दीक्षा-अनुशासक जो...वंदन उनके सम बनने हेतु।।
उपाध्यायों को मेरा नमन हो जो...पच्चीस मूलगुण धारक हैं।
स्वाध्याय-अध्यापन सहित जो...वंदन आध्यात्मिक गुण प्राप्ति हेतु।। (2)

साधु-परमेष्ठियों को मेरा नमन हो...जो अट्ठावीस मूलगुण धारक हैं।
ध्यान-अध्ययन व मौन युक्त जो...वंदन आत्मसाधनारत होने हेतु।।
रत्नत्रय को मेरा नमन हो जो...मोक्षमार्ग-मोक्ष स्वरूप है।
निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्गमय...वंदन रत्नत्रयपूर्ण प्राप्ति हेतु।। (3)

दशधाधर्म को मेरा वंदन है...जो मोह-क्षोभ से रहित है।
आत्मा के निजगुण स्वरूप जो ...वंदन निज स्वरूप बनने हेतु।।
समस्त धर्म-कर्म पूजा-वंदना...स्व गुणगण प्राप्ति हेतु ही।
द्रव्य-भाव-नोकर्म से रहित...'कनक' शुद्ध-बुद्ध बनने हेतु ही।। (4)

अन्त्योदयी-सर्वोदयी-शांतिपूर्ण क्रांति

(चाल : तुम दिल की...)

जीवन में मैं क्रांति चाहता हूँ...मेरा जीवन हो सदा शांतिमय।
विश्व में हो सदा मंगलमय...हर क्रांति हो सदा शांतिमय।। (1)

परस्पर-सहयोगी बने सभी...क्षति न पहुँचाये कोई कभी।
मैत्री प्रमोद कारुण्य माध्यस्थ से...सह-अस्तित्व सहित जीये सभी।।
(कोई) किसी से न करे वैर-विरोध...उदार-समन्वय करे सभी।
आक्रमण-युद्ध शोषण परे...अन्त्योदय से सर्वोदय करे सभी।। (2)

अनेकांतमय भाव व्यवहार करे...स्याद्वाद सहित हित-मित बोले।
दान दया सेवा परोपकार करे...जीने के लिए सभी को जीने दे।
सत्य अहिंसा-शांतिमय धर्म पाले...रूढ़ि कट्टर क्रूरता भाव परे।
आत्मविश्वास ज्ञान से धर्म पाले...पर विवशता अज्ञानता दंभ परे।। (3)

सत्ता-संपत्ति-वर्चस्व का दंभ परे...सत्य-समता-शांति का राज्य चले।
अस्त्र-शस्त्र परे हो क्रांति सारे...वैचारिक आध्यात्मिक क्रांति सारे।।
तन-मन आत्मा से स्वस्थ सभी...बुद्धि भावना सहित आत्म शुद्धि।
सभी जीव को मिले समान अधिकार...मानव न छीने किसी का अधिकार।।(4)

सभी जीव बने सच्चिदानंदमय...परम-पावन आध्यात्मिक सुखमय।
परम क्रांतिमय शांति प्राप्त करे...'कनक' स्व-अनंत आत्म वैभव वरे।।(5)

'स्वाभिमानी' 'सोऽहं' - 'अहं' भावी मैं बनूँ!

(चाल : मन रे तू काहे न धीर धरे...,ज्योति कलश...) -आचार्य कनकनन्दी

जिया रे! तु स्वानुभवी बन। ऽऽऽ
दीन-हीन व अहंकार त्यजऽऽऽ 'सोऽहं' 'अहं' भजऽ..ध्रुव)...
तू तो सच्चिदानंद अमूर्तिकऽऽऽ तन-मन-इन्द्रिय परेऽऽऽ
राग-द्वेष-मोह-काम-क्रोध परेऽऽऽ शुद्ध-बुद्ध-आनंद पूरेऽऽऽ
ज्ञान दर्श सुख वीर्य पूरेऽऽऽ जीया...(1)...

अष्टमद तू त्यज अष्टगुण भजऽऽऽ भज स्वात्मा-स्वरूपऽऽऽ
स्व-मूल्यांकन से स्वाभिमानी भवऽऽऽ 'सोऽहं' से परे 'अहं' भवऽऽऽ
स्व-शुद्धात्मा गुण अनुभवऽऽऽ जिया...(2)

मोही रागी द्वेषी कामी क्रोधी जनऽऽऽ जानते न तेरा स्वभावऽऽऽ
अहंकारी-ममकारी-दीन-हीन जनऽऽऽ अष्टमद में होते लवलीनऽऽऽ
वे न जानते स्वाभिमानऽऽऽ न जाने 'सोऽहं' 'अहं' भावऽऽऽ जिया...(3)

जो स्वयं ही निज-रूप न जानेऽऽऽ वे क्या जानेंगे तव स्वरूपऽऽऽ
जो दीप स्वयं ही बुझा हैऽऽऽ वह क्या जलाये अन्य दीपऽऽऽ
स्व-प्रकाशी ही पर-प्रकाशीऽऽऽ तू स्व-पर प्रकाशी बनऽऽऽ जिया...(4)

सांसरिक काम व भोगोपभोग काऽऽऽ मानते/(कहते) 'मैं' किया ये कामऽऽऽ
उसका तो अहंकार-ममकार करतेऽऽऽ उसमें न लगे ये गलत कामऽऽऽ
'सोऽहं' भाव लगे अहंकारऽऽऽ अज्ञानी-मोही के सब कामऽऽऽ
भेद-विज्ञान रहित कामऽऽऽ जिया...(5)...

अप्रभावी रहो(तू) उनसे सर्वथाऽऽऽ परचिंता तो अधमाधमाऽऽऽ
स्वात्म चिंतन है उत्तम सर्वथाऽऽऽ मोह-काम चिंता है अधमाऽऽऽ
अधमाधमा चिंता त्यागोऽऽऽ 'सोऽहं' 'अहं' 'कनक' ध्याओऽऽऽ जिया...(6)

सन्दर्भ :

अविद्याभिदुरं ज्योति,परं ज्ञानमयं महत्।
तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं, तद् द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः।। (49)

That excellent and supreme light of the self is the destrayer of ignorance, the seekers after saluation should always angage themselves in questioning others about it in ectionately deeking it and in realizing if by actual exprience!

पूर्वोक्त विषय को आचार्य श्री और भी बताते है- मुमुक्षु को सतत उस आनंद स्वरूप, ज्ञानमय, आत्म प्रकाशक अविद्या रूपी अंधकार को भेदन करने वाली परम चित्-ज्योति,विघ्नों को छेदन करने वाला महान् विपुल इन्द्रादि से पूजनीय चैतन्य प्रकाश के बारे में गुरु आदि से सतत पूछना चाहिए तथा उसकी इच्छा

करनी चाहिए एवं उसका ही अनुभव करना चाहिए। आचार्य गुरुदेव ने शिष्य के प्रति परम करुणा से प्रभावित होकर शिष्य को आत्म तत्त्व के बारे में विशेष ज्ञान कराने के लिए व उसमें स्थिर करने के लिए आत्म तत्त्व का सविस्तार यहाँ वर्णन किया है।

समीक्षा - संसारी जीव अनादि अनंत काल से स्व-आत्म स्वरूप को भूलकर उससे दूर होकर, उससे च्युत होकर पर द्रव्य में ही रचा है, पचा है, अनुभव किया है और अपनाया है। अतएव ऐसे चिर-विस्मरणीय उपेक्षित स्व-आत्म द्रव्य और आत्म स्वरूप का ज्ञान, श्रद्धान, आचरण और उसकी उपलब्धि बहुत ही दुरूह है, क्लिष्ट साध्य है। कुंदकुंद देव ने कहा भी है -

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलभो विहत्तस्स।। 4 समयसार

सुदा अनंत बार सुनी गई है परिचिदा अनंत बार परिचय में आई है अणु भूदा अनंत बार अनुभव में भी आई है। सव्वस्स वि सब ही संसारी जीवों के काम भोग बंध कहा काम शब्द से स्पर्शन और रसना, इन्द्रिय के विषय और भोग शब्द से घ्राण चक्षु और श्रोत्र इन्द्रिय के विषय लिए गए हैं उनके बंध या संबंध की कथा अथवा बंध शब्द के द्वारा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बंध एवं उसका फल-नर-नारकादि रूप लिया जा सकता है, इस प्रकार काम, भोग और बंध की कथा जो पूर्वोक्त प्रकार से श्रुत-परिचित और अनुभूत है इसलिए दुर्लभ नहीं किन्तु सुलभ है। एयत्तस्स परन्तु एकत्व का अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र के साथ एकता को लिए हुए परिणमन रूप जो निर्विकल्प समाधि उसके बल से अपने आपके अनुभव में आने योग्य शुद्धात्मा का स्वरूप है उस एकत्व का अवलंभों उपलंभ सम्प्राप्ति अर्थात् अपने उपयोग में ले आना णवरि वह केवल ण सुलभो सुलभ नहीं है विहतस्स कैसे एकत्व का रागादि से रहित एकत्व का। क्योंकि वह न तो कभी सुना गया न कभी परिचय में आया और न अनुभव में ही लाया गया।

उपर्युक्त कारण से आचार्य श्री ने कहा कि हे- मोक्ष सुख के इच्छुक भव्य! तुम सतत् मोक्ष स्वरूप स्व-आत्म तत्त्व का चिंतन, मनन, श्रवण, निनिध्यासन, ध्यान करो। ग्रंथकार ने समाधितंत्र में व्यक्त करते हुए कहा है-

तद् ब्रूयात्तत्परान्पृच्छेत् तदिच्छेत्तत्परो भवेत्।
येनाविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत्।।

योगी को चाहिए कि वह उस समय तक आत्म ज्योति का स्वरूप कहे, उसी के संबध में पूछे, उसी की इच्छा करे और उसी में लीन होवे जब तक अविद्या(अज्ञान) जन्य स्वभाव दूर होकर विद्यामय न हो जावे।

अष्टावक्र गीता में भी प्रकारान्तर से इस विषय का प्रतिपादन मुनि अष्टावक्र ने निम्न प्रकार से किया है-

एको विशुद्धबोधोऽहमिति निश्चयवह्निना।
प्रज्वाल्याज्ञानगहन वीतशोकः सुखीभव।। 9

फिर शिष्य प्रश्न करता है कि आत्मज्ञानरूपी अमृतपान किस प्रकार करूँ? तब गुरु समाधान करते हैं कि हे शिष्य! मैं एक हूँ अर्थात् मेरे विषे सजाति-विजाति का भेद नहीं और स्वगत भेद भी नहीं है, केवल एक विशुद्ध बोध और स्व-प्रकाश रूप हूँ, निश्चय रूपी अग्नि से अज्ञान रूपी वन को भस्म करके शोक, मोह,राग, द्वेष, प्रवृत्ति, जन्म, मृत्यु इनके नाश होने पर शोक रहित होकर परमानंद को प्राप्त हो।

यत्र विश्वमिदं भाति कल्पितं रज्जुसर्पवत्।
आनन्दपरमानन्दः स बोधस्त्वं सुखंचर।। 10

यहाँ शिष्य करता है कि, आत्मज्ञान से अज्ञानरूपी वन के भस्म होने पर भी सत्यरूप संसार की निवृत्ति न होने के कारण शोक रहित किस प्रकार होऊँगा ? तब गुरु समाधान करते हैं कि, हे शिष्य! जिस प्रकार रज्जु के विषे सर्प की प्रतीति होती है और उसका भ्रम प्रकाश होने से निवृत्ति हो जाती है, उसी प्रकार ब्रह्मा के विषे जगत की प्रतीति अज्ञान कल्पित है, ज्ञान होने से नष्ट हो जाती है। तू ज्ञानमय चैतन्य आत्मा है, इस कारण सुखपूर्वक विचर। जिस स्वप्न में किसी पुरुष को सिंह मारता है तो वह बड़ा-दुःखी होता है परन्तु निद्रा के दूर होने पर उस कल्पित दुःख का जिस प्रकार नाश हो जाता है उसी प्रकार तू ज्ञान से अज्ञान का नाश करके सुखी हो। फिर शिष्य प्रश्न करता है कि हे गुरो! दुःख रूप जगत् अज्ञान से सुखरूप प्रतीत होता और ज्ञान से उसका नाश हो जाता है परन्तु सुख किस प्रकार प्राप्त होता है ? तब गुरु समाधान करते हैं कि हे शिष्य! दुःखरूपी संसार के नाश

होने पर आत्मा स्वभाव से ही आनंद स्वरूप हो जाता है, मनुष्य लोक से तथा देवलोक से आत्मा का आनंद परम उत्कृष्ट और अत्यंत अधिक है।

आत्मानुभव बिन आगम आदि ज्ञान अयथार्थ ज्ञान

(चाल : मन रे! तू काहे न धीर धरे...)

जीया रे! तू स्व-अनुभव करोऽऽऽ
स्व-अनुभव ही यथार्थ ज्ञान अन्य व्यवहार जानोऽऽऽ (ध्रुव)
आत्मानुभव हेतु (करो) व्यवहार ज्ञानऽऽऽ स्व-परमतज्ञान-विज्ञानऽऽऽ
आत्मानुभव बिन व्यवहार ज्ञानऽऽऽ न होते यथार्थ ज्ञानऽऽऽ
आत्मबिन यथा तन-मनऽऽऽ (1)

आध्यात्म दृष्टि से आत्मानुभव हीऽऽऽ होता है यथार्थ ज्ञानऽऽऽ
आत्मानुभव बिन आगम ज्ञान भीऽऽऽ न होता यथार्थ ज्ञानऽऽऽ
होता है व्यवहार ज्ञानऽऽऽ हाता है द्रव्यश्रुत ज्ञानऽऽऽ(2)

आत्मानुभव बिन आगम ज्ञान भीऽऽऽ होता अयथार्थ ज्ञानऽऽऽ
तब क्या लौकिक ज्ञान विज्ञानऽऽऽ नहीं होते अयथार्थ ज्ञानऽऽऽ(3)

अवश्य अयथार्थ ज्ञान आत्मज्ञान सह सुज्ञानऽऽ सम्यग्दर्शन युक्त सुज्ञानऽऽऽ
इतिहासपुराण न्याय व्याकरणऽऽऽ खगोल भूगोल व गणितऽऽऽ
कला वाणिज्य व कानून संविधानऽऽऽ आत्मज्ञान बिन सभी कुज्ञानऽऽऽ
आत्मज्ञान बिन कुज्ञानऽऽऽ आत्मज्ञान से सभी सुज्ञानऽऽऽ (4)

तर्क वाग्मिता गमकत्व कवित्वऽऽऽ उपदेश-कुशलता व लेखनऽऽऽ
आत्मज्ञान बिन सभी अयथार्थ ज्ञानऽऽऽ आत्मानुभव युक्त सभी सुज्ञानऽऽऽ
अतः तु करो आत्मज्ञानऽऽऽ आत्मानुभव ही यथार्थ ज्ञानऽऽऽ (5)

आत्मानुभव करो उसका (ही) कथन करोऽऽऽ उसी हेतु स्वाध्याय करोऽऽऽ
अध्यापन करो प्रवचन भी करोऽऽऽ लेखन जिज्ञासा भी करोऽऽऽ
'कनक' आत्मानुभव करोऽऽऽ आत्मानुभव से संसार तरोऽऽऽ
आत्मानुभव ही आध्यात्मसारऽऽऽ (6)

सन्दर्भ :

बुज्झइ सत्थइँ तउ चरइ पर परमत्थु ण वेइ।
ताव ण मुंचइ जाम णवि इहु परमत्थु मुणेइ।। (82)(परप्र.) (पृ. 201)

शास्त्रों को जानता है और तपस्या करता है लेकिन परमात्म को नहीं जानता है और जब तक पूर्व कथित परमात्मा को नहीं जानता या अनुभव नही करता, तब तक कर्मों से नहीं छूटता। यद्यपि व्यवहारनय से आत्मा अध्यात्मशास्त्रों से जाना जाता है तो भी निश्चय से वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान ही से जानने योग्य है। यद्यपि बाह्य सहकारी कारण अनशनादि बारह प्रकार के तप से साधा जाता है तो भी निश्चयनय से निर्विकल्प वीतराग चारित्र से ही आत्मा की सिद्धि है। जिस वीतराग चारित्र का शुद्धात्म में विश्राम होना ही लक्षण है उस वीतराग चारित्र के बिना आगमज्ञान से तथा बाह्य तप से आत्मज्ञान की सिद्धि नही है। जब तक निज शुद्धात्म तत्त्व के स्वरूप का आचरण नहीं है तब तक कर्मों से नहीं छूटता यह निसंदेह जानना। जब तक परम तत्त्व को न जाने, न श्रद्धा करे, न अनुभव करे तब तक कर्मबंध से नहीं छूटता । इससे ही निश्चय हुआ कि कर्मबंध से छूटने का कारण एक आत्मज्ञान है और शास्त्र का ज्ञान भी आत्मज्ञान के लिए ही किया जाता है। जैसे दीपक से वस्तु को देखकर वस्तु को उठा लेते हैं और दीपक को छोड़ देते है उसी तरह शुद्धात्म तत्त्व को उपदेश करने वाले जो अध्यात्मशास्त्र उनसे शुद्धात्म तत्त्व को जानकर उस शुद्धात्मा का अनुभव करना चाहिए और शास्त्र का विकल्प छोड़ना चाहिए। शास्त्र तो दीपक के समान है, तथा आत्म वस्तु रत्न के समान है।

सत्थु पढंतु वि होइ जडु जो ण हणेइ वियप्पु।
देहि वसंतु वि णिम्मलउ णवि मण्णइ परमप्पु।। (83)

जो जीव शास्त्र को पढ़ते हुए भी विकल्प दूर नहीं करता वह मूर्ख है, विकल्प नहीं मेटता और देह में स्थित भी निर्मल परमात्मा को श्रद्धान में नहीं लाता वह मूर्ख है। शास्त्राभ्यास का तो फल ही यह है कि रागादि विकल्पों को दूर कर और निज शुद्धात्मा का ध्यान करना। इसीलिए हमें व्याख्यान को जानकर तीन गुप्ति में अचल हो परम समाधि में आरूढ़ होकर निज स्वरूप का ध्यान करना चाहिए। लेकिन जब तक तीन गुप्तियाँ न हो परम समाधि न आवे तब तक विषय कषायों को हटाने के लिए पर जीव को धर्मोपदेश देना चाहिए। किन्तु फिर भी परोपदेश के बहुत मुख्यता अपने जीव

को यानि अपने आपको ही संबोधित करना चाहिए। पर उपदेश देते अपने को समझावे। जो मार्ग दूसरों को छुड़ावे वह आप कैसे करे ? मुख्य संबोधन स्वयं को ही है परजीवों को ऐसा उपदेश है, जो यह बात मेरे मन को अच्छी नहीं लगती तो, तुमको भली नहीं लगती होगी, तुम भी अपने मन में विचार करो।

बोह-णिमित्त सत्थु किल लोइ पढिज्जइ इत्थु।
तेण वि बोहु ण जासु वरु सो किं मूढु ण तत्थु।। (84)

इस लोक में नियम से ज्ञान के निमित्त ही शास्त्र पढ़े जाते हैं परन्तु शास्त्रों को पढ़ने से भी जिसको उत्तम ज्ञान नहीं हुआ क्या वह मूर्ख नहीं है ? वह मूर्ख ही है इसमें संदेह नहीं। यद्यपि लोक व्यवहार में कवि, गमक, वादी वाग्मीपने का ज्ञान शास्त्रजनित ज्ञात होता है तो भी निश्चयनय से वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान की-ही अध्यात्मशास्त्रों में प्रशंसा की गई है। स्वसंवेदन ज्ञान के बिना शास्त्रों के पढ़े हुए भी मूर्ख है और जो कोई परमात्मज्ञान के उत्पन्न करने वाले थोड़े शास्त्रों को जानकर भी वीतराग-स्वसंवेदनज्ञान की भावना करते हैं वे सिद्ध हो जाते हैं। ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है - ''मोहशत्रु को जीतने वाले वैराग्य परायण वीर थोड़े शास्त्रों को ही पढ़कर सुधर जाते हैं-सिद्ध हो जाते हैं और वैराग्य के बिना सब शास्त्रों को पढ़ते हुए भी मुक्त नहीं होते।'' परन्तु यह कथन अपेक्षा से है। इस बहाने से शास्त्र पढ़ने का अभ्यास नहीं छोड़ना और जो विशेष शास्त्र के पाठी है उनको दोष न देना। ''जो शास्त्र के अक्षर तो बता रहा है किन्तु आत्मा में चित्त नहीं लगाता उसे ऐसा जानना जैसा किसी ने कण रहित बहुत भूसे का ढेर कर लिया हो, वह किसी काम का नहीं हैं। इत्यादि पाठ मात्र सुनकर जो विशेष शास्त्रज्ञ हैं उनकी निंदा नहीं करनी चाहिए और जो बहुश्रुत हैं उनको भी अल्प शास्त्राज्ञों की निंदा नहीं करनी चाहिए क्योंकि पर के दोष ग्रहण करने से राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है, उससे ज्ञान और तप का नाश होता है, यह निश्चय से जानना चाहिए।

सन्दर्भ :

मत्तः कायादयो भिन्नस्तेभ्योऽहमपि तत्त्वतः।
नऽहमेषां किमप्यस्मि ममाऽप्येते न किञ्चन।।158।। तत्त्वानुं.

वस्तुतः ये शरीरादिक मुझसे भिन्न हैं, मैं भी इनसे भिन्न हूँ। मैं इन शरीरादिकका कुछ भी (संबंधी) नहीं हूँ और न ये मेरे कुछ होते हैं।

व्याख्या - यहाँ कायादयः पद में प्रयुक्त आदि शब्द शरीर से संबंधित तथा

असंबंधित सभी बाह्य पदार्थों का वाचक है और इसलिए उसमें माता, पिता, स्त्री, पुत्र, मित्र, दूसरे सगे संबंधी, जमीन, मकान, दुकान, घर-गृहस्थी आदि का सामान, बाग-बगीचे, धन-धान्य, वस्त्र-आभूषण, बर्तन-भांडे, पालतू-अपालतू जंतु और जगत् के दूसरे सभी पदार्थ शामिल हैं। सभी पर-पदार्थों से ममत्व को हटाने की इस भावना में यह कहकर व्यवस्था की गयी है कि यथार्थता अथवा वस्तु-स्वरूप की दृष्टि से शरीर सहित ये सब पदार्थ मुझसे भिन्न हैं, मैं इनसे भिन्न हूँ, मैं इनका कुछ नहीं लगता और न ये मेरे कुछ लगते हैं।

एवं सम्यग्विनिश्चित्य स्वात्मानं भिन्नमन्यतः।
विधाय तन्मयं भावं न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।। 159।। ध्यानशास्त्र

इस प्रकार (भावनाकार) अपने आत्मा को अन्य शरीरादिक से वस्तुतः भिन्न निश्चित करके और उसमें तन्मय होकर अन्य कुछ भी चिंतन नहीं करे।

इस प्रकार भावना द्वारा स्वात्मा को अन्य सब पदार्थों से वस्तुतः भिन्न निश्चित करके और उसी में लीन होकर दूसरे किसी भी पदार्थ की चिंता न करके चिंता के अभाव को प्राप्त होवें।

चिंता का अभाव तुच्छ न होकर स्वसंवेदनरूप है

चिन्ताऽभावो न जैनानां तुच्छो मिथ्यादृशामिव।
दृग्बोध-साम्य-रूपस्य स्वस्य संवेदनं हि सः।। 160

(यह) चिंता का अभाव जैनियों के (मत में) मिथ्यादृष्टियों के समान तुच्छ अभाव नहीं है; क्योंकि वह चिंता का अभाव वस्तुतः दर्शन, ज्ञान और समतारूप आत्मा के संवेदनरूप है।'

व्याख्या - जैन दर्शन में अभावकों भी वस्तु धर्म माना है, जो कि वस्तुव्यवस्था के अंगरूप है। एक वस्तु में यदि दूसरी वस्तु का अभाव स्वीकार न किया जाय तो किसी भी वस्तु की कोई व्यवस्था नहीं बनती। इस दृष्टि से अभाव सर्वथा असत्रूप तुच्छ नहीं है, जिससे चिंता के अभावरूप होने से ध्यान को ही असत् कह दिया जाय। वह अन्य चिंताओं के अभाव की दृष्टि से असत् होते हुए स्वात्मचिंतात्मक-स्वसंवेदन की दृष्टि से असत् नहीं है और इसलिए तुच्छ नहीं है। ध्यान के लक्षण में प्रयुक्त निरोध अथवा रोध शब्द का अभाव अर्थ करने पर उसका यही आशय लिया जाना चाहिए, न कि सर्वथा चिंता के अभावरूप, जिससे

ध्यान का ही अभाव ठहरे। अन्य सब चिंताओं के अभाव के बिना एकचिंतात्मक जो आत्मध्यान है वह नही बनता।

स्वसंवेदन का लक्षण

वेद्यत्व वेदकत्वं च यस्त्वस्य स्वेन योगिनः।
तत्स्वसंवेदनं प्राहुरात्मनोऽनुभवं दृशम्।। 161

'योगी के अपने आत्मा का जो अपने द्वारा वेद्यपना और वेदकपना है उसको स्वसंवेदन कहते हैं; जो कि आत्मा का दर्शनरूप अनुभव हैं'

व्याख्या -स्वसंवेदन आत्मा के उस साक्षात् दर्शनरूप अनुभव का नाम है जिसमें योगी आत्मा स्वयं ही ज्ञेय तथा ज्ञायकभाव को प्राप्त होता है अपने को स्वयं ही जानता, देखता अथवा अनुभव करता है। इससे स्वसंवेदन,आत्मानुभवन और आत्मदर्शन ये तीनों वस्तुतः एक ही अर्थ के वाचक हैं, जिनका यहाँ स्पष्टीकरण की दृष्टि से एकत्र संग्रह किया गया है।

स्वसंवेदन कोई करणांतर नहीं होता

स्व-पर-ज्ञाप्तिरूपत्वात्र तस्य करणान्तरम्।
ततश्चिन्तां परित्यज्य स्वसंवित्यैव वेद्यताम्।। 162

'स्व-परकी जानकारी रूप होने से उस स्वसंवेदन अथवा स्वानुभवका आत्मा से भिन्न कोई दूसरा करण- ज्ञाप्तिक्रिया की निष्पत्ति में साधकतम- नहीं होता। अतः चिंता का परित्याग कर स्वंसवित्तिके द्वारा ही उसे जानना चाहिए।'

व्याख्या - यहाँ यह बतलाया है कि स्वसंवेदन में ज्ञाप्ति क्रिया की निष्पत्ति के लिए दूसरा कोई करण अथवा साधकतम नहीं होता। क्योंकि वह स्वयं स्व-पर-ज्ञाप्तिरूप है। अतः करणांतर की चिंता को छोड़कर स्वज्ञप्ति के द्वारा ही उसे जानना चाहिए।

स्वात्मा के द्वारा संवेद्य आत्मस्वरूप

दृग्बोध-साम्यरूपत्वाज्जानन्पश्यन्नुदासिता।
चित्सामान्य-विशेषात्मा-स्वात्मनैवाऽनुभूयताम्।। 163

'दर्शन, ज्ञान और समतारूप होने से देखता, जानता और वीतरागता को धारण करता हुआ जो सामान्य विशेष ज्ञानरूप अथवा ज्ञान-दर्शनात्मक उपयोगरूप

आत्मा है उसे स्वात्मा के द्वारा ही अनुभव करना चाहिए।'

व्याख्या- यहाँ जिस आत्मा को अपने आत्मा के द्वारा ही अनुभव करने की बात कही गयी है उसके स्वरूप-विषय में यह सूचना की गयी है कि वह दर्शन, ज्ञान और समतारूप होने से ज्ञाता, द्रष्टा तथा उपेक्षिता (वीतराग) के रूप में स्थित है और चैतन्य के सामान्य तथा विशेष दोनों रूपों को दर्शन ज्ञान को लिये हुए है।

कर्मजेभ्यः समस्तेभ्यो भावेभ्यो भिन्नमन्वहम्।
ज्ञस्वभावमुदासीनं पश्येदात्मानमात्मना।। 164

'समस्त कर्मज भावों से सदा भिन्न ऐसे ज्ञानस्वभाव एवं उदासीन (वीतराग) आपको आत्मा के द्वारा देखना चाहिए।'

व्याख्या- यहाँ भी स्वसंवेदन के विषयभूत आत्मा के स्वरूप की कुछ सूचना करते हुए उसे जिस रूप में देखने की प्रेरणा की गयी है वह स्वरूप यह है कि आत्मा सदा कर्मजनित समस्त विभाव भावों से भिन्न है-कभी उनसे तादात्म्य को प्राप्त नहीं होता है-ज्ञानस्वभाव है और उदासीन है -वीतरागतामय उपेक्षा भाव को लिये हुए हैं।

यस्मिन्थ्याभिनिवेशेन मिथ्याज्ञानेन चोज्झितम्।
तन्मध्यस्थं निजं रूपं स्वस्मिन्संवेद्यतां स्वयम्।। 165

'जो मिथ्याश्रद्धान तथा मिथ्याज्ञान से रहित है और राग-द्वेष से रहित मध्यस्थ है उस निजस्वरूप को स्वयं अपने आत्मा में अनुभव करना चाहिए।'

व्याख्या - यहाँ भी स्वसंवेद्य आत्मा के स्वरूप की कुछ सूचना की गयी है और यह बतलाया गया है कि वह मिथ्यादर्शन तथा मिथ्याज्ञान से रहित है और अपने मध्यस्थ रूप को लिये हुए है, जो कि समता, उपेक्षा अथवा वीतरागतामय है। साथ ही इस रूप आत्मा को स्वयं स्वात्मा में देखने-जानने की प्रेरणा की गयी है।

इंद्रियज्ञान तथा मन के द्वारा आत्मा दृश्य नहीं

न हीन्दियधिया दृश्यं रूपादिरहितत्वतः।
वितर्कास्तत्र पश्यन्ति ते ह्यविस्पष्ट-तर्कणाः।। 166

'रूपादिसे रहित होने के कारण वह आत्मरूप इंद्रियज्ञान से दिखायी देने वाला नहीं है, तर्क करने वाले उसे देखते नहीं। वे अपनी तर्कणा में विशेषरूप से स्पष्ट नहीं हो पाते -उनके तर्क अस्पष्ट बने रहते हैं।'

व्याख्या - पिछले पद्य (164) में आत्मा को आत्मा के द्वार देखने की जो प्रेरण की गयी है, उसे यहाँ स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है कि वह इंद्रियज्ञान के द्वारा दृश्य नहीं है; क्योंकि इंद्रियाँ वर्ण, रस, गंध ओर स्पर्शविशिष्ट पदार्थ को ही देखती हैं और आत्मा इन वर्णादिगुणों से रहित है। अनुमानादि द्वारा तर्क करने वाले भी उसे देख नहीं पाते; (पराश्रित होने से) अपनी तर्कणा में वे सदा अस्पष्ट बने रहते हैं। वितर्क श्रुत को कहते हैं और श्रुत अनिंद्रिय (मन) का विषय है। इससे मन भी आत्मा को देख नहीं पाता, यह यहाँ फलितार्थ हुआ।

इंद्रिय-मन का व्यापार रुकने पर स्वसंवित्ति द्वारा आत्मदर्शन

उभयस्मिन्निरुद्धे तु स्याद्विस्पष्टमतीन्द्रियम्।
स्वसंवेद्यं ही तद्रूपं स्वसंवित्यैव दृश्यताम्।।167

'इंद्रिय और मन दोनों के निरुद्ध होने पर अतींद्रिय ज्ञान विशेष रूप स्पष्ट होता है (अतः) अपना वह रूप जो स्वसंवेदन के गोचर है उसे स्वसंवेदन के द्वारा ही देखना चाहिए।'

व्याख्या- जब इंद्रिय और मन दोनों के द्वारा आत्मा दृश्य नहीं है तब उसे किसके द्वारा देखा जाय ? इस प्रश्न को लक्ष्य में लेकर ही प्रस्तुत पद्य का अवतर हुआ जान पड़ता है। इसमें बतलाया है कि जब इंद्रिय और मन दोनों का व्यापार निरुद्ध होता है-रोक लिया जाता है- तब अतींद्रिय ज्ञान प्रकट होता है, जो कि अपने में विशेषतः स्पष्टता अथवा विशदता को लिये रहता है। उस ज्ञानरूप स्वसंवित्तिके द्वारा ही उस आत्मस्वरूप को देखना चाहिए जो कि स्वसंवेद्य है- अन्य किसी के द्वारा वह जाना नहीं जाता। इससे आत्मदर्शन के लिए इंद्रिय और मन के व्यापार को रोकने की बड़ी जरूरत है और वह तभी रुक सकता है जबकि इंद्रियाँ तथा मन को जीतकर उन्हें अपने अधीन किया जाय।

स्वसंवित्तिका स्पष्टीकरण

वपुषोऽप्रतिभासेऽपि स्वातन्त्र्येन चकासती।
चेतना ज्ञानरूपेय स्वयं दृश्यत एवं हि।।168

स्वतंत्रता से चमकती हुई यह ज्ञानरूपा चेतना शरीर रूप से प्रतिभासित न होने पर भी स्वयं ही दिखायी पड़ती है।'

व्याख्या - यहाँ, पूर्वपद्य में उल्लिखित स्वसंवित्तिको स्पष्ट करते हुए बतलाया

गया है कि यह संवित्ति ज्ञानरूप चेतना है जो कि परकी अपेक्षा न रखते हुए स्वतंत्रता के साथ चमकती हुई स्वयं ही दिखाई पड़ती है; शरीर रूप से उसका कोई प्रतिभास नहीं होता।

समाधि में आत्मा को ज्ञानस्वरूप अनुभव न करने वाला योगी आत्मध्यानी नहीं

समाधिस्थेन यद्यात्मा बोधात्मा नाऽनुभूयते।
तदा न तस्य तद्ध्यानं मूर्च्छावन्मोह एव सः।।169

'समाधि में स्थित योगी यदि आत्मा को ज्ञानस्वरूप अनुभव नहीं करता तो समझना चाहिए उस समय उसके आत्मध्यान नहीं, किंतु मूर्च्छावाला मोह ही है।'

व्याख्या - यहाँ उस योगी के ध्यान को आत्मध्यान न बतलाकर मूर्च्छारूप मोह बतलाया है जो समाधि में स्थिर होकर भी आत्मा को ज्ञानस्वरूप अनुभव नहीं करता। और इससे यह साफ फलित होता है कि जो योगी वस्तुतः समाधि में स्थित होगा वह आत्मा को ज्ञानस्वरूप ही अनुभव करेगा, जिसे ऐसा अनुभव नहीं होगा उसकी समाधि को समाधि न समझकर मूर्च्छावान् मोह समझना होगा।

आत्मानुभव का फल

तमेवानुभवंश्चायमेकाग्र्यं परमृच्छति।
तथाऽऽमाधीनमानन्दमेति वाचामगोचरम्।। 170

'उस ज्ञानस्वरूप आत्मा को अनुभव में लाता हुआ यह समाधिस्थ योगी परम-एकाग्रता को प्राप्त होता है तथा उस स्वाधीन आनंद का अनुभव करता है जो कि वचन के अगोचर है।'

व्याख्या- यहाँ, आत्मानुभव के फल को बतलाते हुए लिखा है कि जो समाधिस्थ योगी उस ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव करता है वह परम एकाग्रता को और उस स्वाधीन सुख को प्राप्त होता है जिसे वाणी के द्वारा नहीं कह सकते। इससे स्पष्ट है कि आत्म दर्शन होने पर ध्यान की एकाग्रता बढ़ जाती है और उससे जिस स्वाभाविक आत्मीय आनंद की प्राप्ति होती है उसका वर्णन नही किया जा सकता।

स्वरूपनिष्ठ योगी एकाग्रताको नहीं छोड़ता

यथा निर्वातदेशस्थः प्रदीपो न प्रकम्पते।
तथा स्वरूपनिष्ठोऽयं योगी नैकाग्र्यमुज्झति।। 171

'जिस प्रकार पवनरहित स्थान में स्थित दीपक नहीं काँपता, उसी प्रकार अपने स्वरूप में स्थित योगी एकाग्रता को नहीं छोड़ता।'

स्वात्मलीन योगी को बाह्य पदार्थों का कुछ भी प्रतिभास नहीं होता

तदा च परमैकाग्र्याद बहिरर्थेषु सत्स्वपि।
अन्यत्र किञ्चनाऽऽभाति स्वमेवात्मनि पश्यतः।।172

'उस समाधिकाल में स्वात्मा में देखने वाली योगी की परम एकाग्रता के कारण बाह्य पदार्थों के विद्यमान होते हुए भी उसे आत्मा के अतिरिक्त और कुछ भी प्रतिभासित नहीं होता।'

अन्यशून्य भी आत्मा स्वरूप से शून्य नहीं होता

अत एवाऽन्य-शून्योऽपि नाऽऽत्मा शून्यः स्वरूपतः।
शून्याऽशून्यस्वभावोऽयमात्मनैवोपलभ्यते।।173

'इसलिए अन्य बाह्य पदार्थों से शून्य हुआ भी आत्मा स्वरूप से शून्य नहीं होता- अपने निजरूप को साथ में लिये रहता है। **आत्मा का यह शून्यता और अशून्यतामय स्वभाव आत्मा के द्वारा ही उपलब्ध होता है-** दूसरे किसी बाह्य पदार्थ के द्वारा नहीं।'

व्याख्या- पिछले पद्य में जो यह बात कही गयी है कि स्वात्मलीन योगी को बाह्य पदार्थों के विद्यमान होते हुए भी अन्य कुछ भी प्रतिभासित नहीं होता उसका फलितार्थ इतना ही है कि वह उस समय अन्य से-दूसरे किसी भी पदार्थ के संपर्क से -शून्य होता है; परन्तु अन्य से शून्य होता हुआ भी वह स्वरूप से शून्य नहीं होता- स्वरूप को तो वह तल्लीनता के साथ देख ही रहा है। इस तरह आत्मा उस समय शून्याशून्य स्वभाव को प्राप्त होता है- परद्रव्यादि चतुष्टयके अभाव की अपेक्षा शून्य और स्वद्रव्यादि चतुष्टयके सद्भाव की अपेक्षा अशून्य होता है, और यह शून्याशून्य स्वभाव भी आत्मा के द्वारा ही उपलक्षित होता है- स्वसंवेद्य है।

मुक्ति के लिए नैरात्म्याद्वैतदर्शन की उक्तिका स्पष्टीकरण

ततश्च यज्जगुर्मुक्त्यै नैरात्म्याऽद्वैतदर्शनम्।
तदेतदेव यत्सम्यगन्याऽपोढाऽऽत्मदर्शनम्।। 174

'और इसलिए मुक्ति की प्राप्ति के अर्थ जो नैरात्म्य-अद्वैत-दर्शन की बात कही गयी है, वह यही है कि जो कि अन्य के आभास से रहित सम्यक् आत्मदर्शन के रूप है।'

वह अन्य के आभास से रहित केवल आत्मदर्शन के रूप में है उस आत्मदर्शन के समय दूसरी किसी भी वस्तु का कोई प्रतिभास नहीं होता; यदि दूसरी कोई वस्तु साथ में दिखायी पड़ रही हो तो समझ लेना चाहिए कि वह अद्वैतदर्शन नहीं है।

परस्परपरावृत्ताः सर्वे भावाः कथंचन।
नैरात्म्यं जगतो यद्धन्नैर्जगत्यं तथाऽऽत्मनः।।175

सर्व पदार्थ कथंचित् परस्पर परावृत्त हैं एक दूसरे से पृथक्त्व (भिन्न स्वभाव को) लिये हुए हैं। **जिस प्रकार देहादिरूप जगत् के नैरात्मता-** आत्मारहितता **है उसी प्रकार आत्मा के नैर्जगतता-**जगत् से रहितता है। कोई भी एक दूसरे के स्वरूप में प्रविष्ट होकर तद्रूप नही हो जाता है।

व्याख्या - यहाँ नैरात्म्याद्वैतदर्शन के विषय को स्पष्ट करते हुए यह बतलाया गया है कि सर्व पदार्थ कथंचित् -किसी एक दृष्टि से परस्पर परावृत्त हैं, सर्वथा नहीं। देहादिकके जिस प्रकार आत्मता नहीं, उसी प्रकार आत्मा के देहादिकता नहीं। परस्पर व्यावृत्त होते हुए भी कोई पदार्थ एक दूसरे के स्वभाव में प्रविष्ट होकर तादात्म्य को प्राप्त नहीं होता।

अन्याऽऽत्माभावो नैरात्म्यं स्वात्मसत्तात्मकश्च सः।
स्वात्मदर्शनमेवातः सम्याग्नैरात्म्यदर्शनम्।। 176

'अन्य आत्मा स्वरूप के अभाव का नाम नैरात्म्य है और वह स्वात्माकी सत्ता को लिये हुए है। अतः स्वात्मा के दर्शन का नाम ही सम्यक् नैरात्म्यदर्शन है।'

व्याख्या- यहाँ नैरात्म्य को उसकी निरूक्ति द्वारा अन्यात्मा के अभाव रूप बतलाते हुए यह प्रतिपादन किया है कि वह नैरात्म्य स्वात्मा के अभाव रूप नहीं किंतु स्वात्मा की सत्ता को लिए हुए है, और इसलिए आत्मदर्शन ही सम्यक् नैरात्म्यदर्शन है।

आत्मानमन्यसम्पृक्तं पश्यन् द्वैतं प्रपश्यति।
पश्यन्विभक्तमन्येभ्यः पश्यत्यात्मानमद्वयम्।। 177

'जो आत्मा को अन्य से संयुक्त देखता है वह द्वैत को देखता है और जो अन्य सब पदार्थों से आत्मा को विभक्त देखता है वह अद्वैतको देखता है।'

इस तरह नैरात्म्याद्वैतदर्शन का अभिप्राय केवल शुद्धात्मा के दर्शन से ही है।

एकाग्रता से आत्मदर्शनका फल

पश्यन्नात्मानमेकाग्र्यात्क्षपयत्यर्जितान्मलान्।
निरस्ताऽहं-ममीभावः संवृणोत्यप्यनागतान्।। 178

'अहंकार-ममकारके भाव से रहित योगी एकाग्रता से आत्मा को देखता हुआ (आत्मा में) संचित हुए कर्ममलोंका जहाँ विनाश करता है वहाँ आने वाले कर्ममलोंको भी रोकता है इस तरह बिना किसी प्रयत्नविशेष के संवर और निर्जारूप प्रवृत्त होता है।'

व्याख्या- यहाँ एकाग्रता से आत्मदर्शन के फलका निर्देश करते हुए उसके दो फल बतलाये हैं- एक आत्मा से संचित कर्ममलों की निर्जरा (निकासी) और दूसरा आत्मा में नये कर्ममलों के प्रवेश को रोकने रूप संवर। ये दोनों फल एक ही शुद्धात्मभाव की दो शक्तियों के कारण उसी प्रकार घटित होते हैं, जिस प्रकार सच्चिक्कणताका अभाव हो जाने पर पहले से चिपटी हुई धूलि स्वयं झड जाती है और नई धूलिको आकर चिपटने का कोई अवसर नहीं रहता। यह बात अध्यात्मकमलमार्तंड के निम्न दो पद्यों में एक ही शुद्ध भावसंवर तथा भावनिर्जरा ऐसे दो कार्यरूप कैसे परिणमता है, इस शंका का समाधान करते हुए स्पष्ट की गयी है।

एक शुद्धो हि भावो ननु कथमिति जीवस्य शुद्धात्मबोधाद्
भावाख्यः संवरः स्यात्म इति खलु तथा निर्जरा भावसंज्ञा।
भावस्यैकत्वतस्ते मतिरिति यत्रैव शक्तिद्वयात्स्यात्
पूर्वोपात्तं हि कर्म स्वयमिह विगलन्नेव बध्येत नव्यम्।।4-10

स्नेहाभ्यङ्गाभाव गलति रजः पूर्वबद्धमिह नूनम्।
नाऽप्यागच्छति नव्यं यथा तथा शुद्धभावतस्तौ द्वौ।। 4-11

स्वात्मा में स्थिरता की वृद्धि के साथ समाधि प्रत्ययों का प्रस्फुटन

यथा यथा समाध्याता लप्स्यते स्वात्मनि स्थितिम्।
समाधिप्रत्ययाश्चास्य स्फुटिष्यन्ति तथा तथा।।171

'समाधि में प्रवृत्त होने वाला योगी जैसे जैसे स्वात्मा में स्थिरता को प्राप्त होता जायेगा तैसे-तैसे समाधि के प्रत्यय भी उसके प्रस्फुटित होते जायेंगे।'

समाधि में स्थित ध्याता जैसे जैसे अपने आत्मा में स्थिरता को प्राप्त होता जायगा, समाधिके अतिशय अथवा चमत्कार भी वैसे वैसे प्रस्फुटित होते जायेंगे। इससे समाधि-प्रत्ययों का प्रस्फुटन स्वात्मा में उस अधिकाधिक लीनता एवं स्थिरतापर निर्भर है जिसका ग्रंथ में इससे पहले निरूपण किया गया है। और इसलिए जो ध्याता उस प्रकार की स्वात्मस्थिति प्राप्त किये बिना ही साधारण जप-जाप्य अथवा ध्यान-सामायिकादिके बल पर चमत्कारों की आशा रखता है वह उसकी भूल है। उसे अहंकार ममकारके त्याग और इंद्रिय-मन के निग्रहपूर्वक ध्यान का दृढ़ता के साथ सम्यक् अभ्यास कर स्वात्म ध्यान में स्थिरता को उत्तरोत्तर बढ़ाना चाहिए। जैसे-जैसे यह स्थिरता बढ़ेगी वैसे-वैसे ही ध्यान अथवा समाधिके अतिशय चमत्कारों को प्रकट होने का अवसर मिलेगा।

स्वात्मदर्शन धर्म्य-शुक्ल दोनों ध्यानों का ध्येय है

एदद्द्वयोरपि ध्येयं ध्यानयोर्धर्म्यशुक्लयोः।
विशुद्धि-स्वामीभेदात्तु तयोर्भेदोऽवधार्यताम्।। 180

'यह स्वात्मदर्शन अथवा नैरात्म्याद्वैतदर्शन धर्म्य और शुक्ल दोनों ही ध्यानों का ध्येय है। विशुद्धि और स्वामी के भेद से दोनों ध्यानों का भेद निश्चित किया जाना चाहिए।'

व्याख्या- यहाँ इस स्वात्मस्वरूप के दर्शन को धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान दोनों का ही लक्ष्यभूत विषय बतलाया है और यह सूचना की है कि इन दोनों ध्यानों में परस्पर विशुद्धि और स्वामिभेद की अपेक्षा से जो भेद है उसे अवधारण करना चाहिए। धर्मध्यान से शुक्लध्यान में परिणामों की विशुद्धि अधिकाधिक -

असंख्यातगुणी तथा अनंतगुणी है। शुक्लध्यान के चार भेदों में से प्रथम दो भेदों के स्वामी पूर्वविद-श्रुतकेवली हैं, जो कि श्रेण्यारोहण के पूर्व धर्म्यध्यान के भी स्वामी हैं और शेष दो भेदों अथवा परमशुक्लध्यान के स्वामी केवली भगवान् है। धर्मध्यान के स्वामी अविरत सम्यग्दृष्टि, देशव्रती श्रावक, प्रमत्तसंयत-अप्रमत्तसंयत-मुनि तथा श्रेण्यारोहण से पूर्ववर्ती दूसरे मुनि भी हैं।

प्रस्तुत ध्येय के ध्यान की दुःशक्यता और उसके अभ्यास की प्रेरणा

इदं हि दुःशकं ध्यातुं सूक्ष्मज्ञानाऽवलम्बनात्।
बोध्यमानमपि प्राज्ञैर्न च द्रागेव लक्ष्यते।। 181

तस्माल्लक्ष्यं च शक्यं च दृष्टाऽदृष्टफलं च यत्।
स्थूलं वितर्क्यमालम्ब्य तदभ्यस्यन्तु धीधनाः।।182

'यह आत्मा का अद्वैतदर्शन सूक्ष्म ज्ञान पर अवलंबित होने से ध्यान के लिए बड़ा ही कठिन विषय है और विशिष्ट ज्ञानियों के द्वारा समझाया जाने पर भी शीघ्र ही लक्षित नहीं होता। अतः जो बुद्धिधन के धनी ज्ञानीजन हैं वे लक्ष्य को, शक्य(संभाव्य) को, दृष्ट और अदृष्टफलको स्थूल वितर्क का विषय बनाकर उसका अभ्यास करें।'

भक्ति बिना सब शून्य

पतिभक्ति विहीन सदी भिच्चो जिणसमयभक्ति हीन जई।
गुरु भत्ति विहीण सिस्सो दुग्गइ मग्गाणुलग्गणो णियमा।। 81 रयण.

अन्वयार्थ :- (पतिभक्ति विहीण सदी) पति भक्ति से रहित स्त्री (भिच्चोय) स्वामी की भक्ति रहित सेवक (जिण समय भत्ति हीण) जिनेन्द्र देव के वचन की वाणी भक्ति रहित (जइयो) जैन (गुरु भत्ति विहीणा सिस्सो) गुरु की भक्ति से रहित शिष्य (दुग्गई मग्गाण लग्गणो णियमा) दुर्गति मार्ग में लगा हुआ है ऐसा नियम निश्चय से समझना।

पद्य- **पति भक्ति बिना सती, भृत्य, जिनवाणी भक्ति बिना कोई।**
गुरु भक्ति विहीन शिष्य, दुर्गति मार्ग में रत निश्चय।।

गुरु भक्ति के बिना जप तप निष्फल

गुरुभत्ति विहीणाणं सिस्साणं सव्वसंग विरदाणं।
ऊसरछेत्ते विविय सुबीयसमं जाण सव्वणुट्ठाणं।। 82 रयण.

अन्वयार्थः- (गुरुभत्ति विहीणाणं) गुरु भक्ति से रहित(सव्वसंग विरदाणं) किन्तु सब प्रकार के परिग्रह से रहित (सिस्साणं) शिष्यों के (सव्वणुट्ठाणं) सर्व प्रकार के धार्मिक अनुष्ठान जप तप क्रियाएँ (ऊसरछेत्ते) उसर खेत में (ववियं) बोये हुए (सबीयसमं) उत्तम बीज के समान (जाण) जानो।

पद्य- **गुरुभक्ति विहीन शिष्य भले सर्व परिग्रह से हो विरत।**
ऊसर खेत में बोया हुआ बीज सम निष्फल सर्वानुष्ठान।।

समीक्षा- **भले बीज हो उत्तम किन्तु ऊसर खेत में बोने से होता निष्फल।**
तथा उत्तम मार्ग दर्शक अनुभवी गुरु बिना शिष्य भी होता निष्फल।।

गुरु भक्ति के बिना कार्य निष्फल

रज्ज पहाण हीणं पतिहीणं देसगामरट्ठ बलं।
गुरुभत्ति हीण सिस्साणुट्ठाणं णस्सदे सव्वं।। 83 रयण.

अन्वयार्थ :- (पहाणहीणं) मंत्री से रहित, (रज्जं) राज्य (पतिहीणं) सेनापति रहित, (देस गाम रट्ठबलं) देश ग्राम राष्ट्र बल, (गुरुभत्ति हीणं सिस्सा) गुरु भक्ति से शून्य (अणुट्ठाणं णस्सदे सव्वं) अनुष्ठान, जप, तप,त्याग आदि शिष्य के द्वारा किये गये सब नष्ट हो जाते हैं।

पद्य - **प्रधान रहित राज्य, पतिहीन देश-ग्राम-राष्ट्र-बल।**
गुर भक्ति हीन शिष्य के, सर्व अनुष्ठान होते नाश।।

कारण बिना कार्य नहीं

सम्माण विण रूई भत्तिविणा दाणं दयाविण धम्मो।
गुरुभत्तिविणा तवगुणचरियं णिप्फलं जाणा।।84 रयण.

अन्वयार्थ :- (सम्माण विण रुइ) सम्मान के अभाव में रुचि प्रेम (भत्तिविण दाणं) भक्ति के अभाव में दान (दयाविण धम्मो) दया रहित धर्म (गुरुभत्तिहीण) गुरु भक्ति के अभाव में शिष्या का (तव गुण चारित्तं) तप गुण चारित्र (णिप्फलं) निष्फल(जाण) जानो।

पद्य- **सन्मान बिना रुचि, भक्ति बिना दान, दया बिन धर्म।**
गुरु भक्ति बिना शिष्य के, तप-गुण-चारित्र होते निष्फल।।

सन्दर्भ :-

(पञ्च-परमेष्ठी स्तुति)

(चाल : तुम दिल की धड़कन में..., सायोनारा...) - आचार्य कनकनन्दी

(1) अरिहंत स्तुति
घाति कर्म नाश कर सर्वज्ञ जो बने,
परम/(संपूर्ण) सत्य बताकर, हितोपदेशी जो बने।
आत्म को परमात्मा बनाने का, मार्ग जो बताये,
उनके गुण प्राप्ति हेतु, शिर को नित्य नमाये।।
(2) सिद्ध स्तुति...
सम्पूर्ण कर्म नाश कर, सिद्ध जो बने हैं,
अनन्त ज्ञान दर्शन सुख, वीर्य को जो धरे हैं।
अमूर्त अव्ययी अक्षय, अनंत गुण के धारी,
अनंतानंत सिद्धों को, हो वंदना हमारी।।
(3) आचार्य स्तुति...
छत्तीस मूल गुणधारी, स्व-पर मत के हो ज्ञाता,
लोकज्ञता गुण सह, तात्कालिन ज्ञान के ज्ञाता।
शिक्षा-दीक्षा प्रायश्चित, विविध विधा के सुज्ञाता,
नमन उन्हें ही हमारे, अपरिस्रावी जो प्रशास्ता।।
(4) उपाध्याय स्तुति...
पच्चीस मूल गुण के धारी, स्व-पर मत के हो ज्ञाता,
पठन-पाठन-चिन्तन सह, तात्कालीन ज्ञान के दाता।
मिथ्यावाद तम हर सूर्य, प्रखर प्रज्ञा के धारी,
आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्ति हेतु, तिन पद ढोक हमारी।।
(5) साध (मुनि) स्तुति...
रत्नत्रय विभूषित आपका, दिगम्बर है रूप,
आत्म साधना में सतत् रत रहते मौन स्वरूप।

ज्ञान-ध्यान-तपोरक्त, समता-शांति सहित,
जीवन्त है मोक्षमार्ग स्वरूप को नमन सतत्।।
अरिहन्त-सिद्ध देव हमारे, परमात्मा हैं सुदेव,
सूरी पाठक साधु हमारे, पूज्य होते गुरुदेव।
सिद्ध-साधक रूप में है, पंच-परमेष्ठी भगवन्त,
वन्दन उन्हें हमारे सदा, प्राप्ति हेतु गुण अनंत।।

गुरुवर की वन्दना (स्तुति)

(चाल : तुम दिल की धड़कन...)

शत शत वंदन हे गुरुवर! शत शत वंदन हे ऋषिवर।
वंदन तुझे है बारम्बर! टेक।।

हे निस्पृही हे निर्विकारी, हे आत्मकामी हे साम्यधारी।
हे मोक्षकामी हे क्षमाधारी, हे भेदविज्ञानी हे गुणधारी।।
हे उदारभावी हे दयाभावी, हे धैर्यशाला हे शीलधारी।
हे हितकारी हे वीतरागी, हे सतपथ के अनुरागी।। (1)
हे सात्विकाहारी हे शुभकारी, हे आत्मशोधक है ज्ञानधारी।
हे विश्वशांति के पक्षधारी, हे विश्वगुरुत्व के अधिकारी।।
हे संकीर्णता के परिहारी, धन-जन-मन से निर्विकारी।
शत्रु-मित्र में भी समताधारी, आध्यात्मिकता के हे पुजारी(2)
धनी-गरीब में भेद नाहीं, दीन-हीनता के भाव नाहीं।
आकर्षण-विकर्षण रहित है(जो) भौतिकता में रस नाही।।
ज्ञाता-दृष्टा के अनुगामी, गुण-दोष विवेकी हितकामी।
शरीर मन से सहितोऽपि, चैतन्यभाव के अनुगामी।। (3)
कर्मविपाके सहितोऽपि, कर्म निरपेक्ष भावाकांक्षी।
कमल के सम निर्लिप्त भाव है, देह स्थितोऽपि वैदेहि।।
ऐसे त्रिकाल स्थित गुरुओं को, मेरा शत शत वन्दन हो।
'कनकनन्दी' के भाव सदा है, ऐसा गुरुत्व ही प्राप्त हो।। (4)

वन्दन हे! साम्य मूर्ति

(राग : हे गुरुवर धन्य हो तुम...)

धन्य गुरुवर धन्य हो तुम, कितनी समता रखते हो...
शत्रु-मित्र, धनी-निर्धन में, समता भाव को धरते हो...(टेक/स्थायी)
लाभ-हानि व जन्म-मरण में, भेद भाव न रखते हो
सुख दुःख निन्दा प्रशंसा में, अन्तर भाव न रखने हो
स्वात्मविशुद्धि का भाव ही रखते, हर कार्य हर क्षण में
इसी हेतु ही प्रवचन करते, ख्याति लाभ नहीं मन में ऽऽ...शत्रु मित्र(1)

तप-त्याग व ध्यान-अध्ययन, करते समता भाव में
निस्पृह निराडम्बर सहज/(सरल), मन-वचन व काय में
हित-मित-प्रिय वचन बोलते, मौन साधना के भाव से,
लोकेष्णा रहित एकान्त, साम्य प्राप्ति के भाव से ऽऽ...शत्रु-मित्र (2)

वित्तेषणा पुत्रेष्णा त्याग से, तुमने प्राप्त किया साधुत्व
वमन को कोई ग्रहण करे ना, गृहस्थ भी बुधजन हो
द्रव्य क्षेत्र काल भाव सहित, आहार विहार चर्या है
अपवाद युक्त उत्सर्ग सहित, त्याग तपस्या व व्रत हैऽऽ शत्रु-मित्र (3)

कोई न अपना कोई न पराया, वैश्विक भावना तेरी है
उदार सहिष्णु पवित्रता युत, मन वच क्रिया तेरी है
स्वार्थी पंथवादी अनुदार न, महिमा न जाने तेरी है
आकाश के सम विशाल महिमा, मोहान्ध न जाने तेरी हैऽ...शत्रु मित्र (4)

इसी हेतु वह अनादर करे, अपमान निन्दा भारी
इसी के कारण पतित होता, क्षति न होती है तेरी
तुम विश्व वन्द्य तरण-तारण, साक्षात धर्म की मूर्ति
'कनकनन्दी' अनुयायी है तेरा,वन्दन हे साम्य मूर्ति ऽऽ...शत्रु मित्र (5)

अध्यात्म गुरु की वन्दना

(रागः बिन गुरु ज्ञान नहीं है..., जब निज आतम अनुभव आवे...)

चरण कमल वन्दूँ गुरुराई ऽऽ
जाकी कृपा मोहतम नाशे सत्य तथ्य दरसाई...
मन्दमति ज्ञानी पतित पावन भ्रष्ट बने सदराही...
सच्चे शिष्यगण/(जन) तेरी कृपा पर बार-बार शिरनाई...टेक...
तू ही कृपासिन्धु दीनबन्धु आत्मज्योति प्रगटाई...
अनाथ के नाथ पतित पावन ज्ञानदाता गुरुराई...
तुम ही माता, पिता तुम्हीं हो भाई बन्धु सखा तोई...
तेरी कृपा से दिव्यज्योति मिली मोहमाया विनसाई...चरण कमल...(1)

आत्मज्ञान मय तुम परमात्मा ज्ञानामृत प्राप्त तोही...
तुम्हारी वन्दना सेवा से मिले हैं, मोक्षलक्ष्मी सुखदाई...
आत्म गुरु बिन और कोई जन, तुम सम शान्ति न देई...
तेरी प्राप्ति हेतु तुम्हारी वन्दना भेदभाव बिना तो ही...चरण कमल...(2)

'कनकनन्दी' का सर्वस्व तुम्ही हो, पूज्य पूजा सब तोही...
हर दशा दिशा आशा तुम्ही हो, कर्त्ता-धर्त्ता सब तोही...
तुम्हें सदा वन्दूँ तुम्हे सदा भजूँ तुम्हे ही सदा मैं पाऊँ...
आत्म रसिक तुमको पहिचाने मैं भी तव गुण गाऊँ...चरण कमल...(3)

गुरु का स्वरूप

(तर्ज : ऊँचे-ऊँचे शिखरों वाला...)

ऊँचे-ऊँचे लक्ष्य धारे हैं, ये गुरुवर हमारे।
ये गुरुवर हमारे हैं, जग से ये न्यारे।। (टेक)
तुमने राग को आग है समझा, वैभव को वैर समान जो माना।
काम भाव को कालकूट माना, अर्थ को भी अनर्थ है जाना।
अलौकिक आचरण वाले हैं ये गुरुवर हमारे।। ऊँचे-ऊँचे...

सत्य साम्यमय अमृत पीते, ज्ञान रूपी ज्योति फैलाते।
उदार भाव शृंगार जो करते, विश्वमैत्री का नियम पालते।।
वसुधैव कुटुम्ब वाले हैं ये गुरुवर हमारे।। ऊँचे-ऊँचे...
अंहिसा व्रत का जो पालन करते, ज्ञान विज्ञान का शोध भी करते।
संतोष जल से स्नान जो करते, क्षमा भाव का ढाल है धरते।।
आध्यात्मिक रसिक निराले हैं ये गुरुवर हमारे।। ऊँचे-ऊँचे...
धनी-गरीब में भेद न करते, ऊँच-नीच का भाव न धरते।
हानि-लाभ में समता रखते, शत्रु-मित्र का भेद न रखते।।
कर्म शत्रु हनने वाले है, ये गुरुवर हमारे।। ऊँचे-ऊँचे...
आत्म कल्याण का लक्ष्य जो रखते, उसके हेतु ही साधना करते।
अन्य भाव का त्याग जो करते, ख्याति पूजा को छाया समझते।।
अनेकान्त, सिद्धान्त वाले हैं ये गुरुवर हमारे।। ऊँचे-ऊँचे...
ऐसे गुरु भगवान् हैं बनते, आकिंचन्य से ईश्वर बनते।
ब्रह्मचर्य से ब्रह्मत्व पाते साधक से है सिद्ध जो बनते।।
सत्य शिव, सुन्दर वाले हैं ये गुरुवर हमारे।। ऊँचे-ऊँचे...
''कनकनन्दी'' के आराध्य तुम हो, भव्य कमलों के सूरज तुम हो।
भक्त मधुप के मकरन्द तुम हो, तुम ही माता-पिता बन्धु हो।।
विश्व गुरुत्व धारे है, ये गुरुवर हमारे।। ऊँचे-ऊँचे...

गुरुवर के गुण प्राप्ति हेतु गुरु की पूजा

(चाल : रे पारस! तेरी कठिन डगरिया...)

हे! गुरुवर तब पावन जीवन...सत्य-समतामय शांत जीवन।
हमें भी चाहिए आप सम जीवन...इसलिए आपका करते पूजन।।
धन-जन-मान (व) भोगोपभोग से...हमारा न बना शांत जीवन।।
यह सब आप अनुभव करके...धरा निस्पृह निराडम्बर जीवन।।
शत्रु-मित्र भाई-बंधु न तेरे विश्व बंधुत्व के भाव है तेरे।
हमारे शत्रु-मित्र भाई (बंधु) होते...विश्व बंधुत्व के भाव न होते।।
ख्याति पूजा-लाभ-प्रसिद्धि परे...आत्म उपलब्धि ही लक्ष्य तेरे।
अतःआप हो अपरिग्रही शांत...हम आपसे विपरीत संत्रस्त।

आत्मानुसंधान आपश्री करते...स्व-गुण-दोषों का विचार करते।
गुणवृद्धि व दोष परिहार करते...अतः आप आध्यात्मिक विकास करते।।
इससे भिन्न हमारे भाव-व्यवहार...स्व-दोष न देखे पर गुणी से अनादर।
परनिंदा-अपमान आदि करते...जिससे वाद-विवाद कलह होते।।
आप तो समतल स्वच्छ दर्पण सम...आपके दर्शन से होता है ज्ञान।
हम तो विषमतल अस्वच्छ दर्पण...जिससे हमे न होता सही परिज्ञान।
आगम आध्यात्मिक आप...आपसे परिज्ञान होता आत्मरूप।
अनुभव बिन आत्मा का न ज्ञान चखे बिना यथा मीठा का ज्ञान न होता।।
आपसे आत्मा की कल्पना होती...जिससे श्रद्धा व प्रज्ञा बढ़ती।
श्रद्धा-प्रज्ञा से ही चर्या होती (बढ़ती)...जिससे आत्मा की अनुभूति होती।।
भावी रूप से भगवान् आप ही...मानव देह में विद्यमान अभी हो।
आप सम बनना हमारा लक्ष्य है...'कनक' वंदे तव गुण प्राप्ति हो।।

पूजा का स्वरूप व फल

(चाल : यमुना किनारे...)

पूज्य-पुरुषों की पूजा सदा ही करो! पूज्य गुण स्मरण व कीर्तन करो।
यथायोग्य गुण ग्रहण करो! सातिशय पुण्य से स्वर्ग-मोक्ष को वरो।। (1)

देव-शास्त्र-गुरु हैं पूज्य हमारे, वीतरागी देव बनना लक्ष्य हमारे।
लक्ष्य प्रतिपादक है शास्त्र हमारे, लक्ष्य के साधक हैं गुरु हमारे।(2)

तन-मन-वचन से पूजा विधेय, कृत-कारित-अनुमत से यह विधेय।

ख्याति-पूजा-लाभ परे पूजा विधेय, श्रद्धा-भक्ति-शक्ति से यह विधेय।।(3)

पूजा से परिणाम को निर्मल/(पावन) करो,सातिशय पुण्य बांधो व पाप विनाशो।
संकट-संक्लेश-संताप विनाश करो! स्वर्ग-मोक्ष सुख को पाया ही करो।।(4)

भाव सहित पूजा करते हैं श्रावक, श्रमण होता मुख्यतः भाव पूजक।
पूजा से पूज्य बनना है लक्ष्य सभी का,आत्मोपलब्धि करना है लक्ष्य'कनक' का।।

सन्दर्भ :

एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं।
चरिया परेत्ति भणिदा ताएव परं लहदि सोक्खं।। (254) प्र.सा.

(समणाणं) साधुओं को (ऐसा) यह प्रत्यक्ष (पसत्थभूदाचरिया) धर्मानुरागरूपचर्या या क्रिया होती है (वा पुणो घरत्थाणं) तथा गृहस्थों की यह क्रिया(परेत्ति भणिदा) उत्कृष्ट कही गई है (ता एव) ऐसी ही चर्या से गृहस्थ(परं सोक्खं) परंपरा से उत्कृष्ट मोक्षसुख (लहदि) प्राप्त करता है।

तपोधन दूसरे साधुओं की वैयावृत्य करते हुए अपने शरीर के द्वारा जो कुछ भी वैयावृत्य करते हैं वह पापारंभ व हिंसा से रहित होती है तथा वचनों के द्वारा धर्मोपदेश करते हैं। शेष औषध अन्नपान आदि की सेवा गृहस्थों के अधीन है इसलिए वैयावृत्य गृहस्थों का मुख्य धर्म है, किन्तु साधुओं का गौण है। दूसरा कारण यह है कि विकार रहित चैतन्य चमत्कार भावना के विरोधी तथा इन्द्रिय विषय और कषायों के निमित्त से पैदा होने वाले आर्त्त और रौद्रध्यान में परिणमने वाले गृहस्थ को आत्माधीन निश्चय धर्म के पालने का अवकाश नहीं है। यदि वे गृहस्थ वैयावृत्यादि रूप शुभोपयोग धर्म से वर्णन करे तो खोटे ध्यान से बचते है तथा साधुओं की संगति से गृहस्थों की निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्ग के उपदेश का लाभ हो जाता है, इससे ही वे गृहस्थ परंपरा से निर्वाण को प्राप्त करते हैं ऐसा गाथा का अभिप्राय है।

इस प्रकार शुद्धात्मानुरागयुक्त प्रशस्त चर्यारूप शुभोपयोग वर्णित किया गया है। वह शुभोपयोग, शुद्धात्मा की प्रकाशक सर्वविरति को प्राप्त श्रमणों के कषायकण के सद्भाव के कारण प्रवर्तित होता हुआ गौण होता है क्योंकि उस शुद्धोपयोग का शुद्धात्मपरिणति से विरुद्ध राग के साथ संबंध है और वह शुभोपयोग गृहस्थों के तो सर्वविरति के न होने से शुद्धात्म प्रकाशन के अभाव के कारण कषाय के सद्भाव में प्रवर्तमान होता हुआ भी मुख्य है क्योंकि जैसे ईंधन को स्फटिक के संपर्क से सूर्य के तेज का अनुभव होता है (और इसलिए वह क्रमशः जल उठता है) उसी प्रकार गृहस्थ को राग के संयोग से शुद्धात्मा का अनुभव होता है, और (इसलिए वह शुभोपयोग) क्रमशः परम निर्वाण सौख्य का कारण होता है।

समीक्षा- इस गाथा में कुंदकुंद देव ने कहा कि भले गृहस्थ एवं श्रमण दोनों

शुभोपयोग में रहते है तथापि शुभोपयोग क्रियाओं की मुख्यता श्रावकों की रहती है। शुभोपयोग चतुर्थ गुणस्थान से लेकर श्रेणी आरोहण से पहले तक मुख्यता से रहता है। तथापि सप्तम गुणस्थान में अधिक शुभोपयोग रहता है। परन्तु शुभोपयोग की क्रियाएँ 6वें गुणस्थान (श्रावक) में अधिक होती है। भले पंचम गुणस्थान में सम्यग्दर्शन और एक देश चारित्र भी है तथापि चरित्र मोहनीय कर्म के तीव्र उदय से वह सर्व विरति को प्राप्त नहीं होता है। जिसके कारण गृह में रहकर असि, मसि, कृषि, गृहादि कार्य एवं विषय भोग भी करता है। जिससे वह विशेष पापास्रव करता है उस पाप को धोने के लिए वैयावृत्ति आदि विशेष रूप से करता है। कहा भी है-

त्याज्यानजस्त्रं विषयान् पश्यतोऽपि जिनाज्ञया।
मोहात्त्यक्तुमशक्तस्य गृहिधर्मोऽनुमन्यते।। सा.धर्मा.

जिसके मिथ्यात्व कर्म का नाश हो गया है और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो गई है उस सम्यग्दर्शन के प्रभाव से जिसको हेयोपादेय का ज्ञान हो गया है, जिससे वह सम्यग्दृष्टि भगवान् जिनेन्द्र देव की आज्ञा से सांसारिक पंचेन्द्रिय विषयों को निरंतर हेय समझता है, दुःख का कारण मानता है, मिथ्यादृष्टि के समान सांसारिक विषयभोगों में तल्लीन नहीं होता है तथा प्रत्याख्यानावरण लक्षण चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से उसको छोड़ने में असमर्थ है, ऐसे भव्य जीवों को आचार्यों ने गृहस्थ धर्म पालन का उपदेश दिया है।

विषयविषमाशनोत्थितमोहज्वरजनिततीव्रतृष्णस्य।
निःशक्तिकस्य भवतः प्रायः पेयाद्युपक्रमःश्रेयान्।। (17) आत्मानु.

विषयरूप विष भोजन से उत्पन्न हुए मोह रूप ज्वर के निमित्त से जो तीव्र तृष्णा (विषयाकांक्षा और प्यास) से सहित है तथा जिसकी शक्ति उत्तरोत्तर क्षीण हो रही है ऐसे तेरे लिए प्रायः पेय (पीने योग्य सुपाच्य फलों का रस आदि तथा अणुव्रत आदि)की चिकित्सा अधिक श्रेष्ठ होगी।

गृहकर्मणापि निचितं कर्म विमाष्टि खलु गृहविमुक्तानाम्।
अतिथीनां प्रतिपूजा रूधिरमलं धावते वारि।। (24) रत्ना श्रा.

निश्चय से जिस प्रकार वारि-जल खून को धो देता है उसी प्रकार गृह रहित निर्ग्रंथ मुनियों के लिए दिया हुआ दान गृहस्थी संबंधी कार्यों से उपार्जित अथवा सुदृढ़ भी कर्म को नष्ट कर देता है।

जिन्होंने अंतरंग और बहिरंग घर का त्याग कर दिया है तथा सब तिथियाँ जिन्हें एक समान है, किसी खास तिथि से राग-द्वेष नहीं है ऐसे मुनियों के लिए जो दान दिया जाता है वह सावद्य व्यापार-सपाप कार्यों से संचित बहुत भारी कर्म को भी उसी तरह नष्ट कर देता है जिस तरह कि जल मलिन रूधिर को धो देता है, नष्ट कर देता है।

जो गृहस्थ होकर श्रावकोचित दान नहीं करता उसके लिए कहा ही है ''दाणं पुया मुक्खं सावया धम्मो ण सावय तेण विणा।'' जिनेन्द्र देव ने परमात्म प्रकाश में कहा भी है-

दाणु ण दिण्णउ मुणिवरहँ ण वि पूज्जिउ जिण णाहु।
पंच या वंदिय परम गुरु किमु होसइ सिव लाहु।। (168)

आहार, औषध, शास्त्र और अभयदान ये चार प्रकार से दान भक्तिपूर्वक पात्रों को नहीं दिये अर्थात् निश्चय व्यवहार रत्नत्रय के आराधक जो यति आदि को चार प्रकार का दान भक्ति कर नहीं दिया, इंद्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र आदि कर पूज्य केवलज्ञानादि अनंतगुणों कर पूर्ण जिननाथ की पूजा नहीं की, जल, चंदन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप धूप, फल से पूजा नहीं की और तीन लोक कर वंदने योग्य ऐसे अरहंत सिद्ध आचार्य, उपाध्याय, साधु इन पंच परमेष्ठियों की आराधना नहीं की। सो हे जीव! इन कार्यों के बिना तुझे शिव का लाभ कैसे होगा ? क्योंकि मोक्ष की प्राप्ति के ये ही उपाय है। जिनपूजा, पंचपरमेष्ठी की वंदना और चार संघ को चार प्रकार दान इन बिना मुक्ति नहीं हो सकती। कुंदकुंद देव ने बारस अणुपेक्खा में कहा है-

पुत्त कलतणिमित्तं, अत्थं अज्जयदि पाव बुद्धीए।
परिहरदि दयादाणं, सो जीवो भमदि संसारे।। (30)

यह संसारी जीव पुत्र और स्त्री के निमित्त से पाप बुद्धि से धन कमाता है तथा दया और दान को छोड़ देता है। वह जीव संसार में भ्रमण करता है।

जो गृहस्थ व्यापार में भोग राग में विषय-वासना में लिप्त होता हुआ भी श्रावक-योग्य दान-पूजा आदि धर्म को नहीं करता तथा एकांत आध्यात्मिकवाद का सहारा लेकर श्रावक योग्य क्रियाओं से पुण्य बंध होता है और पुण्य संसार का कारण मानकर पुण्य क्रिया से रहित हो पाप क्रियाओं में रत रहता है उसके लिए

देवसेनाचार्य ने भावसंग्रह में निम्न प्रकार किया है-

मुक्खं धम्मज्झाण उत्तं तु पस्मायविरहिए दाणे।
देस विरए पमत्ते उवयारेणेव णायव्वं।। (371)

यह धर्मध्यान मुख्यता से प्रमाद सहित सातवें गुणस्थान में होता है तथा देशविरत पाँचवें गुणस्थान में और प्रमत्त संयत छठे गुणस्थान में भी यही धर्मध्यान उपचार से होता है।

एवं तं सालंवं धम्मज्झाणं हवेइ नियमेण।
इयंताणं जायइ विणिज्जरा असुहकम्माणं।। (380)

इन पंचपरमेष्ठी का ध्यान नियमपूर्वक आवलम्बन सहित धर्मध्यान कहलाता है। इन पाँचों परमेष्ठियों का ध्यान करने से अशुभ कर्मों की विशेष निर्जरा होती है।

जो भणइ को वि एवं अत्थि निहत्थाण णिच्चलं झाणं।
सुद्धं च णिरालंवं ण मुणइ सो आयमो जइणो।। (382)

यदि कोई पुरुष यह कहे कि गृहस्थों के भी निश्चल निरालंब और शुद्ध ध्यान होता है तो समझना चाहिए कि इस प्रकार कहने वाला पुरुष मुनियों के शास्त्रों को ही नहीं मानता है।

किं जं सो गिहवंतो बहिरंतगंथपरमिओ णिच्चं।
बहु आरम्भपउत्तो कह झायइ सुद्धप्पाणं।। (384)

गृहस्थों के मुख्य धर्मध्यान न होने के कारण यह है कि गृहस्थों के सदाकाल बाह्य आभ्यंतर परिग्रह परिमित रूप से रहते हैं तथा आरंभ भी अनेक प्रकार के बहुत से होते हैं इसलिए वह शुद्ध आत्मा का ध्यान कभी नहीं कर सकता।

घर बाबारा केई करणीया अत्थि ते ण ते सव्वे।
झाणट्ठियस्य पुरओ चिट्ठंति णिमीलिच्छिस्स।।(385)

गृहस्थों को घर के कितने ही काम करने पड़ते हैं। जब वह गृहस्थ अपने नेत्रों को बंदकर ध्यान करने बैठता है तब उसके सामने घर के करने योग्य सब व्यापार स्मरण में आ जाते हैं।

अह ढिंकुलिया झाण झायइ अहवा स सोवए झाणी।
सोवंतो झायव्वं ण ठाइ चित्तम्मि वियलम्मि।। (386)

जो कोई गृहस्थ शुद्ध आत्मा का ध्यान करना चाहता है तो उसका वह

ध्यान ढेकी के समान होता है। जिस प्रकार ढेकी धान कूटने में लगी रहती है परन्तु उससे उसका कोई लाभ नहीं होता उसको तो परिश्रम मात्र ही होता है। इसी प्रकार गृहस्थों का निरालंब ध्यान व शुद्ध आत्मा का ध्यान परिश्रम मात्र होता है अथवा शुद्ध आत्मा का ध्यान करने वाला गृहस्थ उस ध्यान के बहाने सो जाता है। जब वह सो जाता है तब उसके चित्त में वह ध्यान करने योग्य शुद्ध आत्मा कभी ठहर नहीं सकता। इस प्रकार किसी भी गृहस्थ के शुद्ध आत्मा का निश्चल ध्यान कभी नहीं हो सकता।

झाणाणं संताणं अहवा जाइए तस्स झाणस्य।
आलंवण रहियस्स य ण ठाइ चित्तं थिरं जम्हा।। (387)

अथवा वह सोता नहीं तो उसके ध्यानों की संतान रूप परंपरा चलती रहती है। इसका भी कारण यह है कि निरालंब ध्यान करने वाले गृहस्थ का चित्त कभी भी स्थिर नहीं रह सकता।

तम्हा सो सालंवं झायउ झाणं पि गिहवई णिच्चं।
पंच परमेष्ठिरूव अहवा मंतक्खरं तेसिं।। (388)

इसलिए गृहस्थों को सदा काल आलंबन सहित ध्यान धारण करना चाहिए। या तो उसे पंचपरमेष्ठी का ध्यान करना चाहिए अथवा पंचपरमेष्ठी के वाचक मंत्रों का ध्यान करना चाहिए।

पात्र विशेष से शुभोपयोग का फल विशेष होता है

रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं।
णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्कालम्हि।।(255) प्र.सा.

The auspicious attachment fruits otherwise according to the object with which it is associated like the seeds, at the sowing time, sown in different kinds of fields.

(पसत्थभूदो रागो) धर्मानुरागरूपदान पूजादिक (वत्थुविसेसेण) पात्र की विशेषता से (विवरीदं) भिन्न भिन्न रूप फलता है (सस्सकालम्हि) जैसे धान्य की उत्पत्ति के काल में (णाणाभूमिगदाणिह) नाना प्रकार की पृथ्वियों में प्राप्त (बीजाणिव) बीज निश्चय से(फलदि) विभिन्न रूप फलता है।

जैसे ऋतु काल में तरह-तरह की भूमियों में बोये हुए बीज जघन्य, मध्यम व उत्कृष्ट भूमि के निमित्त से वही बीज भिन्न-भिन्न प्रकार के फलों को पैदा करता

है, तैसे ही यह बीजरूप शुभोपयोग भूमि के समान जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट पात्रों के भेद से भिन्न-भिन्न फल को देता है। इस कथन से यह भी सिद्ध हुआ है कि यदि सम्यग्दर्शन पूर्वक शुभोपयोग होता है तो मुख्यता से पुण्यबंध होता है परन्तु परंपरा से वह निर्वाण का कारण है मात्र पुण्यबंध को ही नहीं करता है।

समीक्षा-प्रत्येक कार्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि को लिए हुए होता है। इसमें एक भी कारण की हीनाधिकता से या विपरीतता होने से कार्य में भी हीनाधिकता या विपरीतता आ जाती है। इसी सिद्धांत के अनुसार पात्र विशेष से शुभोपयोग का फल भी विशेष होता है। जैसे उत्तम दूध भी अशुद्ध पात्र में रखने पर अशुद्ध हो जाता है, किन्तु शुद्ध पात्र में रखने पर शुद्ध रहता है। घी को शुद्ध मिट्टी के बर्तन में रखने पर उसके गुण में वृद्धि होती है लेकिन उसी घी को काँसे के बर्तन में रखने पर कुछ दिन बाद वह विष रूप में परिणित हो जाता है। लोहा चुंबक के संपर्क से चुंबक बन जाता है और लोहे में पानी-मिट्टी के संपर्क से जंग लग जाता है। इसी प्रकार स्वाति नक्षत्र का जल बिंदु कदली (केले) में जाकर कपूर रूप में परिणमन करता है। सर्प में जाकर विषरूप में परिणमन करता है और सीप में जाकर मोती रूप में परिणमन करता है। एक कवि ने कहा भी है-

कदली सीप भुजंग कह, स्वाति एक गुण तीन।
जैसे संगति बैठिए, तैसे ही फल दीन।।

हेय-उपादेय?

हीणादाण वियार विहीणादो बाहिरक्ख सोक्खं हि।
किं तजियं किं भजियं किं मोक्खु ण सुहं जिणुदिट्ठं।। 85 रयण.

अन्वयार्थ :- (हीणादाण वियार) हेय उपादेय विचार(विहीणादो) विहीन होने से (हि) निश्चय से (बाहिरक्ख सोक्खं) बाह्य पंचेन्द्रियों के विषयों में सुख मानते है (किं तजियं किं भजियं) क्या त्याज्य है क्या (उपादेय) ग्राह्य है (कि मोक्खुं) और मोक्ष सुख क्या है ?(ण दिट्ठ) नहीं देखा (जिणुदिट्ठं) इस प्रकार जिनेन्द भगवान् ने कहा है।

पद्य- **हेय-उपादेय विचार विहीन से ही बाह्य इन्द्रिय सुख मानते।**
क्या त्याज्य ग्राह्य क्या मोक्षसुख न ज्ञात कहते जिनेन्द्र।।

समीक्षा- **हेय-उपादेय विचार से ही होता सम्यग्ज्ञान या वीतराग विज्ञान**
तब ही होता हेय त्याग व उपादेय ग्रहण जिससे मिले मोक्ष।।

कर्म निर्मूलन का कारण

कायकलेसुववासं दुद्धरतवयरणकारणं जाण।
तं णिय सुद्धसरूवं परिपुण्णं चेदि कम्मणिम्मूलं।। 86 रयण.

अन्वयार्थ :- (कायाकिलेसुववासं) कायक्लेश और अनशन-उपवास आदि (दुद्धर) कठिन-कठोर(तवयरण) तपश्चरण और (परिपुण्णं) परिपूर्ण (णिय) निज (सुद्ध सरुवं) शुद्ध स्वरूप का ज्ञान होना (कम्मणिम्मूलं कारणं) समूल कर्म निर्मूलन का कारण है (इति) इस प्रकार (जाण) जानो।

पद्य-काय क्लेश उपवास दुर्द्धर तपश्चरण कारण ज्ञेय।
निज शुद्ध स्वरूप परिपूर्ण तव जानो कर्म निर्मूलनक्षम।।

समीक्षा- **निज शुद्धात्मा शुद्धि युक्त यदि होते हैं बाह्य तप**
तब होता है कर्म-नष्ट अन्यथा न होता कर्म-क्षय।।

सन्दर्भ :

शुद्ध भाव-आचरण ही वास्तविक धर्म

(शुद्ध भाव से शुद्धाचरण तो अशुद्ध भाव से अशुद्धाचरण)

(राग : आत्मशक्ति...)

शुद्ध भाव व शुद्धाचरण ही धर्म का वास्तविक रूप है।
अन्य सब धर्म इसका विस्तार, अन्यथा मिथ्याचार है।।
शुद्ध भाव से शुद्धाचार होता, अशुद्ध भाव से अशुद्ध है।
शुद्ध के अनेक भेद-प्रभेद है, अशुद्ध के तथाविध है।।
अन्धश्रद्धा रूपी अशुद्ध भाव से, होता है विपरीत काम।
आत्मा का विश्वास नहीं होता है, होता है अधर्म काम।
अशुद्ध क्रोध भाव से होते हैं, क्रोध विक्षुब्ध विद्वेष है।
वैर विरोध व वाद-विवाद, कलह युद्ध विनाश है।।
भाव अशुद्ध मान से होते हैं, दीन-अहंकार वृत्ति भी।
अष्टमद व दिखावा वृत्ति अविनय तुच्छ प्रवृत्ति भी।।

मायाचार रूपी अशुद्ध भाव से, होती है कुटिल वृत्ति।
चोरी मिलावट ठगी ढोंगाचार, यथा बगुला प्रवृत्ति।।
अशुद्ध भाव लोभ के कारण, होती है तृष्णा आसक्ति।
शोषण भ्रष्टाचार जमाखोरी तथा, होती परिग्रह आसक्ति।।
वेद अशुद्ध भाव के कारण, होती है काम प्रवृत्ति।
मैथुन आसक्ति फैशन प्रवृत्ति, होती है अश्लील वृत्ति।।
क्रोध मान माया लोभ मोह काम, होते हैं भाव अशुद्ध।
इनके कारण हर पाप होते, शुद्ध भाव से होते नही पाप।
दया दान सेवा परोपकार व, उदार सहिष्णु काम।
शुद्ध भाव से ही उत्पन्न होते हैं, तथाहि दशविध धर्म।।
बीजानुसार ही वृक्षादि होते, तथा आते हैं फूल-फल भी।
वायु मृदाजल सहयोगी होते, मृदादि ही न होते हैं फलादि।
समान मृदादि होने पर भी, बीज अनुसार होते हैं वृक्ष।
आम के बीज से आम के वृक्ष (तो) बबूल के बीज से बबूल वृक्ष।।
भाव अशुद्ध तो अच्छा काम भी, हो जाता अशुद्ध काम।
शिकारी यथा शिकार हेतु, चारा डाले पशु सम्मुख।।
शुद्ध भाव से शिष्य के सुधार हेतु, आचार्य देते हैं प्रायश्चित।
कठोर वचन उपवास रस त्याग, काय क्लेश आदि नहीं अनुचित।।

(यह कविता 'पुरुषार्थ सिद्धि उपाय' से प्रेरित है।)

अमूल्य रत्नत्रय/आध्यात्मिक धन पायो

(चाल : पायोजी मैंने राम रतन धन पायो...)

पायोजी मैंने रत्नत्रय/(आध्यात्मिक) धन पायो।...2
जिस धन हेतु सुरपति तरसे, चक्रवर्ती ललचायो...पायोजी...
राजा-महाराज-सेठ-साहूकार, जिस बिन कंगाल होए...पायोजी...
जिसे पाकर के निर्धन जन भी, श्रेष्ठ धनी कहायो/(होए)...पायोजी...
इस धन-हेतु असि मसि कृषि, वाणिज्य शिल्प न होए...पायोजी...
आक्रमण युद्ध दिग्विजय से, इसकी प्राप्ति न होय...पायोजी...

यंत्र-मंत्र तंत्र चोरी डाका द्वारा, यह कभी प्राप्त न होए...पायोजी...
जादू-टोना या विज्ञान द्वारा, यह न वश में होए...पायोजी...
इस प्राप्त हेतु आत्मविशुद्धि, आत्म प्रतीति ज्ञान होय...पायोजी...
संयम चारित्र शम दम द्वारा, यह तो वश में होए...पायोजी...
राग-द्वेष-मोह-ईर्ष्या/(घृणा) तृष्णा, इसके लुटेरे होए...पायोजी...
संकल्प-विकल्प-संक्लेश-कषाय, इसके विरोधी होए...पायोजी...
इन सबसे बचने हेतु मैंने, समता सेना बुलायो...पायोजी...
धैय सहिष्णुता मौन साधना/(कवच), साथ ही साथ लियो...पायोजी...
ख्याति पूजा लाभ लन्द-फन्द-त्याग, चन्दा-चिट्ठा को भगायो...पायोजी...
धन-जन-मान-आडम्बर त्यागो, 'कनक' को रत्नत्रय भायो...पायोजी...

धैर्य से मिलती है महानता एवं सफलता

(क्षुद्र व्यक्ति से विवाद एवं संगति महानता नाशक)

(रागः तुम दिल की धड़कन...)

समता भाव से धैर्य भी प्राप्त होता, धैय से कार्य भी सफल होता।
समता आती है शान्त भाव से, ईर्ष्या तृष्णा मोह शान्त होने से।। (1)

सहनशीलता की वृद्धि धैर्य से होती, धीरता वीरता गम्भीरता आती।
एकाग्रता विवेकशीलता आती, निर्णय क्षमता में तीव्रता आती।। (2)

कार्यक्षमता में तीव्रता आती, स्मरण शक्ति भी तीव्र होती।
तन मन आत्मा की शक्ति बढ़ती, मन व आत्मा की शान्ति बढ़ती।। (3)

इसी हेतु आध्यात्मिक ज्ञान चाहिए, आत्म चिन्तन व ध्यान चाहिए।
इसी योग्य महान् गुरु चाहिए, मार्गदर्शन व संगति चाहिए।। (4)

वाद-विवाद से शक्ति घटती, संक्लेश/(तनाव) चिन्ता से शान्ति नशति।
इनसे सफलता नहीं मिलती, स्व-महानता में कमी आती।। (5)

अनुदार हठग्राही क्षुद्र व्यक्ति से, विवाद करना नहीं विधेय।
इसी से महानता मलिन होती, समता शान्ति व शक्ति नशति।। (6)

ईर्ष्या घृणा तृष्णा निन्दा चुगली, महानता नाशक अशान्ति गाली।
क्षुद्रता भी अविधेय क्षुद्रजन से, अस्पर्श ही विधेय स्पर्श रोगी से।। (7)

प्रकाश से अन्धकार यथा भागता, समता-धैर्य से अपवाद नशता।
क्षुद्रता नशति है महानता से, सफलता चाहे 'कनक' महानता से।। (8)

''विवाद-विसंवाद से सत्य व शान्ति अप्राप्त''

(राग : सायोनारा..., शायद मेरी शादी...)

वाद-विवाद नहीं करणीय, हठाग्रह दूराग्रह त्यजनीय।
सनम्र सत्याग्रह भजनीय, संकीर्ण पूर्वाग्रह त्यजनीय।। (1)

सरल सहज भाव करणीय, पाखण्ड व दंभ त्यजनीय।
प्रज्ञा श्रद्धा न त्यजनीय, दीन-हीन भाव न वरणीय।। (2)

सत्य समता शान्ति भजनीय, विवश भय न वरणीय।
प्रेम एकता न खण्डनीय, वैर विरोध न करणीय।। (3)

विवादेन समाधान नहीं होता, विवाद/(बहस) है संकीर्ण मानसिकता।
पराजित या विजयी दोनों, वैचारिक समाधान नहीं पाते।। (4)

विवाद से समय नष्ट होता, सौहार्द्र समन्वय नष्ट होता।
कलह विसंवाद द्वेष-बढ़ते, समाधान सत्य नहीं पाते।। (5)

धैर्य से सही कार्य करणीय, कर्त्तव्य से सत्य सिद्धनीय।
'सत्यमेव जयते' यह सत्य, विवाद नहीं है हित/(प्रिय) सत्य।। (6)

अनेकान्त स्याद्वाद सेवनीय, प्रमाण नय भी भजनीय।
समता शान्ति रक्षणीय, 'कनकनन्दी' को यह प्रिय।। (7)

''महापुरुष व (या) सफल व्यक्ति के गुण''

(राग - आत्मशक्ति से ओतप्रोत...)

महापुरुष या सफल व्यक्ति के...होते कुछ विशेष गुण।
जिससे वे महान् होते...कर पाते वे विशिष्ट काम।। ध्रुव।।

सत्ता सम्पत्ति प्रसिद्धि बल से...कोई न होते हैं महामानव।
नैतिक व आत्मिक गुणों से...होते हैं वे महामानव।।
महापुरुषों के होते अनेक गुण...(यथा) होते हैं वे सत्यग्राही।
पक्षपात रहित होकर...सतत होते हैं सत्यग्राही।।1

विनम्र सरल सहज होते...दंभ पाखण्डो से होते दूर।
उदार सहिष्णु परोपकारी...संकीर्ण स्वार्थ से होते हैं दूर।
आत्मानुशासी संयमी होते...स्वावलम्बी व समयानुबद्ध।
सेवाभावी व्यापक दृष्टि...महान लक्ष्य से होते सन्नद्ध।। 2

एकाग्रमना दृढ़ निश्चयी...सत्य जिज्ञासु कर्त्तव्यशील।
हानि लाभ से होते अविचल...सतत होते प्रयत्नशील।।
अविचल होते निन्दा प्रशंसा से...सतत होते हैं शिक्षाशील।
काहूँ न वैरी काहूँ न रागी...वैश्विक कुटुम्बी उदारशील।। 3

रूढ़ि परम्परा संकीर्णता व...अंधविश्वास से होते वे दूर।
सत्य समता शान्ति के साधक...क्रूर कट्टरता से होते वे दूर।।
उनमें होते आत्मिक बल...सत् साहस व धैर्य गुण।
ऐसे गुण-गुणी के आदर से...'कनक' करे सदा सम्मान।। 4

मैं आगे आगे ही चला

(राग - शत-शत वन्दन...क्या मिलिये...) -आचार्य कनकनन्दी

मैं तो चला उस पार चला, बुद्धि से परे संवेदना में।
संवेदना सहित अनुभव से चला, मैं आध्यात्मिक प्राप्ति में।।1
पाप से परे मैं पुण्य में चला, शुद्ध प्राप्ति के लक्ष्य में।
नैतिक पाया अनैतिक त्यागा, धर्म व सत्य प्राप्ति में।।2
संविधान व कानून छोड़ा, आत्मानुशासन प्राप्ति में।
अभिमान त्याग स्वाभिमान पाया, सोऽहं भाव की प्राप्ति में।।3
परम्परा रूढ़ि को गौण किया, आध्यात्मिक साधना हेतु मैं।
बाह्य प्रभावना मैं कम किया, अन्तरंग प्रभावना हेतु मैं।4

तर्क पूर्वाग्रह परे मैं चला, अनेकान्त अनुभव प्राप्ति में।
वाद-विवाद परे मैं चला, संवाद-समन्वय हेतु में।। 5
प्रसिद्धि प्रतिष्ठा परे मैं चला, समता सिद्धि प्राप्ति में।
भेदभाव से परे मैं चला, भेद विज्ञान प्राप्ति में।।6
पंथ-मत से परे मैं चला, सम्यक पथ में आगे मैं।
भीड़-प्रदर्शन परे मैं चला, मौलिक दर्शन प्राप्ति में।।7
सीमा बन्धन मैं तोड़ चला, स्वतन्त्रता की प्राप्ति में।
उत्शृंखलता परशासन त्यागा, आत्म-संयम की प्राप्ति में।।8
सत्ता सम्पत्ति से पार चला, आत्म वैभव प्राप्ति हेतु।
आगे आगे ही आगे चला, 'कनक' शुद्धात्मा प्राप्ति में/(हेतु)।। 9

शुद्ध धर्म/(स्व-धर्म) का स्वरूप व फल

शुद्ध < बुद्ध < आनन्द(आध्यात्मिक शान्ति)

(सुधर्मी व कुधर्मी के स्वरूप व फल)

(चाल : तुम दिल की...छोटी-छोटी गैया...)

शुद्ध-बुद्ध-आनन्द में से, शुद्ध-बुद्ध से आनन्द महान्।
आनन्द हेतु ही शुद्ध-बुद्ध है, शुद्ध-बुद्ध बिन न आनन्द।। (1)

धर्म-अधर्म व आकाश-काल, तथाहि परमाणु तक होते हैं शुद्ध।
किन्तु बुद्धत्व के अभाव होने से, पाँचों शुद्ध द्रव्य में नहीं आनन्द(2)

आनन्द है जीवों का परम लक्ष्य, क्योंकि आनन्द है जीवों का स्वभाव
किन्तु अशुद्ध व कुज्ञान के कारण, जीव न पाते आध्यात्मिक आनन्द(3)

राग-द्वेष-मोह-काम-क्रोध-मद, तथाहि ईर्ष्या-तृष्णा घृणादि अशुद्ध।
इससे जीव होते हैं अशुद्ध बुद्ध, इससे जीव न पाते हैं ज्ञानानन्द।।(4)

अशुद्ध जीव ही चाहते ख्याति-पूजा-लाभ, वर्चस्व से ले करते वाद-विवाद
परनिन्दा-अपमान, वैर-विरोध, संकल्प-विकल्प द्वन्द्व-विध्वंस।। (5)

चक्रवर्ती भी ज्ञानानन्द हेतु ही, त्याग करते हैं सांसारिक वैभव।
ध्यान-अध्ययन व तप-त्याग से, शुद्ध बनकर पाते बुद्धत्व आनन्द(6)

यह अवस्था ही परमात्म अवस्था, यह अवस्था ही सच्चिदानन्दावस्था
यह अवस्था ही सत्य-शिव-सुन्दर है यह ही शुद्ध-बुद्ध आनन्दावस्था(7)

सहजानन्द या नित्यानन्द स्वरूप, परमानन्द या सदानन्द स्वरूप।
अनन्त सुख स्वरूप या निजानन्द, अनन्त आत्मोत्थ बोधानन्द।। (8)

इसे प्राप्त करने हेतु ही सकल धर्म, कहा है ''धर्मःसर्वसुखाकरो''।
धर्म स्वरूप या धर्म का फल ही, अभ्युदय से ले निःश्रेयस सुख।। (9)

जिससे न आध्यात्मिक सुख मिले, वह धर्म भी होता कुधर्म।
स्व-पर दुःखकारी समस्त धर्म-कर्म,स्व-धर्म या सुधर्म नहीं अधर्म/विधर्म(10)

केलव ढोंग-पाखण्ड या दिखावा नहीं होता है आध्यात्मिक धर्म।
केवल बाह्य तप-त्याग-ज्ञान, शुद्ध-बुद्ध-आनन्द बिन मिथ्या धर्म।। (11)

ऐसा धर्म जो पालन करते, वे होते हैं रागी-द्वेषी व मोही।
कामी या स्वार्थी-अन्धविश्वासी, भेड़-भेड़ियाचाल वाले कुज्ञानी।। (12)

ऐसे ही कुधर्मी होते हैं अधिक, भले नाम रूप हो पृथक-पृथक।
धार्मिक होते/(पाते) हैं शुद्ध-बुद्ध-आनन्द, इस हेतु ही 'कनक' साधना रत।

मैरे वैश्विक आत्म चिन्तन

मेरे द्रव्य-तत्त्व-पदार्थ में मैं ही प्रमुख

- आचार्य कनकनन्दी

(चाल :- यमुना किनारे...)

सर्वत्र घूमा कही न मिला, मेरा सत्य मुझ में मिला।
मेरा द्रव्य-तत्त्व तथा पदार्थ, मुझ में स्थित मुझ में मिला।। (1)

मैं हूँ जीव द्रव्य चैतन्यमय, द्रव्य-भाव-नोकर्म रहित।
अनन्तज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य मय मेरे गुण मुझ में स्थित।। (2)

'सत्-द्रव्य-लक्षण' होने से 'मैं' हूँ सत्य तथाहि द्रव्य।
'गुण पर्यय द्रव्य होने से मेरे गुण-पर्याय मुझ में स्थित।। (3)

अनादि कालीन कर्म बन्धन से, मेरे गुणपर्याय हुए अशुद्ध।
इससे होते आस्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा मोक्ष भी तत्त्व।। (4)

पुण्य-पाप मिलकर होते नवपदार्थ मेरे बिन मेरे ये नहीं संभव।
इसमें मेरे होते अशुभ-शुभ तथाहि शुद्ध भाव अति प्रमुख।। (5)

बाह्य निमित्त है पुद्गल द्रव्य, द्रव्य कर्म-नोकर्म रूप में परिणत।
सचित्त-अचित्त-मिश्र स्वरूप यथार्थ से मेरे न निज स्वरूप।। (6)

उदासिन निमित्त हैं आकाश-काल-धर्म-अधर्म तथा काल द्रव्य।
इनसे परे मैं चैतन्य द्रव्य, स्वयंभू-स्वयंपूर्ण-अनादि-अनन्त।। (7)

ऐसा श्रद्धान है सम्यग्दर्शन, इससे ही होता आत्मश्रद्धान।
इससे होता है सम्यग्ज्ञान जिससे ही होता वितराग विज्ञान।।(8)

दोनों से युक्त होता सही आचरण, रागद्वेष मोह क्षय के कारण।
अहिंसा-सत्य-अचौर्य-ब्रह्म-अपरिग्रह पालन स्व आत्म स्वरूप में रमण (9)

उत्तम क्षमा मार्दव आर्जव शौच संयम तप त्याग आकिंचन्य।
समता शान्ति-सहिष्णुता-निस्पृहता व ध्यान-अध्ययन।। (10)

इससे परे सभी होता विसर्जन, ख्याति पूजा लाभ संक्लेश कारण।
शत्रु-मित्र भाई बन्धु से परे मैत्री प्रमोद कारूण्य माध्यस्थ आचरण।। (11)

इससे ही आत्मविशुद्धि होती, जिससे आत्म शक्तियाँ वृद्धि होती।
आत्मानुभव बढ़ता जाता स्वयं में ही स्वयं में लीनता आती।। (12)

इससे संवर-निर्जरा बढ़े क्रमशः सर्व कर्म क्षय से मोक्ष मिले।
मोक्ष अवस्था ही मेरी शुद्ध अवस्था अन्य सभी मेरी अशुद्ध दशा(13)
इस हेतु निमित्त है देवशास्त्र गुरु प्रमुख सुद्रव्य क्षेत्र काल भाव निमित्त।
सभी के केन्द्र में 'मैं' ही मेरे हेतु प्रमुख ऐसा है 'कनक' का जीवद्रव्य।।(14)

मात्र बाह्य लिंग कर्म क्षय का हेतु नहीं

कम्मु ण खवेइ जो हु परब्रह्म ण जाणे सम्मउम्मुक्को।

अत्थु ण तत्थु जीवो लिंग घेत्तूण किं करई।। 87 रयण.

अन्वयार्थ :- (सम्मउम्मुक्को) जो सम्यक्त्व से रहित है, (परब्रह्म) परब्रह्म को (ण) नहीं (जाणइ) जानता है, (कम्मुण) वह कर्मों को (खवेइ) नाश नहीं कर सकता है, (अत्थुण) यहाँ भी नहीं (तत्थु ण) वहां भी नहीं (लिंग घित्तूण किं करई) लिंग-नग्न मुद्रा धारण कर क्या करेगा।

पद्य- **कर्म क्षय नहीं करे वह साधु जो परब्रह्म न जाने(सो) सम्यक्रिक्त।**
यहाँ व वहाँ नहीं होता जीव केवल लिंग ग्रहण से क्या करे?।।

समीक्षा- **जो साधु नहीं जाने परमात्मा को उसके ब्राह्य तप सभी व्यर्थ।**
सम्यग्दर्शन या आत्मश्रद्धान मोक्ष हेतु प्रमुख कारण।।

आत्मज्ञान बिना बाह्य लिंग क्या कर सकता है ?

अप्पाणं विण पिच्छइ ण मुणइ णवि सद्दहइ ण भावेइ।
बहुदुक्खभारमूलं लिंग घेत्तूण किं करई।। 88 रयण.

अन्वयार्थ :- (अप्पाणं विण ण पिच्छई) जो योगी अपने आत्म को देखता नहीं (ण मुणइ) मानता अर्थात् जानता नहीं (ण सद्दहइ) और श्रद्धान भी नहीं करता है(ण भावेइ) भावना भी करता नहीं है (बहुदुक्खमूलं) महान् दुःखमूल का कारण है। (लिंग) ऐसे लिंग को (घेत्तूण) धारण करके (किं करई) क्या करेगा। कुछ भी लाभ नहीं है।

पद्य - **जो स्व आत्मा को देखे नहीं न माने न श्रद्धा न भावना।**
बहु दुःखभारभूत लिंग ग्रहण करके क्या करेगा।।

समीक्षा- **शरीर जड़ व बाह्य लिंग भी जड़ इससे परे स्व-आत्मा।**
स्व-आत्मा के ज्ञान-भाव-अनुभव बाह्य लिंग ग्रहणीय।।
किन्तु आत्म श्रद्धा-प्रज्ञा-चर्या बिन बाह्य लिंग होता व्यर्थ।
यथा चेतना रहित शरीर को खिलाना-पीलाना आदि व्यर्थ।।

आत्मा की भावना बिना दुःख ही है

जाव ण जाणइ अप्पा अप्पाणं दुक्खमप्पणो तावं।
तेण अणंत सुहाणं अप्पाणं भावए जोई।। 89 रयण.

अन्वयार्थ :- (जाव) जब तक (अप्पा अप्पाणं) आत्मा आत्मा को (ण जाणइ) नहीं जानता है (ताव) तब तक (दुक्खमप्पणो) आत्मा को बहुत दुःख होता है। (तेण) उस आत्मा को जानने के लिए (अप्पाणं) अपने आत्म को (अणंत सुहाणं) अनंत सुख को (भावए जोई) हे योगी। आत्मा की भावना और चिंतवन कर।

पद्य- जब तक न जाने स्व-आत्मा को स्वयं द्वारा स्वात्मा को दुःख
अतः अनन्त सुख हेतु स्व-आत्मा की भावना योग्य।।

समीक्षा- बन्ध से मोक्ष तक होते स्व-आत्मा को अतः स्वात्मा प्रमुख।
इस हेतु देव-शास्त्र गुरु सहायक किन्तु उपादान स्व-आत्म तत्त्व
यथा वृक्ष हेतु मृदाजलादि सहायक किन्तु बीज होता प्रमुख।
तथाहि सुद्रव्यादि बाह्य निमित्त चाहिए किन्तु आत्मा ही पाये मोक्ष।।

सन्दर्भ :-

बाह्य प्रभावना मैं क्यों कम करता हूँ ?

स्व-प्रभावना सतत करता हूँ तथा बाह्य प्रभावना यथायोग्य

-आचार्य कनकनन्दी

(विविध रागीय कविता...)

1. (नाव तुझे घेता देवा होई समाधान...(मराठी)
2. छुप गया कोई रे...दूर से पुकार...
3. दुनियाँ में हम आये हैं तो जीना ही पड़ेगा...)

स्व-प्रभावना करता हूँ,मैं रत्नत्रय से,बाह्य प्रभावना करता हूँ(मैं) यथायोग्य से।
दोनों में से स्व की मैं करता सदा, बाह्य की मैं न करता सदा सर्वदा।।ध्रुव
स्व-भाव की प्रकृष्टता स्व-प्रभावना, समता-शान्ति बढ़ाना स्व-प्रभावना।
संक्लेश लन्द-फन्द से रिक्त भावना, ख्याति पूजा-लाभ से शून्य भावना।। (1)

दबाव-प्रलोभन से हीन भावना, भेद-भाव रहित साम्य भावना।
चन्दा-चिट्ठा याचना से शून्य भावना, स्वाध्याय लेखन युक्त शुभ भावना।।(2)

इससे युक्त बाह्य प्रभावना मैं तो करूँ, इससे रिक्त प्रभावना कभी न करूँ।
इससे रिक्त स्थिति/(स्थान) में समता मैं रखूँ/(माध्यस्थ रहूँ)
निस्पृह शान्त भाव से (मैं) मनन करूँ।। (3)।।

महंगाई से संत्रस्त सामान्य जनों की, अस्त-व्यस्त संत्रस्त रहने वालों को।
गृहकार्य-पढ़ाई व व्यापार में रत, नौकरी आदि में व्यस्त आबाल-वृद्धों को।।

भावना-क्षमता-रूचि रहित जनों को, समय साधन धन रहित जनों को।
बाह्य प्रभावना हेतु न डालूँ दबाव, प्रलोभन भय का न डालूँ प्रभाव।।(5)

सहज भाव से (मैं) करता हूँ प्रभावना, शिविर-संगोष्ठी-कक्षादि की आयोजना।
साहित्य छपाना या प्रवचन आयोजना, देश-विदेशों में जो होती है प्रभावना।।

रूपयो के चन्दा-चिट्ठा स्वयं न करता, मन्दिर मूर्ति भवन मैं न बनाता।
विधान पंचकल्याणक में प्रवचन ही देता, इसमें कर्त्ता-धर्त्ता मैं न बनता।।(7)

अधिक साधन की इसमें/(जिसमें) जरूरत होती, धन-जन-समय की जरूरत होती।
इस हेतु धनी की आवश्यकता होती, धन हेतु याचना मुझसे न होती।।(8)

अधिक धन हेतु प्रायः भ्रष्टाचार होता, भ्रष्टाचार का धन तो पापात्मक होता।
इस धन का प्रयोग भी पापमय होता, अतएव ऐसा कार्य मैं त्याग करता।।(9)

मेरे भक्त-शिष्यजन स्वेच्छा से करते, ग्रन्थ छपाना प्रभावना भक्ति से करते।
मैं तो उन्हें केवल ज्ञानदान देता, 'कनकनन्दी' तो स्व-प्रभावना करता।।(10)

आध्यात्मिक-दार्शनिक शिक्षाप्रद कविता

''अन्य की संकीर्ण-स्वार्थपरता से मुझे प्राप्त शिक्षायें''

(अन्य की अस्त-व्यस्त-संत्रस्तता से मुझे प्राप्त शिक्षायें)

(राग : छोटी-छोटी गैया..., तुम दिल की...) आचार्य कनकनन्दी

स्व-स्व स्वार्थ में अन्य है संत्रस्त, संत्रस्त में ही होते हैं वे व्यस्त।
व्यस्त में भी वे न जानते सत्य, तथापि मानते स्वयं को ही श्रेष्ठ।।
सत्य व सुख को वे नहीं जानते, मन्यमाना अहं भाव भी रखते।

स्वार्थ में ही अस्त-व्यस्त वे रहते, यद्वा-तद्वा सुख शान्ति को चाहते।।
अतएव मुझे करणीय सदा, शिक्षा से ज्ञान वरणीय सदा।
आत्मकल्याण ही करणीय सदा, सत्य-साम्य-सुख वरणीय सदा।।
यदि अन्य जन स्व स्वार्थ में रत, मुझे भी स्व-स्वार्थ साधना सतत्।
क्षुद्र स्वार्थ में यदि अन्य है संत्रस्त, मैं क्यों न रहूँ निज साधना में रत।।
साधना में मेरा समय बीतता, साधना में व्यस्त-मस्त मैं रहता।
सत्य साम्य सुख मुझे (तो) मिलता, संक्लेश दुःख से दूर मैं रहता।।
उत्तम स्वात्म-चिन्ता ही होती, मोह चिन्ता भी मध्यमा होती।
काम चिन्ता तो अधमा होती, पर चिन्ता अधमाधमा होती।।
आत्महित है आद्य करणीय, संभव हो परहित करणीय।
आत्महित परहित के मध्ये, आत्महित है श्रेष्ठ करणीय।।
तीर्थंकर मुनि ऋषि आध्यात्मिक, सत्य व शान्ति के (जो) होते साधक।
उन्हीं का ही यह मार्ग है परम, मेरे लिये भी है मार्ग/(धर्म) परम।।
अतः उन्होंने धन जन त्यागा, मान-प्रतिष्ठा व राग-द्वेष त्यागा।
एकान्त मौन व समता में रहे, आत्म प्राप्ति हेतु साधना में रहे।।
जिससे उन्हीं को मोक्ष प्राप्त हुआ, अनन्त सुख उन्होंने प्राप्त किया।
मुझे भी सतत यही करणीय, 'कनकनन्दी' का परम ये ध्येय।।

''मैं दूसरों को उपदेश एवं सुझाव कम क्यों देता हूँ?''

(अन्य के गुरु से स्वयं का शिष्यत्व मेरे लिये श्रेय क्यों?)

(व्यर्थ परोपदेश/(सुझाव) मैं (आ. कनकनन्दी) क्यों त्याग रहा हूँ?)

(राग : शत-शत वन्दन..., इतनी शक्ति हमें..., यमुना किनारे श्याम...)

हितोपदेश कोई सुनते नहीं...सुनकर मनन भी करते नहीं।
आचरण अनुभव करते नहीं...अतएव उपदेश मैं करता नहीं।।
इसमें अनेक कारण भी होते, क्षुद्र उद्देश्य व मन्दमती भी होते।
संक्लेशित चंचल मन के होते...अहं दीन भावी व प्रमादी होते।। (1)

अस्त-व्यस्त जीवन सहित होते...सत्ता सम्पत्ति में लिप्त होते।
फैशन-व्यसन ही परम ध्येय...भोग-विलासिता जिन्हें भी प्रिय।।

अतः पढ़ाई व धन कमाते...नौकरी वाणिज्य कृषि करते।
इन्द्रिय भोग में मस्त रहते...निन्दा चुगली में व्यस्त रहते।। (2)

धार्मिक रूढ़िवादी भी होते...संकीर्ण कट्टरता सहित होते।
पन्थ मत क्रिया को ही मानते...अनुदार व ईर्ष्यालु होते।।
तथाहि कुछ साधु-साध्वी भी होते...त्यागी व्रती व पण्डित होते।
अन्यमत संघ से घृणा करते...सत्य-तथ्य को भी नहीं मानते।। (3)

अपूर्ण जानकारी को सही मानते...देखादेखी से ही धर्म करते।।
उसी से ही स्वर्ग-मोक्ष मानते...मोहान्धकार को नहीं त्यागते।।
कुछ पुस्तकीय ज्ञानी भी होते...ज्ञानमद को ही धर्म मानते।
सत्य ज्ञान से वे विमुख होते...आध्यात्म सन्त से घृणा करते।। (4)

दुःख अनन्तर कुछ मानते...ठोकर खाकर ठाकुर होते।
कष्ट बिना नहीं समझ पाते...कष्ट से भी कुछ नहीं मानते।।
कुछ हठग्राही निष्ठुर (भी) होते...हितोपदेशी को कष्ट भी देते।
वाद-विवाद व द्वेष करते-निन्दा अपमान घृणा करते।। (5)

कुछ आदत के दास भी होते...कुछ मनमानी चालाक होते।
कुछ जानकर/(जागकर) सोते रहते...जगाने पर भी नहीं जगते।।
कुछ मुझे अन्य के सम मानते...रागी-द्वेषी-स्वार्थी सम मानते।
निन्दक चापलूस सम मानते...मेरी उदारता को नहीं जानते।। (6)

बार-बार बोलना मुझे न भाता...दबाव प्रलोभित मैं न करता।
करुणाभाव/(उदारभाव) से ही बोलता...विश्वकल्याण का भाव रखता।।
रायचन्द भी मैं नहीं बनता...अप्रयोजन नहीं बोलता।
न मानने वालों को नहीं बोलता...परनिन्दा अपमान नहीं करता।। (7)

उद्देश्य निर्देश को नहीं जानते...अधिक बोलने पर मानते।
स्वार्थसिद्धि की ही बातें सुनते..., मनानुसार ही उपदेश/(सुझाव) सुनते।।
उपदेश/(सुझाव) समय में सोते रहते...इधर-उधर की बातें करते।
विवाद कुतर्क कुछ करते...अपना मत हम पर थोपते।। (8)

पात्र-अपात्र का मैं ध्यान रखता...स्वगरिमा/(मर्यादा) का भी ध्यान रखता।।
दुरुपयोग (मैं) किसका नहीं करता...स्व पर उपकार ही सदा करता।।
अतः उपदेश/(सुझाव) व्यर्थ भी(ही) जाते...योग्य शिष्य प्रायः कम मिलते।
योग्य शिष्य को मैं ज्ञान भी देता...निस्पृहता से ज्ञानदान करता।। (9)

व्यर्थ उपदेश मैं नहीं करता...समय शक्ति न व्यर्थ गँवाता।
परोपदेशी न ज्ञानी बनता...'कनक' स्वयं का शिष्य बनता।। (10)

मेरी भावना एवं व्यवहार

(राग : सायोनारा...) आचार्य कनकनन्दी

जय जय हो जय जय हो, सत्य भाव की जय जय हो।
पावन अन्तर भावों से, सब मिलकर के जय बोलो।।...जय-जय...
सदा सर्वदा मैं भावना भाऊँ, भावानुसार भी काम मैं करूँ।
सर्वोदय ही मैं सदा करूँ, अन्य को कभी न बाधा भी डालूँ।।
सर्वोदय के भावों में सब मिलकर के जय बोलो... जय जय हो...(1)

विजय प्राप्त मैं सदा ही करूँ, अन्य की पराजय कभी न करूँ।
सत्य मार्ग पर सदा मैं चलूँ, असत्य मार्गी से घृणा न करूँ।।
सत्य के भावों से, सब मिलकर के जय बोलो...जय-जय हो...(2)

विश्वास कभी न किसी का करूँ, विश्वासघात भी कभी न करूँ।
सत्य परिज्ञान जब ही होता/(करूँ), विश्वास तत्क्षण तब ही करूँ।।
श्रद्धा/(प्रतीती) के भावों से, सब मिलकर के जय बोलो...जय-जय हो...(3)

मैं कभी किसी की ठगी न करूँ, किसी के द्वारा भी ठगा न जाऊँ।
ठगने का ही भाव न धरूँ, इसके बिना मैं ठगा क्यों जाऊँ।।
आर्जव /(सरलता) के भावों से, सब मिलकर के जय बोलो-जय-जय हो...

सफलता सदा मैं प्राप्त करूँ, अन्य का शोषण कभी न करूँ।
सत्य साम्य शान्ति को वरूँ/(पाऊँ), मिथ्या विषमता-अशान्ति हरूँ/(त्यागूँ)।।
समता के भावों से, सब मिलकर के जय बोलो...जय-जय हो...(5)

किसी की कभी न नकल करूँ, आदर्श को सदा ग्रहण करूँ।
दोषी से भी सदा शिक्षा गहूँ, दोष न करने की प्रतिज्ञा लहूँ।।
आदर्श के भावों से सब मिलकर के जय बोलो...जय-जय हो...(6)

प्रगति पथ पर आगे ही रहूँ, प्रतिस्पर्द्धा मैं कभी न करूँ।
विनम्र भाव सदा मैं धरूँ, दीनता भाव कभी न करूँ/(धरूँ)।।
विनय के भावों से, सब मिलकर के जय बोलो...जय-जय हो...(7)

अनन्त जीव है अनन्त कर्म, तदनुकूल भाव व धर्म।
सब जीवों का मंगल चाहूँ, कर्त्ता-धर्त्ता मैं मेरा ही रहूँ।।
मंगल कामनाओं से, सब मिलकर के जय बोलो...जय-जय हो...(8)

ज्ञाता-दृष्टा की भावना भाऊँ, राग-द्वेष से परे ही रहूँ।
यथायोग्य कर्त्तव्य भी करूँ, निर्लिप्त भाव से मंगल करूँ।।
निस्पृहता के भावों से, सब मिलकर के जय बोलो...जय-जय हो...(9)

सरल-सहज पावन बनूँ, अज्ञानी-प्रमादी-ढोंगी न बनूँ।
मूढ-मोही को श्रेष्ठ न मानूँ, श्रेष्ठ बनाने का कर्त्तव्य करूँ।।
सहजता के भावों से, सब मिलकर के जय बोलो...जय-जय हो...(10)

भौतिक श्रेष्ठता से परे मैं बनूँ, आसक्ति बिना भी प्रयोग करूँ।
भौतिकवादी को श्रेष्ठ/(श्रेय) न मानू,पावन/(आध्यात्मिक) की चेष्टा मैं करूँ।।
आत्मिकता के भावों से, सब मिलकर के जय-बोलो...जय-जय हो...(11)

शुद्धमय अमूर्तिक सर्व द्रव्य, स्वयंरूप परिणमन करते सर्व।
मैं तो चेतन महान् द्रव्य, क्यों न शुद्ध रूप करूँ स्वभाव।।
विशुद्धता के भावों से, सब मिलकर के जय बोलो...जय-जय हो...(12)

उदार पवित्र भावना धरूँ, स्व-पर विश्वहित ही चाहूँ।
भावना मेरी सम्पूर्ण करूँ, ''कनकनन्दी'' सदा मैं ध्याऊँ।।
''कनकनन्दी'' मैं शुद्धता धरूँ, ''कनकनन्दी'' मोक्ष को वरूँ।।
उदारता के भावों से, सब मिलकर के जय बोलो...जय-जय हो...(13)

मेरी भावना : स्वोपलब्धि एवं विश्व कल्याण

(स्वभावना-आलोचना एवं साधना)

आचार्य कनकनन्दी

(तर्ज :1. छोटी-छोटी गैया..., 2. दुनियाँ में रहना है तो...)

मेरी भावना सदा होती है, न करूँ शक्ति समय का दुरुपयोग।
जो हुई मेरी उपलब्धि है, करूँ सदा ही सदुपयोग।।1

बुद्धि भावना शरीर विद्या, अनुभव व भाषा विज्ञान।
गणित दर्शन तर्क कानून, राजनीति व लौकिक ज्ञान।। 2

पल-पल में पल्लविलत करूँ, जो कुछ मेरी है उपलब्धि।
स्व-पर हित कल्याण हेतु ही, प्रयोग करूँ स्व-उपलब्धि।। 3

विकथा निन्दा गप्पबाजी में (या), संक्लेश आलस्य राग-द्वेष में।
ख्याति पूजा व दिखावटी में, प्रतिस्पर्द्धा या घृणा-तृष्णा में।। 4

ढोंग परम्परा रीति-रिवाज में, अस्त-व्यस्त संत्रस्त कार्य में।
सामाजिक लन्द-फन्द कार्य में खर्च न करूँ उपलब्धि में।।5
दूसरों की मैं न नकल करूँ, न करूँ अन्य से तुलना मेरी।
गुण ग्राहकता भावना धरूँ, प्रभावित न होऊँ किसी जन से।। 6

अन्धानुकरण करूँ न किसी का, व्यक्ति समाज या शिक्षा राष्ट्र का।
पंथ परम्परा रीति-रिवाज का, खान-पान या नीति नियम का।।7

राजनीति या कानून ज्ञान, लोक प्रचलित ज्ञान विज्ञान।
सत्यांश को ही ग्रहण करूँ, सतत्-प्रयास मेरा निदान।।8

मेरी उपलब्धि को मैं तो जानता, मेरे लक्ष्य को मैं तो जानता।
मेरी भावना साधना जानता, अन्य न जाने मेरा क्या घाटा ?।। 9

स्व-पर-विश्व कल्याण चाहूँ, तदनुकूल भावना भाऊँ।
व्यवहार भी तथा ही करूँ, कोई न माने मैं क्या करूँ।।10

आदहिद मैं पहले करूँ, शक्ति अनुसार अन्य का करूँ।
आत्म पतन कभी न करूँ, अन्य के कारण पापी न बनूँ।।11
अन्य के कारण यदि मैं बनूँ पापी, पापी भी बनायेंगे मुझे भी पापी।
मेरे वे कर्त्ता-हर्त्ता बनेंगे, मेरी स्वतन्त्रता नाश करेंगे।। 12

अतएव मैं अन्य के द्वारा, अप्रभावी रहूँ साधना द्वारा।
हर जीव स्वयं-स्वयं का कर्त्ता, मैं भी स्वयं बनूँ स्वयं का कर्त्ता।। 13

मेरा लक्ष्य है सत्य साम्यमय, फल जिसका है चिदानन्दमय।
सर्व जीव भी बने तन्मय, 'कनक' की भावना मंगलमय।। 14

वह पुण्य मुझे नहीं चाहिए जिस पुण्य से हो...! ?

(चाल : 1. आत्मशक्ति...2. छू लेने दो...3. इस देश में गांधी...) -आचार्य कनकन्दी

वह पुण्य मुझे नहीं चाहिए, जिस पुण्य से मिले सत्ता-सम्पत्ति।
किन्तु भाव में हो विकृति, पाकर भी प्रसिद्धि-बुद्धि।।
वह पुण्य मुझे भी चाहिए, जिससे हो भाव विशुद्ध,
समता शान्ति (से) हो सम्वृद्धि, जिससे मिले परम सिद्धि।
पुनाति आत्मानं पुण्यमिती, कहते हैं तीर्थंकर देव,
जिससे आत्मा न होता पावन, वह है पापानुबन्धी पुण्य।। (1)

महान् उद्देश्य व पावन भाव से, ख्याति पूजा लाभ रहित से,
स्व-पर व विश्व हित हेतु से (में) जो होते हैं भाव-व्यवहार है।
दान दया परोपकार सेवा, पूजा प्रार्थना व तीर्थ वन्दना,
ध्यान-अध्ययन व जप-तप,त्याग आदि शुभपुण्य।। (2)

इससे भिन्न (जो) भाव व्यवहार से, जो करते (हैं) दान धर्म आदि,
उससे होता पापानुबन्धी पुण्य, उससे होते भावविकृत आदि।
जिससे होते राग द्वेष मोह, ईर्ष्या तृष्णा व घृणा विद्रोह,
ख्याति पूजा लाभ वर्चस्व दंभ, अन्याय अत्याचार शोषण युद्ध।। (3)

फैशन-व्यसन व भोगोपभोग, वैर-विरोध व आतकंवाद,
परनिन्दा अपमान व भेदभाव, अहंकार ममकार क्षुद्रभाव।

यथा रावण कंस, जरासन्ध, साम्राज्यवादी रोमन (शासक) नीरो,
चैगेंज खाँ हिटलर तानाशाह, अनेक कुख्यात क्रूर शासक।। (4)

ऐसा ही अनेक प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध, होते पापानुबन्धी पुण्यवन्त,
भले वे करते शासन या धर्म, नहीं करते हैं यथार्थ से धर्म (पुण्य)।
विश्व के अधिकांश पापकर्म, पापानुबन्धी पुण्यवन्त से सम्पन्न,
ऐसे लोग ही पशु-पक्षी से ले, दुर्बल-गरीबों का करते दमन।। (5)

पशु-पक्षी में वे न मानते आत्मा, दुर्बल-गरीब-नारी को तथा,
(इन्हें) दास गुलाम बनाते (क्रय) व्यापार करते,अधिकार छिनते व हत्या करते।
दास-दासों को वे लड़ाते थे, दास व शेरों को लड़ाते थे,
पशु-पशु को वे लड़ते थे, वर्चस्व व शौक हेतु करते थे।। (6)

क्रूर-शिकारी पशु से भी नीच थे, असभ्य-जंगली से भी निर्दयी थे,
दया-दान सेवा से रहित थे, तो भी स्वयं को सर्वोच्च मानते थे।
रोमन साम्राज्य में ये अधिक हुए, रोमनवासी स्वयं को श्रेष्ठ मानते हुए,
ईसा से थोड़ा परिवर्तन हुआ, विदेशों में आत्मा का ज्ञान न था।। (7)

भारत पूर्व से ही विश्वगुरु रहा, आत्मा-परमात्मा का ज्ञान रहा,
(तो भी) जो हुए पापानुबन्धी पुण्यवन्त, उन्होंने भी किये उक्त कृकृत्य।
इससे होता है घोर पाप कर्म, संसार चक्र में होता परिभ्रमण,
अतएव ऐसा पुण्य नहीं चाहिए, 'कनक' को आत्मिक सुख चाहिए।।(8)

पाप भी उपादेय है।

दुक्खइं जाणिवि लहु सिवमई जाई कुणंती जीवानां दुःखानी जनित्वा लघु शीघ्रं शिवमति मुक्तियोग्यमर्ति यानि कुर्वन्ति। अयमत्राभिप्रायः यत्र भेदाभेदरत्नयात्मक श्री धर्म लभते जीवस्तत्पापजनित दुःखमपि श्रेष्ठमिति कस्मादिति चेत। ''आर्ता नरा धर्म परा भवन्ति'' इति वचनात्।। 56।।

अर्थ : आगे जिस पाप के फल से यह जीव नरकादि में दुःख पाकर उस दुःख को दूर करने के लिये सन्मुख होता है, वह पाप का फल भी श्रेष्ठ(प्रशंसा योग्य) है। ऐसा दिखलाते हैं।

हे जीव! जो पाप के उदय से जीव को दुःख शीघ्र ही मोक्ष के जाने योग्य उपायों में बुद्धि कर दे तो वे पाप भी बहुत अच्छे हैं, ज्ञानी ऐसा कहते हैं।

कोई जीव पाप करके नरक में गया वहाँ पर महान् दुःख भोगे उससे कोई समय किसी भी जीव के सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है क्योंकि उस जगह सम्यक्त्व की प्राप्ति के तीन कारण है। पहला तो यह है कि तीसरे नरक तक देवता उसे संबोधन को (चेतावने को) जाते हैं। कभी कोई जीव को धर्म सुनने से सम्यक्त्व उत्पन्न हो जावे, दूसरा कारण पूर्व भव का स्मरण और तीसरा नरक की पीड़ाकारी दुःख से दुःखी होना, नरक को महान् दुःख का स्थान जानकर नरक के कारण जो हिंसा झूठ चोरी, कुशील, परिग्रह और आरम्भादिक हैं उनको खराब जाने के पाप से उदास होना।

तीसरे नरक तक ये तीन कारण हैं। आगे के चौथे, पाँचवे छठवें सातवें नरक में देवों का गमन न होने से धर्मश्रवण तो है ही नहीं लेकिन जातिस्मरण है तथा वेदना कर दुःख हो के पाप से भयभीत होना वे दो ही कारण है। इन कारणों को पाकर किसी जीव के सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है। इस नय से कोई भव्य जीव पाप के उदय से खोटी गति में गया वहाँ जाकर यदि सुलह जावे तथा सम्यक्त्व पावे तो वह कुगति भी श्रेष्ठ है। यही योगिन्द्राचार्य ने मूल में कहा है जो पाप जीवों को दुःख प्राप्त करा करके फिर शीघ्र ही मोक्षमार्ग में बुद्धि को लगावे, तो वे अशुभ भी अच्छे हैं तथा जो अज्ञानी जीव किसी समय अज्ञान तप से देव भी हुआ और देव से मरकर एकेन्द्रिय हुआ तो वह देवपना किस काम का ? अज्ञानी का देवपना भी वृथा है। जो कभी ज्ञान के प्रसाद से उत्कृष्ट देव होके बहुत काल तक सुख भोग के देव से मनुष्य होकर मुनिव्रत धारण करके मोक्ष को पावे तो वह भी अच्छा है।

ज्ञानी पुरुष उन पापियों को भी श्रेष्ठ कहते हैं, जो पाप के प्रभाव से दुःख भोगकर उस दुःख से डर के दुःख के मूल कारण पाप को जानके उस पाप से उदास होवे, वे प्रशंसा करने योग्य हैं और पापी जीव प्रशंसा के योग्य नहीं हैं। क्योंकि पाप क्रिया हमेशा निंदनीय है। भेदाभेदरत्नत्रय स्वरूप श्री वीतराग देव के धर्म को जो धारण करते है वे श्रेष्ठ है। यदि सुखी धारण करे तो भी ठीक और दुःखी धारण करते हैं तब भी ठीक, क्योंकि शास्त्र का वचन है कि कोई महाभाग दुःख हुए ही धर्म में लवलीन होते हैं। (परमात्म प्रकाश)

दुःख में सुमिरन सब करै, सुख में करे न कोय।
जो सुख में सुमिरन करे, दुःख काहे को होय।।

अर्थ : साधारण संसारी जीव दुःख के समय में धर्म का आचरण करता है। परन्तु धर्म के कारण किंचित् सुख प्राप्त होने से धर्म को ही भूल जाता है। पापादिक क्रियाओं में लग जाता है, पुनः जब दुःख प्राप्त होता है। यदि जीव सुख के समय में भी धर्म आचरण करने लगेगा तो कभी भी दुःख नहीं होगा।

कृत्वा धर्मविघातं विषासुखान्यनुभवन्ति ये मोहात्।
आच्छिद्य तरून् मूलात् फलानि गृह्णन्ति ते पापाः।। 24

अर्थ : जो मोही कामांध, विषयासक्त जीव अज्ञानता से धर्म को करके विषय सुखों को अनुभव करते हैं वे पापी वृक्षों को जड़ से उखाड़कर फल को ग्रहण करना चाहते हैं। अर्थात् पूर्व पुण्य कर्म के उदय से जो कुछ वैभव मिला है उस वैभव में लीन होकर जो केवल भोगासक्त होता है वह पूर्व उपार्जित पुण्य को पुर्णरूप से भोग करता है। परन्तु नवीन पुण्यार्जन नहीं करता जिससे पाप ही पाप उसके पल्ले में रहता है। उससे वह नरक निगोद में जाता है। इसलिये पूर्वार्जित पुण्य से वैभव मिला उसको बिना त्यागे भोग करने से उस पुण्य से उसकी दुर्गति हुई इस प्रकार से पुण्य हेय हैं। (आत्मानुशासन)

मिथ्यादृष्टि को पापानुबन्धी पुण्य से जो वैभव की प्राप्ति होती है उस वैभव में मिथ्यादृष्टि लीन होकर आसक्ति पूर्वक भोग करता है किन्तु त्याग नहीं करता उसका वैभव अर्थात् पुण्य फल संसार का कारण है। इसलिये उसका पुण्य कर्म परंपरा से मोक्ष का कारण नही है। किन्तु संसार का कारण होता है अर्थात् पुण्य फल रूप वैभव को प्राप्त कर जो आसक्ति पूर्वक भोगता है वह मिथ्यादृष्टि है। वही बहिरात्मा है। सम्यग्दृष्टि का पुण्य ही पुण्यानुबंधी पुण्य है, सम्यग्दृष्टि पुण्यरूप वैभव को प्राप्त कर उसमें आसक्ति पूर्वक लीन नहीं होता है। वह सोचता है,जानता है, मानता है कि वैभव मेरे आत्म स्वरूप से पृथक् है पुण्य कर्म का फल है कुछ चारित्र कर्म के उदय से आत्मिक शक्ति अभाव से रोगी जैसे तिक्त औषध सेवन करता है अनासक्तपूर्वक उसी प्रकार वह सम्यग्दृष्टि भोग को रोग मानकर निरूपाय होकर अनासक्तपूर्वक भोगता है। वह अनासक्तपूर्वक भोगते हुए कर्म को बाँधता ही है परन्तु जितने अंश अनासक्त भाव है उतने अंश में कर्म बंध नहीं होता है।

परंतु अंतरंग में सतत् भोगों की निंदा गर्हा करते हुए उन भोगों से छूटने के लिए रास्ता ढूँढता रहता है।

जब तक जीव सम्पूर्ण भोग, आरंभ, परिग्रहों से विरक्त नहीं हो पाता है तब तक स्वशक्ति के अनुसार दान, पूजा, गुरु सेवादि करते हुए पूर्व पुण्य का सदुपयोग करता है और अंत में समस्त अंतरंग-बहिरंग परिग्रह को त्याग कर निर्ग्रंथ होकर व्यवहार निश्चय रत्नत्रय का साधन कर मोक्ष पदवी को प्राप्त करता है। इसलिये सम्यग्दृष्टि का पुण्य परंपरा से मोक्ष का कारण है तथा मिथ्यादृष्टि का पुण्य परंपरा से संसार का कारण है।

''आर्त्त नरा धर्मपरा भवन्त'' पाप कर्म के उदय से जीव को जब कष्ट उठाना पड़ता है उस समय में वह पाप कर्मों का स्वरूप समझकर पाप से निवृत्त होकर धर्म में लगता है। जैसे नरक में तीव्र वेदना का अनुभव कर नारकी पाप फलों का चिंतवन करके सम्यग्दृष्टि हो जाता है, इसी प्रकार जीव पापकर्म के फल से संतप्त होकर पाप से डरकर अधर्म छोड़कर धर्म करने लगता है। इसलिये संसार में विरक्त होने के लिए एवं धर्म में प्रवृत्ति होने के लिये पापकर्म भी निमित्त है अर्थात् जिस पाप फल से दुःखों से, संताप से, संकटों से जीव भयभीत होकर धर्म में लगते हैं वह पाप भी उपादेय है। इसलिये भव्य जीवों को संबोधन करते हुये आचार्यों ने प्रेरणा दी है।

''सुखितस्य दुःखितस्य च संसारे धर्म एव तव कार्य।
सुखितस्यतद्भिवृद्धयैंदुःखभुजस्तदुपघाताय।। 18

अर्थ : हे जीव! तू चाहे सुख का अनुभव कर रहा हो, चाहे दुःख का अनुभव कर रहा हो, किन्तु संसार में इन दोनों ही अवस्था में एक मात्र कार्य धर्म ही होना चाहिये। कारण यह है कि वह धर्म यदि तू सुख का अनुभव कर रहा है तो तेरे उस सुख का कारण होगा और यदि तू दुःख का अनुभव कर रहा है तो वह धर्म तेरे उस दुःख के विनाश का कारण होगा।

मुझे ऐसे तप-त्याग न चाहिए...!?

(चाल :- 1. छू लेने दो...2. इस देश में तू ...) **- आचार्य कनकनन्दी**

मुझे ऐसे तप-त्याग न चाहिए, जिससे न हो भाव निर्मल।
/(जिससे हो भाव मलीन)

राग द्वेष मोह ईर्ष्या हो उत्पन्न, ख्याति पूजा लाभ दंभ उत्पन्न।। (ध्रु.)
इच्छा निरोध होता है तप, 'अहंकार' ममकार छोड़ना त्याग।
समता-शान्ति संतुष्टी प्राप्ति, ध्यान-अध्ययन-विशुद्धि प्राप्ति।
संकल्प-विकल्प-संक्लेश त्याग, होते हैं यथार्थ से तप-त्याग।। (1)

इसे हेतु होते हैं तप-त्याग, अंतरंग-बहिरंग बारह तप।
अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह त्याग, दश बहिरंग चौदह अन्तरंग।
अट्ठावीस साधु के मूलगुण, आचार्य उपाध्याय के मूलगुण।। (2)

बहिरंग जिस तप त्याग द्वारा, समता शान्ति (आदि) न होते उत्पन्न।
किन्तु होते है मलिन भाव, ख्याति पूजा लाभ दंभ उत्पन्न।
उससे न होती आत्म-विशुद्धि, ऐसे तप-त्याग से आत्म-पतन।। (3)

विषधर सर्प यथा त्यागते कांचली, किंतु मारक विष नहीं त्यागते।
अन्य को दंशकर मरण देते, स्पिटिंग कोबरा तो विष फेंकते।
मलीन भाव-व्यवहार त्याग बिना, बहिरंग तप-त्याग तथाहि होते।। (4)

बहिरंग तप-त्याग करूँ यथाशक्ति, जिससे हो आत्म विशुद्धि शान्ति।
बगुला सम न करूँ बाह्य प्रवृत्ति, दिखावा ढोंग-दंभ नकलची।
अंतरंग तप-त्याग करूँ विशेषतः, जिससे हो संवर-निर्जरा-मोक्ष।। (5)

निदान वर्चस्व रिक्त करूँ तप त्याग, धन-जन-प्रसिद्धि रहित भाव।
आध्यात्मिक विकास अनुभव हेतु, मौन एकान्त में करूँ आत्महित।
द्रव्यक्षेत्र काल भाव के अनुकूल, 'कनक' शुद्ध स्वरूप तो आकिंचन्य।।(6)

ऐसी प्रभावना मुझे नहीं चाहिए...!?

आचार्य कनकनन्दी

(चाल :- 1. हर देश में तू...2. छू लेने दो...3. जिस देश में गांधी

ऐसी प्रभावना मुझे नहीं चाहिए, जो स्व-प्रसिद्धि हेतु होती है।
जिससे होते रागद्वेष मोह, संकल्प-विकप-संक्लेश भी।। (ध्रुव)
प्रकृष्ट भावना होती प्रभावना, जो श्रद्धा-प्रज्ञा व चर्यायुक्त।
सत्य समता व शान्ति सहित, ध्यान-अध्ययन व विशुद्धि युक्त।

इससे युक्त जो है ज्ञान दान, वह ही होती श्रमणों की प्रभावना।।
इस हेतु जो होते श्रावक द्वारा,पूजा-विधान-पंचकल्याणक(प्रतिष्ठा, तीर्थयात्रा)।
मन्दिर मूर्ति धर्मशाला निर्माण, आहार औषधि ज्ञान अभयदान।
इसमें भूमिका श्रावकों की प्रमुख, साधु के (होते) केवल आशीष प्रवचन।।
इससे भिन्न जो होती प्रभावना, ख्याति पूजा लाभ प्रसिद्धि हेतु।
धनार्जन वर्चस्व भीड इकट्ठा हेतु, ईर्ष्या द्वेष घृणा व दबाव युक्त।
संकीर्ण पंथ-मत फूट-लूट हेतु, अन्य को नीचा दिखाने हेतु।।
यह नहीं है यथार्थ से प्रभावना, ऐसी प्रभावना से मैं माध्यस्थ रहूँ।
अन्यथा संभव है संक्लेश-द्वन्द्व जिससे भावना हो जाती मन्द।
ध्यान-अध्ययन शोध-बोध न होते, समता-शान्ति विशुद्धिमन्द।।
संकल्प-विकल्प-पक्षपात होते, धनी-गरीब में भेदभाव होता।
दबाव प्रलोभन व चंदा-चिट्ठा होते अहंकार-ममकार याचना
ये सब हुई यथार्थ से अप्रभावना, 'कनक' अतः न चाहे ऐसी प्रभावना

मेरा भी आह्वान है कि हे नवयुवक-नवयुवतियों! उठो, जागो अपना कर्त्तव्य सम्भालों। गिरते हुए धर्मरूपी रथ को अपने सुदृढ़ कन्धे पे धारण करके उसको सच्चे धर्म के मार्ग पर गतिशील बनाओ। प्राचीन रोग के समान कलह-फूट, वाद-विवाद को वात्सल्य रूपी अचूक औषधि से दूर करके निरोगी, स्वस्थ, सबल, सुदृढ़ गतिशील बनो। वंशजो की जलती हुई झोंपड़ी से निकलकर सुरम्य गगनचुम्बी शीतल सुखप्रद वात्सल्य रूपी प्रसाद का निर्माण करके सुख से निवास करो। आज देश-विदेश में राष्ट्र, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रेम की डोरी से बंधकर अनेक राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय संस्था समिति, संघ बन रहे हैं। तो मुष्टीभर जैन धर्मावलम्बियों के मध्य में संगठन नहीं हो सकता है अवश्य हो सकता है। मनुष्यों के लिए असम्भव नाम की कोई वस्तु ही नहीं। संगठन का बीज वात्सल्य में निहित है। इसलिये वात्सल्य को अपने हृदयरूपी उपजाऊ जमीन में डालकर गुणग्राही उपगूहन स्थितिकरण आदि जल खाद रश्मि से उसको अंकुरित पल्लवित, पुष्पित एवं फलित करो। आज जैन धर्मावलम्बियों में संगठन के नाम पर अनेक संस्था, समिति, सभा मिलन होते हुए भी वे अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पाये या अपने लक्ष्य से विपरीत गमन कर रहे है। इसलिये यह संगठन आदि रचनात्मक कार्य के साथ-साथ विध्वंसात्मक कार्य करके सुख्यात एवं कुख्यात हो रहे हैं। कुख्यात होने के कारण संकुचित मनोभाव,

वात्सल्य भाव से रहित निहित स्वार्थनिष्ठ, मतवाद पंथवाद, जातिवाद कुर्सीवाद, अर्थवाद दलवाद (पार्टीबाज) आदि है। संगठन के लिये ये सब विरोधात्मक कारण हैं इसलिये इन विरोधी कारणों को हटाने से अत्यन्त सरल एवं सहज साध्य है।

प्रभावना अंग का लक्षण

आत्मा प्रभावनीयो, रत्नत्रय तेजसा सततमेव।
दान-तपो-जिनपूजा-विद्याऽतिशयैश्च जिनधर्मः।। 30

व्यवहारनय से सम्यक्दृष्टि भव्यों के द्वारा दान, तप, जिनपूजा अतिशय विद्या के द्वारा स्याद्वाद से अंकित जिनधर्म की प्रभावना करनी चाहिए अर्थात् अतिशय से उसको बढ़ाना चाहिए। पुनः रत्नत्रय रूपी तेज से दर्शन, ज्ञान, चारित्रात्मक आत्मा को सतत अद्योतन करना चाहिए। प्रभावना का अर्थ है (प्र+भावना) अर्थात् प्रकृष्ट, निर्मल भावना, सम्यक् दर्शन, ज्ञान चारित्र तपों से जिनशासन का अद्योतन करना, आत्म प्रकाशन करना प्रभावना है।

अज्ञान तिमिर व्याप्तिमपाकृत्य यथायथम्।
जिन शासन माहात्म्य प्रकाशः स्यात्प्रभावना।। 8 (रत्न. श्रा)

अज्ञानी रूपी अन्धकार के विस्तार को दूर कर अपनी शक्ति के अनुसार जिन शासन के माहात्म्य को प्रकट करना प्रभावना गुण है।

जैसे अन्धकार को हटाने के लिये पहले स्वयं का दीपक जलाना अनिवार्य है। वैसे अज्ञान रूप अन्धकार में धर्म की प्रभावना करनी है तो पहले अपने अज्ञान रूप अन्धकार को हटाकर स्वयं को प्रकाशित करना चाहिए।

सम्यक्त्व से निर्वाण प्राप्ति

णियतच्चुबलद्धि विणा सम्मत्तु बलद्धि णत्थि णियमेण।
सम्मत्तुबलद्धि विणा णिव्वाणं णत्थि जिणुदिट्ठं।। 90 रयण.

अन्वयार्थ :- (णिय) निज-अपनी (तच्चुबलद्धि विणा) आत्म तत्त्वों की उपलब्धि के बिना (सम्मत्तुबलद्धि) सम्यक्त्व की प्राप्ति उपलब्धि (णियमेण) नियम से (णत्थिं) नहीं होती (सम्मत्तुबलद्धिविणा) अर्थात् सम्यक्त्व की प्राप्ति के बिना (णिव्वाणं) निर्वाण (णियमेण) निश्चय से (णत्थि) नहीं होती है। (जिणुदिट्ठं) जिनेन्द्र ने कहा।

पद्य- **निजात्म तत्त्व की उपलब्धि बिना सम्यक्त्व न होता नियम से।**
सम्यक्त्व की उपलब्धि बिना निर्वाण नहीं यह जिनदेव उक्त।।

समीक्षा - ''तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शन'' इसमें स्व-तत्त्व ही ग्रहणीय।
''वन्दे तद्गुणलब्धये'' के अनुसार देव-शास्त्र-गुरु भी उपास्य।।

रत्नत्रय से मोक्ष मिलता स्व-रत्नत्रय तो स्वयं में निहीत।
अतः स्व-रत्नत्रयमय स्व-आत्मा की श्रद्धा प्रज्ञा-चर्या सुनिश्चित।।

इस हेतु ही देव-शास्त्र-गुरु आराधना तथाहि श्रावक-साधु धर्म।
स्व-आत्मा को ही परमात्मा बनाने हेतु ही समस्त धर्म कर्म।।

स्व-आत्म तत्त्व रहित समस्त धर्म होते हैं अनात्म धर्म।
भौतिक क्रियाकाण्ड या दिखावा-आडम्बर-ख्याति-पूजा-लाभ स्वार्थ
सन्दर्भ :

स्वज्ञाता ही विश्वज्ञाता

(जो स्वयं को पूर्णतः जानता वह विश्व को भी पूर्णतः जानता)

(चाल : दे दी हमें आजादी...)

स्वयं के ज्ञान हेतु अनंत ज्ञान चाहिए, आकाश से भी अनंत गुना मान चाहिए।
जो स्वयं को जाने वे होते सर्वज्ञ, लोकालोक त्रिकालज्ञ होते (है) सर्वज्ञ।।1

स्वयं में असंख्यात होते आत्मप्रदेश, एक प्रदेश में ही गुण होते है अनंत।
अनंत अनुभाग प्रतिच्छेद होते (एक) गुण में, असंख्य-अनंत-अनंत मान स्वयं में।। 2

जो स्वयं को जाने अतः वे होते सर्वज्ञ, सर्वज्ञ ही जान पाते हैं संपूर्ण विश्व।
अनंतगुणों से भी वे सहित होते, अनंतदर्श सुखवीर्य से मंडित होते।। 3

इसी हेतु ही चक्रवर्ती (भी) साधु बनते, आध्यात्मिक साधना से आत्मज्ञ/ (सर्वज्ञ) होते।
सर्वज्ञ बनकर शाश्वतिक सुख भोगते, इसी हेतु 'कनक' को स्वात्मा ही भाते।।

मैं (आत्मा) व शरीर में भिन्नता

(चाल : जय हनुमान ज्ञान गुण..., बिन गुरु ज्ञान नहीं है...) -आचार्य कनकनन्दी

मैं (आत्मा)	देह(पर द्रव्य)
मैं हूँ चिन्मय अमृत रूप...	देह तो अचेतन मूर्तिक रूप...
मैं तो अविनाशी ज्ञान स्वरूप...	देह तो विनाशी जड़ स्वरूप...(1)
मैं हूँ सनातन स्वयंभू रूप	देह तो नाशवान् अन्य से उपज़..
सत्य-शिव सुन्दर मेरा स्वरूप...	देह तो अशाश्वत विकृत रूप...(2)
जन्म-जरा-मृत्यु रहित रूप...	देह तो जरा-मृत्यु सहित रूप...
दुःख शोक-रोग रहित रूप...	देह तो दुःख शोक-रोग सहित...(3)
भूख-प्यास-संताप शून्य रूप...	देह तो भूख प्यास-संताप युक्त...
सप्त धातु मल रहित रूप...	देह तो सप्त धातु-मल सहित...(4)
उपसर्ग-परिषह रहित रूप...	देह तो उपसर्ग-परिषह सहित...
तन-मन-इन्द्रिय रहित रूप...	देह तो तन-मन-इन्द्रिय सहित...(5)
द्रव्य भाव-नोकर्म रहित रूप...	देह तो द्रव्य भाव-नोकर्म सहित...
अनंत आत्म वैभव सहित...	तन से रहित 'कनक' चिन्मय रूप...(6)
ऐसी श्रद्धा-प्रज्ञा जिसे होती...	उसको निश्चय से मुक्ति मिलती...
ज्ञान-ध्यान व शुचि समता से...	विदेही होकर चिन्मय होते...(7)

मैं हूँ आत्मा

(अशुद्ध आत्मा (मैं) से परमात्मा (मैं) की यात्रा)

- आचार्य कनकनन्दी

(चाल : सायोनारा...)

मैं हूँ आत्माऽऽऽ मैं हूँ जीव-आत्माऽऽऽ मैं हूँ परम आत्माऽऽऽ
द्रव्यभाव नोकर्म के कारण बना हूँ/(था) अशुद्ध आत्मा(टेक)...
राग द्वेष मोह काम क्रोध से...हुआ/(था) हूँ अशुद्ध पूर्व से
अनंत काल से अनंत भव में...बना था बहिरात्मा
अभी तो मैं स्वरूप को जाना...मैं ही हूँ परम आत्मा...।। (1) मैं हूँ...

अभी मैं स्वयं को श्रद्धा-प्रज्ञा से...जाना हूँ (माना हूँ) परम आत्मा...
ध्यान-ज्ञान व समता-शुचि से...बनना है परम आत्मा
इसी हेतु ही सतत मुझे...करना है आत्मा की साधना...।। (2) मैं हूँ...

इसी हेतु ही सत्ता संपत्ति प्रसिद्धि पूजा को छोड़ा हूँ...
आडम्बर दिखावा लन्द-फन्द व संपूर्ण द्वंद्व को छोड़ा हूँ...
संकीर्ण कट्टर भेद-भाव जाति पंथ मत छोड़ा हूँ...।। (3) मैं हूँ...

निस्पृह निराडम्बर एकांतवास में मौन साधनारत हूँ...
अपेक्षा-उपेक्षा-प्रतीक्षा त्यागकर मैं ही मैं में रत हूँ...
इसी रीति से परमात्मा बनने तक 'कनक' प्रयत्नरत हूँ...।। (4) मैं हूँ...

हे! गुरुवर मुझे अभूतपूर्व अमृत बनने का ज्ञान दो

(लौकिक सांसारिक ज्ञान तो सहज-सरल से उपलब्ध है)

- ज्ञानार्थी कनकनन्दी

(राग : छू लेने दो नाजक...)

वह ज्ञान मुझे दे दो गुरुवर! जिस ज्ञान से मैं अमृत बनूँ।
भवभ्रमण के अनंत दुःख नाशकर (मैं) सच्चिदानंद बनूँ।। (1)

संत्ता-संपत्ति व प्रसिद्धि के ज्ञान तो कर्मजनित सहज है।
भोगोपभोग व निन्दा चुगली के, बिना सिखाये भी आता सरल।।(2)

हिंसा चोरी व झूठ परिग्रह के ज्ञान होता है कषाय-भावों से।
कलह व वाद-विवाद का ज्ञान, होता है संक्लेश भावों से।। (3)

खाना-पीना व सोना-जागना ये सब है शारीरिक क्रिया।
इनसे प्रेरित होकर होती है, धर्नाजन की क्रिया।। (4)

इन सबको मैंने अंनत बार किया है अनंत भवों में।
तथापि इसे लौकिक जन पढ़ते है स्कूल व कॉलेजों में।। (5)

इन ज्ञानों से शाश्वत सुख मिले तो वृषभ क्यों साधु बने।
केवलज्ञान प्राप्त के बाद वे क्यों मोक्ष मार्ग का उपदेश दिये।। (6)

आदिनाथ राजा अवस्था में असिमसिकृषि वाणिज्य सिखाये।
शिल्प सेवा का भी पाठ पढ़ाया (था) (किन्तु) उससे मोक्ष सुख न मिले।।(7)

अभी उस आध्यात्मिक देश में नहीं मिलता है आत्मा का ज्ञान।
लौकिक से लेकर धार्मिक साधु तक में नहीं है प्रायः आत्मिक ज्ञान।।(8)

ऐसे अलौकिक ज्ञान मुझे चाहिये, जिससे मैं बनूँगा सच्चिदानंद।
आत्मिक अनंत वैभव पाकर, 'कनक' बनेगा शुद्ध-बुद्ध आनंद।। (9)

स्व-पर उपकारी गुरु

(चाल : कभी तो ये गुरुवर...)

स्व-पर उपकारी...गुरु होते हैं...स्वयं तो तरते है...अन्य को तारते है...
ब्रह्मा-विष्णु महेश...गुरु होते हैं...स्व पर प्रकाशी...दीपक होते हैं...
तो ध्याऊँ मैं/(तो सेवूँ मैं)...स्व-पर...(टेक)...
सतत ये गुरुवर...समता में रहते हैं...आत्म-विशुद्धि हेतु...साधना करते है...
ज्ञान-ध्यान व तप में...ये रत रहते है...राग-द्वेष-मोह से...ये दूर रहते हैं...
तो ध्याऊँ मैं...स्व पर उपकारी...(1)

ख्याति-पूजा-लाभ व लंद-फंद से...तेरा-मेरा भाव...धनी-गरीबों से...
तनाव-अशांति व ...फूट-लूट से...दूर रहकर मस्त...आत्म-शुद्धि में...
तो सेवूँ मैं...स्व पर उपकारी...(2)...

कभी ये गुरुवर..स्वाध्याय कराते हैं..आत्मा को परमात्मा बनाना सिखाते हैं
आगम व अनुभव से...धर्म सिखाते हैं...अशुभ-शुभ व...शुद्ध बताते हैं...
तो ध्याऊँ मैं...स्व पर उपकारी...(3)...
कभी तो ये गुरुवर...उपदेशी बनते हैं...उदार-पावन का...पाठ पढ़ाते हैं...
विश्व हितकर...शिक्षा भी देते हैं...समता व शांति का...पाठ पढ़ाते हैं...
तो सेवूँ मैं...स्व पर उपकारी...(4)...
सदैव श्री गुरुवर...सत्य शोध करते हैं...शोध-बोध से आत्म-शुद्धि करते हैं...
स्वयं तरते हैं...अन्य को तारते हैं...ऐसे ही सद्गुरु...'कनक' को भाते हैं...
तो ध्याऊ मैं...स्व-पर उपकारी...(5)...

साधक हूँ छोटा-लक्ष्य है मोटा

(चाल : नन्हा-मुन्ना राही हूँ...) -आचार्य कनकन्दी

साधक हूँ मैं छोटा, लक्ष्य है पर मोटा।
अभी तो हूँ अल्पज्ञ, पर लक्ष्य है सर्वज्ञ।।
श्रद्धा के साथ...निष्ठा के साथ हूँ...(धृ.)
इसी हेतु ही मैं करूँ साधना, जिनवाणी की (मैं) करूँ आराधना।।
एकांत मौन व साम्य भाव से, शोध-बोध करूँ मैं शुद्ध भाव से।
धैर्य के साथ...ध्येय के साथ।। (1)

सनग्र सत्यग्राही उदारमना, निःस्वार्थ भाव से ही (मैं) करूँ साधना।
ख्याति पूजा लाभ प्रसिद्धि रिक्त, स्वाध्याय अध्यापन करूँ सतत।
श्रद्धा के साथ...निष्ठा के साथ हूँ।। (2)

अपेक्षा-उपेक्षा व प्रतीक्षा रिक्त, आकर्षण-विकर्षण-संक्लेश रिक्त।
संकीर्ण पंथ-मत-भेद रहित, आत्मविशुद्धि करूँ (मैं) कामना रिक्त।
धैर्य के साथ...ध्येय के साथ हूँ।। (3)

किसी से न वैरी न किसी से द्वेषी, प्रतिस्पर्द्धा दिखावा ढोंग रहित।
निन्दा चुगली वाद-विवाद रिक्त, साधना करूँ मैं शक्ति-भक्ति सहित।
श्रद्धा के साथ...निष्ठा के साथ हूँ।। (4)

मंच माईक विज्ञापन पाण्डाल रिक्त, सम्मान-भीड़ व धन रहित।
निमंत्रण कार्ड (पत्रिका) टी.वी. प्रोगाम रिक्त, सरल सहज निस्पृहता सहित।
धैर्य के साथ...ध्येय के साथ हूँ।। (5)

कोई(भी)आये आशीर्वाद वात्सल्य युक्त,नहीं आने पर नहीं संक्लेश चित्त।
जाने पर (शुभ) कामनायें आशीष युक्त, वीतरागी साम्यभावी शान्ति सहित।
श्रद्धा के साथ...निष्ठा के साथ हूँ।। (6)

लक्ष्य मेरा सतत है आत्मकेन्द्रित, आत्मविशुद्धिमय प्रमाण युक्त।
यथायोग्य लक्ष्य की ओर प्रयाण करूँ, 'कनकनन्दी' सतत मैं आत्मा निहारूँ।
धैर्य के साथ...ध्येय के साथ हूँ।। (7)

मैं ही लक्ष्य हूँ मैं ही साधन हूँ, मैं ही साधक हूँ मैं ही साध्य हूँ।
मैं ही उपासक मैं ही उपास्य हूँ, मेरे द्वारा ही मैं ही प्राप्य हूँ।

भक्तजन के उपकारी गुरु = गुरु का दाता स्वरूप

आचार्य कनकनन्दी

(चाल : कभी तो ये गुरुवर..., सायोनारा...)

परम उपकारी...गुरु होते हैं...ज्ञान-ध्यान (तप) में...वे लीन होते हैं...
आप तरते है...भव्यों को तारते हैं...दीपक सम स्व पर प्रकाशी होते है...
तो ध्याऊँ/(पूजूँ)/(सेवूँ) मैं...परम उपकारी...(टेक)

भक्त वत्सल वे...दाता होते हैं...बिना माँगे वे...दान देते हैं...
आहारदाता तो...पुण्य पाते हैं...नमनकर्त्ता...उच्च गोत्री होते हैं...
तो सेवूँ मैं...परम उपकारी...(1)...

उपासक जन तो...पूज्य होते हैं...स्तुति जो करे... वे कीर्ति पाते हैं...
वैयावृत्ति से...तीर्थंकर बनते हैं...औषधिदान से...निरोगी होते हैं...
तो सेवूँ मैं...परम उपकारी...(2)...

ज्ञानदानी तो...ज्ञानी होते हैं...वसतिका दान से...स्वर्ग पाते हैं...
भक्त-सेवक...छटवाँ अंश पाते हैं...अहेतुक रूप से ...गुरु दाता होते हैं...
तो पूजूँ मैं...परम उपकारी...(3)

उपदेश देकर...भव्यों को तारते हैं...बिना उपदेश से भी...शिक्षा देते हैं...
ऐसे गुरु को...भव्य सदा सेवते...ऐसे गुरु का... ध्यान 'कनक' करते...
तो ध्याऊँ मैं...परम उपकारी...(4)

परमात्मा ध्यान का कारण

पवयणसारब्भासं परमप्पज्झाण कारणं जाण।
कम्मक्खवणणिमित्तं कम्मक्खवणेहि मोक्खसोक्खं हि।। 91 रयण.

अन्वयार्थ :- (पवयणसारब्भासं) प्रवचनसार का अभ्यास (परमप्पज्झाणं) परमात्मा के ध्यान के लिए (कारणं जाण) कारण है ऐसा जानना (जाणिहि) ऐसे जानकर (ज्झाण कम्मक्खवण निमित्तं) निश्चय से कर्मों के क्षय करने में ध्यान प्रमुख कारण है(कम्मक्खवणे) कर्मक्षय अर्थात् कर्मों का नाश हो (मोक्खसोक्खंहि) मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है ऐसा निश्चय से जानो।

पद्य- प्रवचनसार अभ्यास परमात्मा-ध्यान कारण ज्ञेय।
कर्म क्षय निमित्त परमात्मा ध्यान कर्म क्षय से मोक्ष-सुख।।

समीक्षा- परमात्मा के ध्यान से होता कर्मक्षय जिससे मिले मोक्ष।
इस हेतु प्रवचनसार अभ्यास जिससे होता परमात्मा ज्ञान।।
शुद्धात्मा ध्यान बिना न होता है पूर्ण-कर्म-क्षय।
शुद्धात्मा ही परमात्मा, परमात्मा शुद्ध-बुद्ध-आनन्द।।
ऐसे शुद्ध-बुद्ध-आनन्दमय स्व-शुद्धात्म ध्यान करणीय।
शुद्ध ध्यान से शुद्ध उपलब्धि यथा ध्यान तथा प्राप्य होय।।

सन्दर्भ :

मेरा परम रहस्य व प्राप्य मैं स्वयं हूँ...!?

(चाल : पायो जी मैंने राम रतन धन...) - आचार्य कनकनन्दी

जाना है मैंने परम स्वरहस्य जाना (माना, पाया)
जिस रहस्य को अनन्त काल से अज्ञान मोह से न पाया।
यथा पलक से आवृत चक्षु न देख पाती पर्वत भी।
बाह्य प्रवृत्ति के कारण न देख पाती स्वयं को भी।।
ज्ञानावरणीय व मोहनीय से आवृत्त न देख पाया स्वयं में,
राग द्वेष मोह काम क्रोधादि (बाह्य) प्रवृत्ति से न जान पाया स्वयं को।।
घन बादल से आवृत्त सूर्य सम मैं रहा स्वयं अदृष्ट,
मैं हूँ अनन्त ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमय तथापि/(तोभि) स्वयं से अदृष्ट।।
ऐसा ही सामान्य जीव से लेकर, भौतिकवादी वैज्ञानिक तक।
स्वयं को न जान पाते हैं जब तक अज्ञान मोह आसक्त।।
मैं हूँ अमूर्तिक अनन्त गुण युक्त, अनन्त आयाम सहित,
स्वयं में स्थित भी लोकालोक व्याप्त अतः मेरा विस्तार अनन्त।।
अतएव मेरा ज्ञान न होता मूर्तिक मन व इन्द्रियों यंत्रों से,
सूक्ष्म दर्शक से लेकर दूरदर्शक तक मेरा ज्ञान न होता यंत्रों से।।
यथा अमूर्तिक आकाश का ज्ञान न होता इन्द्रिय यंत्रों से,
तथाहि मैं भी अमूर्तिक अनन्त आयाम वाला न ज्ञात यंत्रों से।।
स्व-श्रद्धान-ज्ञान से मेरा रहस्य जाना जो है परम रहस्य,

सभी रहस्यों का ज्ञाता भी मैं स्वयं जाना ये महान् रहस्य।।
मैं हूँ परम रहस्य व परमज्ञान मैं हूँ परम सत्य पदार्थ,
परम धर्म व परमसुख परमज्ञेय व परम तत्त्वार्थ।।
स्व-उपलब्धि ही मेरी परम उपलब्धि अन्य सभी तुच्छ व हेय,
स्व को जानना-मानना व पाना 'कनक' का परम ध्येय।।

सन्दर्भ :

मोहेन संवृतं ज्ञानं स्वभावं लभते नहि।
मत्तः पुमान् पदार्थानां यथा मदनकोद्रवैः।।7 इष्टो.

Deluded by infatuation the knowing being is unable to acquire adequate knowlege of the nature of things. in the same way as a person who has lost his wits in coneguence of eating intoxicating in unable to know them properly!

यदि ये संसार के सुख और दुःख वासना मात्र ही है तब उसका यथार्थ परिज्ञान क्यों नहीं होता है ? शिष्य का प्रश्न ये है - यदि वस्तुतः संसार के सुख एवं दुःख अवास्तविक है तब उसका परिज्ञान संसार के लोगों को अवास्तविक रूप में क्यों नहीं होता ? आचार्य शिष्य को प्रबोधन देते हैं -

धातुनाम् अनेक अर्थत्वात्'' अर्थात् धातुओं के अनेक अर्थ होने के कारण यहाँ लभ धातु का अर्थ ज्ञान है। जब ज्ञान मोहनीय कर्म के विपाक से आविभूर्त हो जाता है तब वह ज्ञान वस्तु स्वरूप को यथार्थ प्रकाशन करने में असमर्थ हो जाता है। शुद्ध स्वरूप से ज्ञान कथंचित् आत्मा से अभिन्न है और वस्तु स्वरूप को यथार्थ से जानने के लिए पूर्ण समर्थ है परन्तु कर्म परवशता के कारण ज्ञान में/आत्मा में विकार उत्पन्न हो जाता है। कहा भी है- जिस प्रकार मल से आबद्ध मणि एक प्रकार का नहीं होता है एक प्रकार का प्रकाश नहीं देता है उसी प्रकार कर्म से आबद्ध आत्मा भी एक प्रकार का नहीं होता है और एक प्रकार का नहीं जानता है।

प्रश्न :- अमूर्तिक आत्मा किस प्रकार मूर्तिक कर्म से आविर्भूत होता है, आबद्ध होता है ?

उत्तर :- शुद्ध आत्मा अमूर्तिक होते हुए भी संसारी जीव अभी अमूर्तिक नहीं है कर्म से आबद्ध संसारी जीव व्यवहारनय की अपेक्षा मूर्तिक है।

नशे को पैदा करने वाले कोद्रव-कोदों धान्य को खाकर जिसे नशा पैदा हो गया है, ऐसा पुरुष घट,पट आदि पदार्थों के स्वभाव को नहीं जान सकता, उसी प्रकार कर्म बद्ध आत्मा पदार्थों के स्वभाव को नहीं जान पाता है। अर्थात् आत्मा व उसका ज्ञान गुण यद्यपि अमूर्त है, फिर भी मूर्तिमान कोद्रवादि धान्यों से मिलकर वह बिगड़ जाता है। उसी प्रकार अमूर्त आत्मा मूर्तिमान कर्मों के द्वारा अभिभूत हो जाता है और उसके गुण भी दब सकते हैं।

समीक्षा - सत्य से विपरीत मान्यता श्रद्धा/प्रतीति विश्वास रूप परिणाम व भावों को मोह/मिथ्यात्व कहते हैं। सत्य का पूर्ण साक्षात्कार सर्वज्ञ वीतरागी देव करते हैं। सर्वज्ञ भगवान् ने दिव्यध्वनि मूलक उस परम सत्य का प्रमाण,नय निक्षेपों के द्वारा प्रतिपादन किया है, उनके द्वारा प्रतिपादित सत्य अर्थात् जो उनके द्वारा कहे हुए द्रव्य, तत्त्व पदार्थों में विश्वास नहीं करता, श्रद्धा नहीं करता वह मिथ्यादृष्टि है क्योंकि उसकी श्रद्धारूप दृष्टि विपरीत होने के कारण वह पदार्थ को भी विपरीत रूप श्रद्धान करता है। सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमीचन्द्र आचार्य गोम्मट्टसार में कहते हैं-

मिच्छाइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं च ण सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भाव उवइट्ठं वा अणुवईः।।18

मिथ्यादृष्टि जीव 'उपदिष्ट' अर्थात् अर्हन्त आदि के द्वारा कहे गये, 'प्रवचन' अर्थात् आप्त आगम और पदार्थ ये तीन इनका श्रद्धान नहीं करता है। प्रवचन अर्थात् जिसका वचन प्रकृष्ट है ऐसा आप्त, प्रकृष्ट का वचन, प्रवचन अर्थात् परमागम। प्रकृष्ट रूप से जो कहा जाता है वह प्रवचन अर्थात् पदार्थ। इन निरूक्तियों से प्रवचन शब्द से आप्त, आगम और पदार्थ तीनों कहे जाते हैं। तथा वह मिथ्या दृष्टि असद्भाव अर्थात् मिथ्या रूप प्रवचन यानी आप्त आगम पदार्थ का 'उपदिष्ट' अर्थात् आप्ताभासों के द्वारा कथित अथवा अकथित का भी श्रद्धान् करता हैं।

मेरा लक्ष्य : परमहित ग्रहण व अहित त्याग

(आत्महित ही परमहित, आत्मअहित ही परम अहित)

(चाल : तेरे प्यार का आसरा...) **-आचार्य कनकनन्दी**

परमहितमय मैं होना चाहता हूँ, अहित से पूर्णतः रिक्त चाहता हूँ।
इस हेतु विवेकपूर्ण यत्न करता हूँ, श्रद्धा-प्रज्ञा-चर्या से यत्न करता हूँ।। (1)

आत्माविकासपूर्ण महान् लक्ष्य से, सनग्र सत्यग्राही उदार भाव से।
स्व पर विश्व हित हेतु साम्य भाव से, दूर रहता हूँ मैं अहित भाव से।।(2)

रागद्वेष मोह ईर्ष्या तृष्णा से, क्रोध मान माया लोभ घृणा से।
संकीर्ण कट्टर व अन्धविश्वास, आत्म-अहित के कारक विशेष।। (3)

इनके नाश हेतु करूँ मैं प्रयत्न, ख्याति पूजा लाभ से रहूँ विरक्त।
आकर्षण-विकर्षण-द्वन्द्व परे, संकल्प-विकल्प-संक्लेश परे।। (4)

निस्पृह-निराडम्बर समता युक्त, ध्यान-अध्ययन करूँ विशुद्धि युक्त।
संयम-तप-त्याग-आत्महित सहित, वर्चस्व-प्रभुत्व व प्रसिद्धि रिक्त।। (5)

परनिन्दा-अपमान-हानि रहित, मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-सौम्य युक्त।
भेदभाव व पक्षपात रिक्त, भाव-व्यवहार करूँ आत्महित युक्त।। (6)

अन्यथा आत्महित न होना संभव, भले प्राप्त हो जावे राज्य वैभव।
भोगोपभोग व फैशन-व्यसनों से, आत्महित न संभव ख्याति पूजा से।।(7)

आक्रमण युद्ध व दिग्विजय से, हित न होता बाह्य शत्रु नाश से।
हिंसा झूठ चोरी कुशील काम से, आत्महित न संभव पर पीड़न से।। (8)

शोषण मिलावट व ठगी काम से, अन्याय-अत्याचार-पापाचार से।
उद्दण्ड-उत्शृंखल व मनमानी से, आत्महित न होता आतंकवाद से।। (9)

पढाई बढाई व चमडी-दमडी से, फेइम-नेइम व मनी गेइन से।
नहीं होता है आत्म का हित, जिससे (मैं) होता है संक्लेश/(मलीन) चित्त।।

इत्यादि काम (भाव) से न होता आत्महित, इससे न मिले आत्मिक सुख।
संतुष्टि-तृप्ति व शान्ति न मिलती, चिन्ता से ले आत्महत्या भी होती।।(11)

पावनभाव व पावनकाम से, तन-मन व आत्मस्वास्थ्य से।
दानदयासेवा व परोपकार से, आत्महित होता है एकाग्रमन (शान्तचित्त) से।।
वैश्विक इतिहास इस के साक्ष्य, प्रत्यक्ष प्रमाण भी इसके साक्ष्य।
आत्महित हेतु त्यागे चक्री भी राज्य, इस में भी गर्भित सुख रहस्य।। (13)

विभिन्न धर्म भी ऐसा मानते, महान् पुरुष भी ऐसा मानते।
विज्ञान ऐसा कर रहा है शोध, 'कनक' सूरी का ऐसा-शोध-बोध।। (14)

परमहितमय मैं तब ही बनूँगा, जब सम्पूर्ण कर्म रहित हूँगा।
यही मेरा है परम लक्ष्य, शुद्ध-बुद्धमय आत्मिकसुख।। (15)

सन्दर्भ :

जेण तच्चं विबुज्झेज्ज जेण चित्तं णि रूज्झदि।
जेण अत्ता विसुज्झेज्जं तं णाणं जिण सासणे।।267

जिससे तत्त्व का बोध होता है जिससे मन का निरोध होता है, जिससे आत्मा शुद्ध होता है जिन शासन में उसका नाम ज्ञान है।

जिसके द्वारा वस्तु का यथार्थ स्वरूप जाना जाता है, जिसके द्वारा मन का व्यापार रोका जाता है अर्थात् मन अपने वश में किया जाता है और जिसके द्वारा आत्मा शुद्ध हो जाता है, जीव वीतराग हो जाता है, वह ज्ञान जिनशासन में प्रमाण है, अर्थात् वही ज्ञान मोक्ष को प्राप्त कराने के लिए उपाय भूत है। वह ज्ञान संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय और अकिंचित्कर से रहित है।

जेण रागा विरज्जेज्ज जेण सेएसु रज्जदि।
जेण मित्तीं पभावेज्ज तं णाणं जिणसासणे।। 269

जिसके द्वारा जीव राग से विरक्त होता है, जिसके द्वारा मोक्ष में राग करता है, जिसके द्वारा मैत्री को भावित करता है जिन शासन में वह ज्ञान कहा गया है।

जिसके द्वारा जीव राग-स्नेह से और काम-क्रोध आदि से विरक्त होता है पराङ्मुख होता है, और जिसके द्वारा मोक्ष में अनुरक्त होता है, जिसके द्वारा मैत्री भावना अर्थात् द्वेष का अभाव करता है, जिन शासन में वही ज्ञान है। तात्पर्य यह हुआ।

अतत्त्व में तत्त्व बुद्धि, अदेव में देवता का अभिप्राय, जो आगम नहीं है उनमें आगम की बुद्धि, अचारित्र में चारित्र की बुद्धि और अनेकान्त में एकान्त की बुद्धि जहाँ तक है वहाँ तक अज्ञान है।

एक स्व-शुद्धात्मा (अहं-मैं) प्राप्ति हेतु ही 6 द्रव्य-7 तत्त्व-9 पदार्थों का श्रद्धान-ज्ञान

(चाल : छोटी-छोटी गैया..., सावोनारा...)

जानने योग्य व मानने योग्य व पाने योग्य एक स्व-शुद्धात्मा।
इसी हेतु ही जानने योग्य व मानने योग्य (6) द्रव्य(7) तत्त्व(9) पदार्थ।।(1)

षट् द्रव्य में मैं हूँ आत्म (जीव) द्रव्य, सप्त तत्त्व में हूँ मैं जीव तत्त्व।
पदार्थों में हूँ मैं जीव पदार्थ, संश्लेषित (तो भी) सभी द्रव्य तत्त्व पदार्थ।।(2)

'सत् द्रव्य लक्षण' वाला होने से मैं हूँ, स्वयंभू सनातन स्वयंपूर्ण।
'उपयोग लक्षण' वाला होने से मैं हूँ, अनंत ज्ञान दर्शन सुख वीर्य।। (3)

तो भी व्यवहार नय से अनादि काल से, हूँ कर्म बंध सहित।
इसी से हूँ मैं आस्रव बंध सहित, तथाहि संवर निर्जरा युक्त।। (4)

पुण्य व पाप दोनों सहित हूँ, पाना है संपूर्ण कर्मों से मुक्ति।
मेरी गति हेतु धर्म द्रव्य चाहिए, स्थिति हेतु चाहिए अधर्म द्रव्य।। (5)

अवकाश हेतु चाहिए आकाश द्रव्य, परिणमन हेतु चाहिए काल-द्रव्य।
द्रव्य भाव-नो कर्म तो पुद्गल शरीर, श्वास-भोजन-पानी आदि अजीव द्रव्य।।

सत्ता-संपत्ति-प्रसिद्धि-डिग्री व सचित्त-अचित्त व मिश्र परिग्रह।
ये सभी भी है मुझसे भिन्न मैं हूँ, सत्-चित् व आनन्दमय।। (7)

स्व शुद्ध स्वरूप से भिन्न सभी को, त्यागने हेतु उसे जानना मानना।
इसी हेतु मुझे स्व-स्वरूप से भिन्न, पर द्रव्यों से राग द्वेष मोह त्यागना।।(8)

इसी हेतु ही बना हूँ मैं श्रमण, इसी हेतु ही सभी व्रत-नियम।
ध्यान-अध्ययन व तप-त्याग, मनन-चिन्तन लेखन-प्रवचन।। (9)

इसे ही कहते है वीतराग-विज्ञान, आत्म विशुद्धि व आत्म संवित्ति।
इसके द्वारा ही 'कनकनन्दी', करेगा स्व-शुद्धात्मा की उपलब्धि।। (10)

सन्दर्भ :

यत्र विश्वमिदं भाति कल्पितं रज्जुसर्पवत्।
आनन्दपरमानन्दः स बोधस्त्वं सुखंचर।। 10

यहाँ शिष्य शंका करता है कि, आत्मज्ञान से अज्ञानरूपी वन के भस्म होने पर भी सत्यरूप संसारी की निवृत्ति न होने के कारण शोक रहित किस प्रकार होऊँगा तब गुरु समाधान करते हैं कि, हे शिष्य! जिस प्रकार रज्जु के विषे सर्प की प्रतीति होती है और उसका भ्रम प्रकाश होने से निवृत्ति हो जाती है, उसी प्रकार ब्रह्म के विषे जगत् की प्रतीति अज्ञान कल्पित है, ज्ञान होने से नष्ट हो जाती है। तू ज्ञानरूप चैतन आत्मा है, इस कारण सुखपूर्वक विचर। जिस स्वप्न में किसी पुरुष को सिंह मारता तो वह बड़ा दुःखी होता है परन्तु निद्रा के दूर होने पर उस कल्पित दुःख का जिस प्रकार नाश हो जाता है उसी प्रकार तू ज्ञान से अज्ञान का नाश करके सुखी हो। फिर शिष्य प्रश्न करता है कि हे गुरो! दुःख रूप जगत् अज्ञान से प्रतीत होता है और ज्ञान से उसका नाश हो जाता है परन्तु सुख किस प्रकार प्राप्त होता है ? तब गुरु समाधान करते है कि हे शिष्य! दुःखरूपी संसार के नाश होने पर आत्मा स्वभाव से ही आनंद स्वरूप हो जाता है, मनुष्य लोक से तथा देवलोक से आत्मा का आनंद परम उत्कृष्ट और अत्यंत अधिक है।

जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः।
यदन्यदुच्यते किंचित्, सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः।। (50)

The self is deifferent from matter, matter is different from the self this is the quintessence of all the compilations of wisdom all the rest of knowledge is but an amplification of this!

हे सुमति वाले शिष्य! बहुत कहने से क्या ? अर्थात् हेय-उपादेय तत्त्व की संक्षेप से भी प्रज्ञावान के मन में निवेश किया जा सकता है इस भाव को लेकर आचार्य कहते है कि-

''देहादि से आत्म तत्त्व भिन्न है और आत्म-तत्त्व से देहादि भिन्न है। ''इतने से ही भूतार्थ रूप से आत्म तत्त्व का समस्त सार गर्भित है, निर्णित है। जो इस तत्त्व संग्रह से अधिक भेद-प्रभेद का वर्णन है वह सब विस्तार रूचि वाले शिष्यों की रूचि को ध्यान में लेकर किया गया है। उसको भी हम अभिनंदित करते है, स्वीकार करते हैं।

समीक्षा- कथन प्रणाली विभिन्न प्रकार की होती है। वक्ता श्रोता की रूचि, योग्यता तथा भूमिका को ध्यान में रखकर विषय को प्रतिपादित करता है। जो विशेष प्रज्ञाशील/बुद्धि लब्धि से युक्त होता है उसे वस्तु तत्त्व का सामान्य वर्णन करने पर भी वह गहराई से, विस्तार से उसे ग्रहण कर लेता है परन्तु जिसकी बुद्धि लब्धि कम होती है उसे विस्तार से समझाने की आवश्यकता पड़ती है। इसी कारण सूत्र, चूर्णी सूत्र, वार्तिक, व्याख्या, भाष्य, समीक्षा आदि की आवश्यकता पड़ती है। ग्रंथकर्त्ता आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने 49 श्लोक तक जीव तत्त्व का सविस्तार वर्णन करके इस 50वें श्लोक में उसका उपसंहार स्वरूप या संक्षिप्त रूचि वाले प्रज्ञाधनी शिष्यों के लिए जीव तत्त्व का तथा जीव से भिन्न पर तत्त्व का वर्णन किया है।

सजीव द्रव्य को जानने के लिए पर अजीव द्रव्य का ज्ञान होना आवश्यक है क्योंकि जब तक स्व एवं पर का ज्ञान नहीं होगा तब तक स्व का ग्रहण एवं पर का त्याग नहीं हो सकता। छहढाला में कहा है- ''बिन जाने ते दोष गुणन को, कैसे तजिये गहिये।'' अनादि काल से जीव एक अजीव (पुद्गल कर्म परमाणु) का संश्लेष संबंध हुआ है जिसके कारण जीव, पुद्गल से प्रभावित होकर मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र रूप में परिणत होकर स्व-पर ज्ञान के भेद से रहित होकर स्व-द्रव्य को पर द्रव्य एवं पर द्रव्य को स्व द्रव्य मान बैठा है। इसके कारण ही जीव अनादि काल में भ्रमण करता हुआ अनंत दुःख को भोग रहा है। इसलिए स्व द्रव्य को जानने के लिए पर द्रव्य को जानना अनिवार्य है। स्व द्रव्य को जानकर, स्व द्रव्य को अन्य द्रव्य से अलग करना मोक्षमार्ग का, मोक्ष प्राप्ति का प्रधान एवं प्रथम कारण है।

ज्ञानविहीन तप की शोभा नहीं

सालविहीणो राउ दाण दया धम्म रहियगिह सोहा।
णाणविहीण तवो वि य जीव विणा देह सोहं च।। 92 रयण

अन्वयार्थ :- (साल विहीणो) दुर्ग के बिना (राउ) राजा की (दाण दया धम्म रहिद) दान दया धर्म से रहित (गीहि सोहा) गृहस्थ की शोभा नहीं होती (य) और (णाणविहीण तवो वि) ज्ञान से रहित तप भी और (जीव विणा) जीव के बिन (देह सोहं) देह की शोभा (ण) नहीं होती।

पद्य - **दुर्ग विहीन राजा, दान-दया-धर्म बिना गृही शोभा।**
ज्ञान विहीन तप, व जीव बिना देह की नहीं शोभा।।

परिग्रह दुःख का कारण

मक्खि सिलिम्मे पडिओ मुवइ जहा तहा परिग्गहे पडिउं।
लोही मूढो खवणो कायकिलेसेसु अण्णाणी ।। 93 रयण

अन्वयार्थ :- (जहा) जिस प्रकार (मक्खि सिलिम्मे पडिओ) मक्खी श्लेष्म (कफ) में गिरी हुई (मुवइ) मरण को प्राप्त होती है (लोही मूढो खवणो) लोभी अज्ञानी श्रमण (परिग्गहे पडिउ) परिग्रह संचित करने में आसक्त होता है। (तहा) उसी प्रकार (कायकिलेसेसु) कायक्लेश में (अणाणी) अज्ञानी-मूढमति, मोही कायक्लेश का तप करता है।

पद्य- **यथा मक्खी श्लेष्मा में पड़कर मरे तथा लोभी परिग्रह में प्रतिति**
लोभी-मूढ-श्रमण काय-क्लेश में ही पडता है अज्ञानी जीव।।

ज्ञानाभ्यास कर्मक्षय का हेतु

णाणब्भास विहीणा सपरं तच्चं ण विजाणए किं पि।
णाणं तस्स ण होइ हु ताव ण कम्मं खवेइ ण हु मोक्खो।।94 रयण.

अन्वयार्थ :- (णाणब्भास विहीणा) जो योगी ज्ञानाभ्यास से रहित है (सपरं तच्च) स्व और परके तत्त्व के (ण विजाणइ किंपि) विषय में कुछ भी नहीं जानता है (तस्स) उसके (णाणं वा होइहि) निश्चय से सच्चा आत्मिक ज्ञान नहीं होता है(ताव) तब तक (कम्मं) कर्मों का (ण खवेइ) क्षय नहीं हो सकता है और (ण हि मोक्खो) निश्चय से मोक्ष की प्राप्ति भी नहीं हो सकती है।

पद्य- **ज्ञानाभ्यास के बिना स्व-पर-तत्त्व न जानते कुछ भी।**
ज्ञान जिसे न होता तब तक न कर्मक्षय व मोक्ष नहीं।।

समीक्षा- **ज्ञान है स्व-पर प्रकाशी जिससे होता है भेद-विज्ञान।**
भेद विज्ञान से ध्यान जिससे वीतराग-विज्ञान व निर्वाण।।
अतएव साधु हेतु ध्यान-अध्ययन है परम कर्त्तव्य।
ध्यान-अध्ययन हेतु ही पालनीय सम्पूर्ण मुनि धर्म।।

नन्दौड़ 17.10.2018 रात्रि 02:15

सन्दर्भ :

स्वाध्याय परमोतपः (स्वाध्याय का स्वरूप व फल)

(चाल :- दुनिया में रहना हैं तो...) -आचार्य कनकनन्दी

सुनो ! सुनो! सुनो! भव्यजीव सुनो! एकाग्र चित्त से सभी श्रोता सुनो।
तन-मन-इन्द्रिय एकाग्र करके, आत्म विकास हेतु जिनवाणी सुनो।(1)

श्रद्धा से सुनो प्रज्ञा बढ़ेगी, ज्ञान-चेतना से आत्म जागृत होगी।
हिताहित ज्ञान से होगा भेद विज्ञान, अनात्म त्याग से बढ़ेगा वीतराग विज्ञान(2)

राग-द्वेष-मोह-काम-क्रोध-तृष्णा, ईर्ष्या-घृणा व द्वन्द्व-संक्लेश।
सचित्त-अचित्त व मिश्र परिग्रह, तन-मन-इन्द्रियादि अनात्म मय।। (3)

इनके त्याग से आत्म जागृति होगी, समता-शान्ति व आत्मविशुद्धि होगी।
इससे श्रावक व श्रमण बनकर, अनात्म भाव क्षय से अक्षय सुख मिलेगा।।(4)

इस हेतु सुनो। जिनवाणी को सुनो! शक्ति-भक्ति-शुद्ध से सदा सुनो।
सनम्र सत्यग्राही विनय भाव सह, जिज्ञासा पूर्वक जिनवाणी सुनो!(5)

जिनवाणी सुनना है स्वाध्याय तप, स्व-आत्म अध्ययन है परम तप।
इससे होती है अनुप्रेक्षा-स्मरण,मनन-चिन्तन-आत्म ज्ञान-ध्यान।। (6)

इससे होती असंख्यात गुणित निर्जरा,पाप संवर व सातिशय पुण्य कर्म बन्ध
इससे मिले अभ्युदय से सर्वोदय, 'कनक' करे सदा जिनवाणी स्वाध्याय।।

नन्दौड़ दि. 15.10.2018 मध्याह्न 12:50

शुद्ध-बुद्ध-आनन्द

(स्व-अध्ययन (स्वाध्याय) से मिलता है परिनिर्वाण

(चाल : मन रे! तू काहे न धीर धरे...) आचार्य कनकनन्दी

जिया रे! तू स्व-अध्ययन करोऽऽऽ
स्व-अध्ययन हेतु करो आगम स्वाध्यायऽऽऽ मिलता आनन्द अपार ऽऽऽ
स्व-अध्ययन में होता स्व-शुद्धात्मा अध्ययनऽऽऽ मैं हूँ शुद्ध-बुद्ध आनन्दऽऽऽ

राग द्वेष मोह काम क्रोध रहित, सत्य-समता-शांति सहितऽऽऽ
मै हूँ सच्चिदानंद सहितऽऽऽ...(1)

संकल्प-विकल्प-संक्लेश रहितऽऽऽ आकर्षण-विकर्षण रहितऽऽऽ
अहंकार-ममकार रहित हूँ मैंऽऽऽ अनंतज्ञान दर्शन सुख सहितऽऽऽ
निर्विकल्प-निराबाध युतऽऽऽ...(2)

अपना-पराया भेद-भाव रहितऽऽऽ वीतराग-निस्पृहता सहितऽऽऽ
परनिंदा अपमान प्रपंच रहितऽऽऽ स्वयं में स्थित ज्ञानानंद सहितऽऽऽ
टंकोत्कीर्ण स्वभाव युतऽऽऽ...(3)

इसी के शोध-बोध व प्राप्ति निमित्तऽऽऽ करो आगम का अध्ययनऽऽऽ
जिससे होते तन-मन-अक्ष संयमऽऽऽ कषायों का होता उपशमऽऽऽ
होता भाव में शुद्ध/(शुभ) परिणमनऽऽऽ...(4)

जिससे असंख्य कर्म निर्जरा होतीऽऽऽ होता सातिशय पुण्य बंधनऽऽऽ
घाति कर्मो का भी क्षयोपशम होताऽऽऽ जिससे होता ज्ञानानंद पानऽऽऽ
आह्लाद का रसपानऽऽऽ...(5)...

परम्परा से स्वर्ग में मानव बनकरऽऽऽ ज्ञान वैराग्य से बनोगे श्रमणऽऽऽ
ध्यान-अध्ययन आत्म विशुद्धि सेऽऽऽ बनोगे अरिहंत सिद्ध भगवान्ऽऽऽ
'कनक' पायेंगे परिनिर्वाणऽऽऽ...(6)...

शोधपूर्ण कविता

स्वाध्याय से तन-मन-आत्मा होते हैं स्वस्थ्य

(धार्मिक एवं वैज्ञानिक कारण)

(चाल : छोटी-छोटी गैया..., भातुकली..., सायोनारा...)

स्वाध्याय होता है परम तप...तन-मन-आत्मा होते हैं स्वस्थ्य...
अज्ञान-मोह का होता विनाश...हित ग्रहण व अहित त्याग...
स्वाध्याय होता स्व-आत्मा का ज्ञान... सत्य-असत्य का परिज्ञान...
आत्मा का हित है अनंत सुख...अनंत ज्ञान दर्शन वीर्य प्रमुख...(1)...

समता-शांति-क्षमा-सहिष्णुता...सहज-सरल-मृदुता-शुचिता...
वे सब होते हैं आत्मिक गुण...स्वाध्याय से होता इनका ज्ञान...
स्वाध्यय से मन की एकाग्रता...इन्द्रिय निग्रह (व) तन की स्थिरता...
अत्मिक गुणों का होता विकास...पापकर्मों का भी होता विनाश...(2)...

जिससे तन-मन होते स्वस्थ्य...समता-शांति का होता विकास...
आत्मविशुद्धि भी बढ़ती ही जाती...समता-शांति भी बढ़ती जाती...
परम एकाग्र मन जब हो जाता...घातिकर्म तब संपूर्ण नशता...
अनंत ज्ञान दर्शन सुख (वीर्य) प्रगटते...सर्व रोग सदा के लिए नशते...(3)

अघाती कर्म भी नाश होने से...अजर-अमर पद प्राप्त तभी से...
सच्चिदानन्दमय जीव बनते...शुद्ध बुद्ध आनंदमय होते...
यह है स्वाध्याय का परम फल...सांसारिक सुख है सामान्य फल
आधुनिक विज्ञान भी मान रहा है...स्वाध्याय से स्वास्थ्य लाभ होता है...(4)

मात्र छह मिनट के अध्ययन से लाभ...विकसित होता विश्लेषण कौशल
एकाग्रता व मेमोरी भी बढ़ती...माँसपेशियों के खिंचाव में कमी आती...
हार्टबीट भी तेज न चलती...ट्रेस में अधिक गिरावट आती...
डिमेंशिया का खतरा कम होता...ज्ञानानंद रस का पान भी होता...(5)

स्वाध्याय से जब मिले आत्मिक सुख...तन-मन सुख तो सामान्य सुख...
अतएव स्वाध्याय परम तप...'कनकनन्दी' सदा स्वाध्याय में रत...(6)

सन्दर्भ :

हैल्दी हैबिट है किताबें पढ़ना

किताबें पढ़ने से ज्ञान बढ़ता है ये तो जगजाहिर है लेकिन हैल्थ एक्सपर्ट का मानना है कि इससे सेहत संबंधी फायदे भी मिलते हैं। एक रिसर्च में पता चला है कि एक अच्छी किताब मात्र 6 मिनट के लिए भी पढ़ी जाए तो, माँसपेशियों के खिंचाव में राहत मिलती है, हार्टबीट तेज नहीं चलती, स्ट्रेस में 60 फीसदी तक गिरावट आती है। साथ ही मेमोरी बढ़ती है, विश्लेषण का कौशल विकसित होता है, इंसीडेटल डिमेंशिया का खतरा कम होता है और एकाग्रता की क्षमता

बढ़ती है। एक तुलनात्मक अध्ययन से पता चला है कि रीडिंग कई अन्य गतिविधियों की तुलना में कहीं ज्यादा स्ट्रेस से राहत दिलाती है। जैसे वीडियो गेम्स खेलने की तुलना में 700 फीसदी, वॉकिंग के बनिस्पत 300 फीसदी, चाय पीने के मुकाबले 100 फीसदी और संगीत सुनने की बजाय किताब पढ़ने से 69 फीसदी ज्यादा स्ट्रेस से राहत मिल सकती है।

जिणवयण मोसदमिणं विसय सुहं विरेयणं अमिद भूयं।
जर मरण वाहि हरणं खयकरणं सव्वदुःक्खाणं।। (दंसण पाहुड)

यह जिनवचन रूप औषधि इन्द्रिय विषय से उत्पन्न सुख को करने वाला है तथा जन्म-मरण रूप रोग दूर करने के लिए अमृत सदृश है और सर्व दुःखी के क्षय का कारण है।

शास्त्रं वदोडे शांति सैरने निर्गव नीति मेल्वातु मुक्ति स्त्री चिंते।
निजात्म चिंतने निल वेलक तेल्लदा शास्त्रादिं।।
दुस्त्रीचिंत ने दुर्मुखं कलहमु गर्व मनंगों दंडें।
शास्त्र शस्त्र में शास्त्रिमनला रत्नाकराधीस्वरा।। (कन्नड काव्य)

शास्त्र का ज्ञान प्राप्त कर शांति और सहिष्णुता को धारण करना, अहंकार से रहित होना, धार्मिक बनना, मृदु बातें करना, मोक्ष चिंता तथा स्वात्म चिंता में निरत रहना, श्रेष्ठ कर्त्तव्य है। इसके विपरीत शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त कर स्त्रियों की चिंता, क्रोध, मान, माया आदि से विकसित स्पर्धा और अहंकार के उपयोग से शास्त्र शस्त्र बन जाता है और शास्त्रज्ञ भी शस्त्रधारी हो जाते हैं। अभिप्राय यह है कि शास्त्र ज्ञान का उपयोग आत्महित के लिए करना चाहिए।

सतत अध्ययनशीलता से लाभ

णिउणं विउलं सुद्धं णिका चिद मणुत्तरं च सव्वहिदं।
जिणवयणं कलुसहरं अहो य रत्ती य पढिदव्वं।। (98) भ. आ.

निपुण, विपुल, शुद्ध अर्थ से पूर्ण, सर्वोत्कृष्ट और सब प्राणियों का हित करने वाला द्रव्य कर्म, भाव कर्म रूपी मल का नाशक जिनवचन दिन-रात पढ़ना चाहिए।

जिनवचन रात-दिन पढ़ना चाहिए। किस प्रकार जिनवचन पढ़ना चाहिए ? इसके उत्तर में कहते हैं जो निपुण हो अर्थात् जीवादि पदार्थों का प्रमाण और नय के

अनुसार निरुपण करने वाला हो, पूर्वापर विरोध पुनरुक्तता आदि बत्तीस दोषों से रहित होने से शुद्ध हो। विपुल हो अर्थात् निक्षेप, निरुक्त,अनुयोग द्वार और नय इन अनेक विकल्पों से जो जीवादि पदार्थों का विस्तार से निरूपण करता है। निकाचित अर्थात् अर्थ से भरपूर हो। अनुत्तर अर्थात् जिससे कोई उत्तर यानी उत्कृष्ट न हो। दूसरों के वचन पुनरुक्त, निरर्थक, बाधित और प्रमाण विरुद्ध है, अतः उनसे जिनवचन उत्कृष्ट हैं क्योंकि जो गुण उनमें संभव नहीं है उन गुणों से युक्त है।

सब प्राणियों का हितकारी है। दूसरों के मत तो किन्हीं की ही रक्षा सूचित करते है। ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म और अज्ञानादि भाव मल का विनाश करने से जिनवचन पाप हरने वाला है। उसे रात-दिन पढ़ना चाहिए इससे निरंतर अध्ययन करना सूचित किया है।

जिनवचन की शिक्षा में गुण

आदहिदपइण्णा भाव संवरो णवणवो या संवेगो।
णिक्कपदा तवो भावणा य परदेसि गतं चा।। (99) भ. आ.

आत्महित का ज्ञान होता है। भाव संवर होता है। नवीन-नवीन संवेग होता है, रत्नत्रय में निश्चलता होती है। स्वाध्याय तप होता है और भावना होती है और दूसरों को उपदेश करने की क्षमता होती है।

जिनवचन के पढ़ने से आत्महित का परिज्ञान होता है। इन्द्रिय सुख अहितकर है, उसे लोग हितकर ग्रहण करते हैं। इन्द्रिय सुख-दुःख का प्रतिकार मात्र है, अल्प काल तक रहता है। पराधीन है, राग का सहकारी है, दुर्लभ है, भयकारी है, शरीर का आभास मात्र है,अपवित्र शरीर के स्पर्श से उत्पन्न होता है। उसको यह अज्ञानी सुख मानता है। समस्त दुःखों के विनाश से उत्पन्न हुआ स्वास्थ्य आत्मा में स्थिति भाव स्थायी सुख है, यही नहीं जानता। वह सुख जिनवचन के अभ्यास से प्राप्त होता है। भाव अर्थात् परिणाम का संवर अर्थात् निरोध भाव संवर है।

ज्ञान से आत्महित परिज्ञान

णाणेण सव्वभावा जीवाजीवा सवादिय तधिगा।
णज्जदि इह परलोए अहिदं च तहा हियं चेव।। (100)

ज्ञान के द्वारा जीव, अजीव, आस्रव आदि सब पदार्थ तथ्यभूत जाने जाते हैं। उसी प्रकार से इस लोक और परलोक में अहित और हित जाना जाता है।

शांत एवं एकाग्र मन से लाभ

शोक-मद-मदन-मत्सर-कलह-कदाग्रह-विषाद-वराणि।
क्षीयवन्ते शान्त हृदामनुभव एवात्र साक्षी नः।। (18)

शांत हृदय वालों के शोक, मद, काम, मत्सर, कलह, कदाग्रह, विषाद और वैर ये सब क्षीण हो जाता है। शमयुक्त चित्त वालों के शोक इष्टवियोगादि से उत्पन्न हुआ चित्त का उद्वेग अथवा पश्चाताप जाति आदि 6 प्रकार के मद, काम विकार, मात्सर(डाह, ईर्ष्या, दूसरे के गुणों को न सहना), कलह (वाग्युद्ध, झगड़ा), कदाग्रह (मिथ्या आग्रह) विषाद (कार्य करने की अशक्ति) और वैर (विरोध द्वेष) ये सब क्षीण हो जाते हैं। शांत चित्त व्यक्तियों के शोकादि का नाश होने में हमारा अनुभव ही, यानी प्रकट हुए गुणसंपत्ति का साक्षात् दर्शन करने वाली हमारी बुद्धि ही साक्षी भूत है अर्थात् उसे साक्षात् देखने वाली है।

शान्ते मनसि ज्योतिः प्रकाशते, शान्तमात्मनः सहजम्।
भस्मीभवत्यविद्या मोहध्वान्तं विलयमेति।। (19)

मन शांत हो जाने पर आत्मा की स्वाभाविक और शांत ज्योति प्रकाशित होती है,अविद्या भस्मीभूत हो जाती है और मोहरूपी अंधकार का सर्वथा विनाश हो जाता है। जब चित्त वृत्ति शांत(निर्विकार) हो जाती है, तब आत्मा का सहज (स्वभाव सिद्ध) और शांत (विभाव विकार रहित) ज्योति प्रकाशित करने वाला चैतन्य प्रकाशित हो जाता है, उसके साथ ही अज्ञानदशा भस्मीभूत यानी निर्मूल हो जाती है और मोहरूपी अंधकार सर्वथा विनष्ट हो जाता है।

हाय रे! अयोग्य-साक्षरी-आधुनिक वाली व वाले! ?

(विविध चाल : बड़ा नटखट है रे..., जिन्दगी एक सफर है सुहाग..., फूलों का तारों का..., ऐ के लाल दरवाजे...)

हाय रे! साक्षरी...आधुनिक वाली...फैशन-व्यसन...उद्दण्ड वाली...
दया दान सेवा रहित वाली...अस्त-व्यस्त व संत्रस्त वाली...
शांति-समता से रहित वाली...हो...हाय रे!...(स्थायी)...

रटंत पढ़ाई व...डिग्री वाली...संस्कार-संस्कृति...रहित वाली...
प्रयोग-अनुभव...रहित वाली...दिखावा-ढोंग...करने वाली...
मर्यादा रहित...बोल्ड वाली...दिखावा व ढोंग...सहित वाली...हाय रे!...(1)...

गुरुजनों को न...मानने वाली...नेता-अभिनेता को मानने वाली...
परिवार की सेवा...न करने वाली...टी.वी. सरियल...देखने वाली...
फैशन-स्टाइल करने वाली...हाय रे! साक्षरी...आधुनिक वाली...हाय रे!(2)...

सेवा सहयोग से...रिक्त वाली...आहारदान से...रहित वाली...
विनय-सदाचार...रहित वाली...हॉटेल-क्लब में जाने वाली...
रेडीमेड भोजन...करने वाली...भोजन सही न...बनाने वाली...हाय रे!...(3)...

ईर्ष्या-घृणा व तृष्णा वाली...निन्दा-अपमान/(चुगली)...गप्प वाली...
वाद-विवाद...झगड़ा-कलह वाली...परिवार में फूट...डालने वाली...
मन्थरा सम व्यवहार वाली...हाय रे! साक्षरी...आधुनिक वाली...हाय रे...(4)

भ्रूण हत्या व दहेज वाली...झूठा मुकदमा करने वाली...
लिव इन रिलेशनशिप वाली...बायफ्रेण्ड व अश्लील वाली...
सादा जीवन उच्च विचार,रिक्त वाली...हाय रे! साक्षरी..आधुनिक वाली..हायरे!

तनाव-उदास...फोबिया वाली...शांति-तृप्ति...रहित वाली...
रोग-शोक...अतृप्त वाली...आत्म ग्लानि...आत्महत्या वाली...
मानव जीवन...व्यर्थ (करने) वाली...हाय रे! साक्षरी...आधुनिक वाली...(6)

साक्षरी पुरुष (भी)...जो (उक्त) दुर्गुण युक्त...वे भी उपरोक्त...दुःख सहित...
साक्षरी सदाचारी...संस्कृति बनो...प्रगतिशील/(उदार)...आधुनिक बनो...
'कनकनन्दी' का आशीष...महान् बनो...हाय रे! साक्षरी...हाय रे!...(7)

अध्ययन ही ध्यान है

अज्झयणमेव झाणं पंचेंदिय णिग्गहं कसायं पि।
तत्तो पंचमकाले पवयणसारब्भासमेव कुज्जा हो।। 95 (रयण)

अन्वयार्थ :- (पंचमकाले) इस दुस्सह पंचम काल में(अज्झयणमेव

ज्झाणं) जिनशास्त्रों का अध्ययन ही ध्यान है(पंचेंदिय णिग्गह) पंचेन्द्रियों का निग्रह करने वाला है(कसायंपि) कषायों का भी निग्रह करने वाला है(पवयणसारब्भासमेव) जिनोक्त-प्रवचनसार का ही अध्ययन (कुज्जा) अवश्य करो, करना चाहिए।

पद्य- **अध्ययन ही है ध्यान पंचेन्द्रिय निग्रह - कषाय भी।**
अतः पंचम काले प्रवचनसार अभ्यास ही करणीय ही।।

समीक्षा- **हीन संहनन आदि विपरीत परिस्थिति में अध्ययन ही ध्यान।**
अतः पंच प्रकार अध्ययन ग्रन्थ लेखनादि अति उत्तम धर्म।।

त्रिकरण शुद्धि पूर्वक धर्मध्यान

धम्मज्झाणब्भासं करेइ तिविहेण जाव सुद्धेण।
परमप्पज्झाणचेतो तेणेव खवेइ कम्माणि।। 96 रयण.

अन्वयार्थ :- (धम्मज्झाणब्भासं) धर्मध्यान का अभ्यास (तिविहेण) त्रिकरण पूर्वक (भावसुद्धेण) भावों की शुद्धि से (करेइ) जो करता है (परमप्पज्झाण चेतो) उसे परमात्म ध्यान का कारण बनता है (तेणेव कम्माणि) उसी परमात्म ध्यान से ही कर्मों का (खवेइ) नाश करता है।

पद्य - **धर्मध्यान अभ्यास करणीय यावत् त्रिकरण शुद्धि से।**
परमात्माध्यान चित्त में उससे ही होते हैं कर्मक्षय।।

समीक्षा- **मन, वचन-काय शुद्धि से धर्मध्यान अभ्यास सदाकरणीय।**
इससे ही होगा परमात्माध्यान परम्परा से जिससे मिलेगा मोक्ष।।

सम्यग्ज्ञान ही धर्मध्यान

पावारंभ णिवित्ती पुण्णारंभे पउत्ति करणं पि।
णाणं धम्मज्झाणं जिणभणियं सव्व जीवाणं।। 97 रयण.

अन्वयार्थ :- (पावारंभणिवित्ती) हिंसादि पापारंभो से निवृत्ति होना (पुण्णारंभ पउत्ति करणं पि) और पुण्य कार्यों में प्रवृत्ति करना (णाणं धम्मज्झाणं) ज्ञान और धर्मध्यान को करना(सव्व जीवाणं) यह सभी देह धारियों को सब संसारी जीवों को करने के लिए (जिणभणियं) जिनेन्द्र भगवान् ने आदेश दिया है।

पद्य- **पापारंभ से निवृत्ति पुण्यारंभ में प्रवृत्ति करने से।**
होता है ज्ञान धर्मध्यान जिनेन्द्र भणित सर्व जीव हेतु।।

समीक्षा- पापों से निवृत्त व पुण्य में प्रवृत्ति होती है सुज्ञान से।
अतएव सुज्ञान है धर्म ध्यान कुज्ञानी को न होता धर्म ध्यान।।

श्रुताभ्यास के बिना सम्यक् तप नहीं

सुदणाणब्भासं जो ण कुणइ सम्मं ण होइ तवयरणं।
कुव्वं जइ मूढमई संसारसुखाणुरत्तो सो।। 98 रयण.

अन्वयार्थ :- (जो) जो योगी (सुदणाणब्भासं) श्रुतज्ञान का अभ्यास (ण कुणइ) नहीं करता है (तस्य) उस योगी का (तवयरणं) तपश्चरण (सम्मं) सम्यक् पूर्वक (ण) नहीं (होई) होता है (मूढमई) मूढमति (यदि) यदि तपश्चरण (कुव्वं) करता भी है(संसार सहाणुरत्तो सो) वह संसार भोग संबंधि सुखों में अनुरक्त रहता है।

पद्य- **जो श्रुताभ्यास नहीं करते उनका न होता धर्मध्यान सम्यक्।**
यदि करता है मूढमति संसार सुख अनुरक्त भाव से।

समीक्षा- श्रुताभ्यास से होता है सुज्ञान जिससे होता भेद-विज्ञान।
जिससे होता वीतराग विज्ञान, जिससे होता वैराग्यपूर्ण धर्मध्यान
अन्यथा श्रुताभ्यास बिन न होता उपरोक्त सुज्ञान।
जिससे जो होता धर्म ध्यान वह होता संसार सुख अनुरंजन।।
ख्याति-पूजा-लाभ-प्रसिद्धि व वर्चस्व भोगोपभोग हेतु।
जो होता है धर्म ध्यान जिससे संसार भ्रमण होता वर्द्धमान।।

मुनिराज तत्त्वचिंतक होते हैं

तच्चवियारणसीलो मोक्ख महाराहणा सुहावजुदो।
अणवरयं धम्मकहा पसंगओ होइ मुणिराओ।। 99

अन्वयार्थ :- (मुणिराओ) मुनिराज (तच्च विसारण सीलो) तत्त्वों के विचार करने में कुशल (मोक्ख महाराहणा) मोक्ष मार्ग की आराधना करने में (सुहावजुदो) स्वभाव से युक्त जुड़े रहते हैं (अणवरयं) जो निरन्तर (धम्मकहा) धर्मकथा में (पसंगओ) संलग्न (होई) रहते हैं।

पद्य- **तत्त्व विचारणशील, मोक्षमहाराधना स्वभाव युक्त।**
अनवरत धर्मकथा प्रसंग सहित होते मुनिराज।।

सन्दर्भ :

विश्व के सभी जीवों के प्रति करूँ सही भाव-व्यवहार

(मेरी मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थ भाव व्यवहार)

(चाल : 1. मन रे! तू काहे...2. सायोनारा...) - आचार्य कनकनन्दी

'कनक' तु उदारभाव करो/(धरो)ऽऽऽ
किसी भी जीव प्रति न करो अशुभ भाव...अशुभ कथन व व्यवहार (ध्रुव)
किसी भी जीव प्रति जब होगा अशुभ भाव...तेरा ही भाव होगा
प्रदूषित(तनावयुक्त)ऽऽऽ
जिससे बेड हारमोन (होंगे) स्राव...जिससे होंगे नाना मानसिक रोगऽऽऽ
इससे होंगे नाना शारीरिक रोगऽऽऽ
मानवीय सम्बन्ध भी होंगे अयोग्यऽऽऽ कनक(1)
शुभभाव से होगा इससे विपरीत...शुभ कथन तथाहि शुभ व्यवहारऽऽऽ
जिससे होंगे गुड हारमोन स्राव...जिससे होंगे तन-मनादि स्वस्थ्य/(सबल)
मानवीय सम्बन्ध भी होंगे सुयोग्य ऽऽऽ कनक(2)
सभी जीवों में रखो मैत्री भावना...सभी जीव शक्तिरूप में है भगवान्ऽऽऽ
किसी को कभी न हो दुःख-सन्ताप...ऐसा करो नवकोटि से शुभ भावऽऽऽ
जिससे तुझे बन्धेगा पुण्यकर्मऽऽऽ
ऐसी भावना से बन्धे तीर्थंकर नामकर्मऽऽऽ कनक(3)
पर निन्दा-पर प्रपंच-आलोचना...पर प्रतिस्पर्द्धा व अन्धानुकरणऽऽऽ
पर अहित चिन्तन-कथन-कार्य से...न करो तू स्वयं का पतनऽऽऽ
आत्म पतन ही सर्व पतन कारणऽऽऽ आत्म उत्थान ही सर्व उत्थान
कारणऽऽऽ कनक (4)

पंचपरमेष्ठी व गुणी जीवों से...करो प्रमोद व गुणग्राही भावऽऽऽ
उनका यथायोग्य करो सन्मान...आदर-सत्कार-प्रशंसा विनय ऽऽऽ
''गुणगुणीकथा''से करो गुणग्रहण''वन्दे तद्गुणलब्धये''प्रमाणऽऽऽ कनक(5)

दीन-हीन-दुःखी-रोगी से...करो करुणाभाव व्यवहारऽऽऽ
वे भी बने सुखी करे आत्मविकास...ऐसा करो नवकोटि से व्यवहारऽऽऽ

यह अपाय व विपाक विचारऽऽऽ कनक(6)

दुष्ट-दुर्जन व विपरीत जीवों से...करो माध्यस्थ भाव-व्यवहारऽऽऽ
वे भी पावन बने करो विचार...उनसे भी न करो दुष्ट व्यवहारऽऽऽ
(करो) क्षमा-सहिष्णुता-साम्य विचारऽऽऽ कनक(7)

इससे भिन्न सभी भाव-व्यवहार...होते अशुभ या नकारात्मकऽऽऽ
अन्य के प्रति अशुभ भाव से (ही) तो...होता नेगेटिव भाव का प्रारंभऽऽऽ
जिससे होता अनर्थ प्रारम्भऽऽऽ कनक(8)

शुभ भाव-शुभ व्यवहार से ही...होता स्व-पर-विश्व-मंगलाचारऽऽऽ
यहाँ से ही शिक्षा-नीति-सदाचार...धर्म से ले आध्यात्मिक शुभारम्भऽऽऽ
सभी महान् कार्य हेतु मंगलाचारऽऽऽ कनक (9)

संकीर्ण-रुढि-परम्परा-धर्मादि में...उक्त शुभ भाव-व्यवहार न होतेऽऽऽ
ईर्ष्या-तृष्णा-घृणा-स्वार्थ मोह से...शुभ से विपरीत भावादि करतेऽऽऽ
इससे 'कनक' रहो तू निर्लिप्त ऽऽऽ कनक (10)

(भेद विज्ञान - ''वीतराग विज्ञान'' सम्बन्धी आत्म सम्बोधन)

मैं हूँ जड़ से परे चैतन्य स्वरूपी

(मैं हूँ जड से परे अमूर्तिक-सत्य-चेतना-आनन्द स्वरूपी)

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल :- मन रे! तू काहे...सायोनारा...)

आत्मन् (''कनक'') तू चैतन्य स्वरूपऽऽऽ
तू नहीं निश्चय से जड़ स्वरूप...तू हो! सच्चिदानन्द रूपऽऽऽ(ध्रुव)
तू हो द्रव्य-भाव-नोकर्म रहित...''द्रव्य कर्म'' अष्टविध कर्म स्वरूपऽऽऽ
भावकर्म राग-द्वेष-मोहादि रूप...नोकर्म शरीर व इन्द्रिय रूपऽऽऽ
इससे परे तू हो चिन्मय रूपऽऽऽ आत्मन् (1)

तीनों कर्म से जायमान विविध रूप उससे सम्बन्धी सभी जड़ स्वरूपऽऽऽ
यथा जन्म-जरा-मृत्यु-रोग-सुख-दुःख-क्षुधा-तृषा-लाभ-अलाभ-निन्दास्तव

मार्गणा-गुणस्थानादि कर्मजनीतऽऽऽ आत्मन् (2)

शुभ-मित्र-भाई-बन्धु-मातृ-पितृ...सचित्त-अचित्त-मिश्र परिग्रहऽऽऽ
ये सभी कर्मज व कर्म सम्बन्ध...इससे भी परे तू हो चिदानन्दऽऽऽ
(यथा) आकाश अमूर्तिक न बादल रूपऽऽऽ आत्मन्(3)

पांचों इन्द्रिय सम्बन्धी विषय भोग...संयोग-वियोग लेन-देन-संग्रहऽऽऽ
अन्याय-अत्याचार-शोषण से जो प्राप्त...दिखावा-आडम्बर-फैशन-व्यसनऽऽऽ
इससे परे तेरा चैतन्य भाव/(शुद्ध स्वरूप) आत्मन्(4)

ऐसी श्रद्धा-प्रज्ञा से होता 'भेद-विज्ञान' 'ज्ञान चेतना' या 'वीतराग विज्ञानऽऽऽ
यह ही 'आत्मज्ञान' या 'पराविज्ञान' 'आध्यात्मिक रहस्य' या 'परम ज्ञान'ऽऽऽ
इस रूप होने हेतु करो प्रयत्नऽऽऽ आत्मन् (5)
द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावानुसार करो प्रयत्न... 'शरीरमाद्यंखलु धर्म साधनम्'ऽऽऽ
तन-मन-इन्द्रिय स्वस्थ्य करणीयम्...तदनुकूल साधन ग्रहणीयम्ऽऽऽ
तथापि 'भेदज्ञान' वर्द्धनीयम्ऽऽऽ आत्मन् (6)

इस हेतु ही करो ध्यान-अध्ययन...तप-त्याग-समता-संयमऽऽऽ
निस्पृह-निराडम्बर-एकान्त-मौन...आत्मविशुद्धि व आत्मानुशासनऽऽऽ
वर्चस्व-प्रसिद्धि-स्पर्द्धा-हीनऽऽऽ आत्मन् (7)

स्व-अनन्त वैभव ही परम प्राप्य...अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख वीर्यऽऽऽ
इस हेतु द्रव्य-भाव-नोकर्म करो नाश...तब प्राप्त होंगे आत्मिक ऐश्वर्यऽऽऽ
'कनक' बनो शुद्ध-बुद्ध-आनन्दऽऽऽ आत्मन्(8)

मुनिराज की अनवरत चर्या

विकहाइ विप्पमुक्को आहाकम्माइ विरहिओ णाणी।
धम्मुदेसण कुसलो अणुपेहा भावणाजुदो जोई।।100 रयण.

अन्वयार्थ :- (णाणी जोई) सम्यग्ज्ञान योगी (विकहाइ) विकथादि से (विप्प मुक्को) पूर्ण मुक्त (आहाकम्माई) अधःकर्मादि से (विरहिओ) रहित रहते हैं (धम्मुदेसण कुसलो) धर्म का उपदेश देने में कुशल रहते हैं (अणुपेहा) अनुप्रेक्षा (भावण जुदो) बारह भावनाओं के चिंतन में लगे रहते हैं।

पद्य- विकथादि से विप्रमुक्त अधःकर्मादि से होते विरहित।
धर्म उपदेश कुशल अनुप्रेक्षा भावना युक्त ज्ञानी-योगी।।

विकल्प, द्वंद्व रहित मुनिराज

अवियप्पो णिद्दंदो णिम्मोहो णिक्कलंकओ णियदो।
णिम्मलसहाव जुत्तो जोइ सो होइ मुणिराओ।। 101 रयण.

अन्वयार्थ :- (जोई) जो योगी-साधु(अवियप्पो) अविकल्प (णिद्दंदो) निर्द्वंद्व (णिम्मलो) निर्मल (णिम्मोहो) निर्मोह (णिक्कलंकओ) निष्कलंक-दोष रहित (णिम्मल सहावजुदो) निर्मल-पवित्र स्वभाव युक्त (णियदो) हमेशा रहते हैं (मुणिराओ होइ) वह मुनिराज हैं।

पद्य- निर्विकल्प-निर्द्वन्द्व-निर्मोह-निष्कलंक होते श्रमण।
निर्मल स्वभाव युक्त होते हैं जो सो होते मुनिराज।।

समीक्षा- बाह्य त्याग-तपस्या करते हैं साधु समता-शान्ति हेतु।
आत्म विशुद्धि से अक्षय-अनन्त आत्म वैभव प्राप्ति हेतु।।
अतएव वे त्याग करते हैं संकल्प-विकल्प-द्वन्द्व व मोह।
कलंकित भाव-व्यवहार-वचन भी त्यागकर बनते निष्पृह।।
सामाजिक-राजनैतिक-आर्थिक व पारिवारिक समस्त द्वन्द्व।।
त्याग करके करते सदा आत्मानुशासन व आत्मविशुद्धि।।

मुनिराज कैसे होते हैं ?

णिंदा वंचण दूरो परीसह उवसग्ग दुक्ख सहभावो।
सुहज्झाणज्झयण रदो गयसंगो होइ मुणिराओ।। 102 रयण.

अन्वयार्थ :- (जो) जो (णिंदा वंचण दूरो) परकी निंदा और मायाचारी से रहित है (परीसह उवसग्ग) परिषह और उपसर्ग को सहते हैं (दुक्ख सहभावो) दुःखों में समभाव सहनशील भाव रखते हैं (सुहज्झाण ज्झयण रदो) शुभ ध्यान और अध्ययन में रत (गयसंगो) अन्तरंग और बाह्य परिग्रह से रहित हैं (मुणिराओ) ऐसे ही वे मुनिराज हैं, उनको ही मुनिराज यतिवर कहते हैं।

पद्य- निन्दा वञ्चना दूर व परीषह-उपसर्ग-दुःख में समभाव।
शुभ ध्यान अध्ययन रत होते परिग्रह से रहित मुनिराज।।

सन्दर्भ :

चेतनामय (उपयोग) ही जीवों का स्वरूप

(द्रव्य तन-मन-इन्द्रियों से परे चेतना)

(चाल : मन है छोटा सा...)

मानो! मानो! मानो! चेतना मानो/(जानो)
चेतना बिना जीव न मानो/(जानो)।
चेतना जीवों का प्रमुख लिंग/(गुण, लक्षण),
चेतना रहित सभी होते निर्जीव।। (1)

चेतना अनुविधायी परिणाम उपयोग, ज्ञान-दर्शनमय होते दो भेद।
ज्ञानोपयोग होते अष्ट विध, दर्शन उपयोग होते चतुर्विध।। (2)

आत्मश्रद्धान बिन होता मिथ्याज्ञानोपयोग/(कुज्ञानोपयोग),
कुमति-श्रुत-अवधिज्ञान मिथ्याज्ञानोपयोग।
आत्मश्रद्धान युक्त सुज्ञानोपयोग, सुमति से केवल तक पंच सुज्ञानोपयोग।।(3)

दर्शन होते निर्विकल्प स्वरूप, चक्षुअचक्षुअवधिकेवलदर्शन स्वरूप।
सम्यक्दर्शन से भिन्न यह दर्शन, प्रथम तो श्रद्धा तो द्वितीय उपयोग।। (4)

चेतना रहित कोई न होते जीव, सूक्ष्म जीव से ले सिद्ध पर्यन्त।
सूक्ष्म जीवों में अल्प चेतना जागृत, सिद्ध जीवों में अनन्त-चेतना जागृत।।
चेतना से ही सुख-दुःख अनुभव, अनुभव से ही प्रत्यक्ष से सिद्ध है जीव(5)
'मैं' अनुभव करता हूँ अतः 'मैं' हूँ जीव, 'मैं, हूँ अतः अनुभव करता 'मैं' प्रत्यक्ष।।

अनुभव हेतु अन्य न कोई मुख्य कारक, इन्द्रिय-मन-से(ले) यंत्रादि गौण कारक।
चेतना (या) उपयोग अनुभव हेतु प्रमुख, इसके बिन इन्द्रियादि न होते समर्थ।।

चेतना से तन-मन-अक्ष सचित्त, चेतना बिन तनादि होते अचित्त।
तनादि तो भौतिक तत्त्व से निर्मित, मस्तिष्क को भी ऐसा मानो निश्चित।।(8)

चेतना व जीवों का अविनाभावी सम्बन्ध, अनादि से अनन्त तक रहे अनिवार्य।
चेतना की उत्पत्ति न जड़ से संभव, जड़ तो अचेत जीव तो सदा ही चैतन्य।(9)

ऐसा जो न जाने-माने वे नास्तिक/(कुज्ञानी), अन्य कुछ जाने-माने वे मिथ्यात्व।
सच्चिदानन्दमय जीवों का शुद्ध रूप, शुद्ध स्वरूप प्राप्ति ही 'कनक' का लक्ष्य।।

चेतना की शुद्धि-वृद्धि ही धर्म, चेतना की विकृति-हानि ही अधर्म।
अशुद्ध चेतना से ही मिलता दुःख, शुद्ध चेतना से ही मिलता सुख।। (11)

राग-द्वेष-मोह-काम-क्रोधादि से, चेतना होती अशुद्ध ईर्ष्या-घृणा से।
इनके त्याग से चेतना होती शुद्ध, शुद्ध जीव ही बनते सिद्ध-आनन्द।।(12)

ज्ञान चेतना वृद्धि में रत हूँ अतः मैं धन्य हूँ

चाल :- रात कली इक...) -आचार्य कनकनन्दी

धन्य है! मेरा भाव जगा है, आत्मज्ञान में सतत लगा हूँ।
त्याग के धन-जन-मान-प्रसिद्धि, आत्मज्ञान हेतु शोध-बोध रत हूँ।।(ध्रुव)
''ज्ञान-चेतना'' बढ़ाने हेतु ही, 'कर्मफल' व 'कर्म चेतना' को गौण किया हूँ।
इस हेतु आत्मश्रद्धान व प्रज्ञा युक्त, स्वाध्याय-अनुप्रेक्षा-ध्यान रत हूँ।।
त्याग के हठाग्रह-पूर्वाग्रह दंभ, सनम्र-सत्यग्राही-जिज्ञासु बना हूँ।
प्रमाण-नय-निक्षेप-अनेकान्त युक्त, समन्वय-समीक्षा से शिक्षा लेता हूँ। (1)

आत्मविशुद्धि व आत्म उपलब्धि हेतु, गुण-दोष-विश्लेषण-शोध रत हूँ।
आत्मस्वभावमय अनन्तगुण(गण) मय हूँ इससे भिन्न सभी को दोष माना हूँ।
स्व-गुण परिज्ञान संवर्द्धन हेतु ही, स्व-दोषों के शोध-बोध रत हूँ।
स्व-दोष नाश हेतु प्रतिक्रमण-प्रायश्चित,संयम-तप-त्याग-ध्यान रत हूँ।। (2)

इस हेतु ही त्यागा हूँ बाह्य प्रपंच, संकल्प-विकल्प-संक्लेश-द्वन्द्व।
एकान्त मौन में निस्पृहता में रहकर,ध्यान-अध्ययन से ज्ञान बढ़ा रहा हूँ।
ज्ञानदान से भी ज्ञान बढ़ा रहा हूँ, ज्ञान से धन-मान नहीं चाहता हूँ।
ज्ञानदान हेतु स्वाध्याय कराता हूँ, साहित्य लेखन प्रवचन करता हूँ।। (3)

स्वेच्छा से शिष्य-भक्त दान देकर, साहित्य प्रकाशन भी करा रहे हैं।
जिससे वे भी ज्ञान वृद्धि कर रहे हैं, देश-विदेशों में ज्ञान बढ़ा रहे हैं।।

इसमें भी मैं निस्पृह-अकिंचित् रहकर, ज्ञान चेतना को ही बढ़ा रहा हूँ।
''भेद विज्ञानी'' वीतराग-विज्ञानी' बनकर, सर्वज्ञ बनने हेतु 'कनक' रत हूँ।।

सन्दर्भ :

समवशरणगत बारह कोठों में बैठने वाले जीवों का विभाग

चेट्ठंति बारस-गणा, कोट्ठाणबभंतरेसु पुव्वादी।
पुह पुह पदाहिणेणं गणाण साहेमि विण्णासा।। (865)

इन कोठों के भीतर पूर्वादि प्रदक्षिण-क्रम पृथक-पृथक बारह गण बैठते हैं। इन गणों के विन्यास का कथन आगे करता हूँ।

अक्खीण-महाणसिया, सप्पी-खीरामियासव-रसाओ।
गणहर-देव-प्पमुहा, कोट्ठे पढमम्मि चेट्ठंति।। (866)

इन बारह कोठों में से प्रथम कोठे में अक्षीणमहानसिक ऋद्धि तथा सर्पिरास्रव, क्षीरास्रव एवं अमृतास्रवरूप रस-ऋद्धियों के धारक गणधरदेवप्रमुख बैठा करते हैं।

बिदियम्मि फलिह भित्ती-अंतरिदे कप्पवासि-देवीओ।
तदियम्मि अज्जियाओ, सावइयाओ विणीदाओ।। (867)

स्फटिकमणिमयी दीवालों से व्यवहित दूसरे कोठे में कल्पवासिनी देवियाँ एवं तीसरे कोठे में अतिशय विनम्र आर्यिकाएँ और श्राविकाएँ बैठती हैं।

तुरिये जोइसियाणं, देवीओ परम-भक्ति-मंतीओ।
पंचमए विणिदाओ, वितर-देवाण देवीओ।। (868)

चतुर्थ कोठे में परम-भक्ति से संयुक्त ज्योतिषी देवों की देवियाँ और पाँचवें कोठे में व्यंतर देवों की विनीत देवियाँ बैठा करती हैं।

छट्ठम्मि जिणवरच्चण-कुसलाओ भवणवासि-देवीओ।
छट्ठए जिण-भत्ता, दस-भेदा भावणा देवा।। (869)

छठे कोठे में जिनेन्द्र देव के अर्चन में कुशल भवनवासिनी देवियाँ और सातवें कोठे में दस प्रकार के जिनभक्त भवनवासी देव बैठते हैं।

अट्ठमए अट्ठविहा, वेंतरदेवा या किण्णर-प्पहुदी।
णवमे ससि-रवि-पहुदी, जोइसिया जिण-णिविट्ठ-मणा।। (870)

आठवें कोठे में किन्नरादिक आठ प्रकार के व्यंतरदेव और नवम कोठे में

जिनेन्द्र-देव में मन को निर्विष्ट करने वाले चन्द्र-सूर्यादिक ज्योतिषी देव बैठते हैं।

सोहम्मादी अच्चुद-कप्पंता देव-रायणो दसमे।
एक्करसे चक्कहरा, मंडलिया पत्थिवा मणुवा।। (871)

दसवें कोठे में सौधर्म स्वर्ग से लेकर अच्युत स्वर्ग पर्यंत के देव एवं उनके इन्द्र तथा ग्यारहवें कोठे में चक्रवर्ती, माण्डलिक राजा एवं अन्य मनुष्य बैठते हैं।

बारसमम्मि य तिरिया, करि-केसरि-वग्घ-हरिण-पहुदीओ।
मोत्तूण पुव्व-वेरं, सत्तु वि सुमित्त-भाव-जुदा।। (872)

बारहवें कोठे में हाथी, सिंह, व्याघ्र और हरिणादिक तिर्यंच जीव बैठते हैं। इनमें पूर्व वैर को छोड़कर शत्रु भी उत्तम मित्र भाव से संयुक्त होते हैं।

शुद्ध भाव वालों को विपरीत-ज्ञानी मानते हैं दुर्जन! क्यों ?

(चाल : आत्मशक्ति..., तुम दिल की...)

मौलिक शुद्ध चिन्तन आचरण को नहीं जानते अधिकांश जन।
स्वयं तो होते हैं विपरीत ज्ञानी शुद्ध भावी को मानते दुर्जन।। (ध्रुव)
जो कुछ थोड़ा देखे-सुने उसे ही मानते हैं परम सत्य।
परम सत्य व आत्म तत्त्व को वे मानते हैं सब असत्य।।
यथा जन्मांध न देखता सूर्य को तो क्या सूर्य हो गया असत्य।
तथाहि अज्ञानी सत्य न जानते (तो) क्या सत्य हो जावे असत्य।। (1)

इन्द्रिय मन में न अनंत शक्ति तथाहि यंत्रों में न अनंत शक्ति।
सत्य में होते हैं अनंत गुण/(आयाम, पहलू)अतःइन्द्रियादि न जाने पूर्ण सत्य।।
अधिकांश जीव न जानते स्वयं/(मैं) को तथाहि आकाश-काल व विश्व।
जन्म-मरण सुख दुःख के कारण धर्म-अधर्म व पुण्य पाप।। (2)

नहीं जानते हैं आत्मा-परमात्मा, अणु से लेकर लोक-अलोक।
भाग्य-पुरुषार्थ-निमित्त-उपादान, भव्य-अभव्य व भगवान्।।
स्व के तन-मन-इन्द्रियों के स्वरूप को भी जब नहीं जानते।
तब वे कैसे जानेंगे अमूर्तिक, स्व अनंत गुणधारी आत्मा को।। (3)

भक्ष्य-अभक्ष्य हितकर-अहितकर भोजन-पेय को भी न जानते।
नीति-अनीति को भी न जानते (तो) कैसे अमूर्तिक आत्मा जानेंगे।।
परिवार-समाज-संघ-संगठन के सदस्यों से (जो) दुर्व्यवहार करते।
वे क्या धर्म पालन करेंगे व क्या विश्व हित हेतु काम करेंगे।। (4)

उठना-बैठना-खाना-पीना-सोना-जागना जो सही न करते।
वे क्या जानेंगे आत्मविकास कैसे आत्म अनुसंधान करेंगे।
अव्यवस्थित जिनकी दैनिक चर्या,अस्त-व्यस्त-संत्रस्त-जीवन।
वे क्या जानेंगे व मानेंगे आध्यात्मिक शांतिमय/(समतामय) जीवन।। (5)

धर्म तो आत्म-स्वभाव है वह तो अनंत गुणों से सहित।
रीति-रिवाज व पर्व की सीमा में कैसे पायेंगे धर्म व सत्य।।
इसलिए जो आध्यात्मिक जन परम सत्य के अनुसार सोचते।
तदनुकूल करते व कहते उन्हें ये कुज्ञानी असत्य मानते/(कहते)।। (6)

इसलिए तो तीर्थंकर मुनि तक को ऐसे जीव कष्ट तक देते हैं।
ऐसे ही यथायोग्य अन्य महापुरुषों को भी कष्ट देते है।।
तथापि महान् पुरुष सत्य के बल पर ही विजय को प्राप्त करते हैं।
'कनकनन्दी' भी ऐसे महान्-पुरुष को आदर्श रूप में मानते हैं।। (7)

प्रकाश यथा अंधकार से नहीं होता भयभीत व परास्त भी।
महान् पुरुष भी विपरीत ज्ञानी से नहीं होते भयभीत परास्त भी।। (8)

अधिक ज्ञानी साधु व कम ज्ञानी साधु परस्पर निन्दा न करे

(अधिक ज्ञानी साधु कम ज्ञानी साधु की निन्दा न करे तथा कम ज्ञानी साधु अधिक ज्ञानी की निन्दा न करे)

आचार्य कनकनन्दी

(चाल : तुम दिल की..., सायोनारा..., छोटी-छोटी गैया...)

निन्दा न करे कोई किसी की...अधिक ज्ञानी भी कम ज्ञानी की...
निन्दा तो अधार्मिक काम है...निन्दा प्रवृत्ति न होती साधु की...

निन्दा में होते हैं राग-द्वेष-मोह-ईर्ष्या-घृणा रूपी असमता भाव...
ये सब भाव हैं अधार्मिक भाव...साधु के योग्य न होते ये भाव...(1)

समता साधक होते हैं श्रमण-जीवन-मरण में जो रखते साम्य...
लाभ-अलाभ संयोग-वियोग में...शत्रु-मित्र व सुख-दुःख में...
समता हेतु ही त्याग-तपस्या...व्रत नियम व ध्यान-अध्ययन...
परीषह जय व उपसर्ग सहन...समता हेतु ही सभी हैं साधन...(2)

समता बिना तप-त्याग आदि से...नहीं होते संवर व निर्जरा...
आत्म-विशुद्धि भी नहीं होती है...नहीं मिल सकता है परिनिर्वाण...
अधिक ज्ञानी जो होते हैं श्रमण...अधिक साम्य होता तदनुसारेण...
वे न कर सकते निन्दा के परिणाम...उच्च परिणाम से होते ज्ञानी श्रमण...(3)

अतः वे न निन्दा करते अन्य की...हीनाधिक ज्ञानी अन्य साधु की...
वे तो स्व-निन्दा-गर्हादि करके...आत्म विशुद्धि हेतु तत्पर रहते...
जो श्रमण होते हैं न्यून/(कम) ज्ञानी...वे तो ज्ञान को बढ़ाना चाहते...
इसीलिए वे ज्ञान व ज्ञानी की...विनय-बहुमान-प्रशंसा करते...(4)

उपगूहन स्थितिकरण अंग युक्त...वात्सल्य सहित प्रभावना करते...
निन्दा से ये अंग भी नष्ट होते...नीच गोत्र आदि पाप भी बंधते...
निन्दा से वाद-विवाद-कलह होते...वैर-विरोध व फूट भी होते...
संघ-समाज का अपमान भी होता...शालीनता-मर्यादा का भंग भी होता...(5)

अन्य लोग भी इसका लाभ उठाते...अपमान व निन्दा अनादर करते...
विभिन्न प्रकार भी क्षति पहुँचाते...अतः 'कनक' निन्दा से दूर रहते...(6)

सन्दर्भ-

(बहुशास्त्रज्ञों को कम शास्त्रज्ञ साधुओं का दोष ग्रहण नहीं करना चाहिए और न अल्पज्ञ साधुओं को बहुशास्त्रज्ञों का दोष ग्रहण करना चाहिए। ऐसा ही हर व्यक्तियों के लिए जान लेना चाहिए, क्योंकि राग-द्वेष-छिद्रान्वेषण निन्दा करना अधर्म/पाप है।) प्रवचनसार

मिथ्यात्व सहित मुक्ति नहीं।

तिव्वं कायकिलेसं कुव्वंतो मिच्छ भावसंजुत्तो।
सव्वणुवएसे सो णिव्वाणसुख ण गच्छेई।। 103 रयण.

अन्वयार्थ :- (तिव्वं कायकिलेसं कुव्वंतो) जो तीव्र कायक्लेश करता है (मिच्छाभाव संजत्तो) मिथ्यात्व भाव से संयुक्त रहता है (णिव्वाणं) वह निर्वाण (सुहं) सुख को (ण गच्छेइ) प्राप्त नहीं करता है अर्थात् मोक्ष को नहीं जाता है। (सव्वण्णुवएसे सो) ऐसा सर्वज्ञ-केवलि भगवान् का उपदेश (अस्ति) है।

पद्य-तीव्र कायक्लेश जो करता मिथ्याभाव से संयुक्त।
सर्वज्ञ उपदेश से निर्वाण सुख को नहीं वह पाता।।

रागी को आत्मा का दर्शन नहीं

रायदिमलजुदाणं णियप्परूवं ण दिस्सए किं पि।
समला दरिसे रूवं ण दिस्सए जहा तहा णेयं।।104 रयण.

अन्वयार्थ :- (रायदिमल जुदाणं) रागादि मलों से युक्त (णियप्परूपं) अपने निज आत्मा के स्व रूप को (किं पि) कुछ भी (ण दिस्सए) दिखाई नहीं देता है (जह) जैसे (समला दरिसे)मल लिप्त दर्पण में शिशे में (रूवं) शरीर का रूप (ण दिस्सए) नहीं दिखाई देता हैं (तहा) उसी प्रकार (णेयं) जानना चाहिए।

पद्य- **रागादिमल संयुक्त निज स्वरूप न दिखता कुछ भी।**
समल दर्पण में यथा रूप न दिखता तथाहि ज्ञेय (जानो)।।

समीक्षा- **दर्पण में यथा रूप देखने हेतु दर्पण स्वच्छ होना चाहिए।**
तथाहि स्व-आत्मदर्शन हेतु रागादि मल स्वच्छ होना चाहिए।।

दीर्घ संसारी

दंडत्तय सल्लत्तय मंडियमाणो असूयगो साहू।
भंडण जायण सीलो हिंडइ सो दीह संसारे।। 105 रयण.

अन्वयार्थ :- (दंडत्तय) दंडत्रय (सल्लत्तय) शल्यत्रय (मंडियमाणो) शोभायमान (असूयगो) ईर्ष्यावान (भंडयजायणसीलो) परस्पर में बात-बात पर झगड़ा करने वाला, याचनाशील (सो साहू) ऐसा वह साधु(दीह संसारे) दीर्घ संसार में (हिंडइ) जन्म-मरण करते हुए श्रमण करता है।

पद्य- दंडत्रय व शल्यत्रय से मंडित ईर्ष्यावान् जो साधु।
वे होते दीर्घ संसारी जो झगडालु व याचनाशील साधु।।

सम्यक्त्व रहित साधु कौन

देहादिसुअणुरत्ता विसयासत्ता कसाय संजुत्ता।
अप्पसहावे सुत्ता ते साहू सम्मपरिचत्ता।। 106 रयण.

अन्वयार्थ :- (देहदिसु अणुरत्ता) शरीर पोषण में आसक्त(विसयासत्ता) विषयासक्त (कसाय संजुत्ता) क्रोधादि कषायों से युक्त (अप्पसहावे) आत्मस्वरूप में (सुत्ता) सोये है, अनभिज्ञ है (ते साहू) वे साधु (सम्म परिचत्ता) सम्यक्त्व से रहित हैं।

पद्य- जो देहादि से अनुरक्त, विषयासक्त व कषाय संयुक्त।
आत्मस्वभाव में सुप्त वे साधु सम्यक्त्व से परित्यक्त।।

जैन धर्म के विराधक

आरंभे धणधाण्णे उवयरणे कंक्खिया तहा सूया।
वयगुणसील विहीणा कसाय-कलहप्पिया मुहरा।। 107 रयण.
संघविरोह कुसला सच्छंदा रहिय गुरुकुला मूढा।
रायाई सेवया ते जिणधम्म विराहिया साहू।। 108 रयण.

अन्वयार्थ :- (साहू) जो साधु (आरंभे) आरंभ करने में (धण धाण्णे) धन धान्यादि में (उवयरणे) उपकरणों में (कंक्खिया) इच्छा रखते हैं कांक्षा करते हैं (तहा) तथा (असूया) ईर्ष्याभाव करने वाले (वयगुणसीलं विहीणा) व्रत गुणशील से रहित हैं (कसाय) कषाययुक्त हैं (कलहप्पिया) कलहप्रिय हैं (मुहरा) वाचाल (संघविरोह कुसला) संघ का विरोध करने में कुशल (सच्छंदा) स्वच्छंद-मन-मुताबिक(रहिय गुरुकुला) दीक्षा गुरु की परम्परा को न मानने वाला आज्ञा रहित(रायाई सेवया) राजादि लोगों की सेवा करने वाला (जिणधम्म विराहिया) वह जिनधर्म की विराधना करने वाला है।

पद्य- आरंभ में धन धान्य में उपकरण में कांक्षा तथा ईर्ष्यावान।
व्रत-गुणशील विहीन कषाय-कलह प्रिय व वाचाल।।

पद्य- संघ विरोध में कुशल, स्वच्छन्द रहित गुरुकुल मूढ।
राजादि के सेवारत वे साधु जिनधर्म के विराधक।।

श्रमणों की दूषित करने योग्य कार्य

जोइसविज्जामंत्तोपजीवणं वायवस्स ववहारं।
धणधण्णं पडिग्गहणं समवाणं दूसणं होइ।। 109 रयण.

अन्वयार्थ :- (जोइसविज्जामंत्तोपजवणं) ज्योतिष विद्या, मंत्र-तंत्र देकर अपने जीवन को चलाना व्यतीत करना (धण धण्णं पडिग्गहणं) धन धान्य आदि का परिग्रह संग्रह करना (वायवस्स) भूत प्रेत आदि का झाडा देना (ववहारं) ऐसे व्यवहार करना (समणाणं) श्रमणों के लिए (दूषण) दोष (होई) होता है।

पद्य- जोतिष-विद्या-मंत्र-तंत्र उपजीवी भूतप्रेत दूर करने वाला।
धन-धान्य-परिग्रह-संग्राहक श्रमण होता दूषितवाला।।

सम्यक्त्वहीन मुनि

जे पावारंभरया कसायजुत्ता परिग्गहासत्ता।
लोयववहार पउरा ते साहू सम्म उम्मुक्का।। 110 रयण.

अन्वयार्थ :- (जे पावारंभरया) जो साधु पापारंभ में रत है (कसायजुत्ता) कषाययुक्त है(परिग्गहासत्ता) परिग्रह में आसक्त है (लोयववहार) लोक व्यवहार में (पउरा) प्रचूर प्रवीण है (ते साहू) वे साधु(सम्मउम्मुक्का) सम्यक्त्व से रहित है।

पद्य- जो पापारंभ रत कषाय युक्त परिग्रहासक्त।
लोकव्यवहार प्रचुर वे साधु सम्यक्त्व से रहित।।

पापी जीव

चम्मट्ठि मंसलव लुद्धो सुणहो गज्जए मुणिं दिट्ठा।
जह पाविट्ठो सो धम्मिट्ठं दिट्ठा सगीयट्ठो।। 111 रयण.

अन्वयार्थ :- (जह) जैसे (चम्मट्ठि मंसलवलुद्धो सुणहो) चर्म मांस हड्डी खाने वाला लोभी कुत्ता दूसरे कूत्ते को देखकर (गज्जए) भूंकता है(पापिट्ठो) वैसे दुरात्मा पापिष्ठ भी (धमिट्ठं) कलुष भावों से अपने स्वार्थ रूप मन शान्ति की सिद्धि कर लेते हैं।

पद्य - यथा चर्मास्थि मांस लोभी कुत्ता भुंकता है अन्य कुत्ता देखकर।
तथा पापीष्ठ भी घृणा करते हैं धार्मिक मुनि-सद् गृहस्थ पर।।

सम्यक्त्व से विमुख जिव्हा इन्द्रिय लोलुपी

ण सहंति इयरदप्पं थुवंतिअप्पाण अप्पमाहप्पं।
जिब्भिणिमित्तं कुणंति ते साहू सम्म उम्मुक्का।। 112 रयण.

अन्वयार्थ :- (इयरदप्पं) जो साधु दूसरे साधुओं के यश कीर्ति को (ण सहंति) सहन नहीं करते हैं (अप्पाणं मप्प माहप्पं) अपनी आत्म प्रशंसा कर लेते हैं(थुवंति) स्तुति कर लेते हैं (जिब्भणिमित्तं) जिव्हा इन्द्रिय के लोलुपता के कारण (कुर्णति) प्रयत्न करते हैं (ते साहू) वे साधु(सम्मउमुक्का) सम्यक्त्व से विमुख है।

पद्य- जो सहन न करते अन्य के यश किन्तु स्तवन करते स्वयश।
जिह्वा लोलुपता अनुरक्त वे साधु सम्यक्त्व से विमुख।।

मोक्षमार्गी साधु

भुजेइ जहालाहं लहेइ जइ णाणसंजम णिमित्तं।
झाणाज्झयण णिमित्तं अणियारो मोक्खमग्ग रओ।। 113 रयण.

अन्वयार्थ :- (जइ) यति (जहालाहं) अपनी चर्या और प्रतिज्ञा के अनुसार जहाँ भी अपने भाग्यवश जो भी आहार मिले (लहेइ) उसे ग्रहण करते हैं (णाण संजम णिमित्तं) वह ज्ञान संयम के निमित्त (झाण ज्झयण णिमित्तं) ध्यान अध्ययन करने के लिए (भुंजेइ) आहार लेते हैं (अणियारो) ऐसे साधु (मोक्खमग्गरओ) मोक्ष मार्ग में रत है ऐसा समझना।

पद्य - यथा लाभ आहार लेते जो ज्ञान संयम निमित्त।
ध्यान-अध्ययन निमित्त साधु सो मोक्षमार्ग रत।।

मुनि चर्या के विभिन्न प्रकार

उदरग्गिसमणमक्खमक्खणं गोयरिसब्भपूरण भमरं।
णाऊण तप्पयारे णिच्चेवं भुंजए भिक्खू।। 114 रयण.

अन्वयार्थ :-(भिक्खू) भिक्षुक मुनिराज (उदरग्गिसमणं) जठराग्नि को उपशमन के लिए (अक्खमक्खणं) पांचों इन्द्रियों का निग्रह करने के लिए (गोयरि) गोचरी (सब्भपूरण) श्वभ्रपूरण गढ्ढा (पेट) भरने के लिए (भमरं) भ्रामरीवृत्ति (णाऊण तप्पयार) इनको जानकर (णिच्चेव) नित्य ही (भुंजए) आहार ग्रहण करना।

पद्य - उदराग्नि उपशमनार्थ इन्द्रिय निग्रह व उदर पूर्णार्थ।
भ्रमरसमगोचरी करे जो साधु नित्य सो आहार व्यर्थ।।

धर्मानुष्ठान के लिए शरीर पोषण

रस रुहिर मंस मेदट्ठिसुकिल मलमुत्तपूयकिमि बहुलं।
दुग्गंध मसुइ चम्मयमणिच्चमचेयण पउणं।। 115 रयण.

धर्मानुष्ठान के लिए शरीर पोषण

बहुदुक्ख भायणं कम्मकारणं भिण्णमप्पणो देहो।
तं देहं धम्माणुट्ठाणकारणं चेदि पोसए भिक्खू।। 116 रयण.

अन्वयार्थ :- मानव का यह शरीर(रसरुहिरमंस) रस, रूधिर मांस (मेदट्ठि सुकिल) मेदा, हड्डी, वीर्य (मलमत्त पूय) मल, मूत्र, पीव (किमिबहुलं) और कीटाणुओं से भरा हुआ है (दुग्गंधमसुइ) दुर्गंधमय अपवित्र है (चम्ममय) चर्म से आच्छादित (अणिच्चचेयणं) अनित्य है और अचेतन है (पउणं) पतन होने वाला विनाश युक्त है(बहुदुक्खभायणं) बहुत दुःखों का पात्र है (कम्मकारणं) कर्मों के बंध का कारण है (भिण्णमप्पणो देहो) अपना आत्मा शरीर से भिन्न है (तं देहं) उस शरीर को(धम्माणुट्ठाण कारणं) मुक्ति की प्राप्ति के लिए, धर्मानुष्ठान के लिए (चेदि पोसए भिक्खू) साधु शरीर का पोषण जतन करते हैं।

पद्य- रस रुधि मासं मेद अस्थि वीर्य मल मूत्र पीव कृमि बहुल।
दुर्गन्ध अपवित्र चर्ममय अनित्य अचेतन जानकर।।

पद्य- बहु दुःख भाजन कर्मकारण, भिन्न स्व आत्मा से देह।
वह देह धर्मानुष्ठान कारण भी है इस हेतु पोषण करते भिक्षु /(साधु)।।

सन्दर्भ :

कनक तू क्यों साधु बना!?
सिद्धि हेतु न की प्रसिद्धि हेतु!

आचार्य कनकनन्दी

(चाल : मन रे! तू काहे न धीर धरे..., मोक्ष पद मिलता धीरे-धीरे..., सायोनारा...)

जिया रे! तू काहे साधु बना!ऽऽऽ
धन-जन त्यागा श्रमण बनाऽऽऽ मोक्ष के हेतु बनाऽऽऽ...(ध्रुव)...

मोक्ष होता है सर्व कर्म क्षय सेऽऽऽ शरीर-मन से भी परेऽऽऽ
राग-द्वेष-मोह-काम-क्रोध शून्यऽऽऽ ख्याति-पूजा-लाभ परेऽऽऽ
सच्चिदानंद पूरेऽऽऽ जिया रे...(1)

''शरीर माद्यं खलु धर्म साधनम्''ऽऽऽ शरीर हेतु है भोजनम्ऽऽऽ
औषधि पानी वसतिका चाहिएऽऽऽ तीनो हैं उपकरणम्ऽऽऽ
साध्य हेतु साधनम्ऽऽऽ जिया रे...(2)

इसके अतिरिक्त सत्ता-संपत्तिऽऽऽ प्रसिद्धि-पूजा-यश-कीर्तिऽऽऽ
माईक-मञ्च-पण्डाल-होर्डिंगऽऽऽ न चाहिए पत्रिका विज्ञापनऽऽऽ
ये सब अनात्म कामऽऽऽ जिया रे...(3)

नाम-बड़ाई हेतु प्रशस्ति व फोटोऽऽऽ भीड़ व टी.वी. प्रसारणऽऽऽ
बाजा व आडम्बर नहीं चाहिएऽऽऽ लंद-फंद-द्वंद्व-प्रदूषणऽऽऽ
ये सब बाह्य प्रपञ्च ऽऽऽ जिया रे...(4)

ये सब तूने अनंत बार कियाऽऽऽ त्यागा भी अनंत बारऽऽऽ
विसर्जित मल सप्त ये सब त्याज्यऽऽऽ जो है समता/(साधना) में बाधकऽऽऽ
समता-शांति भज रेऽऽऽ जिया रे...(5)

भक्त-शिष्यजन जो कुछ करतेऽऽऽ दान-सेवा व व्यवस्थाऽऽऽ
असमें संतोष होकर करता हैऽऽऽ निस्पृह से आत्म-साधनाऽऽऽ
निस्पृही-वीतरागी बनऽऽऽ जिया रे...(6)

स्वेच्छा से भक्त-शिष्य देश-विदेश केऽऽऽ कर रहे धर्म-प्रभावनाऽऽऽ
उसमें भी अकिंचित्कर तुम्हे बनानाऽऽऽ उसमें न हो अहं भावनाऽऽऽ
आकिञ्चन्य बन रेऽऽऽ जिया रे...(7)

एकांत-मौन व समता-शांति सेऽऽऽ करना है ध्यान अध्ययनऽऽऽ
शिष्य-भक्तों को भले ज्ञानदान दोऽऽऽ तुझे करना है मोक्ष साधनाऽऽऽ
'कनक' श्रमण की भावनाऽऽऽ जिया रे...(8)

''नाम के लिए नहीं, सही काम करो स्वतः नाम होगा''

(अभिमान त्यागकर स्वाभिमान से सोऽहं भाव प्राप्त कर)

(राग : इक परदेशी मेरा...)

नाम ही नाम सब नाम चाहते, नाम के लिए हर काम करते।
लोक प्रचलन/(व्यवहार) हेतु नाम रखते, नाम से ही स्वर्ग-मोक्ष नहीं मिलते।।
नाम स्थापना द्रव्यादि निक्षेप होते, भाव से अन्य निक्षेप श्रेष्ठ बनते।
भाव बिना अन्य का न महत्त्व होता, भाव युक्त का महत्त्व होता।। (1)

नाम तो संज्ञा जो जड़मात्र है, आकाश नहीं आकाश शब्द मात्र में।
धन शब्द मात्र से ही धन न होता, लक्ष्मीपति नाम से कोई धनी न होता।।
तथापि नाम के लिए मरते/(संत्रस्त) जन, ऐनकेन प्रकारेन कमाते नाम।
नाम हेतु विचित्र काम करते, अष्टमद को स्वाभिमान मानते।। (2)

भरत नामांकन हेतु वृषभ (गिरि) में गया, नामांकन हेतु वहाँ स्थान न पाया।
पूर्व के नाम मिटाकर स्व-नाम लिखा, तेरा भी नाम मिटेगा नभवाणी ने कहा।।
नाम के लिए दान धर्म करते, फैशन व आडम्बर में (दंभ/) भरते।
ज्ञानार्जन तप त्याग पूजा करते, हास्यास्पद लज्जाहीन काम करते।। (3)

जन्म-मरण विवाह आदि कार्य में, क्लब पार्टी तीर्थयात्रा पर्व आदि में।
संकट पूर्ण कठोर क्रूर (आदि) कार्य में,तन-मन-धन व्यय करते व्यर्थ में।।
दी गई दान वस्तु में नाम लिखेंगे, शिलालेख प्रशस्ति-पत्र लिखेंगे।
विज्ञापनबाजी टी.वी. द्वारा करेंगे होर्डिंग पत्रिकादि में नाम छापेंगे।। (4)

पद त्याग हेतु उपदेश झाड़ेंगे, विनम्रता का ढोंग खूब रचेंगे।
ख्याति पूजा प्रसिद्धि को हेय कहेंगे,नवकोटी से मान/(नाम) को वृद्धि करेंगे।।
स्वाभिमान को अभिमान मानेंगे, सोऽहं भाव को अहं भाव कहेंगे/(मानेंगे)।
अष्टमद को इष्ट भाव मानेंगे, नाम कमाने हेतु काम करेंगे।। (5)

यह सब मदमोह अनात्म भाव, मानी-मोही मानता आत्मिक भाव।
अज्ञान मोह वशतः न जाने यथार्थ, जिसका परिणाम है यह अनर्थ।।
आत्मविकास से यह बाधक तत्त्व, स्वाभिमान सोऽहंभाव साधक तत्त्व।

बाधक त्यागो साधक तत्त्व मिलता, 'कनक' इसी हेतु यत्न करता।। (6)

सही नाम कमाने के उपाय करो, उच्च भाव-व्यवहार सर्वदा करो।
दयालु परोपकारी उदार बनो, तन-मन-वाणी से पावन बनो।।
सादा जीवन उच्च विचार करो, महान् लक्ष्य से/(श्रेष्ठ) कर्त्तव्य करो।
सरल सहज व सजल बनो, सहृदयी क्षमाशील विनम्र बनो।।(7)

सर्वजीव समभावी सहिष्णु बनो, स्वानुशासी सत्यवन्त निस्वार्थी बनो।
ईर्ष्या-द्वेष-घृणा से रहित बनो, कृतज्ञ गुणग्राही निर्लोभी बनो।।
नाम-कमाने की तृष्णा को छोड़ो, निस्पृह भाव से कर्त्तव्य करो।
यश कीर्ति ख्याति पूजा मिलेगी, त्याग से प्रसिद्धि सच्ची/(स्वतः) मिलेगी।।(8)

लोकप्रियता न खरीदी जाती, दान से लोकप्रियता नहीं मिलती।
जबरदस्ती से भी नहीं मिलती, सच्चे-अच्छे कर्मों से स्वतः मिलती।।
तीर्थंकर राम बुद्ध ईसा मसीह, सुकरात प्लेटो पायथागोरस।
विवेकानन्द गाँधी सुभाषचन्द्र, लिंकन टेरेसा हुए स्वतः प्रसिद्ध।। (9)

मोही-रागी-द्वेषी-कामुक से माध्यस्थ भाव

(चाल : मन रे! तू काहे न धीर धरे...) -आचार्य कनकनन्दी

जिया/(आत्मा) रे! तू काहे न धीर धरेऽऽऽ
मोही-रागी-द्वेषी जन सेऽऽऽ काहे तू नेह धरेऽऽऽ...(ध्रुव)...
सदाकाल उनसे माध्यस्थ रहोऽऽऽ राग-द्वेष न करोऽऽऽ
जिससे बनोगे तुम धीर-वीरऽऽऽ शांत-गंभीर-प्रवरऽऽऽ
समता भाव धरोऽऽऽ जिया रे...(1)...
आत्मा-अनात्मा उन्हें न ज्ञातऽऽऽ स्वर्ग या मोक्षपुरऽऽऽ
कर्म चेतना से पराभूत होकरऽऽऽ भोगते भोग प्रचुरऽऽऽ
उनसे न मोह करोऽऽऽ जिया रे...(2)...

सत्ता-संपत्ति-प्रसिद्धि-बुद्धि कोऽऽऽ मानते वे स्व-स्वरूपऽऽऽ
स्व-आत्म रूप से विपरीत चलतेऽऽऽ जानते न आत्म-स्वरूपऽऽऽ
तुम हो चिन्मय रूप(हो)ऽऽऽ जिया रे...(3)...

मैत्री रखो तू हर जीव सेऽऽऽ गुणी से करो प्रमोदऽऽऽ
दुःखी जीवों से करुणा भावऽऽऽ विपरीत में हो माध्यस्थऽऽऽ
स्व-पर हित कर रेऽऽऽ जिया रे...(4)...

स्व-पर हित में से भी तू जियाऽऽऽ स्वहित आद्य करोऽऽऽ
पहले स्वयं प्रकाशित होकरऽऽऽ अन्य को प्रकाशित करोऽऽऽ
'कनक' तू स्वरूप वरोऽऽऽ जिया रे...(5)...

मन का प्रभु में लय/तन्मय

(मन वश करने का उपाय)

(चाल : मन रे! तू काहे न धीर धरे...) -आचार्य कनकनन्दी

मन रे! तू काहे न धीर धरे!
तेरे प्रभु तो तुझ में विराजितऽऽऽ उनकी तू पूजा करोऽऽऽ।ध्रुव।
इन्द्रियाँ तो तेरी दासी होती हैंऽऽऽ उनकी पूजा न करोऽऽऽ
उनकी पूजा से तू होगा अधीरऽऽऽ यह तू विचार करोऽऽऽ
प्रभु की पूजा करोऽऽऽ मन रे...(1)

इन्द्रियाँ प्रवृत्ति तो पर में होतीऽऽऽ पर तो होगा ही परऽऽऽ
स्व-प्रभु की उपासना छोड़करऽऽऽ पर में तू नेह न करऽऽऽ
स्व-पर विवेक करोऽऽऽ मन रे...(2)...

प्रभू की पूजा से बनेंगे मनस्वीऽऽऽ श्रद्धा का बनोगे तू घरऽऽऽ
दासी की सेवा से बनोगे तू दासऽऽऽ दास का न होता सुविचारऽऽऽ
प्रज्ञा को तीक्ष्ण तू करऽऽऽ मन रे...(3)...

श्रद्धा व प्रज्ञा से युक्त तू होकरऽऽऽ प्रभु को स्मरण तू करोऽऽऽ
प्रभु तेरे में ही प्रगट होंगेऽऽऽ प्रभु का तू दर्शन करोऽऽऽ
तन्मय रूप धरोऽऽऽ मन रे...(4)...

तू जब लीन होगा प्रभु मेंऽऽऽ प्रभु ही रहेंगे प्रभु मेंऽऽऽ
ज्ञाता व ज्ञेय, ध्याता व ध्येयऽऽऽ होंगे अब अभेदमयऽऽऽ

परम होगा ये महऽऽऽ/('कनक' बनेगा स्वमयऽऽऽ)
मन रे तू काहे न धीर धरेऽऽऽ मन रे...(5)

मेरे निस्पृह समताधारी बनने के उपाय

(राग-द्वेषी-मोही से अप्रभावित होने के उपाय या निन्दा-प्रशंसा से परे होने के उपाय)

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : मन रे! तू काहे न धीर धरे...)

जिया रे! तू काहे विकल्प करे!
राग-द्वेषी-दोषी जन सेऽऽऽ काहे स्व-मूल्य करेऽऽऽ...(ध्रुव)...
उनकी निन्दा या प्रशंसा सेऽऽऽ तेरा क्या लाभ है?ऽऽऽ
जो दीपक स्वयं न जला हैऽऽऽ उससे क्या प्रकाश है?ऽऽऽ
स्वयं प्रकाशी बन रेऽऽऽ जिया रे...(1)

तुझे न चाहिए, ख्याति पूजा लाभऽऽऽ उनसे क्या तेरा प्रयोजनऽऽऽ
तुझे तो चाहिए स्व-उपलब्धिऽऽऽ स्व से ही तेरा प्रयोजनऽऽऽ
स्व का मूल्य कर रेऽऽऽ जिया रे...(2)

तू तो अनंत ज्ञानघन धनीऽऽऽ अनंत सुख वीर्यवान्ऽऽऽ
संकल्प-विकल्प-संक्लेश त्यागोऽऽऽ पाओगे स्व-अनंत धनऽऽऽ
स्वयं को तू प्राप्त करऽऽऽ जिया रे...(3)

रागी-द्वेषी-मोही स्वयं ही दोषी हैऽऽऽ आध्यात्म गुणों से रहितऽऽऽ
वे क्या जानेंगे आध्यात्मिक मूल्यऽऽऽ जो स्वयं मूल्य विहीनऽऽऽ
स्व-कल्याण कर रेऽऽऽ जिया रे...(4)

स्व को जानो तू स्व को मानोऽऽऽ करो स्वयं में आचरणऽऽऽ
यह मोक्षमार्ग आत्म स्वभावऽऽऽ इसे प्राप्त करोऽऽऽ
'कनक' स्वरूप वर रेऽऽऽ जिया रे...(5)

''कौन क्या कहेगा'' से परे आत्म-विकास मैं करूँ!

(चाल : मन रे तू काहे न धीर धरे...) - आचार्य कनकनन्दी

जिया रे! तू काहे विकल्प करेऽऽऽ!
''कौन क्या कहेगा'' इसके लिए तूऽऽऽ क्यों संक्लेश करेऽऽऽ...(ध्रुव)
संकल्प-विकल्प व संक्लेश सेऽऽऽ समता भाव नशेऽऽऽ
अशांति होती चंचलता आतीऽऽऽ ध्यान अध्ययन नशेऽऽऽ
आत्मिक भाव नशेऽऽऽ जिया रे...(1)

निन्दा प्रशंसा व परोपदेश सेऽऽऽ शिक्षा अवश्य गहोऽऽऽ
''कौन क्या कहेगा'' इसके कारणऽऽऽ अयोग्य/(अनात्म) भाव न गहोऽऽऽ
अन्धानुकरण न करोऽऽऽ/(समता न त्यजऽऽऽ) जिया रे...(2)

आत्म स्वभाव रहित वे जनऽऽऽ राग-द्वेष-मोह युक्तऽऽऽ
योग्य-अयोग्य वे क्या जानेऽऽऽ उनसे रहो तू विरक्तऽऽऽ
स्व-स्वभाव में रतऽऽऽ जिया रे...(3)

आत्म स्वभाव में जो संत रतऽऽऽ वे न करते प्रपञ्चऽऽऽ
उनसे आत्मिक शिक्षा लेकरऽऽऽ तू भी त्यागो प्रपञ्चऽऽऽ
अनात्म भाव विरक्तऽऽऽ जिया रे...(4)

''कौन क्या कहेगा'' इसके कारण लोग करते फैशन-व्यसनऽऽऽ
आडम्बर ढोंग दिखावा प्रपञ्चऽऽऽ ख्याति-पूजा-लाभ-निदानऽऽऽ
आत्म साधक बन रेऽऽऽ आत्म विकास कर रेऽऽऽ
आत्म निवास कर रेऽऽऽ जिया रे...(5)

तीर्थंकर बुद्ध-ईसा मसीहऽऽऽ सुकरात मीरा टेरेसाऽऽऽ
साधु साधवी-गुणी-वैज्ञानिकऽऽऽ किसे भी न छोड़ते दुर्जनऽऽऽ
'कनक' न छोड़ आत्म गुणऽऽऽ जिया रे...(6)

मुझे आत्मदर्शन करना है न कि प्रदर्शन

(मुझे सिद्धि चाहिये, न कि ख्याति पूजा प्रसिद्धि)

(चाल : मन रे! तू काहे न धीर धरे..., सायोनारा...) -आचार्य कनकनन्दी

जिया रे! धर्म को सही समझोऽऽऽ
समता-शांति व आत्म-विशुद्धिऽऽऽ होता है निश्चय धर्मऽऽऽ...(ध्रुव)
इसी हेतु जो बाह्य साधन/(साधना)ऽऽऽ होता है व्यवहार धर्मऽऽऽ
दोनों से युक्त धर्म करनाऽऽऽ होता है यथार्थ से धर्मऽऽऽ
पालो तू यथार्थ धर्मऽऽऽ जिया रे...(1)

निश्चय धर्म हेतु व्यवहार धर्मऽऽऽ दोनों परस्पर सहयोगीऽऽऽ
संतुलित हो साधन-साध्यऽऽऽ तब ही होता धर्मानुरागीऽऽऽ
धर्मानुरागी बने रेऽऽऽ जिया रे...(2)

भोजन पाक हेतु यथा अग्निऽऽऽ किन्तु अग्नि ही नहीं भोजनऽऽऽ
अयोग्य होती अधिक भी अग्निऽऽऽ जलाती वह यथा भोजनऽऽऽ
संतुलित धर्म कर रेऽऽऽ जिया रे...(3)

यथा समता-शांति आदि बिनऽऽऽ बाह्य साधना भी अयोग्यऽऽऽ
उभय लोक नाशक स्व-पर घातकऽऽऽ केवल दिखावा (दंभ) आडम्बरऽऽऽ
दिखावा धर्म न करऽऽऽ जिया रे...(4)

दिखावा-आदि से न होता धर्मऽऽऽ धर्म तो आत्म-स्वभावऽऽऽ
दिखावा न चाहिए स्वभाव हेतुऽऽऽ स्वयं तू स्व-स्वभावमयऽऽऽ
आत्म रमण कर रेऽऽऽ जिया रे...(5)

चापलुस-वेश्या-नट-नटी-ठगऽऽऽ करते हैं नीच प्रदर्शनऽऽऽ
ज्ञानी-ध्यानी आध्यात्मिक संतऽऽऽ करते है आत्मदर्शन
कनक करे आत्मदर्शनऽऽऽ जिया रे...(6)

ख्याति-पूजा-प्रसिद्धि-पत्रिका/(मंञ्ज)ऽऽऽ होर्डिंग-भीड़-विज्ञापनऽऽऽ
इनसे न होता आत्म-दर्शनऽऽऽ एकांत-मौन में कर ध्यानऽऽऽ
'कनक' होगा(तेरा) कल्याणऽऽऽ जिया रे...(7)

वह साधु है क्या?

कोहेण य कलहेण य जायणसीलेण संकिलेसेण।
रुद्देण य रोसेण य भुंजइ किं वंतरो भिक्खू।। 117 रयण.

अन्वयार्थ :- (कोहेण य) क्रोध से और (कलहेण य) कलह से और (जायणसीलेण) याचना करके (संकिलेसेण) संक्लेश उत्पन्न करते हुए (रोसेण) रोष करते हुए (भुंजइ) जो भोजन करता है (किं वंतरो भिक्खू) क्या वह भिक्षुक व्यंतर है ?

पद्य- **क्रोध से व कलह से याचनाशील संक्लेश से।**
क्रूरता से व रोष से जो खाता वह भीक्षु है व्यंतर।।

आहार शुद्धि संदेश

दिव्वुत्तरणसरित्थं जाणिच्चाहो धरेइ जइ सुद्धो।
तत्तायसपिंडसमं भिक्खू तुह पाणियगयपिंडं।। 118 रयण.

अन्वयार्थ : (भिक्खू) हे मुनि! (तत्तायसपिंडसमं) तपाये हुए लोहे के गोले के समान (पाणियगयपिंडं) तेरे कर पात्र में आया हुआ आहार का ग्रास (तुह) तुम (जदि) यदि सुद्धो) शुद्ध (धरेइ) धारण करता है तो (दिव्वुत्तरण सरित्थं) दिव्य नौका के समान संसार समुद्र से पार करने वाला है (जाणिच्चाहो) ऐसा तू निश्चय कर जान।

पद्य- **तप्त लौहपिंड सम जानकर आहार शुद्ध यदि ग्रहण करे भीक्षु**
दिव्य नौका के समान संसार तारक निश्चय से ज्ञेय।।

युक्ताहारी साधु ही दुःखों के क्षय में समर्थ

संजम तवझाणाज्झयण विण्णाणये गिण्हये पडिग्गहणं।
वच्चइ गिण्हइ भिक्खू ण सक्कदे वज्जिदुं दुक्ख।।119 रयण.

अन्वयार्थ :- (संजम तव झाणाज्झयण) संयम, तप, ध्यान, अध्ययन (विण्णणये) विज्ञान के वृद्धि में (गिण्हए पडिग्गहणं) अगर भोजन ग्रहण करता है (भिक्खू) तो वह साधु-भिक्षुक (ण सक्कदे वज्जिदुं दुक्खं) जन्म मरण के दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता है।

पद्य- **संयम-तप-ध्यान-अध्ययन विज्ञान वृद्धि हेतु आहार ग्रहण योग्य**
इससे अतिरिक्त (भिन्न) आहार ले जो भिक्षु न नाश करे दुःख।।

पात्रों के अनेक प्रकार

अविरद देसमहव्वय आगमरुइणं वियार तच्चण्हं।
पत्तंतरं सहस्सं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं।। 120 रयण.

अन्वयार्थ :- (अविरद देसमहव्वय) अविरत सम्यग्दृष्टि, श्रावक, देशव्रति श्रावक और पंचमहाव्रतों को धारण करने वाले मुनि (आगमरूइणं) आगम में रूचि रखने वाले (तच्चण्हं) तत्त्वों का चिंतवण करने वाले (पत्तंतरं सहस्सं) पात्रों के हजारों भेद हैं (णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहि) इस प्रकार जिनेन्द्र देव ने कहा है।

पद्य- **अविरत सम्यक्त्वी देश महाव्रत आगम रुचि तत्त्वज्ञ विचारक।**
पात्रों के सहस्र भेद जिनेन्द्र देवों ने उक्त।।

मुनियों की पात्रता

उवसम णिरीह झाण ज्झयणाइ महागुणा जहा दिट्ठा।
जेसिं ते मुणिणाहा उत्तमपत्ता तहा भणिया।। 121 रयण.

अन्वयार्थ :- (उवसम) उपशम (णिरीह) इच्छा रहित (झाणज्झयणाइ) ध्यान अध्ययन संयम भाव, सहित (महागुणा) महान् गुणों की वृद्धि मे लगे रहते हैं (जहादिट्ठं) यह स्पष्ट यथार्थ में दिखाई देते हैं (जेसिं) जिनमें (ते) वे (मुणिणाहा) मुनिनाथ (उत्तमपत्ता तहा) उनको उत्तम पात्र (भणिया) कहा है।

पद्य- **उपशम निस्पृहता ध्यान अध्ययन महान् गुण जहाँ दिखे।**
वे हैं मुनिनाथ उत्तम पात्र उन्हें कहा गया।।

पात्र विशेष के लक्षण

दंसणसुद्धो धम्मज्झाणरदो संगविवज्जिदोणिसल्लो।
पत्तविसेसो भणियो ते गुणहीणो दु विवरीदो।। 122 रयण.

अन्वयार्थ :- (दंसणसुद्धो) सम्यग्दर्शन से शुद्ध (धम्मज्झाणरदो) धर्म ध्यान में रत (संगविवज्जिदो) अंतरंग व बाह्य परिग्रह से रहित (णिसल्लो) शल्य रहित (पत्तविसेसो) ऐसे मुनि को विशेष पात्र (भणियों) कहा है (ते गुणहीणों) उपरी कहे गये गुणों से रहित है (विवरीदो) विपरीत है, वे अपात्र है।

पद्य- **दर्शन शुद्धि धर्म ध्यान रत परिग्रह रहित निःशल्य।**
वे हैं पात्र विशेष गुण हीन होते हैं विपरीत पात्र/(अपात्र)।।

पात्र विशेष के लक्षण

सम्माइगुणविसेसं पत्तविसेसं जिणेहि णिद्दिट्ठं।
तं जाणिऊण देइसु दाणं जो सोउ मोक्खरओ।। 123 रयण.

अन्वयार्थ :- (सम्माइगुणविसेसं) सम्यक्त्वादि गुणों से श्रेष्ठ(पत्तविसेसं) पात्र की विशेषता (जिणेहिं) जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा (णिद्दिट्ठं) कहा गया है। (तं) उनको (जाणिऊण) जानकर (दाणं) दान (देइसु) देने वाले (जो) वो दातार हैं (सोउ) वे भी दाता(मोक्खरओ) दानी श्रावक मोक्षमार्ग में रत है ऐसा समझना।

पद्य- **सम्यक्त्वादि गुण विशेष से पात्र विशेष जिनेन्द्र ने कहा।**
उसे जानकर जो दान देते हैं वे भी मोक्षमार्ग रत।।

सन्दर्भ :

रक्षाबन्धन पर्व की कथा

(वात्सल्य अंग की महिमा)

(चाल : सुनो-सुनो ऐ! दुनिया वालों...)

सुनो हे भक्तों तुम्हें सुनाऊँ, रक्षाबन्धन की प्राचीन कथा।
जिसे सुनकर तुम जानोगे, साधु-रक्षा की पावन गाथा।। (स्थायी)
अति प्राचीन काल में हुए, अकम्पन सूरी ज्ञानी प्रवर।
सात सौ मुनियों के साथ पधारे, सूरीवर उज्जयिनी नगर।।

साधु संघ के दर्शन हेतु, गये राज (श्रीवर्मा) भक्तवर।
बलि नमुचि आदि चारों गये, राजा के साथ मंत्रीवर...(1)

निमित्त ज्ञान से भावी जानकर, संघ को आदेश देते सूरीवर।
मौनपूर्वक समता-सहित, ध्यान करने हेतु यतीश्वर।।
नमन साधु को करते राजा, ध्यानस्थ साधु न देते आशीष।
जिससे दुष्ट मंत्री मानते, (ये) अज्ञानी साधु न देते आशीष...(2)

वापिस जब होते मार्ग में, मिलते उन्हें मुनि श्रुतसागर।
वाद-विवाद से होते परास्त, विजयी होते श्री श्रुतसागर।।
श्रुतसागरजी, आचार्य देव से, प्रायश्चित लेते शुद्धि निमित्त।
प्रायश्चित हेतु श्रुतसागरजी, विवाद स्थल में (हुए) ध्यान स्थित।।...(3)

बदला लेने के भाव से मंत्री, उपसर्ग करते मुनि ऊपर।
मंत्री को कीलित करके, देव रक्षा करते श्रुतसागर।।
चारो मंत्री को श्रीवर्मा राजा, राज्य से कर देते बाहर।
दण्डित होकर चारों ही मंत्री, पहुँच जाते हैं हस्तिनापुर।।...(4)

राजा पद्म को संतुष्ट करके, चारों ही दुष्ट बनते मंत्री।
विहार करते हुए श्रीसंघ, हस्तिनापुर में पहुँचे सूरी।।
श्रीसंघ ऊपर चारों ही मंत्री, करते उपसर्ग बहुत।
विष्णु कुमार श्री मुनिराज, वामन रूप में आये त्वरित।।...(5)

तीन पद ले बालि से जमीन, दान रूप से मुनिप्रवर।
दो पग में मापा नृलोक, सुमेरू तक मुनि प्रवर।।
तीसरा पग बालि के सिर पर, विक्रिया से धरे ऋषिप्रवर।
हार मानकर बालि मंत्री ने, उपसर्ग को कराया दूर।।...(6)

भक्तजनों ने आहार कराया, मुनिसंघ को प्रासुकक्षीर।
आहार के बाद उत्सव मनाया, वात्सल्य प्रेम से भाव विभोर।।
प्रारंभ हुआ रक्षाबन्धन, वात्सल्य भाव का यह बन्धन।
स्वर्ग मोक्षदाता यह बन्धन, 'कनकनन्दी' करे अभिनन्दन।।...(7)

इससे मुझे शिक्षा मिलती, वात्सल्य भाव होना विधेय।
साधु सज्जन व सर्वजीवों की, सुरक्षा करना सदा विधेय।।
वैर-विरोध साधु विद्वेष, करना कभी न होना विधेय।
मैत्री प्रमोद कारुण्य माध्यस्थ, भाव करणीय सदा विधेय।।...(8)

आहार दान की महिमा

मिथ्यादृष्टि-पशुओं का भी उद्धार

(अक्षय तृतीया की महिमा)

(राग : सुनो-सुनो ऐ दुनिया वालों..., है मेरा दिल तो...)

सुनो महिमा आहारदान की, जिसका वर्णन हुआ शास्त्रों में।
मिथ्यादृष्टि से भोगभूमिज देव हुए पुनः मोक्ष अन्त में।
असख्यं वर्ष पहले हुए वज्रजंघ राजा व श्रीमती रानी।
जुगल मुनि को आहार दिये, जंगल मध्य में वे राजा-रानी।।
मिथ्यादृष्टि राजा-रानी दोनों, आहारदान से गये भोगभूमि।
आहारदान की अनुमोदना से, चारों पशु भी गये भोगभूमि।
सिंह बन्दर शूकर नेवला चारों ही थे मिथ्यादृष्टि प्राणी।
तथापि भद्र परिणामी होने से, अनुमोदना से गये भोगभूमि।।
मतिवर मंत्री, आनन्द पुरोहित, धनमित्र सेठ, अकम्पन सेनापति।
आहारान की अनुमोदना से, वे सब पाये देवगति।।
भोगभूमि आये ऋद्धिधारी मुनि, उनसे हुए वे सम्यग्दृष्टि।
छहों ही जीव प्रमुदित हुए नमन करके गुरु परमेष्ठी।।
आहारदान के फलस्वरूप, अभ्युदय पाये दशों ही प्राणी।
भोगभूमिज व देव मानव में, विकास करते रहे वे प्राणी।।
आठवें भव में हुए तीर्थंकर, आहारदानी वज्रजंघ राजा।
भरतक्षेत्र के आदि तीर्थंकर, ऋषभदेव वे प्रथम राजा।।
श्रेयांस हुए श्रीमती का जीव, प्रथम हुए वे दानकर्ता।
मुनि ऋषभ को इक्षु रसदान से, पर्व प्रारम्भ अक्षय तृतीया।।
मंत्री हुआ है भरतचक्री, जिससे हुआ है देश भारत।
ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र हुए, मुनि बनकर हुए वे सिद्ध।।
बाहुबली हुए आनंद पुरोहित, हुए वे प्रथम कामदेव।
परास्त करके भरतचक्री को, मुनि बनकर बने वे सिद्ध।।
ऋषभदेव के हुए वे पुत्र, मुनि बनकर हुए वे गणधर।

आहारदान के अनुमोदक शेष, बचे चारों ही भव्यवर।।
सेनापति हुए वृषभसेन, धनमंत्री हुए अनन्त विजय।
सिंह हुए है अनन्तवीर्य, अच्युत हुए वे शूकर जीव।
बन्दर का जीव हुए, पुत्रवीर, नेवला का जीव हुए पुत्र वरवीर।
मुनि बनकर वे गणधर हुए, अन्त में गये वे सिद्धपुर।।
महामहिमा ये आहारदान की, जिससे ही होते हैं पंचाश्चर्य।
मिथ्यादृष्टि भी भोगभुमि जाते, देव तथा बनते मानव।।
सम्यग्दृष्टि तो स्वर्ग मे जाते, देव से बनते श्रेष्ठ मानव।
मानव से मुनि बनकर, अन्त में बनते हैं सिद्ध देव।।
चारों ही दान है श्रेष्ठ दान, जो स्वयं मोक्ष के है दातार।
सप्तगुण युक्त दान सदा देय, 'कनक' करे शुभ विचार।।

अज्ञानी का तप

णवि जाणइ जिणसिद्धसरूवं तिविहेण तह णियप्पाणं।
जो तिव्वं कुणइ तवं सो हिंडइ दीहसंसारे।। 124 रयण.

अन्वयार्थ :- (जो) जो साधु (जिण सिद्ध सरूवं) अरहंत परमात्मा और सिद्ध परमेष्ठी के स्वरूप को (णवि जाणइ) कुछ भी नहीं जानता है(तिविहेण तह) तथा उनके अर्थात् आत्म स्वरूप के तीन प्रकार के भेदों को नहीं जानता है (तहं) वहां (णियप्पाणं) निज आत्मा को भी नहीं जानता है (जो) ऐसा जो मुनि (तिव्वं कुणइ तवं) तीव्र तपश्चरण करता है (सो) वह द्रव्यलिंगी मुनि (दीह संसारे) दीर्घकाल तक संसारे में (हिण्डइ) भ्रमण करता है।

पद्य- जो न जाने जिन सिद्ध स्वरूप त्रिविध से तथा स्व-आत्मा को।
वह मुनि यदि भी करे तीव्र तप तो भी भ्रमण करे दीर्घ संसार।।

निश्चय व्यवहार जाने बिना सब मिथ्या

णिच्छयववहारसरुवं जो रयणत्तय ण जाणइ सो।
जं कीरइ तं मिच्छारूवं सव्वं जिणुद्दिट्ठं।। 125 रयण

अन्वयार्थ :- (जो) जो (णिच्छयववहार सरूवं) निश्चय व्यवहार स्वरूप को(रयणत्तयं) रत्नत्रय को (जाणइ ण) जानता नहीं है (सो) वह साधु (जं) जो

कुछ (कीरइ) तपश्चरण अनुष्ठान करे (तं) वह (सव्वं) सब ही (मिच्छारूवं) मिथ्यारूप है (जिणुद्दिट्ठं) इस प्रकार श्री जिनेन्द्र देव ने कहा है।

पद्य- जो मुनि न जाने निश्चय व्यवहार रूप रत्नत्रय को।
जो भी करे वह तपश्चरण वह सभी मिथ्या रूप कहे जिनेन्द्र।।

भव बीज

किं जाणिऊण सयलं तच्चं किच्चा तवं च किं बहुलं।
सम्मविसोहि विहीणं णाणं तवं जाण भवबीयं।। 126 रयण.

अन्वयार्थ :- (किं) क्या (सयलं नच्चं) सकल तत्त्वों को (जाणिऊण) जानकर क्या प्रयोजन (तवं बहुलं किच्चा) जिसने बहुत ही तपस्या की (किंच) परन्तु कार्यसिद्धि के लिए वह तप उपयोग में नहीं आया (सम्मविसोहि विहीणं) सम्यग्दर्शन पूर्वक नहीं है (णाणं तवं भवबीयं) वह ज्ञान और तप संसारवृद्धि का बीज है (जाणीहि) ऐसा जानना चाहिए।

पद्य- क्या जानकर सकल तत्त्व, करके भी क्या बहुत तप ?!
सम्यक्त्व विशुद्धि विहीन ज्ञान-तप ज्ञेय भव बीज।।

संसार की वृद्धि

वय गुण सील परिसहजयं च चरियं च तवं सडावसयं।
ज्झाणझयणं सव्वं सम्मविणा जाण भववीयं।। 127 रयण.

अन्वयार्थ :- हे योगी! (वय गुण सील परिसहजयं) व्रत गुण शील परिषहजय (चारियं च) और चारित्र (तव) तप (संडावसयं) षडावश्यक क्रिया (ज्झाणझयणं च) और ध्यान अध्ययन (सव्वं) सर्व ही (सम्मविणा) सम्यक्त्व के बिना अर्थात् सम्यक्त्व के अभाव में (भव बीयं) भव भ्रमण का बीज (जाणं) समझो।

पद्य- व्रत गुणशील परिषयजय च चरित्र व तप षडावश्यक।
ध्यान-अध्ययन सर्व सम्यक्त्व बिना जानो भव बीज।।

परलोक कैसे सुधरेगा ?

खाई पूया लाहं सक्काराइं किमिच्छसे जोई।
इच्छइ जइ परलोयं तेहिं किं तव परलोयं।। 128 रयण.

अन्वयार्थ :- (जोई) हे भव्य योगी! (खाई पूया लाहं) ख्याति पूजा लाभ (सक्काराइं) सत्कारं आदि की (किं इच्छइ) क्यों इच्छा करता है ? (जइ परलोयं) यदि परलोक की (इच्छि से) इच्छा करता है (तेहिं) तो वह सब (तुज्झ) आसानी से तुझे प्राप्त होता है।

पद्य- ख्याति पूजा लाभ सत्कार आदि को क्यों चाहते हो योगी ! ?
यदि चाहते हो परलोक तब क्या उत्तम होगा परलोक।।

समीक्षा- ख्याति पूजादि चाह से होता है निदान जिससे होता मिथ्यात्व।
मिथ्यात्व से न मिलता मोक्ष अतः ख्याति पूजादि त्याज्य।।

अपनी शुद्ध आत्मा में रूचि

कम्मइ विहाव सहावगुणं जो भाविऊण भविण।
णियसुद्धप्पा रच्चइ तस्स य णियमेण होइ णिव्वाणं।। 129 रयण.

अन्वयार्थ :- (कम्माइ) कर्म और आत्मा (विहाव सहाव गुणं) विभाव और स्वभाव गुणों को (जो) जो योगी (भविऊण भविण) अपने भावों से मनन कर भावना भाता है(च णियसुद्धप्पा रच्चइ) और निज शुद्धात्मा में रूचि रखता है (तस्स) उस योगी को (णिव्वाणं णियमेण) नियम से निर्वाण सुख प्राप्त (होइ) होता है।

पद्य - जो(मुनि) कर्म व आत्मा के विभाव-स्वभाव जानकर भावना भाये।
निज शुद्धात्मा रूचे उसे नियम से होता है निर्वाण।।

समीक्षा- स्वशुद्धात्मा स्वरूप है शुद्ध-बुद्ध व आनन्दमय।
शुद्धात्मा से भिन्न है कर्म जो द्रव्य-भाव-नोकर्ममय।।

ऐसी श्रद्धा-प्रज्ञा सहित जो मुनि करे ध्यान-अध्ययन समता।
उन्हें मिलता है मोक्ष सुख स्व शुद्धात्मा रूचि बिन न मोक्ष।।

सन्दर्भ :

आत्मन्! स्व शुद्धात्मा श्रद्धान बिना सभी धर्म संसारवर्धक

(स्व-शुद्धात्मा श्रद्धान बिना व्रत नियम-तप-त्याग-कष्ट सहन आदि संसार बीज-संसारवर्द्धक)

- आचार्य कनकनन्दी

(चाल :- मन रे! तू काहे...सायोनारा...)

आत्मन्! तू स्व-शुद्धात्मा श्रद्धान करऽऽऽ
इससे ही होता है सम्यग्ज्ञान...जिससे होता सम्यक् आचरणऽऽऽ (ध्रुव)
तीनों मय ही होता शुद्धात्मा स्वरूप...यह ही है मोक्षमार्ग रूपऽऽऽ
इसकी पूर्णता ही है मोक्षस्वरूप...जो आत्मा का परम रूपऽऽऽ
यह ही धर्म का सार रूपऽऽऽ आत्मन्!(1)

इस हेतु ही करो देव-शास्त्र-गुरु श्रद्धा...तत्त्वार्थ श्रद्धान भी इस हेतुऽऽऽ
निश्चय-व्यवहार धर्म-पालन भी...श्रावक व श्रमणधर्म पालन भीऽऽऽ
तप-त्याग व व्रत नियम भीऽऽऽ आत्मन्!(2)

आत्मश्रद्धान बिना सभी ही व्यर्थ...सभी ही संसार वर्द्धक कामऽऽऽ
कठोर तप या परिषह आदि...सभी ही धर्म-कर्म भी भव बीजऽऽऽ
विपरीत गति से लक्ष्य दूर समऽऽऽ
मिथ्या श्रद्धा-प्रज्ञा-चर्या-संहार मार्गऽऽऽ आत्मन्!(3)

णवि जाणइ जिणसिद्धसरूवं तिविहेण तह णियप्पाणं।
जो तिव्वं कुणइ तवं सो हिंडइ दीहसंसारे।। (124) (र.सा.)

णिच्छयववहारसरूवं जो रयणत्तय ण जाणइ सो।
जं कीरइ तं मिच्छारूवं सव्वं जिणुद्दिट्ठं।। (125)

किं जाणिऊण सयलं तच्चं किच्चा तवं च किं बहुलं।
सम्मविसोहि विहीणं णाणं विं जाण भवबीयं।। (126)

वय गुण सील परिसहजयं च चरियं च तवं सडावसयं।

ज्झाणझयणं सव्वं सम्मविणा जाण भववीय।। (127)

खाई पूया लाहं सक्काराइं किमिच्छसे जोई।
इच्छइ जइ परलोंय तेहिं किं तव परलोयं।।(128)

कम्माइ विहाव सहावगुणं जो भाविऊण भावेण।
णियसुद्धप्पा रुच्चइ तस्स य णियमेण होइ णिव्वाणं।। (129)

बिना बीज यथा न होता है वृक्ष...तथाहि स्व-श्रद्धा बिना न धर्मऽऽऽ
आत्मा बिन यथा शरीर है शव...तथाहि स्व-श्रद्धा बिना न मोक्षऽऽऽ
सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः ऽऽऽ
सम्यग्दर्शन से प्रारंभ मोक्षमार्गऽऽऽ आत्मन्(4)

स्व का श्रद्धान करो जीव द्रव्यमय...निश्चय से शुद्ध-बुद्ध-आनन्दऽऽऽ
कर्म बन्ध से बना तू अशुद्ध जीव...द्रव्य-भाव-नोकर्म से सम्बन्धऽऽऽ
कर्मक्षय से बनो शुद्ध-बुद्धऽऽऽ आत्मन्(5)

कर्मक्षय हेतु ही करो साधना...समता-शान्ति-निस्पृहता सेऽऽऽ
ख्याति-पूजा-लाभ-वर्चस्व त्यागो...संकल्प-विकल्प-संक्लेश आदिऽऽऽ
भोगाकांक्षा निदान से रहितऽऽऽआत्मन्(6)

आत्मविशुद्धि हेतु ही ध्यान-अध्ययन...तप-त्याग व धर्म प्रभावनाऽऽऽ
अध्यापन-प्रवचन-लेखन-चिन्तन...सभी में ही करो आत्मा की अराध
'कनक' स्व में ही स्व की साधनाऽऽऽ
तू बनो शुद्ध-बुद्ध-परमात्माऽऽऽ आत्मन्(7)

कर्म रहित होना

मूलुत्तरुत्तर दव्वादो भावकम्मदो मुक्को।
आसव बंधण संवर णिज्जर जाणेइ किं बहुणा।। 130 रयण.

अन्वयार्थ :- (मुलुत्तरुत्तर दव्वादो) मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृति द्रव्य कर्मों से व (भाव कम्मदो) भाव कर्मों से (मुक्की) मुक्त जीव (आसव) आस्रव (बंधण) बंध (संवर) संवर(णिज्जर जाणेइ) निर्जरा को जानता है (किं)(बहुणा) बहुत कहने से क्या लाभ है ?

पद्य- जो मुनि मूलोत्तर द्रव्यकर्म व भावकर्मों से मुक्त।
वे जानते आस्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा बहु उक्त।।

बंध व मुक्ति के भाव

विसयविरत्तो मुंचइ विसयासत्तो ण मुंचए जोई।
बहिरंतरपरमप्पाभेयं जाणेहि किं बहुणा।। 131 रयण.

अन्वयार्थ :- (जोई) योगी (विसयविरत्तो) पंचेन्द्रिय वासनाओं से विरक्त होकर (मुंचइ) छूटता है (विसयासत्तो) और जो वासनाओं में आसक्त है (ण मंचुए) वह नहीं छूटता है (बहिरंतर परमप्पाभेय) बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा ऐसे तीन भेद हैं (जाणेहि) इसे जानो (बहुणा) बहुत कहने से (किं) क्या प्रयोजन है ?

पद्य- विषय विरक्त मुनि होते मुक्त विषयासक्त व विमुक्त।
बहिअन्तःपरमात्मा भेद जाने क्या अधिक प्रयोजन।।

बहिरात्मा का लक्षण

णिय अप्पाण ज्झाणज्झयण सुहामियरसायणपाणं।
मोत्तूणक्खाणसुहं जो भुंजइ सो हु बहिरप्पा।। 132 रयण.

अन्वयार्थ :- (णिय अप्पाण णाणज्झाण ज्झयण) जो अपने निज आत्मा का ज्ञान ध्यान अध्ययन से (सुहमियरसायणपाणं) होने वाले सुखामृत रसायन का पान करता है वह परमात्मा का अनुभव करता है। (मोत्तूण) और इसे छोड़कर (अक्खाण सुहं जो) जो पंचेन्द्रिय संबंधी भोगों को (भुंजइ) भोगता है (सो) वह (हु) निश्चय से (बहिरप्पा) बहिरात्मा (अस्ति) है।

पद्य- स्वात्मा/(निजात्मा) का ज्ञान-ध्यान-अध्ययन करे जो सुखामृतरसायन पान करे।
इसे त्यागकर जो इन्द्रिय सुख भोगे वह ही निश्चय से बहिरात्मा।।
समीक्षा- निजात्मा ज्ञान-ध्यान स्वाध्याय ही है परमात्मा रसायन पान।
इसे त्यागकर इन्द्रिय सुख भोगे वह ही निश्चय से मिथ्यात्वी जीव।।

इन्द्रिय विषय किंपाक फलवत्

किंपाय फलं पक्कं विसमिस्मिदं मोदमिव चारु सुहं।

जिब्भसुहं दिट्ठिपियं जह तह जाणक्ख सोक्खं पि।। 133 रयण.

अन्वयार्थ :- (जह) जिस प्रकार (किंपाय फलं पक्कं) पका हुआ किंपाक फल (विसमिस्सिदं) विषमिश्रित (मोदमिवं) लड्डू के समान (चारूसुदं) अत्यंत सुखकर रूचिकर (जिब्भसुहं) रसना इन्द्रिय को स्वादिष्ट (दिट्ठिपियं) देखने में अत्यंत प्रिय होता है (तह) उसी प्रकार (अक्ख सोक्खंपि) इन्द्रिय जनित सुख भी (जाण) जानना।

पद्य- किपांक फल पक्व विष मिश्रित मोदक सम चारु सुख।
जिह्वा के सम सुख, दर्शन प्रिय यथा तथा जान इन्द्रिय सुख।।

बहिरात्मा की सामग्री

देह कलत्तं पुत्तं मित्ताइ विहाव चेदणासरूवं।
अप्पसरूवं भावइ सो चेत हवेइ बहिरप्पा।। 134 रयण.

अन्वयार्थ :- (देह कलत्त पुत्तं) जो जीव शरीर स्त्री पुत्र (मित्ताई) मित्रादि (विहाव) विभाव को (चेदणारूवं) चेतना स्वरूप को (अप्पसरूवं भावइ) अपना आत्म स्वरूप मानता है। वह जीव निश्चय कर (बहिरप्पा हवेइ) बहिरात्मा है समझना चाहिए।

पद्य-

शरीर-स्त्री-पुत्र-मित्रादि विभाव चेतना को जो माने आत्म स्वरूप।
वह होता है बहिरात्मा क्योंकि आत्मस्वभाव से ये भिन्न रूप।।

समीक्षा-

शरीर से (ले) मित्रादि व राग-द्वेष-मोहादि विभाव चेतना न आत्मस्वभाव।
इन्हें मानना स्वरूप, होता विपरीत, अतः वह बहिरात्मा जीव।।

बहिरात्म के भाव

इंदिय विसय सुहाइसु मूढमई रमण ण लहइ तच्चं।
बहुदुक्खमिदि ण चिंतइ सो चेव हवेइ बहिरप्पा।। 135 रयण.

अन्वयार्थ :- (मूढमई) मूढमति अज्ञानी जीव (इंदिय विसय सुहाइसु) इन्द्रिय विषय सुखों में (रमइ) रमण करता है(तच्चं ण लहइ) तत्त्व को जानता नहीं (बहुदुक्खमिदि) बहुदुःख उठाने पडेंगे (ण चिंतइ) विचार नहीं करता है (सो

एव) वही (बहिरप्पा) बहिरात्मा होता है।

पद्य- इन्द्रिय विषय सुखादि में मूढमति रमण करे न जाने तत्त्व।
बहुदुःख मिलेगा न सोचता सो ही होता है बहिरात्मा।।

दुःख का कारण इन्द्रिय जनित सुख

जं जं अक्खाण सुहं तं तं तिव्वं करेइ बहुदुक्खं।
अप्पाणमिदि ण चिंतइ सो चेव हवेइ बहिरप्पा।। 136 रयण.

अन्वयार्थ :- (जं जं) जो जो (अक्खाण सुह) इन्द्रिय जनित विषय भोग का सुख है (तं तं) वे वे (अप्पाणं) आत्मा को (तिव्वं) तीव्र (बहुदुक्खं) बहुत दुःखों को (करेइ) देने वाले हैं (इति ण चिंतइ) इस प्रकार विचार नहीं करता है(सो) वह (एव) ही (बहिरप्पा) बहिरात्मा (हवेइ) होता है।

पद्य- जो जो इन्द्रिय सुख वे वे ही करते हैं तीव्र बहु दुःख।
आत्मा को नहीं सोचता है वह ही बहिरात्मा जीव।।

बहिरात्म जीवों का विषय

जेसिं अमेज्झमज्झे उप्पणाणं हवेइ तत्थेव रुई।
तह बहिरप्पाणं बहिरिंदय विसएसु होइ मई।। 137 रयण.

अन्वयार्थ :- (जेसिं) जैसे (अमेज्झमज्झे) विष्टा में (उप्पण्णाणं) उत्पन्न हुए कीडे की (रूई) रूचि (तत्थ्य) उसी विष्टा में (हवेइ) होती है (तह) उसी प्रकार (वाहिसिंदिया) बाह्य इन्द्रियों के विषय में (बहिरप्पाणं) बहिरात्मा की बुद्धि (होई) होती है।

पद्य- जैसे विष्टा में उत्पन्न जीव करता है विष्टा में ही रूचि।
वैसे ही बहिरात्मा को बाह्य इन्द्रिय विषय में होती रूचि।।

अन्तरात्मा का लक्षण

सिविणे वि ण भुंजइ विसयाइं देहाइ भिण्ण भावमई।
भुंजइ णियप्परूवो सिवसुहरत्तो दु मज्झिमप्पो सो।। 138 रयण.

अन्वयार्थ :- (सिविणे वि) सपने में भी (विसयाइं) विषयों को (ण भुंजइ) नहीं भोगता है (देहाइ भिण्ण भावमई) शरीरादि से भिन्न मानने वाला (णियप्परूवो) निज आत्म स्वरूप का (भुंजइ) अनुभव करता है (सो) वह

(सिवसुहत्तो) शिव सुख में लीन रहता है (दु) वही (मज्झिमप्पो) मध्यम अन्तरात्मा है।

पद्य - स्वप्न में भी नहीं भोगता है विषय देह से स्व को भिन्न माने।
भोगते निज स्वरूप शिवसुख रत वे ही मध्यम अन्तरात्मा।।

अनादिकालीन दुर्वासना

मलमुत्त घडव्व चिरंवासियं दुव्वासणं ण मुंचेइ।
पक्खालिय सम्मत्तजलो य णाणमएण पुण्णेवि।। 139 रयण.

अन्वयार्थ :- यह जीव (पक्खालिय सम्मत्त जलो) सम्यक्त्व रूपी जल से धोने पर (य) (णाणमएण) ज्ञानामृत से (पुण्णो वि) पूर्ण होने पर भी (चिरंवासिय) चिरकाल से दुर्वासित (मलमुत्तघडव्व) मलमूत्र से भरे हुए घड़े के समान (दुव्वासणं) दुर्वासना को (ण मुंचिइ) नहीं छोड़ता है।

पद्य- चिरकाल से दुर्वासित मलमूत्र से भरा हुआ घडा दुर्वासना न छोड़े।
सम्यक्तजल से प्रक्षालित ज्ञानामृत से पूर्ण भी वासना न त्यागे जीव।।

समीक्षा- सम्यक्त्व होने पर भी तीव्र चारित्र मोह से मूर्च्छित जीव।
इन्द्रिय भोग नहीं छोड़ पाता यथा दुर्गन्धित घट के सम।।

सन्दर्भ :

देहात्म बुद्धि रूपी भ्रान्ति-कारण व निवारणोपाय

जानन्नप्यात्मनस्तत्त्वं विविक्तं भावयन्नपि।
पूर्वविभ्रमसंस्काराद् भ्रांति भूयोऽपिगच्छति।। 45 स.त.
अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः।
क्व रुष्यामि क्क तुष्यामि मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः।।46

पद्य भावानुवाद

आत्मतत्त्व को जानने पर व अन्य से भिन्न मानने (भाने) पर भी।
पूर्व विभ्रम संस्कार के कारण, पुनरपि देहात्म बुद्धि हो जाती।। (45)
इस भ्रान्ति के निवारण हेतु, अन्तरात्मा करता भेद विज्ञान।
दृश्यमान जड़ व अदृश्यमान चेतन है अतः मैं क्यों करूँ राग द्वेष।। 46

बहिरात्मा व अन्तरात्मा की ग्रहण-त्याग प्रवृत्ति

त्यागादाने बहिर्मूढः करोत्यत्यात्ममात्मवित्।
नान्तर्बहिरुपादानं न त्यागो निष्ठितात्मनः।। (47)

बाह्य त्याग व ग्रहण करना मूढ़, अन्तरंग करता है आत्मज्ञानी।
न अन्तर-बाह्य ग्रहण व त्याग करते, वे हैं कृतकृत्य आत्मज्ञानी।। (1)

समीक्षा

अज्ञानी-मोही भेदविज्ञान बिन, नहीं जानता स्व-पर भेद।
अतएव उसका ग्रहण व त्याग, होता है केवल मोहाश्रित काम।। (2)

द्वेष से अनिष्ट को त्याग करे व, राग से इष्ट को ग्रहण करे।
इससे और भी अधिक कर्म बान्धे, संसार चक्र में भ्रमण करे।। (3)

अन्तरात्मा भेदविज्ञान से, जानते हैं स्व-पर भेदज्ञान।
राग-द्वेषादि को पर मानकर, करते उसका अन्तरंग से त्याग।।(4)

समता-शान्ति व सहिष्णुता को, मानते हैं स्व-आत्मिक गुण।
अतएव इसे ग्रहण करके, आत्मा को करते अधिक गुणवान।।(5)

कृतकृत्य परमात्मा तो होते हैं, पूर्णतः शुद्ध-बुद्ध व आनन्द।
स्व-स्वभाव में ही स्थित होने से, नहीं करते ग्रहण व त्याग।। (6)

अन्तरात्मा की अन्तरंग त्याग-ग्रहण प्रवृत्ति

युञ्जीत मनसऽऽत्मानं वाक्कायाभ्यां वियोजयेत्।
मनसा व्यवहारं त त्यजेद्वाक्काययोजित्।। (48)
पद्यभावानुवाद (चाल : आत्मशक्ति...)

मन से (भावश्रुत) आत्मा को करे सम्बन्ध, तथा वचन-काय से त्याग करें।
वचन-काय से किया हुआ कार्य, मन से उसका वियोग करे।। (1)

समीक्षा-

राग-द्वेषादि अन्तरंग त्याग के लिए, आत्मा को मन से सम्बन्ध करे।
आत्मनिष्ठ हो वचन-काय से, निस्पृह भाव से काम करे।। (2)

भावश्रुत रूप आत्मज्ञान करे वे, निस्पृह-समता से काम करे।
वचन-काय से काम करने पर भी, अनासक्त रूप से प्रवृत्ति करे।।(3)

पाँच समिति में प्रवत्त होकर, परके कर्त्ता-भोक्तादि न बने।
संकल्प-विकल्प-संक्लेश त्यागकर, मधुकर/(गोचरी) वृत्ति काम करे।। (4)

आक्रोण-विकर्षण-द्वन्द्व-वर्चस्व, त्यागकर ज्ञान-ध्यान-तप करे।
ख्याति पूजा-लाभ प्रसिद्धि त्यागकर आत्मविशुद्धि में तत्पर रहे।। (5)

बहिरात्मा व अन्तरात्मा के विश्वास योग्य

जगद्देहात्मदृष्टीनां विश्वास्यं रम्यमेव च।
स्वात्मन्येवात्मदृष्टिनांक्व विश्वासः क्व वा रतिः।। (49)

पद्यभावानुवाद-
देहात्मदृष्टि वालों के लिये, स्त्री पुत्रादि विश्वास योग्य होते।
आत्मा में ही आत्मदृष्टि वाले, स्त्री पुत्रादि से कैसे विश्वास करें।
समीक्षा-
मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा स्त्री पुत्रादि में अहंकार-ममकार करे।
स्व-आत्म तत्त्व के विश्वास बिना, स्त्री पुत्रादि में विश्वास करें।। 2
इससे भिन्न अन्तरात्मा स्त्री पुत्रादि को पर स्वरूप माने।
आत्म तत्त्व में विश्वास करे स्त्री पुत्रादि से मोह न करे।। 3

मोही पर को अपना मानता

वपुगृहं धनं दाराः पुत्रा मित्राणि शत्रवः।
सर्वथान्यस्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते।। 8।। इष्टो.

All the objects, the body, the house, the wealth, the wife, the son, the friend, the enemy and the like are quite different in their nature from the soul; the foolish an, hower, looks upon then as his own.

स्व-पर विवेकहीन मूढ़ मोही जीव शरीर, घर, धन, स्त्री, पुत्र, मित्र यहाँ तक कि शत्रु को भी जो कि सर्वथा से भिन्न है उसे भी अपना मान लेता है। सर्वथा सर्व प्रकार से अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप से जो स्व स्वरूप से अन्य है, भिन्न है ऐसे परद्रव्य को भी दृढ़ता मोह से आविष्ट जीव अपना मान लेता है। शरीर

जो कि अचेतन परमाणुओं से (रक्त, माँस, हड्डी, चर्म आदि) निमित्त होने के कारण अचेतन स्वरूप है उसे भी अपना मान लेता है। इसी प्रकार घर, धन स्पष्ट रूप से भौतिक जड़ वस्तु से निर्मित है उसे भी अपना मान लेता है। भार्या, पुत्र, मित्र तथा शत्रु जो कि शारीरिक दृष्टि से तथा आत्मिक दृष्टि से भी भिन्न है उसे भी अपना मान लेता है। यहाँ पर शरीर आदि को हितकारी मानता है और शत्रु आदि को मेरा अहितकारी मानकर उसमें भी मेरा शत्रु है ऐसा अपनापन रखता है।

समीक्षा - शुद्ध निश्चनय से स्वशुद्ध द्रव्य, क्षेत्र काल, भाव ही स्व-चतुष्टय है और इससे भिन्न समस्त चेतन -अचेतन द्रव्य, द्रव्य-क्षेत्र, काल भाव से भिन्न है, पर है तथापि मोही जीव मोह के कारण पर आत्म स्वरूप को भी स्व-स्वरूप मान लेता है, जिससे उसकी स्वार्थ सिद्धि होती हो, इन्द्रियजनित सुख मिलता हो उसको अपना हितकारी मानकर अपना मानता है और राग करता है तथा जिससे स्वार्थसिद्धि नहीं होती है, इन्द्रियजनित सुख नहीं मिलता हो उसकी अपकारी मानकर उससे द्वेष करता है। एक के प्रति रागात्मक सम्बन्ध है तो दूसरे के प्रति द्वेषात्मक संबंध है। मिथ्यादृष्टि जीव दर्शन मोहनीय तथा चारित्र मोहनीय कर्म के कारण श्रद्धा रूप से तथा आचरण रूप से शरीर आदि पर वस्तु में मोह करता है परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव श्रद्धा रूप से परद्रव्य को पर मानते हुए भी जब तक चारित्रमोहनीय कर्म का उदय रहता है तब तक वह पर-द्रव्य को व्यवहार रूप से, आचरण रूप से अपना मानता है।

सम्यग्दृष्टि की भोग अनासक्ति

सम्माइट्ठी णाणी अक्खाण सुहं कहंपि अणुहवइ।
केण वि ण परिहारइ वाहिविणास णट्ठं भेसज्जं।। 140 रयण.

अन्वयार्थ :- (सम्माइट्ठी) सम्यग्दृष्टि (णाणी) ज्ञानी (कहं पि) किसी प्रकार अनिच्छापूर्वक (अक्खाणसुहं) इन्द्रियों के सुख का (अणहुवइ) अनुभव करता है (भेसज्जं) कडवी औषधि (केणावि) किसी के द्वारा (ण परिहारइ) नहीं छोड़ी जाती।

<u>पद्य :-</u> सम्यग्दृष्टि ज्ञानी इन्द्रिय सुख अनिच्छापूर्वक अनुभव करे।
रोग दूर करने हेतु यथा कड़वी औषध सेवन करना पडे।।

परमात्मा प्राप्ति का उपाय

किं बहुणा हो तजि बहिरप्प सरूवाणी सयल भावणि।
भजि मज्झम परमप्पा वत्थुसरूवाणि भावाणि।। 141 रयण.

अन्वयार्थ :- (किं बहुणा) बहुत कहने से क्या लाभ ? (बहिरप्पसरूवाणी) संपूर्ण बहिरात्मा स्वरूप (सकल भावाणि) सकल भावों को (तजि) छोड़ दे (माज्झिम परमप्पा) मध्यम परमात्मा और परमात्मा को (वत्थुसरूवाणि भावाणि) वस्तु स्वभाव भावों को (भजि) भज अर्थात् स्व आत्मा की आराधना कर।

पद्य :- किं बहु कहने से त्यागो बहिरात्मा स्वरूप को समग्रता से आओ।
भज मध्यम परमात्मा वस्तुस्वरूप की भावना भाओ।।

दुःख का कारण बहिरात्मा भाव

चदुगदि संसारगमण कारणभूदाणि दुक्ख हेदूणि।
ताणि हवे बहिरप्पा, वत्थु सरूवाणि भावाणि।। 142 रयण.

अन्वयार्थ :- (बहिरप्पा) बहिरात्मा के (वत्थु- सरूवाणि भावाणि) वस्तुस्वरूप संबंधी जो भाव हैं (ताणि) वे सब (चउगदि संसारगमण कारण भूदाणि) चतुर्गति रूप संसार परिभ्रमण के कारण है, और (दुक्खहेदूणि) दुख के कारण (हवे) होते हैं।

पद्य :- चतुर्गति संसार गमन कारण भूत दुःख के कारण।
वे सभी होते बहिरात्मा के वस्तु स्वरूप भावना से।।
समीक्षा :- कुज्ञानी-मोही जीव जैसे विचार करता वस्तुस्वरूप।
वह विचार भी होता कुज्ञान मोहयुक्त जो संसारकारक।।

अन्तरात्मा-परमात्मा के भाव मुक्ति के कारण

मोक्खगइ गमण कारण भूयाणि पसत्थ पुण्णहेऊणि।
नाणि हवे दुविहप्पा वत्थुसरूवाणि भावाणि।। 143 रयण.

अन्वयार्थ :- (मोक्खगइ) मोक्षगति में (गमणकारण भूयाणि) गमन करने के कारण भूत (पसत्थ पुण्ण हेऊणि) प्रशस्त पुण्य के कारण है (ताणि) वे (दुविहप्पा) दो प्रकार अंतर आत्मा एवं परमात्मा के (वत्थुसरूवाणि) शुद्ध वस्तु स्वरूप भाव (हवे) होते हैं।

पद्यः- मोक्षगति के गमन कारणभूत होता है प्रशस्त पुण्य कारक।
वे होते है अन्तरात्मा-परमात्मा वस्तुस्वरूप भाव से।।
समीक्षाः-अन्तरात्मा व परमात्मा की भावना से होता सातिशय पुण्य।
वह पुण्य ही होता मोक्ष के कारण न होता कारण निरतिशयपुण्य।।

स्व-समय पर-समय का ज्ञाता

दव्वगुण पज्जायेहि जाणइ पर समय ससमयादि विभेयं।
अप्पाणं जाणइ सो सिवगइ पहणायगो होई।। (144) रयण.

अन्वयार्थ :- (दव्व गुण पज्जायेहि) द्रव्य गुण पर्यायों सहित (ससमय) स्व समय (पर समय) पर समय (आदि विभेयं) भेदों को (जाणइ) जानता है वह (अप्पाणं) अपने आत्मा को जानता है (स) वह योगी (शिवगइ) शिव गति के (पहणायगो होई) मार्ग का प्रधान नायक होता है।

पद्यभावानुवाद :-
द्रव्य गुण व पर्याय से जो जानता है स्व व पर को।
वह जानता है स्व-आत्मा को वह योगी श्रेष्ठ मोक्षमार्गी।।

समीक्षा :-
जो दीपक स्वयं प्रकाशित होता, अन्य को भी करता प्रकाशित।
जो दीपक स्वयं प्रकाशित नहीं, अन्य को भी न करे प्रकाशित।। (1)

तथाहि जो जीव स्वयं को जानते, द्रव्य-गुण व पर्याय से।
वे ही पर को सही जान पाते, द्रव्य-गुण व पर्याय से।। (2)

जो जीव जानते 'मैं' ही जीव द्रव्य, मुझ में गुण होते हैं अनन्त।
पर्याय से जानते यथायोग्य वे ही जीव जानते अन्य को भी यथार्थ।। (3)

शुद्ध निश्चय से जानते स्वयं को, मैं हूँ शुद्ध-बुद्ध-आनन्दकंद।
अनन्त दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय, द्रव्य-भाव-नोकर्म से भी रहित।। (4)

तथापि अनादि कर्म बन्ध से बना हूँ संसारी अशुद्ध जीव।
अतएव मेरे अनन्त आत्मिक गुण भी हुए हैं अशुद्ध व सुप्त।। (5)

किन्तु 'मैं' आत्म श्रद्धान ज्ञान चरित्र से कर्मनाश से बनूँगा शुद्ध-बुद्ध।
तथाहि अन्य भव्य जीव भी मेरे समान बनते हैं शुद्ध-बुद्ध।। (6)

इसे ही कहते हैं भेद-विज्ञान इससे ही बनते अरिहंत-सिद्ध।
यह अवस्था ही स्व-समय है अन्य सभी परसमयरूपी अशुद्ध।। (7)

ऐसे योगी ही स्व-आत्मा को सही जानने से होते मोक्ष मार्गी श्रेष्ठ।
उन्हें अवश्य मोक्ष मिलेगा 'कनकसूरी' का लक्ष्य स्व परम तत्त्व।। (8)
सागवाड़ा दि. 17.7.2018 रात्रि 8.56

सन्दर्भ :

ज्ञानी एवं ज्ञान कथंचित् अभेद

जो जाणदि सो णाणं ण हवदि णाणेण जाणगो आदा।
णाणं परिणमदि सयं अट्ठा णाणट्ठि सव्वे।। (35) प्र.सा.

He who knows is knowledge; the self does not become a knower with knowledge (as an extraneons instrument). The very self develops knowledge, and all the object stand(reflected) in the knowledge.

आगे कहते हैं कि आत्मा अपने से भिन्न किसी ज्ञान के द्वारा ज्ञानी नहीं होता है अर्थात् ज्ञान और आत्मा का सर्वथा भेद नहीं है किसी अपेक्षा से भेद है, वास्तव में ज्ञान और आत्मा अभिन्न है।

(जो जाणदि) जो कोई जानता है (सो णाणं) सो ज्ञान गुण अथवा ज्ञानी आत्मा है। जैसे संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि के कारण अग्नि और उसके उष्ण गुण का भेद होने पर भी अभेद नय से जलाने की क्रिया करने को समर्थ उष्ण गुण के द्वारा परिमणिति हुई अग्नि भी उष्ण कही जाती है। तैसे संज्ञा लक्षणादि के द्वारा ज्ञान और आत्मा का भेद होने पर भी पदार्थ और क्रिया के जानने को समर्थ ज्ञान गुण के द्वारा परिणमन करता हुआ आत्मा भी ज्ञान या ज्ञानरूप कहा जाता है ऐसा ही कहा गया है। 'जानातीति ज्ञानमात्मा' कि जो जानता है सो ज्ञान है और सो ही आत्मा है। (आदा) आत्मा (णाणेण) भिन्न ज्ञान के कारण से (जाणगो) जानने वाला ज्ञाता (ण हवदि) नहीं होता है। किसी का ऐसा मत है कि जैसे भिन्न दंतीले से देवदत्त घास का काटने वाला होता है वैसे भिन्न ज्ञान से आत्मा होवे तो कोइ दोष नहीं है।

उसके लिये कहते हैं कि ऐसा नहीं हो सकता है। घास छेदने की क्रिया के सम्बन्ध में दंतीला बाहरी उपकरण है सो भिन्न हो सकता है परन्तु भीतरी उपकरण देवदत्त की छेदन क्रिया सम्बन्धी शक्ति विशेष है सो देवदत्त से अभिन्न ही है, भिन्न नहीं है। तैसे ही ज्ञान की क्रिया में उपाध्याय, प्रकाश, पुस्तक आदि बाहरी उपकरण भिन्न हैं, तो हों, इसमें कोई दोष नहीं है। परन्तु ज्ञान शक्ति भिन्न नहीं है वह आत्मा से अभिन्न है। यदि ऐसा मानोगे कि भिन्न ज्ञान से आत्मा ज्ञानी हो जाता है तब दूसरे के ज्ञान से अर्थात् भिन्न ज्ञान से सर्व ही कुभं, खंभा आदि जड़ पदार्थ भी ज्ञानी हो जायेंगे सो ऐसा होता नहीं (णाणं) ज्ञान (सयं) आप ही (परिणमदि) परिणमन करता है अर्थात् जब भिन्न ज्ञान नहीं होता है तब जैसे घटकी उत्पत्ति में मिट्टी का पिंड स्वयं उपादान कारण से परिणमन करता है वैसे पदार्थों के जानने में ज्ञान स्वयं उपादान कारण से परिणमन करता है तथा (सव्वे अट्ठा) व्यवहार नय से सब ही ज्ञेय पदार्थ (णाणट्ठिया) ज्ञान में स्थित हैं अर्थात् जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब पड़ता है तैसे ज्ञेय पदार्थ ज्ञानाकार से ज्ञान में झलकते हैं, ऐसा अभिप्राय है।

समीक्षा - ज्ञान गुण एवं गुणी कंथचित् भिन्न भी हैं और कथंचित् अभिन्न भी हैं। इसलिए कथंचित् ज्ञान-ज्ञानी हैं और कथंचित् ज्ञानी ज्ञान से भिन्न अन्य अस्तित्व, वस्तुत्वादि गुण स्वरूप भी है। अथवा आत्मा स्वयं से भिन्न अन्य किसी ज्ञान गुण के संयोग से ज्ञेय को जानता है ऐसा भी नहीं है। यदि ऐसा माना जाय तो ज्ञान के संयोग से पहले आत्मा अचेतन रहेगा। तथा ज्ञान के संयोग से चेतन होगा। और भी एक अनर्थ उत्पन्न हो जायेगा वह यह है कि ज्ञान गुण आत्मा के संयोग के पहले किस आधार पर था ? और ज्ञान गुण के बिना आत्मा की सत्ता कैसे संभव है ? कोई दार्शनिक ज्ञान एवं ज्ञान का फल ही मानते हैं और कोई अभिन्न ही है ऐसा मानते है परन्तु ज्ञान एवं उसका फल कंथचित् भिन्न है, कंथचित् अभिन्न है, यह वस्तु स्वरूप है। प्रमेयरत्नमाला में कहा भी है-

अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम्। (1)

अज्ञान की निवृत्ति हान, उपादान और उपेक्षा से प्रमाण के फल है।

फल दो प्रकार का होता है- साक्षात्फल और परम्पराफल वस्तु सम्बन्धी अज्ञान की निवृत्ति होना यह प्रमाण का साक्षात्फल है। हान आदिक परम्पराफल हैं, क्योंकि वह प्रमेय के निश्चय करने के उत्तरकाल में होता है।

प्रमाणादभिन्नाभिन्नं च। (2)

वह फल प्रमाण से कथंचित् अभिन्न है और कथंचित् भिन्न है।

यः प्रमिमीते स एव निवृत्तज्ञानी जहात्यादत्त उपेक्षते चेति प्रतीतेः। (3)

जो प्रमाण से पदार्थ को जानता है उसी का अज्ञान निवृत्त होता है, वहीं अनिष्ट वस्तु का त्याग करता है, इष्ट वस्तु को ग्रहण करता है और जिसे अपने लिए इष्ट-अनिष्ट रूप नहीं समझता है, उसकी उपेक्षा करता है। इस प्रकार की प्रतीति होने से सिद्ध है कि प्रमाण से फल अभिन्न है।

पारम्पर्येण साक्षाच्च फलं द्वेधाऽमिधायि यत्।
देवौर्भिन्नाभिन्नं च प्रमाणात्तहोदितम् ।। (11)

इसका यह अर्थ (अभिप्राय) है कि जिस आत्मा की प्रमाण के आकार से परिणति होती है, उसके ही फलरूप से परिणाम देखा जाता है इसलिए एक प्रमाता की अपेक्षा से प्रमाण और फल में अभेद है। प्रमाण करण रूप परिणाम है और फल क्रियारूप परिणाम है इस प्रकार करण और क्रियारूप परिणाम के भेद से प्रमाण और फल में भेद है। यह भेदरूप कथन सामर्थ्य सिद्ध होने के कारण सूत्रकार ने पृथक् नहीं कहा है।

आचार्य अकलंकदेव ने और माणिक्यनन्दि ने प्रमाण के जिस फल को साक्षात् और पारम्पर्य से दो प्रकार का कहा है, वह प्रमाण से कथंचित् भिन्न भी है और अभिन्न भी है, वही यहाँ पर मैंने कहा है।

ज्ञान एवं ज्ञेय का स्वरूप

तम्हा णाणं जीवो णेयं दव्वं तिहा समक्खादं।
दव्वं ति पुणो आदा परं च परिणामसंबद्धं।। (36)

Therefore the self is knowledge; the object of knowledge is the substance, which is said to be threefold; the substance comprises the soul and the (five) other (substances) which are prone to modification.

आगे कहते हैं कि आत्मा ज्ञान रूप है तथा अन्य सर्व ज्ञेय हैं अर्थात् ज्ञान और ज्ञेय का भेद प्रगट करते हैं। क्योंकि आत्मा ही अपने उपादान रूप से ज्ञानरूप परिणमन करता है तैसे ही पदार्थों को जानता है ऐसा पूर्व सूत्र में कहा गया है(तम्हा) इसलिये (जीवः) आत्मा ही (णाणं) ज्ञान है। (णेयं दव्वं) उस ज्ञान

स्वरूप आत्मा का ज्ञेय द्रव्य (तिहा) जिस प्रकार अर्थात् भूत, भविष्य, वर्तमान पर्याय में परिणमन रूप से या द्रव्य गुण पर्याय रूप से या उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप से ऐसे तीन प्रकार(समक्खादं) कहा गया है। (पुणो) तथा (परिणाम संबद्धं) किसी अपेक्षा परिणमनशील (आदा च परं) आत्मा और पर द्रव्य (दव्वं ति) द्रव्य है तथा क्योंकि ज्ञान दीपक के समान अपने को भी जानता है और पर को भी जानता है इसलिये आत्मा भी ज्ञेय है।

यहाँ पर नैयायिक मत के अनुसार चलने वाला कोई कहता है कि ज्ञान दूसरे ज्ञान से जाना जाता है क्योंकि वह प्रमेय है जैसे घट आदि। अर्थात् ज्ञान स्वयं अपने आपको नहीं जानता है ? इसका समाधान करते हैं कि ऐसा कहना दीपक के साथ व्यभिचार रूप है। क्योंकि प्रदीप अपने आप प्रमेय या जानने योग्य ज्ञेय है। उसके प्रकाश के लिये अन्य की आवश्यकता नहीं है। तैसे ही ज्ञान भी अपने आप ही अपने आत्मा को प्रकाश करता है, उसके लिये अन्य ज्ञान के होने की जरूरत नहीं है। ज्ञान स्वयं स्व पर प्रकाशक है। यदि ज्ञान दूसरे ज्ञान से प्रकाशता है तब वह ज्ञान फिर दूसरे ज्ञान से प्रकाशता है ऐसा माना जायेगा तो अनंत आकाश में फैलाने वाली व जिसका दूर करना अति कठिन है, ऐसी अनवस्था प्राप्त हो जायेगी सो होना सम्मत नहीं है। इसलिये ज्ञान स्व-पर प्रकाशित है ऐसा सूत्र का अर्थ है।

समीक्षा- जैसे दीपक स्व-पर प्रकाशी है अर्थात् स्वयं प्रकाशित होता है एवं पर को भी प्रकाशित करता है। उसी प्रकार आत्मा भी स्व-पर प्रकाशी है अर्थात् ज्ञान गुण के द्वारा स्वयं को जानता है और दूसरों को भी जानता है। जब आत्मा स्वयं को जानता है उस समय वह कथंचित् ज्ञेय भी हो जाता है। अन्य दृष्टि से भी आत्मा ज्ञेय भी है क्योंकि ज्ञानगुण को छोड़कर अन्य गुण भी ज्ञान ही के विषय बनते हैं, इसलिए अन्यगुण की अपेक्षा आत्मा ज्ञेय भी बन जाता है। अन्य अचेतन द्रव्य केवल ज्ञेय ही होते हैं कभी ज्ञान नहीं होते क्योंकि उसमें चैतन्य शक्ति नहीं होती है। जैसे-जो द्रव्य स्वयं अप्रकाशी है वह द्रव्य को प्रकाश नहीं दे सकता परन्तु अन्य के प्रकाश से प्रकाशित हो सकता है। जैसे विज्ञान की अपेक्षा सूर्य स्वप्रकाशी एव परप्रकाशी भी है। क्योंकि जब सूर्य उदय होता है तब सूर्य को देखने के लिए अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती है। कोई यह नहीं कहता कि मुझे उदित सूर्य को देखना है एक टार्च लेकर आओ परन्तु अंधकार में कोई अप्रकाशित वस्तु को देखने के लिए प्रकाश की आवश्यकता पड़ती है। प्रमेयरत्नमाला (जैन न्याय

शास्त्र) में कहा भी है-

स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्। (1)

स्व अर्थात् अपने आपको और अपूर्वार्थ अर्थात् जिसे किसी अन्य प्रमाण से पूर्व में जाना नहीं है ऐसे पदार्थ के निश्चय करने वाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं ।

स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायः। (6)

स्वोन्मुखरूप से अपने आपको जानना, यह स्ववसाय हैं। अपने आपके जानने के अभिमुख होने को स्वोन्मुखता कहते हैं। उस स्वोन्मुखता कहिए स्वानुभव रूप से जो प्रतिभास अर्थात् आत्मप्रतीति होती है, वही स्वव्यवसाय कहलाता है। सारांश अपने आपको जानने का नाम स्वव्यवसाय है।

अर्थस्येव तदुन्मुखतया। (7)

जैसे अर्थ के उन्मुख होकर उसे जानना अर्थव्यवसाय है। सूत्र में कहे गये 'तत्' शब्द से अर्थ (पदार्थ) को ग्रहण किया गया। जिस प्रकार पदार्थ के अभिमुख होकर उसके जानने को अर्थव्यवसाय कहते हैं, उसी प्रकार स्व-अर्थात् अपने आपके अभिमुख होकर जो अपने-आपका प्रतिभास होता है अर्थात् आत्मप्रतीति या आत्म-निश्चय होता है, वह स्वव्ययवसाय कहलाता है।

घटमहमात्मना वेद्मि। (8)

मैं घटको अपने आपके द्वारा जानता हूँ। यहाँ पर 'अहं' पद कर्त्ता है, 'घट' कर्म है, 'आत्मना' पद करण है और 'वेद्मि' यह क्रिया है। जैसे जानने वाला पुरुष अपने आपके द्वारा घटको जानता है, वैसे ही अपने आपको भी जानता है।

प्रदीपवत्। (12)

दीपक के समान। जिस प्रकार दीपक की प्रकाशता और प्रत्यक्षता को स्वीकार किये बिना उससे प्रतिभासित हुए घटादिक पदार्थ की प्रकाशता और प्रत्यक्षता सम्भव नहीं है उसी प्रकार यदि प्रमाणस्वरूप ज्ञान की भी प्रत्यक्षता न मानी जाय, तो उसके द्वारा प्रतिभासित पदार्थ की भी प्रत्यक्षता माननी सम्भव नहीं है। अतः दीपक के समान ज्ञान की भी स्वयं प्रकाशता और प्रत्यक्षता माननी चाहिये। यहाँ यह तात्पर्य है- ज्ञान अपने आपके प्रतिभास करने अर्थात् जानने में अपने से अतिरिक्त (भिन्न) सजातीय अन्य पदार्थों की उपेक्षा से रहित है, क्योंकि पदार्थ को प्रत्यक्ष करने के गुण से युक्त होकर अदृष्टि-अनुयायी करने वाला है, जैसे दीपक

का भासुराकार। नियमसार में अमृतचन्द्र सूरि ने कहा है-

'यथावद्वस्तुनिर्णीतः सम्यग्ज्ञानं प्रदीपवत्।
तत्स्वार्थव्यवसायात्म कथंचित् प्रतिमेःपृथक।।

यथार्थ रूप से वस्तु का निर्णय होना सम्यग्ज्ञान है, वह प्रदीप के समान स्व और पर अर्थ का निश्चय कराने वाला है, तथा प्रमिति- जानने रूप क्रिया से कथंचित् भिन्न है।'

जदि सव्वमेव णाणं णाणा-रूवेहि संठिदं एक्कं।
तो ण वि किं पि विणेयं विणा कहं णाणं।। (247)

यदि सब वस्तु ज्ञानरूप ही हैं और एक ज्ञान ही नाना पदार्थों के रूप में स्थित है तो ज्ञेय कुछ भी नहीं रहा। ऐसी स्थिति में बिना ज्ञेय के ज्ञान कैसे रह सकता है ?

अथ सर्वमेव ज्ञानमेकं ज्ञानाद्वैतं ज्ञेयमन्तरेण नानारूपेण घटपटादिपदार्थमन्तरेण घटपटादिज्ञान रूपेण संस्थितं यदि चेत् तो तर्हि किमपि ज्ञेयं ज्ञेयपदार्थवृन्दं घटपटादिलक्षणं नैव नास्त्येव। भवतु नाम ज्ञेयेन पदार्थेन किं भवेदिति चेत् ज्ञेयेन विना ज्ञातुं योग्येन गृहगिरिभूमिजलाग्निवातादिना विना तेषां गृहघटादीनां ज्ञानं कथं सिद्धयति। तदो णेयं परमत्थं। ततः ज्ञेयमन्तरेण ज्ञानानुत्पत्तेः परमार्थभूतं ज्ञेय अंगीकर्तव्यम्।

ज्ञानाद्वैतवादी बाह्य घट, पट आदि पदार्थों को असत् मानता है और एक ज्ञान को ही सत् मानता है। उसका कहना है कि अनादि वासना के कारण हमें बाहर में ये पदार्थ दिखाई देते हैं। किन्तु वे वैसे ही असत्य हैं जैसे स्वप्न में दिखाई देनेवाली बातें असत्य होती हैं। इस पर आचार्य का कहना है कि यदि सब ज्ञानरूप ही है तो ज्ञेय तो कुछ भी नहीं रहा और जब ज्ञेय ही नहीं है तो बिना ज्ञेय के ज्ञान कैसे रह सकता है, क्योंकि जो जानता है उसे ज्ञान कहते हैं और जो जाना जाता है उसे ज्ञेय कहते हैं। जब जानने के लिए कोई है ही नहीं, तो ज्ञान कैसे हो सकता हैं ?

घट-पड-जड-दव्वाणि हि णेय-सरूवाणि सुप्पसिद्धाणि।
णाणं जाणेदि जदो अप्पादो भिण्णरूवाणि।।(248)

घट पट आदि जड़ द्रव्य ज्ञेयरूप से सुप्रसिद्ध हैं। उनको ज्ञान जानता है। अतः ज्ञान से वे भिन्न रूप हैं।

जं सव्व-लोय-सिद्धं देहं-गेहादि-बाहिरं अत्थं।
जो तं पि णाण मण्णदि ण मुणदि सो णाण-णामं पि।। (249)

जो शरीर मकान वगैरह बाह्य पदार्थ समस्त लोक में प्रसिद्ध हैं उनको भी जो ज्ञानरूप मानता है वह ज्ञान का नाम भी नहीं जानता।

जाण ण वेदि विसेसंतरं तु आदाऽसवाण दोण्हं पि।
अण्णाणी तावदु सो, कोधादिसु वट्टदे जीवो।। 69।। समयसार
कोधादिसु वट्टंतस्स, तस्स कम्मस्स संचओ होदी।
जीवस्सेवं बंधो, भणिदो खलु सव्वदरसीहिं।। 70।।

यह जीव जब तक आत्मा और आस्रव इन दोनों में विशेष अंतर नहीं जानता है तब तक वह अज्ञानी हुआ क्रोधादि आस्रवों में प्रवृत्त रहता है और क्रोधादि आस्रवों में प्रवृत्त रहने वाले जीव के कर्मों का संचय होता है। इस प्रकार जीव के कर्मों का बंध सर्वज्ञ जिनेन्द्र देव ने निश्चय से कहा है।

जइया इमेण जीवेण, अप्पणो आसवाण य तहेव।
णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से।। 71।।

जिस समय इस जीव को आत्मा तथा कर्मों का विशेष अंतर ज्ञात हो जाता है उसी समय उसके बंध नहीं होता है।

णादूण आसवाणं, असुचित्तं च विवरीयभावं च।
दुक्खस्स कारणं ति य, तदो णियत्तिं कुणदि जीवो।। 72।।

आस्रवों का अशुचिपना और विपरीतपना तथा ये दुःख के कारण हैं ऐसा जानकर यह जीव उनसे निवृत्ति करता है।।

अहमिक्को खल सुद्धो, णिम्ममओ णाणदंसण-समग्गो।
तम्हि ठिओ तच्चित्तो, सव्वे एए खयं णेमि।।73।।

ज्ञानी जीव ऐसा विचार करता है कि मैं निश्चय से एक हूँ, शुद्ध हूँ, ममतारहित हूँ और ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण हूँ। उसी ज्ञान-दर्शन स्वभाव में स्थिर होता हुआ तथा उसी में चित्त लगाता हुआ मैं इन सब क्रोधादि आस्रवों को क्षय प्राप्त करता हूँ अर्थात् इसका नाश करता हूँ।।

जीवणिबद्धा एए, अधुव अणिच्चा तहा असरणा य।
दुक्खा दुक्खफला त्ति य, णादूण णिवत्तए तेहिं।। 74।।

जीव के साथ बंधे हुए ये आस्रव अध्रुव हैं, अनित्य हैं, शरणरहित हैं, दुःख और दुःख के फलस्वरूप हैं। ऐसा जानकर ज्ञानी जीव उनसे निवृत्ति करता है।

कम्मस्स य परिणामं, णोकम्मस्स य तहेव परिणामं।
ण करेइ एयमादा, जो जाणदि सो हवदि णाणी।। 75।।

जो आत्मा कर्म के परिणाम को और नोकर्म के परिणाम को नहीं करता है, केवल जानता है, वह ज्ञानी है।

मोह तथा रागद्वेष आदि अंतर्विकार कर्म के परिणाम हैं और स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द, नोकर्म के परिणाम हैं। ज्ञानी जीव अपने आपको इनका करनेवाला कभी नहीं मानता, वह सिर्फ उदासीन भाव से इसको जानता मात्र है। ज्ञानी जीव कर्म तथा नोकर्म के परिणाम को जानता ही है, उसमें राग द्वेष आदि की कल्पना नहीं करता है। यही उसकी पहचान है।

णवि परिणमइ ण गिण्हइ, उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाये।
णाणी जाणंतो वि हु, पुग्गलकम्मं अणेयविहं।। 76।।

ज्ञानी जीव अनेक प्रकार के पौद्गलिक कर्मों को जानता हुआ भी निश्चय से परद्रव्य तथा परपर्यायस्वरूप न परिणमन करता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न उनमें उत्पन्न ही होता है।। 76।।

णवि परिणमदि ण गिण्हदि, उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाये।
णाणी जाणंतो वि हु, सगपरिणामं अणेयविहं।।77।।

ज्ञानी जीव अनेक प्रकार के अपने परिणामों को जानता हुआ भी परद्रव्य तथा पर पर्यायरूप न परिणमन करता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न उनमें उत्पन्न होता है।

णवि परिणमदि ण गिणहदि, उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु, पुग्गलकम्मप्फलमणंतं।। 78।।

ज्ञानी जीव अनंत पुद्गलकर्मके फलको जानता हुआ भी पर द्रव्य और पर पर्यायस्वरूप न परिणमन करता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न उनमें उत्पन्न ही होता है।

णवि परिणमदि ण गिण्हदि, उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
पुग्गलदव्वं पि तहा, परिणमइ सएहिं भावेहिं।। 79।।

पुद्गल द्रव्य भी परद्रव्य तथा परपर्यायरूप न परिणमन करता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न उनमें उत्पन्न होता है। वह जीव के ही समान अपने भावों से परिणमन करता है।

जीवपरिणामहेदुं, कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं, तहेव जीवो वि परिणमइ।। 80
णवि कुव्वइ कम्मगुणे, जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु, परिणामं जाण दोण्हंपि।। 81
एएण कारणेण दु, कत्ता आदा सएण भावेण।
पुग्गलकम्मकयाणं, ण दु कत्ता सव्वभावाणं।।82

जिस प्रकार पुद्गल द्रव्य, जिसमें जीव के रागादिक परिणाम निमित्त हैं ऐसे कर्मपनेरूप परिणमन करते हैं। उसी प्रकार जीव भी, जिनमें पुद्गलादिक दर्शनमोह तथा चारित्रमोह आदि कर्म निमित्त हैं ऐसे रागादिभावरूप परिणमन करते हैं। फिर भी जीव कर्म के गुणों को नहीं करता है और कर्म जीव के गुणों को नहीं करता है। दोनों का परिणमन परस्पर के निमित्त से होता है, ऐसा जानो। इस कारण से आत्मा अपने भावों का कर्त्ता है, पुद्गल कर्म के द्वारा किये हुए समस्त भावों का कर्त्ता नहीं है।

णिच्छयणयस्स एवं, आदा अप्पाणमेव हि करेदि।
वेदयदि पुणो तं चेव, जाण अत्ता दु अत्ताणं।। 83

निश्चय नयका ऐसा मत है कि आत्मा अपने को ही करता है और अपने को ही भोगता है ऐसा जानो।

ववहारस्स दु आदा, पुग्गलकम्मं करेइ णेयविहं।
तं चेव पुणो वेयइ, पुग्गलकम्मं अणेयविहं।। 84

व्यवहार नयका यह मत है कि आत्मा अनेक प्रकार के पुद्गल कर्म को करता है और अनेक प्रकार के उसी पुद्गल कर्म का भोगता है।

बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरान्तरः।
चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः परमात्मातिनिर्मलः।। (5)

शरीर, पुत्र, स्त्री, धन, पशु, मकान आदि अन्य पदार्थों में जिसे अपने आत्मा

का या अपनेपन का भ्रम होता है वह बहिरात्मा जीव है। जिसको चित्त, रागद्वेष आदि दोषों तथा आत्मा के विषय में भ्रम नहीं रहा यानि जो उन्हें पृथक्-पृथक् ठीक तरह जानता है, वह अंतरात्मा है। जो मिथ्यात्व अज्ञान और राग आदि दोषों से सर्वथा छूटकर अत्यन्त निर्मल हो गया है, वह परमात्मा है।

भेद विज्ञान की भावना का फल शुद्धात्मोपलब्धि

कत्ता करणं कम्मं फलं च अप्पत्ति णिच्छिदो समणो।
परिणमदि णेव अण्णं जदि अप्पाणं लहदि सुद्धं।। (126) प्र.सा.

When the shreamana is convinced that the soul itself is the agent, means, action, and the fruit, and if he does not develop anything (else as passions etc.), he realizes the pure self.

(कत्ता, करणं, कम्मफलं, च अप्प त्ति) कर्त्ता, करण, कर्म तथा फल आत्मा ही है, ऐसा (णिच्छिदो) निश्चय करने वाला (समणो) श्रमण या मुनि (जदि) यदि (अण्णं) अन्य रूप (णेव परिणमदि) नहीं परिणमन करता है तो (सुद्धं अप्पाणं लहदि) शुद्ध आत्मीक स्वरूप को पाता है।

मैं एक आत्मा ही स्वाधीन होकर अपनी निर्मल आत्मानुभूतिका अपने विकार रहित परम-चैतन्य के परिणाम से परिणमन करता हुआ साधन करने वाला हूँ इससे मैं ही कर्त्ता हूँ। तथा मैं ही रागादि विकल्पों से रहित अपनी स्वसंवेदन ज्ञान की परिणति के बल से सहज शुद्ध परमात्मा की अनुभूति का साधकतम हूँ अर्थात् अवश्य साधने वाला हूँ इसलिये मैं ही करण स्वरूप हँ इसलिये मैं ही शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव रूप परमात्मा के स्वरूप से प्राप्ति योग्य हूँ इसलिये मैं ही करण हूँ तथा मैं ही शुद्ध-ज्ञान-दर्शन स्वभाव रूप परमात्मा से साधने योग्य अपने ही शुद्धात्मा की रूचि, व उसी का ज्ञान व उसी में निश्चल अनुभूतिरूप अभेद रत्नत्रय मई समाधि से पैदा होने वाले सुखामृतरस के आस्वाद में परिणमन रूप हूँ इससे मैं ही फलरूप हूँ। इस तरह निश्चयनय से बुद्धि को रखने वाला परममुनि जो सुख दुःख, जन्ममरण, शत्रुमित्र आदि में समता की भावना से परिणमन कर रहा है यदि अपने से अन्य रागादि परिणामों में नहीं परिणमन करता है तो भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म से रहित शुद्ध बुद्ध एक

स्वभावरूप आत्मा को प्राप्त करता है। ऐसा अभिप्राय भगवान् श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव का है।।

समीक्षा - भेद विज्ञान परमशुद्ध निश्चयनय से जानता है एवं मानता है कि मैं ही मेरा कर्त्ता कर्म, करण,सम्प्रदान, अधिकरण,सम्बन्ध हूँ। अशुद्ध निश्चय नय से अशुद्ध भावों का कर्त्ता, कर्म,करण, सम्प्रदान अधिकरण, सम्बन्ध मैं ही हूँ। इसलिए बंध के लिए व मोक्ष के लिए मैं ही निश्चय से कारण हूं। इसलिए दूषण एवं भूषण, दोषी एवं गुणी मैं हूँ। इसलिए कहते हैं ''आप भला तो जग भला'' अर्थात् जब भाव परिशुद्ध होते हैं तब जो विश्व में खचाखच भरी हुई कर्म वर्गणाएं हैं वे भी कर्म रूप में परिणमन नहीं करती है। इसलिए मुमुक्षु, भेद विज्ञानी स्वआत्मा स्वभाव को छोड़कर अन्य किसी भी भाव रूप में परिणमन नहीं करता है। जब वह शत्रु एवं मित्र हानि एवं लाभ, जन्म-मरण, घृणा एवं प्रशंसा आकर्षण एवं विकर्षण से रहित होकर परम समरसी भाव में स्थिर हो जाता है तब वह स्वशुद्धात्म स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। इसलिये गाथा में कहा गया है कि-

निश्चित मति समताधारी मुनि जब वैभाविक रूप में परिणमन नहीं करता है तब स्वशुद्धात्म तत्त्व को प्राप्त करता है। इससे सिद्ध होता है शुद्धात्मोपलब्धि के लिए केवल भेद विज्ञान ही पर्याप्त नहीं है परन्तु भेद विज्ञान के साथ-साथ परम समता रूप चारित्र भी चाहिए कहा भी है-

जं जाणइ तं णाणं जं पेच्छइ तं च दंसणं भणियं।
णाणस्स पिच्छियस्स य समवण्णा होइ चारित्तं।। (3)

जो जानता है वह ज्ञान है, जो देखता है वह दर्शन है, ज्ञान एवं दर्शन के समापन्न या समायोग में चारित्र होता है।

एए तिण्णि वि भावां हवंति जीवस्य अक्खयामेया।
तिण्हि वि सोहणत्थे जिणभणियं दुविय चारित्तं।। (4)

यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप तीन भाव जीव के अक्षय, अनन्त, स्वभाव स्वरूप हैं। इन तीनों भावों की विशुद्धि के लिए जिनेन्द्र भगवान् ने व्यवहार एवं निश्चय दो प्रकार चारित्र कहे हैं।

सम्मत्तचरणशुद्धा संजमचरणस्स जइ व सुपसिद्धा।
णाणी अमूढदिट्ठी अचिरे पावंति निव्वाणं।। (9) चारित्र

सम्यक्त्व सम्बन्धी सम्पूर्ण दोषों से रहित सम्यक्त्व गुण से अलंकृत जो होता है वह सम्यक् चारित्र से विशुद्ध होता है। यह सम्यक्त्वाचरण चारित्र चतुर्थ गुणस्थान में होता है। चरणानुयोग अनुसार चतुर्थ गुणस्थान में चारित्र नहीं होने पर भी अष्टमद, शंकादि अष्टदेव,षट् अनायतन आदि का त्याग एवं निशंक आदि अष्ट-अंग, संवेगादि अष्ट गुणादि सहित होना ही इस गुणस्थान सम्बन्धी चारित्र है इसकी ही सम्यक्त्वाचरण चारित्र कहते हैं। सम्यक्त्वाचरण सहित जो महामुनिश्वरों का महाव्रतादि रूप संयमाचरण से अत्यन्त प्रकृष्ट रूप से सर्वलोक सुप्रसिद्ध है ऐसे महान् चारित्र साधक निर्वाण को स्वल्प काल में ही प्राप्त कर लेते हैं। यहां पर चारित्र मुख्य होने पर भी सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान समग्रता से कहा गया है।

सीलं रक्खंताणं दंसण-सुद्धाणं दिढ़ चरित्ताणं।
अत्थि धुवं णिव्वाणं विसएसु विरत्तचित्ताणं।। (12) शील

जो शील के संरक्षक हैं, दर्शन से विशुद्ध हैं दृढ़ चारित्र निष्ठ हैं, विषय वासना से विरक्त चित्त वाले हैं उसके लिय निर्वाण ध्रुव सुनिश्चित है।

सीलं विसयाण अरी सीलं मोक्खस्स सोपाणं। (20)

शील, विषय का परम शत्रु है अर्थात् शील पालने से शील के प्रभाव से विषय कषाय रूप शत्रु विध्वंस हो जाते हैं। शीतल मोक्ष महल के लिये सोपान स्वरूप है।

पादूण आसवणं असुचित्तं च विवरीय भावं च।
दुक्खस्स कारणं ति य तदो णियत्ति कुणदि जीवो।। (77) समयसार

जब यह जीव आस्रवों के अशुचिपने को जड़तारूप विपरीतपने को और दुःख के कारणपने को जान लेता है तब अपने आप उनसे दूर रहता है।

क्रोधादि आस्रवों के कलुषतारूप अशुचिपने को जड़तारूप विपरीतपने को और व्याकुलता लक्षण दुःख के कारणपने को जानकर एवं अपने आत्मा के निर्मल आत्मानुभूति रूप शुचिपने को सहज शुद्ध अखण्ड केवलज्ञान रूप ज्ञातापन और अनुकुलता लक्षण अपने सुख रूप स्वभाव को जानकर उसके द्वारा स्वसंवेदन ज्ञान को प्राप्त होने के अनन्तर सम्यक्दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र में एकाग्रता रूप परम सामायिक में स्थित होकर यह जीव क्रोधादिक आस्रवों की निवृत्ति की निवृत्ति करता है अर्थात् अपने आप दूर रहता है। इस प्रकार ज्ञान मात्र

से ही बंध का निरोध नहीं सिद्ध हो जाता है। यहां सांख्यमत सरीखा ज्ञान मात्र से बंध का निरोध माना गया है। (किन्तु वैराग्यपूर्ण ज्ञान को ज्ञान कहा गया है और उससे बंध का निरोध होता है1) किंच ? हम तुमसे पूछते हैं कि आत्मा और आस्रव संबंधी जो भेदज्ञान है वह रागादिक आस्रवों से निवृत्त है या नहीं ? यदि कहो कि निवृत्त है तब तो उस भेद ज्ञान में पानक-पीने की वस्तु ठंडाई इत्यादि के समान अभेदनय से वीतराग चारित्र और वीतराग सम्यक्त्व भी है ही। इस प्रकार सम्यक् ज्ञान से ही बंध का निरोध सिद्ध हो जाता है और यदि वह भेदज्ञान रागादि से निवृत्त नहीं है तो वह सम्यक् भेदज्ञान ही नहीं है।

यहाँ पर आचार्य देव ने ज्ञान शब्द से सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र का भी ग्रहण किया है, क्योंकि आध्यात्मिक दृष्टि से विषय वासना से रहित संसार शरीर भोगों से विरक्ति रूप वीतराग ज्ञान को ही ज्ञान रूप से स्वीकार किया गया है। कुंदकुंद स्वामी ने मूलाचार में कहा भी है-

जेण रागा विरज्जेज्ज जेण से एसु रज्जदि।
जेण भित्तीं पभावेज्ज त णाणं जिणसासणे।। (268)

जिसके द्वारा जीव राग से विरक्त होता है, जिसके द्वारा मोक्ष में राग करता है, जिसके द्वारा मैत्री को भावित करता है जिन शासन में वह ज्ञान कहा गया है।

हिताहित प्राप्ति परिहार समर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्।। प.मु. (21)

जिससे हित की प्राप्ति अहित का परिहार होता है वह प्रमाण है जो कि सम्यग्ज्ञान स्वरूप है-

''अज्ञान निवृत्तिहानोपादानोपेक्षाश्च फलम् (सूत्र 1 अध्याय 5)

अज्ञान की निवृत्ति, अहित का त्याग, हित की प्राप्ति, वीतराग स्वरूप, निरपेक्षरूप समात भाव यह सम्यग्ज्ञान का फल है।

उपरोक्त सिद्धान्त से सिद्ध होता है कि मात्र ज्ञान मोक्ष का कारण नहीं है और केवल अज्ञान बंध का कारण नहीं है। इस सत्य का प्रतिपादन करते हुए तार्किक चूडामणि महान् दार्शनिक संत आचार्य समन्तभद्र स्वामी ''आप्तमीमांसा'' में कहते हैं -

अज्ञानाच्चेद्धुवो बंधो ज्ञेयानन्यात्र केवली।
ज्ञानस्तोकादिमोक्षश्चेदज्ञानाद्बहुतोऽन्यथा।। (96)

यदि एकान्ततः अज्ञानता से बंध होता है यदि ऐसा मान लिया जाये तब ज्ञेय अनंत होने से छद्मस्थ (12 वें गुणस्थान तक असर्वज्ञ जीव) जीव अनंत ज्ञेय को नहीं जान सकता है तब वह केवली या मुक्त नहीं हो सकता है इससे सिद्ध होता है कि केवल अज्ञानता ही बंध का कारण नहीं है। यदि अल्पज्ञान से मोक्ष होता है मान लिया जाये तब अधिक अज्ञानी होने से शीघ्र मोक्ष हो जायेगा। इसलिये अज्ञानता भी मोक्ष के लिये कारण नहीं है मोक्ष का समर्थ कारण क्या है ? इसका प्रतिपादन आचर्य देव ने स्वयं निम्न प्रकार किया है-

अज्ञानान्मोहिनो बन्धो नाऽज्ञानद्वीत मोहतः।
ज्ञानस्तोकाच्च मोक्षः स्यादमाहन्मोहिनीऽन्यथा।। 98

मोह सहित अज्ञानता से बंध होता है मोहरहित अज्ञानता से बंध नहीं होता है। मोह दर्शन मोहनीय, एवम् चारित्र मोहनीय की अपेक्षा दो प्रकार का है दर्शन-मोहनीय एवं चारित्र मोहनीय सहित ज्ञान (अल्पज्ञ) से बंध होता है। परन्तु दर्शन मोहनीय रहित अज्ञानता से बंध नहीं होता है इससे सिद्ध होता है कि मोहरहित कम ज्ञान से मोक्ष हो सकता है मोह सहित ज्ञान से अथवा विपुल ज्ञान से अथवा विपुल मिथ्याज्ञान से बंध होता है।

किमथमेव मोक्षमार्ग ?

क्या यही मोक्षमार्ग है इसका समाधान करते हैं।

बंधाणं च सहावं वियाणिदु अप्पणो सहावं च।
बंधेसु जो ण रज्जदि सो कम्मविमोक्खणं कुणदी।। (315) समयसार

बंध के स्वभाव को और आत्मा के स्वभाव को जानकर के जो पुरुष विरक्त होता है वही कर्मों को काट सकता है।

भाव बंध मिथ्यात्व और रागादिक है। उनके स्वभाव को जानकर हेय-उपादेय के विषय में विपरीत मान्यता अर्थात् हेय को उपादेय और उपादेय को हेय समझना मिथ्यात्व कहलाता है। पंचेन्द्रिय के विषय में इष्ट और अनिष्ट का विचार होना रागादिक का स्वभाव है उसे जानकर केवल बंध स्वभाव ही को नहीं परन्तु आत्मा के अनन्त ज्ञानादि स्वभाव को जानकर द्रव्य बंध के हेतुभूत जो मिथ्यात्व और रागादि रूप भाव बंध है उनमें निर्विकल्प समाधि के बल से रंजायमान नहीं होता सो यह कर्मों का नाश करता है।

जीव एवं अजीव का लक्षण

दव्वं जीवमजीवं जीवो पुण चेदणोवओगमओ।
पोग्गलदव्वप्पमुहं अचेदणं हवदि अज्जीवं।। (127) प्र.सा.

Substance compriser Jiva, the sentient principle and Ajiva the non-sentient principle; Java is constituted of sentiency and manfestation of consciousness; Ajiva is insentient and the foremost of this classis matter

(दव्वं) द्रव्य (जीवमजीवं) जीव और अजीव है (पुण) और (जीवों) जीव द्रव्य (चेदणा उवओगमओ) चेतना स्वरूप तथा ज्ञान दर्शन उपयोगवान है (य पोग्गलदव्वप्पमुहं) और पुद्गल द्रव्य आदि (अचेदणं) चेतना रहित(अजीवं) अजीव है।

द्रव्य के दो भेद हैं जीव और अजीव। इनमें से जीव द्रव्य स्वयं सिद्ध चेतन बाहरी कारण के बिना और अन्तरंग व बाहर में प्रकाशमान नित्य रूप निश्चय से परम शुद्ध चेतना से तथा व्यवहार में अशुद्ध चेतना से युक्त होने के कारण चेतन स्वरूप है तथा निश्चयनय से अखंड व एक रूप प्रकाशमान व सर्व तरह से शुद्ध केवलज्ञान तथा केवलदर्शन लक्षणधारी पदार्थों के जानने देखने के व्यापार गुणवाले शुद्धोपयोग से तथा व्यवहारनय से मतिज्ञान आदि अशुद्धोपयोग से जो वर्तन करता है इससे उपयोगमई है। तथा पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश और काल यह पांच द्रव्य पूर्व में कही हुई चेतना तथा उपयोग के अभाव से अजीव है, अचेतन है, ऐसा अर्थ है।

समीक्षा - सत् अपेक्षा समस्त द्रव्य एक समान होते हुए भी विशेष गुण धर्मों के कारण सब द्रव्य अलग-अलग हो जाते हैं। चेतन एवं अचेतन अपेक्षा विश्व के समस्त द्रव्य को 2 भागों में विभक्त कर सकते हैं। जिस द्रव्य में चेतना तथा ज्ञान-दर्शन रूप उपयोग होता है उसे चैतन्य द्रव्य कहते हैं विश्व में केवल जीव द्रव्य ही चेतन द्रव्य है। जिसमें चेतन गुण नहीं है उसे अचेतन द्रव्य कहते हैं। पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल अचैतन्य द्रव्य हैं। उपर्युक्त भेद स्व-स्व गुण धर्म के कारण होता है। पंचाध्यायी में कहा भी है -

जीवाजीवविशेषोऽस्ति द्रव्याणां शब्दतोऽर्थतः।
चेतनालक्षणो जीवः स्यादजीवोऽप्यचेतनः।। (3)

नासिद्धं सिद्धदृष्टाच्चेतनाऽचेतनद्वयम्।
जीवद्वपुर्घटादिभ्यो विशिष्टं कथमन्यथा।। (4)

शब्द और अर्थ दोनों की अपेक्षा द्रव्यों के जीव और अजीव ऐसे दो भेद हैं। इनमें से जीव का लक्षण चेतना है और अजीव अचेतन होता है। द्रव्यों के चेतन और अचेतन ये दो भेद असिद्ध नहीं हैं किन्तु प्रसिद्ध दृष्टान्त से ये सुसिद्ध हैं। यदि चेतन और अचेतन को अलग-अलग नहीं माना जाता है तो घटादिक से भिन्न जीते हुए का शरीर कैसे सिद्ध हो सकता है।

अस्ति जीवः सुखादीनां स्वसंवेदनसमक्षतः।
यो नैवं स न जीवोऽस्ति सुप्रसिद्धो यथा घटः ।। (5)
इति हेतुसनाथेन प्रत्यक्षेणावधारितः
साध्यो जीवःस्वसिद्धयर्थमजीवश्च ततोऽन्यथा।। (26)

जीव है, क्योंकि सुखादिक का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है। जो जीव नहीं है उसे सुखादिक का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष भी नहीं होता, जैसे सुप्रसिद्ध घट। इस प्रकार इस स्वसंवेदन प्रत्यक्षरूप हेतु के साथ प्रत्यक्ष द्वारा जीव का निश्चय करके आत्मसिद्धि के लिए उसकी सिद्धि कर लेनी चाहिये। यह जीव का स्वरूप हुआ और अजीव इससे विपरीत गुण- धर्म वाला है।

अस्ति जीवः स्वतः सिद्धोऽनाद्यनन्तोऽप्यमूर्तिमान्।
ज्ञानाद्यनन्तधर्मादि रूढत्वाद् द्रव्यमव्यम्।। (30)
साधारणगुणोपेतोऽप्यसाधारणधर्मभाक्
विश्वरूपोऽप्यविश्वस्थः सर्वापेक्षोऽपि सर्ववित्।। (31)
असंख्यातप्रदेशोऽपि स्यादखण्डप्रदेशवान्।
सर्वद्रव्यातिरिक्तोऽपि तन्मध्ये संस्थितोऽपि च।। (32)

जो स्वतः सिद्ध है, अनादि अनन्त है, अमूर्तिक है, ज्ञानादि अनेक धर्मों का आधार होने से द्रव्य है और अविनाशी है, वह जीव द्रव्य है। यह जीव साधारण गुणों से युक्त है तो भी असाधारण धर्मों को धारण करने वाला है। विश्वरूप है तो भी विश्व में स्थित नहीं है। सबसे निरपेक्ष है तो भी सबको जानता हैं। असंख्यात प्रदेशवाला है तो भी अखण्ड प्रदेशी है, सब द्रव्यों से भिन्न है तो भी सब द्रव्यों में स्थित है।

स्व-समय कौन ?

बहिरंतरप्प भेयं पर समयं भण्णए जिणिंदेहिं।
परमप्पो सगसमयं तब्भेयं जाण गुणठाणे।। (145) रयण.

अन्वयार्थ :- (बहिरंप्प भेयं) बहिरात्मा, अन्तरात्मा के दो भेदों को (पर समयं) पर समय (जिणिंदोहिं) जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा (भण्ण्ए) कहा गया है (सग समयं) स्व-समय (परमप्पो) परमात्मा (अस्ति) है (तब्भेयं) उनके भेद (गुणठाणे) गुणस्थानों के अनुसार (जाण) जानना।

पद्य- बहिरात्मा-अन्तरात्मा दोनों पर समय कहे जिनेन्द्र ने।
परमात्मा है स्व-समय जानने योग्य गुणस्थान में।।

समीक्षा- मिथ्यत्वी होते बहिरात्मा सम्यग्दृष्टि जघन्य अन्तरात्मा।
पंचम गुणस्थान से दशवें गुणस्थान तक मध्यम अन्तरात्मा।।
ग्यारह व बारहवें गुणस्थान में होते हैं उत्कृष्ट अन्तरात्मा।
सयोग-केवली-अयोग केवली-सिद्ध होते हैं परमात्मा।।
अन्तरात्मा ही है स्व-समय अर्थात् जीवों का स्वरूप।
''शुद्ध-बुद्ध-आनन्द'' या ''सच्चिदानन्द'' जीवों का शुद्ध रूप।।

गुणस्थानों की अपेक्षा आत्मा का वर्गीकरण

मिस्सोत्ति बहिरप्पा तरतमया तुरिया अंतरप्प जहण्णा।
सत्तोत्ति मज्झिमंतर खीणुत्तर परमाजिणसिद्धा।। 146 रयण.

अन्वयार्थ :- (मिस्सोत्ति बहिरप्पा) मिश्रगुणस्थान तक के जीव बहिरात्मा है (तुरिय अंतरप्प जहण्णा) चौथे गुणस्थान वाले जीव जघन्य अंतरात्मा होते हैं (तरतमया) तारतम्य रूप से देश संयत से लेकर उपशांत मोह तक उपान्त्य मध्यम अंतरात्मा है (सत्तोन्ति मज्झिमंतर खीण) उपशांत मोह क्षीण मोह वाले उत्कृष्ट अंतरात्मा है (खीणोत्तर) क्षीण मोह के अगले स्थान वाले परमात्मा है (परम जिणसिद्धा) परमात्मा अरहंत जिन अर्थात् 13वें 14 गुणस्थान वाले केवली भगवान् सकल परमात्म है और सिद्ध भगवान् निकल परमात्मा है।

पद्य- मिश्र तक बहिरात्मा तारातम्य से चतुर्थ जघन्य-अन्तरात्मा।
उपशान्त-क्षीण मोह मध्यम अन्तर क्षीण मोह परे परमजिनसिद्ध।।

दोषों के त्याग से मुक्ति

मूढत्तय सल्लत्तय दोसत्तय दंडगारवत्तयेहिं।
परिमुक्को जोई सो सिवगइ पहणायगो होई।। 147 रयण.

अन्वयार्थ :- (मूढत्तय) तीन मूढ़ता (सल्लतय) तीन शल्य (दोसत्तय) तीन दोष (दंडत्तय) तीन दंड (गारवत्तयेहिं) तीन गारवों से (परिमुक्को) परिमुक्ति (जोई) योगी (सो शिवगइ पहणायगो होई) वह शिवगति का पथनायक होता है।

पद्य- मूढत्रय-शल्यत्रय-दोषत्रय-दण्डत्रय-गारवत्रय से।
जो होते हैं परिमुक्त वे शिवगति पथनायक होते।।

रत्नत्रय मुक्ति का कारण

रयणत्तय करणत्तय जोगत्तय गुत्तित्तय विसुद्धेहिं।
संजुत्तो जोइ सो सिवगइ पहणायगो होई।। 148 रयण.

अन्वयार्थ :- (रयणत्तय) रत्नत्रय (करणत्तय) तीन करण (जोगत्तय) तीन योग (गुत्तित्तय) तीन गुप्ति (विसुद्धेहिं) इनका विशुद्ध गुणों से (संजुत्तो) जोइ सहितयोगी (सिवगइ पहणायगो होई) मोक्षगति को प्राप्त कर लेने वाला प्रमुख नेता होता है।

पद्य- रत्नत्रय करणत्रय योगत्रय गुप्तित्रय विशुद्धि से।
जो होते हैं संयुक्त वे शिवगति प्रयाणक होते।।

समीक्षा- सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र व अधः अपूर्व अनिवृत्तिकरण।
मन-वच-काय योग शुद्धि (से) युक्त होते मोक्षमार्ग पथिक।।

मुक्ति का कारण मूलगुण और उत्तर गुण

बहिरब्भंतर गंथ विमुक्को सुद्धोवजोय संजुत्तो।
मूलुत्तरगुण पुण्णे सिवगइ पहणायगो होई।। 149 रयण.

अन्वयार्थ :- (बहिरब्भंतरगन्थ) जो मुनि मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसक वेद इस प्रकार के 14 अंतरंग परिग्रह और क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, दासी, दास, चांदी, सोना, कुप्य, भांड इस प्रकार के 10 बाह्य परिग्रह कुल 24 प्रकार के परिग्रह से

रहित (सुद्धोवजोय संजुत्तो) शुद्धोपयोग से युक्त है (मूलुत्तर गुण पुण्णो) मूलगुण और उत्तर गुणों से पूर्ण (सिवगइ पहणाइयो) शिवगति के सच्चे पथिक हैं (होई) होते हैं।

पद्य - बाह्याभ्यन्तर ग्रन्थ विमुक्त शुद्धोपयोग संयुक्त।
मूलोत्तर गुण से पूर्ण शिवगति प्रयाणक होते शान्त।।

सम्यग्दर्शन की साधना

जं जाइजरामरणं दुहदुट्ठ विसाहि विसविणासयरं।
सिवसुहलाहं सम्मं संभावइ सुणई साहए साहू।। 150 रयण.

अन्वयार्थ :- (जं) जो (सम्मं) सम्यग्दर्शन (जाइ जरा मरणं) जन्म, बुढापा, मरण (दुहदुट्ठ विसाहि) महादुष्ट दुःख को देने वाला विष मिथ्यात्व रूपी महासर्प है। (विसविणासयरं) इस विष को विनाश करने वाला (सिदसुहलाहं) मोक्ष सुख लाभकारी है (साहु) हे साधु! तुम जानो (तं) और उस सम्यग्दर्शन की (संभावइ) भावना करो (सुणइ) सुनो (साहए) और साधना करो।

पद्य- जो-जन्म-जरा-मरण महादुःख दुष्ट विषधर विष विनाशकर।।
शिव सुख लाभकर सम्यक्त्व भावनाकर सुनो हे! श्रमण।।

लोकपूज्य सम्यग्दर्शन

कि बहुणा हो दविंदाहिंद णरिंदगणहरिंदेहिं।
पुज्जा परमप्पा जे तं जाण पहाण सम्मगुणं।। 151 रयण.

अन्वयार्थ :- (किं बहुणा हो) अहो! बहुत कहने से क्या प्रयोजन (दविंदाहिदं परिंदगणरिंदेहि) देवेंद्र, नागेंद्र, नरेन्द्र और गणधर देवों द्वारा (ज) जो (पुज्जा) पूजा जाता है (परमप्पा) परमात्मा अरिहंत देव हैं, (तं) उसके लिए (पहाणं सम्मगुणं) प्रधान सम्यक्त्व गुण है (जाण) ऐसा जानो समझो।

पद्य- अधिक कहने से क्या हो देवेन्द्र नागेन्द्र-नरेन्द्र-गणधर-द्वारा।
जो पूज्य परमात्मा वे भी बने सम्यक्त्व प्रधानता से।।

समीक्षा- विश्व पूजनीय परमात्मा भी बने सम्यक्त्व प्रधानता से।
यह कथन ही पर्याप्त है सम्यक्त्व गुण को जानने हेतु।।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्ष का मार्ग है।।

'सम्यक् शब्द अव्युत्पन्न अर्थात् रौढिक और व्युत्पन्न अर्थात् व्याकरणसिद्ध है। जब यह व्याकरण से सिद्ध किया जाता है तब सम् उपसर्ग पूर्वक अञ्च धातु से क्विप प्रत्यय करने पद 'सम्यक्' शब्द बनता है। संस्कृत में इसकी व्युत्पत्ति 'समञ्चति इति सम्यक्' इस प्रकार होती है। प्रकृत में इसका अर्थ प्रशंसा है। इसे दर्शन, ज्ञान और चारित्र इनमें से प्रत्येक शब्द के साथ जोड़ लेना चाहिए। यथा- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। लक्षण और भेद के साथ इनका स्वरूप विस्तार से आगे कहेंगे। नाममात्र यहाँ कहते हैं - पदार्थों के यथार्थ ज्ञानमूलक श्रद्धान का संग्रह करने के लिए दर्शन के पहले सम्यक् विशेषण दिया है। जिस प्रकार से जीवादिक पदार्थ अवस्थित हैं उस प्रकार से उनका जानना सम्यग्ज्ञान है। ज्ञान के पहले सम्यक् विशेषण विमोह (अनध्यवसाय), संशय और विपर्यय ज्ञानों का निराकरण करने के लिए दिया है। जो ज्ञानी पुरुष संसार के कारणों को दूर करने के लिए उद्यत है उसके कर्मों के ग्रहण करने में निमित्तभूत क्रिया के उपरम होने को सम्यक्चारित्र कहते हैं। चारित्र के पहले 'सम्यक्' विशेषण अज्ञानपूर्वक आचरण के निराकरण करने के लिए दिया है।

6. दर्शन, ज्ञान और चारित्र का व्युत्पत्यर्थ दर्शन शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है 'पश्यति दृश्यतेऽनेन दृष्टिमात्रं वा दर्शनम्' जो देखता है, जिसके द्वारा देखा जाता है या देखना मात्र ज्ञान शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है- जानाति ज्ञायते अनेन ज्ञप्तिमात्र वा ज्ञानम् जो जानता है, जिसके द्वारा जाना जाता है या जानना मात्र। चारित्र शब्द का व्यत्पत्तिलभ्य अर्थ है-चरति चर्यतेऽनेन चरणमात्रं वा चारित्रम् जो आचरण करता है,जिसके द्वार आचरण किया जाता है या आचरण करना मात्र। **शंका** दर्शन आदि शब्दों की इस प्रकार व्युत्पत्ति करने पर कर्त्ता और करण एक हो जाता है किन्तु यह बात विरुद्ध है ? **समाधान** यद्यपि यह कहना सही है तथापि स्वपरिणाम और परिणामी में भेद की विवक्षा होने पर उक्त प्रकार से कथन किया गया है। जैसे अग्नि दाह परिणाम के द्वारा ईंधन को जलाती है यह कथन भेदविवक्षा के होने पर ही बनता है। यहाँ चूँकि पर्याय और पर्यायी में एकत्व और अनेकत्व के प्रति अनेकान्त है, अतः स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य विवक्षा के होने से एक ही पदार्थ

में पूर्वोक्त कर्त्ता आदि साधनभाव विरोध को प्राप्त नहीं होता। जैसे कि अग्नि से दहन आदि क्रिया की अपेक्षा कर्त्ता आदि साधनभाव विरोध को प्राप्त नहीं होता। जैसे कि अग्नि से दहन आदि क्रिया की अपेक्षा कर्त्ता आदि साधन भाव बन जाता है, वैसे ही प्रकृत में जानना चाहिए।

7. **शंका** - सूत्र में पहले ज्ञान का ग्रहण करना उचित है, क्योंकि एक तो दर्शन ज्ञानपूर्वक होता है और दूसरे ज्ञान में दर्शन शब्द की अपेक्षा कम अक्षर है ? **समाधान** - यह कहना युक्त नहीं है कि दर्शन ज्ञानपूर्वक होता है इसलिए सूत्र में ज्ञान को पहले ग्रहण करना चाहिए,क्योंकि दर्शन और ज्ञान एक साथ उत्पन्न होते हैं। जैसे मेघ-पटल के दूर हो जाने पर सूर्य प्रताप और प्रकाश एक साथ व्यक्त होते हैं, उसी प्रकार जिस समय दर्शनमोहनीयका उपशम, क्षय या क्षयोपशम होने से आत्मा सम्यग्दर्शन पर्याय से आविर्भूत होता है उसी समय उसके मत्यज्ञान और श्रुतज्ञान का निराकरण होकर मतिज्ञान और श्रुतज्ञान प्रकट होते हैं। दूसरे ऐसा, नियम है कि सूत्र में अल्प अक्षरवाले शब्द से पूज्य शब्द पहले रखा जाता है, अतः पहले ज्ञान शब्द को न रखकर दर्शन शब्द को रखा है। **शंका** - सम्यग्दर्शन पूज्य क्यों हैं ? **समाधान**- क्योंकि सम्यग्दर्शन ज्ञान के सम्यक् व्यपदेश का हेतु है। चारित्र के पहले ज्ञान का प्रयोग किया है, क्योंकि चारित्र ज्ञानपूर्वक होता है।

अपने अपने स्वरूप के अनुसार पदार्थों के अनुसार पदार्थों का जो श्रद्धान होता है वह सम्यग्दर्शन है।।2

10 तत्त्व शब्द भाव सामान्य का वाचक है, क्योंकि 'तत्' यह सर्वनाम पद है और सर्वनाम सामान्य अर्थ में रहता है अतः उसका भाव तत्त्व कहलाया। यहाँ 'तत्' पद से कोई पदार्थ लिया गया है। आशय यह है कि जो पदार्थ जिस रूप से अवस्थित है उसका उस रूप होना यही तत्त्व शब्द का अर्थ है। अर्थ शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है...अर्यते निश्चीयते इत्यर्थ जो निश्चय किया जाता है। यहाँ तत्त्व और अर्थ इन दोनों शब्दों के संयोग से तत्त्वार्थ शब्द बना है जो 'तत्त्वेन अर्थस्तत्त्वार्थ' ऐसा समास करने पर प्राप्त होता है। अथवा भाव द्वारा भाव वाले पदार्थ का कथन किया जाता है, क्योंकि भाव भाव वाले से अलग नहीं पाया जाता। ऐसी हालत में इसका सभास होगा 'तत्त्वमेव अर्थ तत्त्वार्थः' तत्त्वार्थ का श्रद्धान तत्त्वार्थ श्रद्धान कहलाता है। उसे ही सम्यग्दर्शन जानना चाहिए।

11. **शंका** - दर्शन शब्द 'दृश' धातु से बना है जिसका अर्थ आलोक है, अतः इससे श्रद्धानरूप अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता है ? **समाधान** - धातुओं के अनेक अर्थ होते है, अतः 'दृश' धातु का श्रद्धान रूप अर्थ करने में कोई दोष नहीं है। **शंका** - यहाँ 'दृश' धातुका प्रसिद्ध अर्थ क्यों छोड़ दिया है ? **समाधान** - मोक्षमार्ग प्रकरण होने से। तत्त्वार्थों का श्रद्धान आत्मा का परिणाम है वह मोक्ष का साधन बन जाता है,क्योंकि वह भव्यों के ही पाया जाता है, किन्तु आलोक चक्षु आदि के निमित्त से होता है जो साधारण रूप सब संसारी जीवों के पाया जाता है, अतः उसे मोक्षमार्ग मानना युक्त नहीं है।

12. **शंका**- सूत्र में 'तत्त्वार्थश्रद्धानम्' के स्थान में 'अर्थश्रद्धानम्' इतना कहना पर्याप्त है ? **समाधान**- इससे अर्थ शब्द के धन, प्रयोजन और अभिधेय आदि जितने भी अर्थ हैं उन सबके ग्रहण का प्रसंग आता है जो युक्त नहीं है, अतः 'अर्थश्रद्धानम्' केवल इतना नहीं कहा है। **शंका**- तब 'तत्त्वश्रद्धानम्' इतना ही ग्रहण करना चाहिए ? **समाधान** - इससे केवल भाव मात्र के ग्रहण का प्रसंग प्राप्त होता है। कितने ही लोग (वैशेषिक) तत्त्व पद से सत्ता, द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व इत्यादि का ग्रहण करते हैं। अब यदि सूत्र में 'तत्त्वश्रद्धानम्' इतना ही रहने दिया जाता है तो इससे इन सब का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है जो युक्त नहीं है। अथवा तत्त्व शब्द एकत्ववाची है, इसलिए सूत्र में केवल तत्त्व पद के रखने से 'सब सर्वथा एक है' इस प्रकार स्वीकार एकत्ववाची है, इसलिए सूत्र में केवल तत्त्व पद के रखने से 'सब सर्वथा एक है' इस प्रकार स्वीकार, करने का प्रसंग प्राप्त होता है। यह सब दृश्य व अदृश्य जग पुरुषस्वरूप ही है' ऐसा किन्हीं ने माना भी है। किन्तु ऐसा मानने पर प्रत्यक्ष और अनुमान से विरोध आता है, अतः इन सब दोषों के दूर करने के लिए सूत्र में 'तत्त्व' और 'अर्थ' इन दोनों पदों का ग्रहण किया है। सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है -सराग सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य आदि की अभिव्यक्ति लक्षणवाला सराग सम्यग्दर्शन है और आत्मा की विशुद्धिमात्र वीतराग सम्यग्दर्शन है।

मोह का क्षय होने से तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का क्षय होने से केवल ज्ञान प्रकट होता है।। 1 मो. शा.

921 इस सूत्र में समास करना उचित है,क्योंकि इससे सूत्र लघु हो जाता है। **शंका** कैसे **प्रतिशंका**-क्योंकि ऐसा करने से एक क्षयशब्द नहीं देना पड़ता है

और अन्य विभक्ति के निर्देश का अभाव हो जाने से 'च' शब्द का प्रयोग नहीं करना पड़ता है, इसलिए सूत्र लघु हो जाता है। यथा- 'मोहज्ञानदर्शनवरणान्त रायक्षयात्केवलम्' **समाधान**-यह कहना सही है तथापि क्षय के क्रम का कथन करने के लिए वाक्यों का भेद करके निर्देश किया है। पहले ही मोह का क्षय करके और अन्तर्मुहूर्त काल तक क्षीण कषाय संज्ञा को प्राप्त होकर अनन्तर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का एक साथ क्षय करके केवलज्ञान को प्राप्त होता है। इन कर्मों का क्षय केवल ज्ञान की उत्पत्ति का हेतु है ऐसा जानकर 'हेतुरूप' विभक्तिका निर्देश किया है। **शंका**- पहले ही मोह के क्षय को कैसे प्राप्त होता है ? **समाधान**-परिणामों की विशुद्धि द्वारा वृद्धि को प्राप्त होता हुआ असंयत सम्यदृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, और अप्रमत्तसंयत इन चार गुणस्थानों में से किसी एक गुणस्थान में मोहनीय की सात प्रकृतियों का क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर क्षपकश्रेणिपर आरोहण करने के लिए सम्मुख होता हुआ अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में अधःप्रवृत्त कारण को प्राप्त होकर अपूर्वकरण के प्रयोग द्वारा अपूर्वकरणक्षपक गुणस्थान संज्ञा का अनुभव करके और वहाँ पर नूतन-परिणामों की विशुद्धिवश पाप प्रकृतियों की स्थिति और अनुभाग को कृश करके तथा शुभ कर्मों के अनुभाग की वृद्धि करके अनिवृत्तिकरण की प्राप्ति द्वारा अनिवृत्तिबादर साम्पराय क्षपकगुणस्थानपर आरोहण करके तथा वहाँ आठ कषायों का नाश करके तथा नपुंसक वेद और स्त्रीवेदका क्रमसे नाश करके, छह नोकषायका पुरुषवेद में संक्रमण द्वारा नाश करके तथा पुरुषवेदका क्रोधसंज्वलन में, क्रोधसंज्वलनका मानसंज्वलन में, मानसंज्वलनका माया संज्वलन में और मायासंज्वलनका लोभसंज्वलनमें क्रमसे बादरकृष्टिविभाग के द्वारा संक्रमण करके तथा लोभसंज्वलनको कृश करके, सूक्ष्मसाम्पराय क्षपकत्वका अनुभव करके, समस्त मोहनीयका निर्मूल नाश करके, क्षीणकषाय गुणस्थानपर आरोहण करके, मोहनीयके भारको उतारकर क्षीणकषाय गुणस्थानके उपान्त्य समय में निद्रा और प्रचलाका नाश करके तथा अन्तिम समय में पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अन्तराय कर्मोंका अन्त करके तदनन्तर ज्ञानदर्शन स्वभाव अवितर्क्य विभूति विशेषरूप केवलपर्यायको प्राप्त होता है।

बन्ध-हेतुओं के अभाव और निर्जरा से सब कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होना ही मोक्ष है।। 2।।

मिथ्यादर्शनादिक हेतुओं का अभाव होने से नूतन कर्मों का अभाव होता है और पहले कही गयी निर्जरारूप हेतु के मिलने पर अर्जित कर्मों का नाश होता है। इन दोनों से, 'बन्ध'हेत्वभावनिर्जराभ्याम्' यह हेतु परक विभक्तिका निर्देश है, जिसने भवस्थिति के हेतुभूत आयुकर्म के बराबर शेष कर्मों की अवस्था कर लिया है उसके उक्त कारणों से एक साथ समस्त कर्मों का आत्यन्तिक वियोग होना मोक्ष है ऐसा जानना चाहिए। कर्म का अभाव दो प्रकार का है- यत्न साध्य और अयत्नसाध्य । इनमें से चरम देहवाले के नरकायु, तिर्यंचायु और देवायु का अभाव यत्नसाध्य नहीं होता, क्योंकि चरम देहवाले के उनका सत्व नहीं उपलब्ध होता। आगे यत्न-साध्य अभाव कहते हैं- असंयतसम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थानों में से किसी एक गुणस्थान में सात प्रकृतियों का क्षय करता है। पुनः निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, नरकगति, तिर्यंचगति, एकेन्द्रिय जाति, द्वेन्द्रियजाति, त्रीनिंद्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति, नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, तिर्यंच गतिप्रायोग्यानुपूर्वी, आतप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म और साधारण नामवाली सोलह कर्म प्रकृतियों का अनिवृत्तिबादरसाम्पराय गुणस्थान में एक साथ क्षय करता है। इसके बाद उसी गुणस्थान में आठ कषायों का नाश करता है। पुनः वहीं पर नपुंसकवेद और स्त्रीवेद का क्रम से नाश करता है। तथा छह नोकषायों को एक ही प्रहार के द्वारा गिरा देता है। तदन्तर पुरुषवेद संज्वलनक्रोध, संज्वलनमान और संज्वलनमायाका वहाँ पर क्रम से अत्यन्त क्षय करता है। तथा लोभसंज्वलन सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान के अन्त में विनाश को प्राप्त होता है। निद्रा और प्रचला क्षीणकषाय वीतरागछद्मस्थगुणस्थान के उपान्त्य समय में प्रलय को प्राप्त होते हैं। पाँच ज्ञानावरण,चार दर्शनावरण और पाँच अन्तराय कर्मों का उसी गुणस्थान के अन्तिम समय में क्षय होता है। कोई एक वेदनीय, देवगति, औदारिक शरीर, वैक्रियिकशरीर, आहारक शरीर, तैजसशरीर, कार्मण शरीर, पाँच बन्धन, पाँच संघात, छह संस्थान, औदारिक शरीर अंगोपांग, वैक्रियिकशरीर अंगोपांग, आहारक शरीर अंगोपांग, छह संहनन, पाँच प्रशस्त वर्ण, पाँच अप्रशस्त वर्ण, दो गन्ध, पाँच प्रशस्त रस, पाँच अप्रशस्त रस, आठ स्पर्श, देवगति प्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास प्रशस्त विहायोगति, अप्रशस्त विहायोगति, अपर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग, सुस्वर दुःस्वर, अनादेय, अयशः कीर्ति, निर्माण और नीचगोत्र नामवाली बहत्तर प्रकृतियों का अयोग केवली गुणस्थान के उपान्त्य समय में विनाश होता है तथा कोई एक वेदनीय, मनुष्य

आयु, मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, मनुष्यगति-प्रायोग्यानुपूर्वी, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यशः कीर्ति, तीर्थंकर और उच्चगोत्र नामवाली तेरह प्रकृतियों का अयोग केवली गुणस्थान के अन्तिम समय में वियोग होता है।

विशेषार्थ - कुल उत्तर प्रकृतियाँ एक सौ अड़तालीस हैं। उनमे से चरमशरीरी जीव के नरकायु, तिर्यंचायु और देवायु का सत्त्व होता ही नहीं। आहारकचतुष्क और तीर्थंकर का सत्त्व किसी के होता है और किसी के नहीं होता। इनके सिवा शेष प्रकृतियों का सत्व नियम से होता है। यह जीव गुणस्थान क्रम से बन्धहेतुओं का अभाव करता है इसलिए क्रम से नूतन बन्ध का अभाव होता जाता है और सत्ता में स्थित प्राचीन प्रकृतियों का परिणाम-विशेषसे क्षय करता जाता है इसलिए सत्ता में स्थित कर्मों का भी अभाव होता जाता है और इस प्रकार अन्त में सब कर्मों का वियोग हो जाने से यह जीव मुक्त होता है। यहाँ मोक्ष शब्द का प्रयोग कर्म, नोकर्म और भाव कर्म के वियोग अर्थ में किया गया है। संसारी जीव बद्ध है अतएव वह किसी अपेक्षा से परतन्त्र है। उसके बन्धन के टूट जाने पर वह मुक्त होता है अर्थात् अपनी स्वतन्त्रता को प्राप्त करता है। इस प्रकार मोक्ष क्या है इसका निर्देश किया।

काल दोष

उवसमई सम्मत्तं मिच्छत्तबलेण पेल्लए तस्स।
परिवट्ंठति कसाया अवसप्पिणी कालदोसेण।। 152 रयण.

अन्वयार्थ :- इस समय भव्य जीवों को (उवसमई सम्मत्तं) उपशम सम्यक्त्व उत्पन्न होता है (परिवट्ंति कसाया) परन्तु क्रोधादि कषाय के उदय में आ जाने पर (मिच्छत्त बलेण पेल्लए तस्स) उस उपशम सम्यक्त्व को मिथ्यात्व के बल से नाश कर देती है (अवसप्पिणि) यह अवसर्पिणी (काल दोसेण) काल दोष का ही प्रभाव है।

पद्य- **अभी होता है उपशम सम्यक्त्व मिथ्यात्व बल से होता भी नाश।**
परिवर्तन कषाय से व अवसर्पिणी रूपी काल दोष से।।

समीक्षा- अभी प्रवर्तमान पंचमकाल में कोई न जन्म लेता सम्यक्त्व युक्त जन्म के समय सभी होते मिथ्यात्वी आठ वर्ष अर्न्तमुहूर्त में हो सकते सम्यक्त्वी।

तथापि इस काल में होता उपशम सम्यक्त्व जो होता है परिवर्तन।
क्रोधमानमायालोभ उदय से सम्यक्त्व नाश से होता मिथ्यात्व।।

पुनः जीव जब करे कषायों को उपशम तब होता सम्यक्त्व-उपशम।
इससे शिक्षा मिले भाव शुद्धिपूर्वक पंचमकाल में करो उपशम सम्यक्त्व।
करो न भाव कलुषित यदि हो कलुषित तो भाव को पुनः करो विशुद्ध।

सन्दर्भ-

सम्मत्तदेसघादिस्सुदयादो वेदगं हवे सम्मं।
चलमलिनमगाढं तं, णिच्चं कम्मक्खवणहेदु।। 25

अर्थ-सम्यग्दर्शन गुण को विपरीत करने वाली प्रकृतियों में से देशाघाति सम्यक्त्व प्रकृति के उदय होने पर (तथा अनन्तानुबंधिचतुष्क और मिथ्यात्व मिश्र इन सर्वघाति प्रकृतियों के आगामी निषेक का सदवस्थारूप उपशम और वर्तमान निषेकों की बिना फल दिये ही निर्जरा होने पर) जो आत्मा के परिणाम होते हैं उनको वेदक या क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं। वे परिणाम चल, मलिन, या अगाढ़ होते हुए भी नित्य ही अर्थात् जघन्य अन्तर्मुहूर्त से लेकर उत्कृष्ट छ्यासठ सागरपर्यन्त कर्मों की निर्जरा के कारण है।

जिस प्रकार एक ही जल अनेक कल्लोलरूप में परिणत होता है, उस ही प्रकार जो सम्यग्दर्शन सम्पूर्ण तीर्थंकर या अरिहन्तों में समान अनन्त शक्ति के होने पर भी 'श्रीशान्तिनाथजी शान्ति के लिये और श्रीपार्श्वनाथजी रक्षा करने के लिये समर्थ है' इस तरह नाना विषयों में चलायमान होता है उसको चल सम्यग्दर्शन कहते हैं। जिस प्रकार शुद्ध सुवर्ण भी मल के निमित्त से मलिन कहा जाता है, उस ही तरह सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से जिसमें पूर्ण निर्मलता नहीं है उसको मलिन सम्यग्दर्शन कहते हैं। जिस तरह वृद्ध पुरुष के हाथ में ठहरी हुई लाठी भी काँपती है उस ही तरह जिस सम्यग्दर्शन के होते हुए भी अपने बनवाये हुए मन्दिरादि में 'यह मेरा मन्दिर है' और दूसरे के बनवाये हुए मन्दिरादि में 'यह दूसरे का है' ऐसा भाव हो उसको अगाढ़ सम्यग्दर्शन कहते हैं।

भावार्थ - उपशम के प्रशस्त और अप्रशस्त इस तरह दो प्रकार है। विवक्षित प्रकृति यदि उदय योग्य न हो और स्थिति अनुभाग,, उत्कर्षण अपकर्षण तथा संक्रमण के योग्य हों तो उस उपशम को अप्रशस्त कहते हैं। तथा जहाँ पर

विवक्षित प्रकृति उदययोग्य भी न हो और उत्कर्षण अपकर्षण एवं संक्रमण योग्य भी न हो तो वहाँ प्रशस्त उपशम कहा जाता है। अनन्तानुबन्धी कषाय को प्रशस्तोपशम नहीं माना है, अतएव अनन्तानुबन्धी कषाय का अप्रशस्तोपशम अथवा विसंयोजन होने पर एवं दर्शन मोहनीय की मिथ्यात्व और मिश्र प्रकृति का प्रशस्त या अप्रशस्त उपशम अथवा क्षयोन्मुखता के होने पर और सम्यक्त्व प्रकृति के देशघाति स्पर्धकों का उदय होने पर जो तत्त्वार्थश्रद्धानरूप परिणाम होते हैं, उनको ही वेदक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। यहाँ पर जीव सम्यक्त्व प्रकृति के उदय का वेदन-अनुभवन करता है, इसलिये इसको वेदक कहते हैं।

गाथा में आये हुए नित्य शब्द का अभिप्राय अविनश्वर नहीं किन्तु अन्तर्मुहूर्त से लेकर छयासठ सागर तक के काल के प्रमाण से है जैसा कि ऊपर बताया गया है। अथवा इसका आशय ऐसा भी हो सकता है कि कर्मों के क्षपण का यह कारण-असाधारण कारण है। यह बात केवल इस क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के विषय में ही नहीं किन्तु वक्ष्यमाण औपशमिक एवं क्षायिक के विषय में भी समझनी चाहिये। क्योंकि सम्यग्दर्शन के साहचर्य के विना संवर निर्जरा नहीं हो सकती, यह ध्रुव नियम है। इस ध्रुव नियम को स्पष्ट करना ही नित्य शब्द का अभिप्राय है। इससे मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन की असाधारणता सूचित हो जाती है। तथा यह भी विशेषता व्यक्त होती है कि इस क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के वेदक अथवा समल होते हुए भी वह कर्मक्षपण का कारण है। ध्यान रहे कि चतुर्थ गुणस्थान से लेकर ऊपर सभी गुणस्थानों में होने वाली विशिष्ट निर्जरा का मूल कारण सम्यग्दर्शन ही है।

चतर्थ गुणस्थान में उपदिष्ट सम्यग्दर्शन के तीन भेदों में से एक भेद समल सम्यग्दर्शन-वेदक का स्वरूप बताकर अब शेष दो-मलदोषरहित औपशमिक और क्षायिक सम्यग्दर्शनों का हेतुपूर्वक लक्षण और स्वरूप बताते हैं।

सत्तण्हं उवसमदो, उवसमसम्मो खया, दु खइयो य।
विदियकसायुदयादो, असंजदो होदि सम्मो य।। 26

अर्थ - तीन दर्शनमोहनीय अर्थात् मिथ्यात्व मिश्र और सम्यक्त्व प्रकृति तथा चार अनन्तानुबन्धी कषाय इन सात प्रकृतियों के उपशम से औपशमिक और सर्वथा क्षय से क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है। इस चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यग्दर्शन के साथ संयम बिलकुल नहीं होता। क्योंकि यहाँ पर दूसरी अप्रत्याख्यानावरण कषाय

का उदय रहा करता है। यही कारण है कि इस गुणस्थान वाले जीव को असंयत सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

भावार्थ-सम्यग्दर्शन गुण की विरोधिनी इन सात प्रकृतियों के उपशम अथवा क्षय इन दोनों ही अवस्थाओं में जो आत्मा का सम्यग्दर्शन गुण प्रकट होता है वह विशुद्धि की अपेक्षा समान है। फिर भी औपशमिक और क्षायिक में प्रतिपक्षी कर्मों के सद्भाव और असद्भाव के कारण बहुत बड़ा अन्तर है। वह यह कि क्षायिक सम्यगदर्शन अन्त तक स्थिर रहता है। इस सम्यक्त्व से युक्त जीव कभी भी मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं होता, न आप्तागम पदार्थों में सन्देह करता है और न मिथ्यादृष्टियों के अतिशय या चमत्कार को देखकर आश्चर्य ही करता है। अर्थात् वेदक सम्यक्त्व में पाये जाने वाले चल मलिन और अगाढ दोषों से वह रहित होता है। औपशमिक सम्यग्दृष्टि भी ऐसा ही होता है। परन्तु उसका काल अन्तर्मुहूर्त मात्र ही है। उसके बाद वह प्रतिपक्षी कर्मों में से मिथ्यात्व के उदय में आने पर मिथ्यादृष्टि, अनन्तानुबन्धी कषायों में से किसी के उदय में आने पर सासादन सम्यग्दृष्टि, मिश्र प्रकृति उदय में आने पर सम्यगमिथ्यादृष्टि और सम्यक्त्व प्रकृति के उदय में आने पर समल वेदक सम्यक्त्व को जिसका कि स्वरूप ऊपर की गाथा में बताया गया है प्राप्त करके असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् इन चार में किसी भी एक अवस्था को प्राप्त कर लेता है। कदाचित् ऊपर की कषायों का क्षयोपशम भी यदि साथ में हो जाय तो वह पाँचवे, सातवें गुण स्थानों को भी प्राप्त कर सकता है।

इस गुणस्थान के साथ असंयत शब्द का जो प्रयोग किया है वह अन्त्यदीपक है। अतएव असंयत भाव प्रथम गुणस्थान से लेकर इस चतुर्थ गुणस्थान तक ही पाया जाता है। क्योंकि ऊपर के गुणस्थानों में से पाँचवें के साथ देशसंयत या संयतासंयत और फिर उसके ऊपर सभी गुणस्थानों के साथ संयत विशेषण पाया जाता है।

सम्माइट्ठी जीवो, उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा।। 27

अर्थ - सम्यग्दृष्टि जीव आचार्यों के द्वारा उपदिष्ट प्रवचन का श्रद्धान करता है, किन्तु अज्ञानतावश गुरु के उपदेश से विपरीत अर्थ का भी श्रद्धान कर लेता है।

भावार्थ-स्वयं के अज्ञानवश ''अरिहंतदेवका ऐसा ही उपदेश है'' ऐसा समझकर यदि कदाचित् किसी पदार्थ का विपरीत श्रद्धान भी करता है तो भी वह सम्यग्दृष्टि ही है; क्योंकि उसने अरिहंत का उपदेश समझकर उस पदार्थ का वैसा श्रद्धान किया है। परन्तु-

सुत्तादो तं सम्मं, दरसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि।
सो चेव हवइ मिच्छाइट्ठी जीवो तदो पहुदी।। 28

अर्थ - गणधरादिकथित सूत्र के आश्रय से आचार्यादिके द्वारा भले प्रकार समझाये जाने पर भी यदि वह जीव उस पदार्थ का समीचीन श्रद्धान न करे तो वह जीव उस ही काल से मिथ्यादृष्टि हो जाता है। **भावार्थ-** आगम दिखाकर समीचीन पदार्थ के समझाने पर भी यदि वह जीव पूर्व में अज्ञान से किये हुए अतत्त्वश्रद्धान को न छोड़े तो वह जीव उस ही काल से मिथ्यादृष्टि कहा जाता है।

णो इंदियेसु विरदो, णो जीव थावरे तसे वापि।
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो।।29

अर्थ- जो इन्द्रियों के विषयों से तथा त्रस स्थावर जीवों की हिंसा से विरक्त नहीं है, किन्तु जिनेन्द्र देव द्वारा कथित प्रवचन का श्रद्धान करता है वह अविरतसम्यग्दृष्टि है।

भावार्थ- संयम दो प्रकार का होता है, एक इन्द्रियसंयम दूसरा प्राणिसंयम। इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होने को इन्द्रियसंयम, और अपने तथा परके प्राणों की रक्षा को प्राणसंयम कहते हैं। इस गुणस्थान में दोनों संयमों में से कोई भी संयम नहीं होता, अतएव इसको अविरतसम्यग्दृष्टि कहते हैं। परन्तु इस गुणस्थान के लक्षण में जो अपि शब्द पड़ा है उससे सूचित होता है कि वह बिना प्रयोजन किसी हिंसा में प्रवृत्त भी नहीं होता। क्योंकि यहाँ असंयम भाव से प्रयोजन अप्रत्यख्यानावरणादि कषाय के क्षयोपशम से पाँचवें आदि गुणस्थानों में पाये जाने वाले देशसंयम तथा आगे के संयमभाव के निषेध से है। अतएव असंयत कहने का अर्थ यह नहीं है कि सम्यग्दृष्टि की प्रवृत्ति मिथ्यादृष्टि के समान अथवा अनर्गल हुआ करती है। क्योंकि चतुर्थ गुणस्थान में 41 कर्म प्रकृतियों के बंध की व्युच्छित्ति का नियमानुसार अभाव हो जाया करता है। अतएव 41 कर्मों के बन्ध की कारणभूत प्रवृत्तियाँ उसके न तो

होती ही है और न उनका होना संभव ही है। अतएव उसकी अन्तरंग बहिरंग प्रवृत्ति में नीचे के तीन गुणस्थान वालों की अपेक्षा महान् अन्तर हो जाया करता है।

श्रावक की त्रेपन क्रिया

गुणवय तव सम पडिमा दाणं जलगालणं अणत्थमियं।
दंसण णाण चरित्तं किरिया तेवण्ण सावया भणिया।।153 रयण.

अन्वयार्थ :- (गुण) आठ मूल गुण (वय) बारह व्रत (तव) बारह प्रकार के तप (सम) समानभाव (पडिमा) ग्यारह प्रतिमा (दाणं) चार प्रकार का दान (जलगालणं) पानी छानकर लेना (अणत्थमियं) रात्रि में भोजन नहीं करना (दंसण णाण चरित्तं) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का पालन करना (किरिया तेवण्ण) त्रेपन क्रिया (सावया भणिया) ये श्रावक की क्रियायें हैं ऐसा कहा है।

पद्य- गुणव्रत तप सम प्रतिमा दान जल गालण रात्रि भुक्ति त्याग।
दर्शन ज्ञान चारित्र क्रिया त्रेपन श्रावक हेतु कथित।।

सन्दर्भ :

77 गुण व 53 क्रिया युक्त होते हैं श्रावक

(चाल : सायोनारा..., तुम दिल की धड़कन...) **- आचार्य कनकनन्दी**

सच्चे श्रावक के स्वरूप को जानो, पंचम गुणस्थानवर्ती व्रती को मानो।
प्रथम प्रतिमा से ऐल्लक तक जानो, श्रद्धा विवेक व क्रिया युक्त मानो।।(1)

अप्रत्याख्यान क्रोधादि रहित, अष्ट मूलगुण (बारह) उत्तर गुण युक्त।
सप्त व्यसन सप्त भय रहित, पच्चीस मल दोष से विवर्जित।। (2)

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के भक्त, अतिचार रहित वैराग्य युक्त।
ये (77) सतत्तर श्रावक के गुण, मोक्षमार्ग रत है आगम प्रमाण।। (3)

त्रेपने (53) क्रिया युक्त होता श्रावक, अष्ट मूलगुण बारह व्रत संयुक्त।
बारह तप (12) ग्यारह (11) प्रतिमा युक्त, चार प्रकार के दान सहित।।(4)

इन से रहित न होता श्रावक, श्रावक धर्म पाले (सो) होता श्रावक।
श्रावकाचार में (यह) हुआ वर्णन, संक्षिप्त में कनक (यहाँ) किया वर्णन।।(5)

''अन्य की तुलना से प्रतिस्पर्द्धा से रहित हूँ''

(रागः माता तू दया करके...होठों से छू लो तुम...)

दिन-रात मेरे स्वामी भावना मैं ये भाऊँ,दूसरों के निमित्त से संक्लेशित मैं न बनूँ
संक्लेशित होकर पापबंध मैं क्यों करूँ,अन्य के कारण रोग दुःख मै क्यों भोगूँ
अन्य जीव होते अज्ञानी मोही व कुटिल, उनके अनुसार क्यों करूँ मैं व्यवहार।
उसके अनुसार नहीं सोचूँ नहीं बोलूँ नहीं कार्यक्रम ग्रंथ व गीत लिखूँ।।(1)

निर्णय न करूँ मैं नहीं करूँ राग-द्वेष, निंदा व अपमान नहीं करूँ रोष व तोष।
स्वयंका मूल्यांकन भी नहीं करूँ अन्यसे मैं,स्व-मूल्यांकन करूँ मैं आत्मिक दृष्टि से

उल्लू के अनुसार क्या सूर्य का होता मूल्य, उपमा जुगनू की क्या होता है दिनकर।
सर्वज्ञकी तुलना क्या छद्मस्थ से होगी,क्षुद्र की तुलना से क्या मेरी महिमा होगी।।

ख्याति-पूजा-लाभ तनाव युक्तों से, सत्ता सम्पत्ति व प्रसिद्धि युक्तों से।
अनात्म कामों से संयुक्त जीवों से, तुलना प्रतिस्पर्द्धा न करूँ कभी मैं।।

अतुलनीय हूँ मैं उपमातीत हूँ मैं, प्रतिस्पर्द्धा व द्वंद्व से मुक्त हूँ मैं।
आपका रूप मेरा भाव स्वरूप हो, यह ही लक्ष्य मेरा अन्य से रिक्त हो।।

मुझे ही मेरे द्वारा मुझसे ही प्राप्त हो, विभाव भावों से पूर्ण रहित हो।
सच्चिदानंदमय मेरा स्वरूप हो, अन्य से भिन्न मेरा निज स्वरूप हो।।

''सद्गृहस्थ (श्रावक) के 35 गुण''

(राग : तुम दिल की धड़कन...)

सद्गृहस्थों (श्रावकों) के स्वरूप को जानो, पैंतीस प्रकार लक्षणों को मानो।
गृहस्थ मोक्षमार्गी नैतिक मानो, इह पर हितकारी व्यक्तित्व जानो।। ध्रु.।।
'न्याय उपार्जित वित्त' सहित, 'शिष्टाचार प्रशंसक' युक्त।
'विवाह-विवेक' सहित गृहस्थ, 'पापभीरू' देशाचार पालक।। (1)

'पापनिन्दा रहित' 'सही गृह वास', सत्संगति युक्त' मातृ पितृ भक्त'।
'उपद्रव रहित स्थान (में) निवास, 'निंद्य प्रवृत्ति का त्याग' विशेष।। (2)

'व्यय की मर्यादा' गुण सहित, 'वित्तानुसार वेश' सहित।
'अष्ट गुण युक्त बुद्धि' सहित, 'सुश्रुता श्रवण ग्रहण' युक्त।। (3)

'धारण तर्क अपोह' सहित, अर्थ विज्ञान 'तत्त्वज्ञान' सहित।
'प्रतिदिन धर्म-श्रवण' युक्त, 'अजीर्ण व भोजी' सुयोग्य भुक्त युक्त'।। (4)

'अबाधित त्रिवर्गसाधना' युक्त, 'दान-दया-दत्ति' गुण सहित।
'पद अवहेलना/(अभिनिवेश) दोष रहित, 'गुण-पक्षपाती' गुण सहित।।(5)

'अयोग्य देश त्याग',स्व-पर बलाबल सुज्ञात'।
'ज्ञानी-गुणी-साधु पूजन' रत, पोष्य-पोषक'(परिवार पोषण) गुण सहित।।(6)
'दीर्घदर्शी'-विशेषज्ञ 'कृतज्ञ', 'लोकप्रियता' 'सलजता' युक्त।
'दयालु' 'सौम्य' 'परोपकार' युक्त, 'अंतरंग' षड्वैरियों का त्याग।।(7)

'इन्द्रिय विजयी' सद्गृहस्थ' और भी अनेक गुण सहित।
'सप्त व्यसन' 'अष्टमद त्याग, 'कनक' मान्य है सद्गृहस्थ।। (8)

''अठारह (18) पाप स्थान''

(राग : चौपाई-जय-हनुमान...)

पाप स्थान अट्ठारह को जानो, पाप बंध के कारण मानो।
नवकोटि वे परित्याग करो, परम्परा से मोक्ष को वरो।। (1)
प्राणातिपात हिंसा को कहते, नवकोटि से इसे जो करते।
पर्यावरण की क्षति करते, पाप बंध से नरक में जाते।। (2)
मृषावाद है असत्य कथन, प्रमाद-सहित जो होता कथन।
सत्य विपरीत जो होता कथन, कर्कश कलहकारी जो वचन।। (3)
अदत्तादान चोरी को कहते, भ्रष्टाचार मिलावट भी होते।
कालाबाजारी व शोषण होते, चोरी के अंतर्गत ये सब आते।। (4)
अबह्मचर्य को मैथुन कहते, अश्लील कामुक भी मैथुन होते।
दोनों प्रकार हिंसा भी होती, समस्या बीमारी आ घेरती।। (5)
मूर्च्छा से परिग्रह होता, अंतरंग बहिरंग भी होता।
शोषण भ्रष्टाचार भी होते, विभिन्न प्रदूषण भी होते।।(6)

क्रोध से विवेक नष्ट होता, क्षमा स्वभाव भी नष्ट होता।
कलह विसंवाद तनाव होते, तनमन आत्मा अस्वस्थ होते।। (7)
अष्ट प्रकार मान होता, सम्यग्दर्शन नाश करता।
विनय भाव नहीं उपजता संयम तप ज्ञान नाशता।। (8)
छल-कपट माया होती, सरल भाव को नाश करती।
प्रामाणिकता नहीं रहती, तिर्यंच आयु का बंध करती।। (9)
लोभ पाप का बाप बखाना /(कहते), अनेक पाप उत्पन्न होते।
परिग्रह संचय इससे होता, परिग्रहजन्य पाप भी होता।। (10)
लोभ माया से राग होता, राग तो आग समान होता।
राग से कर्म बंधन होता, संसारवर्द्धन काम करता।। (11)
क्रोध-मान से द्वेष होता, जिससे द्वंद्व उत्पन्न होता।
कलह-झगड़ा-वैर होते, अनेक अनर्थ उत्पन्न होते।। (12)
कलह से वाद-विवाद होते, द्वंद्व विग्रह उत्पन्न होते।
समता शान्ति से काम न होते, ताड़न-मारन-हनन होते।। (13)
अभ्याख्यान है दोष लगाना, दोषारोपण झूठा करना।
दोषों को उद्घाटित करना, पैशून्य-पाप से रहित होना।। (14)
पर-परिवाद को निंदा कहते, इससे कलह तनाव होते।
पाप स्वरूप है रति-अरति, धर्म में अरुचि अधर्म में रुचि।।(15)
माया मृषावाद है पाप स्वरूप झूठ बोलना है पाप स्वरूप।
मिथ्यादर्शन शल्य है पाप, विपरीत श्रद्धान सहित रूप।। (16)
दुःखमेव है पाप स्वरूप, त्याग करना, सुख स्वरूप।
त्याग हेतु यह वर्णन किया, 'कनकनन्दी' को पाप न भाया।। (17)

रात्रिभोजन में कुशीलता है

भुत्तो अयोगुलो सइयो तत्तो अग्गिसिखोपमोयजे।
भुंजइ जे दुस्सीला रत्तपिंड असंजतो।। 154 रयण.

अन्वयार्थ :- (दुस्सीला) शील रहित (यजे) यज्ञ में (अग्गिसिखोपमो) जलती हुई अग्नि शिखा के समान (तत्तो) तप्त (अयोगुलो सइयो) लोहे के गोले के समान (भुंजइ रत्त पिंड) रक्त पिंड को खाता है (असंजतो) वह असंयमी है।

पद्य-जो रात्रि भुक्ति करे वह भोजन करे अग्नितप्त(यज्ञ) लौह पिण्ड सम।
खाता है रक्त पिंड सम वह होता है दुशील व असंयमी।।

ज्ञानाभ्यास से मोक्ष

णाणेण ज्झाणसिज्झी झाणादो सव्व कम्म णिज्जरणं।
णिज्जरण फलं मोक्खं णाणब्भासं तदो कुज्जा।। 155 रयण.

अन्वयार्थ :- (णाणेण) सम्यग्ज्ञान के अभ्यास से (ज्झाणसिज्झी) ध्यान की सिद्धि होती है (झाणादो) ध्यान करने से (सव्वकम्मणिज्जरणं) सब कर्मों की निर्जरा होती है (णिज्जरण फलं मोक्खं) और निर्जरा का फल मोक्ष की प्राप्ति है (तदो) हे योगी! इसलिए (णाणब्भासं) ज्ञानाभ्यास निरंतर (कुज्जा) करो।

पद्य-ज्ञान से ध्यान सिद्धि ध्यान से होता सर्वकर्म निर्जरण।
निर्जरण फल मोक्ष अतएव ज्ञानाभ्यास करणीय।।
समीक्षा- रत्नत्रय में ज्ञान है मध्य दीपक जो श्रद्धा-चर्या प्रकाशी
सुज्ञान विहीन न श्रद्धा व चर्या अतएव यह वर्णन हुआ बहुवार।।
इससे महती शिक्षा मिले स्व-आत्म अध्ययन रूपी हो स्वाध्याय।
स्व-अध्ययन बिन आगम वाचना भी नहीं होता है स्वाध्याय।।

श्रुत की भावना से उपलब्धि

कुसलस्स तवो णिवुणस्स संजमो समपरस्स वेरग्गो।
सुदभावणेण तत्तिय तम्हा सुदभावणं कुणह।। 156 रयण.

अन्वयार्थ :- (कुसलस्स तवो) कुशल व्यक्ति के तप (णिवुणस्स संजमो) निपुण व्यक्ति के संयम(समपरस्स) समता भावी के वैराग्य होता है(सुदभावणेणतत्तिय) ये तीनों श्रुत भावना वाले का होता है (तम्हा सुदभावणं) इसलिए श्रुताभ्यास (कुणह) करो।

पद्य- कुशल के तप, निपुण के सयंम, समताभावी के वैराग्य।
श्रुत भावना से तीनों होते अतएव श्रुत भावना करो।।

समीक्षा- श्रुत भावना से कुशलता व निपुणता तथाहि आती समता।
इससे होते तप-संयम वैराग्य अतः स्वाध्याय परम श्रेष्ठ।।

मिथ्यात्व से अनंत काल भ्रमण

कालमणंत जीवो मिच्छत्तसरूवेण पंचसंसारे।

हिंडदि ण लहइ सम्मं संसारब्भमण पारंभो।। 157 रयण.

अन्वयार्थ :- (मिच्छत्त सरूवेण) मिथ्यादर्शन स्वरूप से मिथ्यात्व के कारण (कालमणंत) अनंतकाल (जीव) जीव (पंचसंसारे) पंच परावर्तन रूप संसार में (हिंडदि) भ्रमण करता हुआ आ रहा है (ण लहइसम्मं) उसने सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं किया (संसारब्भमण) इस कारण से संसार भ्रमण का (पारंभो) प्रारंभ अभी तक नहीं छुटा है।

पद्य- अनन्त काल से जीव मिथ्यात्व स्वरूप से भ्रमण करे पंच संसारे।
जब तक न प्राप्त करे सम्यक्त्व तब तक संसार भ्रमण प्रारंभ।।

समीक्षा- सम्यक्त्व बिना ही भ्रमण होता है पंचविध संसार।
सम्यक्त्व होते ही अधिक से अधिक रहे अर्द्धपुद्गल संसार
इससे शिक्षा मिले संसार भ्रमण के मूल कारण है मिथ्यात्व।
सर्व प्रयत्न से आत्मविशुद्धि से प्रथम ही प्राप्त योग्य सम्यक्त्व।।

सन्दर्भ :

मिथ्यात्व के कारण वस्तु स्वरूप का अयथार्थ श्रद्धान एवं आत्म स्वरूप का विपरीत श्रद्धान होने से मिथ्यात्व संसार का मूल कारण है, कर्म बंध का प्रधान कारण है, अधर्म का आधार है, आत्म पतन के लिये मूल हेतु है।

मिथ्यात्व में बंध :-

''मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाय योगः बंधहेतवः''।।

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग बंध के हेतु है क्योंकि इन कारण पूर्वक ही बंध होता है। ''त एते पञ्च बंध हेतवः, समस्ता व्यस्ताश्च भवन्ति। तद्यथा मिथ्यादृष्टेः पञ्चापि समुदिता बंध हेतवो भवन्ति'' ये पाँचों स्वतंत्र बंध के हेतु हैं और समुदाय से भी बंध के कारण हैं। जैसे मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में पाँचों बंध के लिये कारण हैं। सासादन, मिश्र, असंयतसम्यग्दृष्टि इन तीन स्थान में मिथ्यात्व को छोड़ अन्य अविरति आदि चारों प्रत्यय बंध के कारण हैं। जब तक मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्व प्रकृति उदय में रहती है तब तक मिथ्यात्वादि 16 प्रकृतियों का बंध होता है। उसके आगे बंध व्युच्छित्ति हो जाती है।

मिच्छत हुंड संढाऽसंपत्तेयक्ख थावरादावं

सुहुमतियं वियलिंदिय णिरयदु णिरयाउगं मिच्छे।। 95 (कर्मकाण्ड)

मिथ्यात्व, हुण्डक संस्थान, नपुंसकदेव, असम्प्राप्तासपाटिका संहनन, एकेन्द्रियजाति, स्थावर, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, विकलत्रय, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी और नरकायु इन 16 प्रकृतियों की बंध व्युच्छित्ति मिथ्यात्व गुणस्थान के अंत में होती है।

सामण्ण पच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो।

मिच्छतं अविरमणं कसायं जोगा य बोद्धव्वा।। 10 (समयसार)

सामान्य से मिथ्यात्व अविरति, कषाय और योग ये चार बंध के कर्त्ता है। अर्थात् जिस समय में मिथ्यात्व कर्म का उदय होता है उस समय उदयगत मिथ्यात्व कर्म के कारण जो भाव होता है उसके माध्यम से पुनः नवीन कर्म बंध होता है। इसी प्रकार अविरति आदि से जानना चाहिये। यहाँ पर प्रमाद को आचार्यश्री ने नहीं गिनाया है तो क्या प्रमाद बंध के लिये कारण नहीं है ? अवश्य कारण है किन्तु प्रमाद को कषाय में अन्तर्भूत कर दिया है क्योंकि कषाय के कारण प्रमाद होता है। द्रव्य संग्रह में ''जोगा पायडि पदेसा ठिदि अणुभाग कसायदो होदि' इसमें कषाय को ही स्थिति और अनुभाग का कारण बताया है। तो क्या मिथ्यात्व और अविरति बंध के कारण नहीं है ? अवश्य है, किन्तु संक्षेप से कषाय में मिथ्यात्वादि को अन्तर्भूत कर दिया है। यहाँ पर कषाय प्रत्यय अंत-दीपक है, इसलिये उसके पहले पहले के सभी कारण उससे ग्रहण किये गये हैं।

सूत्र :

सव्वतिव्वाणुभागा मिच्छातस्स उक्कस्साणु भागुदीरणा।

अणंताणुबंधीणमण्णदाउक्कस्साणु भागुदीरणातुल्ला अणंत गुण हीणा।।ज.ध. पु.11)

मिथ्यात्व की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा तीव्र अनुभाग वाली है। अर्थात् सबसे तीव्र शक्ति से संयुक्त है। उससे अनंतानुबंधियों की अन्यतर (कोई एक) उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा परस्पर समान होकर मिथ्यात्व की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा से अनंतगुणी हीन है।

शंका : मिथ्यात्व की उत्कृष्ट उदीरणा सबसे तीव्र क्यों है ?

समाधान : ''सव्व दव्व विसय सद्दहण गुण पडि बंधित्तादो।''

अर्थ : सर्व द्रव्य, विषय श्रद्धान गुण का प्रतिबंधन मिथ्यात्व कर्म करता है।

मिच्छात्तपच्चयो खलु बन्धो उवसाम यस्स बोधव्वो।
अवसंते सासणे तेण परं होदि भयणिज्जो।। (धवलः)

मिथ्यात्व का उपशांत अवस्था में और सासादन गुणस्थान में मिथ्यात्व निमित्तक बंध नहीं होता है अन्य स्थान भी भजनीय है अर्थात् मिथ्यात्व को प्राप्त हुए जीव को मिथ्यात्व निमित्तक बंध होता है। अन्य गुणस्थान प्राप्त जीव को बंध नहीं होता। एक विचारणीय विषय है कि 40 कोड़ा कोड़ी सागर स्थितिवाला चारित्र मोहनीय (अनंतानुबंधी आदि) 70 कोड़ा कोड़ी सागर स्थिति प्रमाण दर्शन मोहनीय को कैसे बंध कर सकता है। यदि केवल कषाय को ही स्थिति बंध का कारण मानेंगे तो दर्शन मोहनीय का स्थिति बंध मात्र कषाय के द्वारा होने पर 70 कोड़ा कोड़ी सागर का और मिथ्यात्व में 16 प्रकृतियों का जो बंध होता है वह नहीं हो सकता है। अनंतानुबंधी भी मिथ्यात्व के सहाय से ही अनंतसंसार का कारण हो सकती है अन्यथा नहीं।

अनंतानुबंधी, क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय आत्मनः, सम्यक्त्व परिणाम् कषन्ति अनंत संसार कारणत्वात् अनन्तं-मिथ्यात्वं, अनंतभव संस्कार कालं वा अनुबन्धन्ति सुघटयन्तीत्यनन्तानुबन्धिन इति।। (गो. सार. टीका)

अनंतानुबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ-कषाय आत्मा के सम्यक्त्व परिणाम को घातती है क्योंकि अनंतसंसार का कारण होने से मिथ्यात्व कर्म को अनंत कहते हैं। इस अनंतभव के संस्कार काल को बाँधती है इसलिये उसे अनंतानुबंधी कहते है। एक क्षण के लिये भी सम्यक्त्व हो जाता है तो संसार अनंत नहीं रहता है संसार परीत हो जाता है जो अर्ध पुद्गल परिवर्तन मात्र है। अतः

न सम्यक्त्वं समं किञ्चित् त्रैकाल्यं त्रिजगत्यपि।
श्रयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्व समं नान्यत्तनुभूताम्।। 34।। (रत्नकाण्ड)

In the three periods of time and and three worlds there in nothing more auspicious than right Faith for the living beings, nor any thing more inquacious than a false conviction.

तीन जगत् में तीन काल में सम्यक्त्व श्रेयस्कर जीवों के लिये अन्य कुछ नहीं है एवं मिथ्यात्व के समान अश्रेयस्कर अन्य कुछ नहीं है।

सम्यग्दर्शन के सद्भाव-अभाव का फल

सम्मद्दसणसुद्धं जाव दु लभदे हि ताव सुही।
सम्मद्दंसणसुद्धं जाव ण लभदे हि ताव दुही।। 158 रयण.

अन्वयार्थ :- (सम्मद्दंसणसुद्धं) जीव शुद्ध सम्यग्दर्शन को (जाव) जब (हित ताव सुही लभदे) प्राप्त होता है तब निश्चय से सुख को प्राप्त होता है (दु) और (सम्मद्दंसण सुद्धं) शुद्ध सम्यग्दर्शन को (जाव ण लभदे) जब तक प्राप्त नहीं होता है (हि तावदुही) तब तक निश्चय से ही दुःखी रहता है।

पद्य- सम्यग्दर्शन शुद्ध जब तक है पाते हैं तब तक ही सुख।
सम्यग्दर्शन जब तक न पाते हैं तब तक ही दुःख।।

बहुत कहने से क्या लाभ

किं बहुणा वयणेण दु सव्वं दुक्खेव सम्मत्त विणा।
सम्मत्तेण संजुत्तं सव्वं सोक्खेव जाणं खु।। 159 रयण.

अन्वयार्थ :- (बहुणा वयणेणकिं) बहुत ही वचनालाप करने से क्या प्रयोजन? (सम्मत्तविणा) सम्यग्दर्शन के बिना (दुक्खेव) निश्चय से दुःख ही है (सम्मत्तेण संजुत्तं) तथा सम्यक्त्व से सहित जीव को (सव्वं) समस्त प्रकार के (सोक्खेव) सुख ही है (जाणं खु) ऐसा निश्चय कर जानो।

पद्य- अधिक कहने से क्या लाभ सभी दुःख ही सम्यक्त्व बिना।
सम्यक्त्व से सहित सभी सुख जानो निश्चय से।।

सम्यक्त्व रहित ज्ञानाभ्यास संसार का कारण

णिक्खेव णयप्पमाणं, सद्दालंकार छंदलहियाणं।
णाडय पुराण कम्मं सम्मं विणा दीह संसार।। 160 रयण.

अन्वयार्थ :- (णिक्खेवणय) निक्षेप, नय (पमाणं) प्रमाण, (सद्दालंकार) शब्द अलंकार(छंदलहियाणं) छंद अनेक प्रकार के संगीत स्वरों के छंद (णाडय) नाटक(पुराण)शास्त्र ज्ञान (कम्मं) लौकिक कार्यों की अच्छी जानकारी हो (सम्मविणा) सम्यक्त्व के बिना (दीह संसार) दीर्घ संसार भ्रमण कारण है।

पद्य- निक्षेप, नय, प्रमाण, शब्दालंकार, संगीत, स्वर शास्त्र।
नाटक, पुराण, लौकिक कर्म (ज्ञान) सम्यक्त्व बिना दीर्घ संसार।।

समीक्षा- स्व-शुद्धात्मा श्रद्धान बिन लौकिक या धार्मिक ज्ञान या कर्म। सभी ही है सांसारिक काम जिससे बढ़े दीर्घ संसार।।

ममकार के त्याग बिना मुक्ति नहीं

वसदि पडिमोवयरणो गण गच्छे समयसंघ जाइकुले।
सिस्स पडिसिस्स छत्ते सुयजाते कप्पडे पुच्छे।। (161)

ममकार के त्याग बिना मुक्ति नहीं

पिच्छे संत्थरणे इच्छासु लोहेण कुणइ ममयारं।
यावच्च अट्टरुद्धं ताव ण मुंचेदि ण हु सोक्खं।। (162)

अन्वयार्थ :- (वसदि) वसतिका (पडिमोवयरणे) प्रतिमोपकरण (गण गच्छे) गण गच्छ (समय) शास्त्र (संघ) चतुर्विध मुनि संघ (जाइ कुले) जाति कुल में (सिस्स पडिसिस्सछत्र) शिष्य प्रतिशिष्य विद्यार्थी छात्र (सुयजाते) पुत्र पौत्रादि में (कपड़े) वस्त्र आभूषणों में (पुच्छे) पुस्तक शास्त्रों में (पिच्छे) पिच्छिका में (संस्थरण) संस्थर में (इच्छासु) इच्छाओं में (लोहेण) लोभ से (ममयारं कुणइ) ममकार करता है (यावच्च) जब तक (अट्टरूद्धं) आर्त, रौद्र, ध्यान होता (ण मुच्चेइ) इन सबकी इच्छाओं को नहीं छोड़ता है (ताव सोक्खं ण हु) तब तक सुख की प्राप्ति नहीं होती है।

पद्य- वसतिका, प्रतिमा उपकरण गण गच्छ शास्त्र संघ जाति कुल।
शिष्य प्रतिशिष्य छात्र पुत्र पौत्रादि वस्त्र व पुस्तक।।

पद्य- पिच्छी संस्थर इच्छाओं में लोभ से करता जो ममकार।
जब तक आर्त-रौद्र तब तक, न त्यागता न मिले मोक्ष।।

रत्नत्रय युक्त निर्मल आत्म समय है

रयणत्तयमेव गणं गच्छं गमणस्स मोक्खमग्गस्स।
संघो गुणसंघाओ समयो खलु णिम्मलो अप्पा।। 163 रयण.

अन्वयार्थ :- (रयणत्तयमेव गण) निश्चय कर रत्नत्रय ही गण है(गच्छं गमणस्स मोक्खमग्गस्स) आत्मा का मोक्षमार्ग में ही गमन करना गच्छ है (संघो गुणसंघाओ) आत्मिक गुणों का समूह ही संघ है (समओ खलु णिम्मलो अप्पा) निश्चय से आत्मा के निर्मल ज्ञानगुण ही आगम शास्त्र है।

पद्य- रत्नत्रय ही गण, मोक्षमार्ग में गमन ही गच्छ।
आत्मगुण समूह ही संघ, निर्मल आत्मा ही समय/(शास्त्र, सुधर्म)।

जिनलिंग मुक्ति का हेतु

जिणलिंग धरो जोइ विराय सम्मत्त संजुदो णाणी।
परमोवेक्खाइरियो सिवगइ पहणायगो पहणायगो होई।। 164 रयण.

अन्वयार्थ :- (णाणी जोई) सम्यग्ज्ञानी योगी (जिणलिंग धरो) जिनलिंग का धारक (विराय सम्मत्त संजुदो) सम्यक्त्व पूर्वक वैराग्य युक्त (परमोक्खाइरियो) उत्कृष्ट भावनाओं का चिंतवन करने वाले आचार्य (सिवगइपह) शिवगति के पथिक (णायगो) नायक (होई) होते है।

पद्य- जिनलिंग धर योगी वैराग्य, सम्यक्त्व संयुक्त ज्ञानी।
परम उपेक्षायुक्त आचार्य शिवगति प्रणायक होते नायक।।

रयणसार ग्रंथ का महात्म्य

सम्मं णाणं वेरग्ग तवो भावं णिरीहवित्ति चारित्तं।
गुण सील सहावं उपज्जइ रयणसारमिणं।। 165 रयण.

अन्वयार्थ :- (रयणसारमिणं) यह रत्नत्रयसार ग्रन्थ (सम्मं णाणं) सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान (वेरग्गतवो भावं) वैराग्य तपोभाव से युक्त (णिरीहवित्ति) निरीच्छवृत्ति पूर्वक चारित्र से (गुण सील सहावं) स्वयं गुण शील आत्म स्वभाव को (उप्पज्जइ) उत्पन्न करता है।

पद्य- सम्यक्त्व ज्ञान वैराग्य तप भाव निस्पृह वृत्ति चारित्रं।
गुण शील स्वभाव उत्पन्न करता है यह रयणसार।।

रयणसार ग्रंथ की आराधना रहित जीव मिथ्यादृष्टि

गंथमिणं जो ण दिट्ठइ ण हु मण्णइ ण सुणेइ णहु पठइ।
ण हु चिंतइ णहु भावइ सो चेव हवेइ कुद्दिट्ठी।। 166 रयण.

अन्वयार्थ : (गंथमिणं) इस ग्रंथ को (जो) (ण दिट्ठइ) जो नहीं देखता है (ण हु मण्णई) नहीं मानता है (ण हु सुणेइ) नहीं सुनता है (ण हु पठइ) नहीं पढ़ता है (ण हु चिंतइ) चिंतन नहीं करता है (ण हु भावइ) भावना भी नहीं करता है (सो चेव कुद्दिट्ठि) वह मिथ्यादृष्टि (हवेइ) होता है

पद्य- **जो न देखता है न मनन करता न सुनता है न पढ़ता।**
न ही चिंतन नहीं भावना वह ही होता है कुदृष्टि।।

रयणसार ग्रंथ की आराधना से शाश्वत स्थान

इदि सज्जण पुज्जं रयणसारं गंथं णिरालसो णिच्चं।
जो पढइ सुणइ भावइ पावइ सो सासयं ठाणं।। (167) रयण

अन्वयार्थ :- (इदि) इस प्रकार (सज्जन पुज्जं) सज्जनों के द्वारा पूज्य (रयणसारं गंथं) रत्नसार ग्रंथ का (णिच्चं) नित्य (णिरालसो) प्रमाद रहित होकर (जो) जो (पढइ) पढ़ता है। (सुणइ) सुनता है (भावई) भावना करता है (सो) वह (सासयं ठाणं) शाश्वत मोक्ष स्थान को (पावइ) प्राप्त करता है।

पद्य- **यह सज्जन पूज्य रयणसार ग्रन्थ निरालस हो नित्य।**
जो पढ़ता-सुनता है भावना करे पाता शाश्वत स्थान।।

नन्दौड़ 21.10.2018 रात्रि 10:52